श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

अद्वैतसिद्धिः

सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया समलङ्कृता

-स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्



समर्पणम्.......

ॐ श्रीगोकुलधाम्नःपरमाधिष्ठातृदेवस्य भगवतः
श्रीगोकुलेश्वरमहादेवस्य करसरोजयोः
सादरं समर्पयति

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः
श्रीगोकुलधाम कनखलः
हरिद्वारः (उत्तराञ्चलः)

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिविश्वेश्वरसरस्वतीशिष्य—

श्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीविरचिता

अद्वैतसिद्धिः

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिश्रीस्वामिविष्णु—
देवानन्दगिरिशिष्यस्वामिविशुद्धानन्दगिरिविरचितया
सत्यानन्दप्रबोधिकाव्याख्यया
समलङ्कृता

द्वितीयो भागः

सम्पादकः प्रकाशकश्च
स्वामिविशुद्धानन्दगिरिः

पुस्तकप्राप्तिस्थान

श्रीगोकुलधाम पुजारीगली (नयाघाट)
पहाड़ीबाजार, कनखल, हरिद्वार (उत्तराञ्चल)
एवम्
श्रीशिवमठधाम
बरनाला (सेखाफाटक रेलवेलाइन के पास)
संगरुर (पंजाब)
एवम्
स्वामिभोलानन्दविद्याभवन बी ८/४१ बाड़ागम्भीरसिंह
वाराणसी (उ.प्र.)

प्रथम संस्करण – १०००
विक्रमी सम्वत् – २०६१
शाङ्कराब्द – १२१७
मूल्य – १५०/–

–: सम्पादक एवं प्रकाशक :–
स्वामिविशुद्धानन्दगिरि
श्रीगोकुलधाम पुजारीगली (नयाघाट)
पहाड़ी बाजार, कनखल, हरिद्वार (उत्तराञ्चल)

ॐ श्रीगोकुलेश्वरमहादेवो विजयतेतराम्

निवेदनम्

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं,
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं,
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।

श्रुतिसम्मत अद्वैततत्त्व का अवगाहन कुशाग्रमति धीर महापुरुषों के द्वारा अनादिकाल से होता आ रहा है। आचार्यों ने शास्त्र में प्रवेश वाले विद्वान् तत्त्वजिज्ञासुओं के जिज्ञासा की शान्ति के लिए अतिगम्भीर भाष्यादि की रचना कर उन्हें अद्वैततत्त्व का बोध कराया और सामान्य तत्त्वजिज्ञासुओं के लिए सरल प्रकरण ग्रन्थों की रचना कर उन्हें अद्वैततत्त्व का बोध कराया। सभी को अद्वैततत्त्व का बोध हो, यही आचार्यों का लक्ष्य रहा है। जैसा कि वार्तिककार ने कहा है–

यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता।।

दूसरी बात यह है कि श्रुतिसम्मत अद्वैतसिद्धान्त दुराग्रह से रहित विद्वानों को भी सदा ही अपनी तरफ आकर्षित करता रहा है। जैसे कि न्यायदर्शन द्वैतवादियों के सिद्धान्त का पोषक रहा है, उस न्यायदर्शन के मुख्य ग्रन्थ "तत्त्वचिन्तामणि" पर दीधिति नामक टीका लिखने वाले पण्डितप्रवरश्रीरघुनाथशिरोमणि जिनका द्वैतवादियों की सभा में यह उद्घोष था–

विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि जल्पति कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव।।

वे भी अद्वैततत्त्वज्ञ महापुरुषों के विषय में अपने भावों को अभिव्यक्त करते हुए इस प्रकार से कहने को बाध्य हो गये–

धीराः कुशाग्रमतयो नितरां नितान्त,
वेदान्ततन्त्रमिह ये परिशीलयन्ति।
तेभ्यो ममेदमुपढौकितमल्पबुद्धेः,
क्षोभप्रदं यदि भवेन्मम कोऽपराधः।।

अद्वैतवेदान्तदर्शन के विषय में आचार्यप्रवरश्रीगौड़ब्रह्मानन्दसरस्वतीजी अपने भावों को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं–"सर्वेषु दर्शनेषु दर्शनीयतमं दर्शनं वेदान्तदर्शनम्।" इस श्रुति सम्मत अद्वैतवेदान्तदर्शन पर द्वैतवादियों के द्वारा पूर्वपक्ष के रूप से समय–समय पर शङ्कायें प्रस्तुत की जाती रहीं। उन सभी शङ्काओं को एक सूत्र में समाहित कर माध्वमत के व्यासतीर्थ ने न्यायामृत नामक ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ का खण्डन श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी ने अद्वैतसिद्धि में किया, पुनः अद्वैतसिद्धि के खण्डन का असफल प्रयास तरङ्गिणीकार के द्वारा प्रस्तुत किया गया,जिसका निराकरण

आचार्यप्रवरश्रीगौड़ब्रह्मानन्दसरस्वतीजी ने गुरुचन्द्रिका और लघुचन्द्रिका में किया है। वनमाली मिश्र ने लघुचन्द्रिका के ऊपर कुछ शङ्कायें उठायी। जिसका समाधान पण्डितप्रवर श्रीविट्ठलेशउपाध्यायजी ने किया है। अद्वैतसिद्धिकार श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी का व्यक्तित्व कैसा था? इसका उल्लेख इन पंक्तियों में स्पष्ट भासित होता है—

मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।
वेत्ति पारं सरस्वत्याः मधुसूदनसरस्वती।।

आचार्यप्रवर अद्वैतसिद्धिकार के समस्त ग्रन्थों में उनकी हृदयस्पर्शी ज्ञानगरिमा,उदारहृदय एवं प्रबल भक्ति का भी परिचय मिलता है। वस्तुतः जीवन की साधना के साथ जिन ग्रन्थों की रचना होती है, उनके भाव अवश्य ही हृदयस्पर्शी देखे जाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्तद् स्थलों पर अद्वैतसिद्धिकार ने पूर्वपक्षी के कटुतापूर्ण प्रश्नों का भी सहजता पूर्वक समाधान किया है। जहां पर अन्य प्राचीन आचार्यों ने केवल श्रुति के सहारे से परमत का खण्डन किया है, वहां पर अद्वैतसिद्धिकार ने अभिनवयुक्तियों तथा तर्कों से भी उनका खण्डन किया है। इसका मुख्य कारण यह था कि आप जैसे वेदान्त के प्रगाढ़ पण्डित थे, वैसे ही नव्यन्याय आदि दर्शनों में भी आप की अप्रतिहत गति थी। आप ने गुरुजनों की कृपादृष्टि से विविध विद्याओं को प्राप्त किया और उसे सुव्यवस्थित प्रकार से इस ग्रन्थ में समाहित किया है। जिसे स्वयं ही अद्वैतसिद्धि के समाप्ति के अवसर पर आप ने कहा है।

गुरूणां माहात्म्यान्निजविविधविद्यापरिचयात्
श्रुतेर्यन्मे सम्यङ्मननपरिनिष्पन्नमभवत्।
परब्रह्मानन्दस्फुरणमखिलानर्थशमनं
तदेतस्मिन्ग्रन्थे निखिलमतियत्नेन निहितम्।।

पूर्वोक्त प्रकार से सुस्पष्ट हो गया कि प्रकृत में जिस ग्रन्थ पर विचार चल रहा है, वह एक ऐसा सर्वमान्य श्रेष्ठतम ग्रन्थ है जो आत्मारामी तत्त्वज्ञमहापुरुषों को भी अपनी तरफ हठात् आकर्षित करता रहा है। विद्वानों और तत्त्वजिज्ञासुओं को अपनी तरफ आकर्षित कर ले, इसके विषय में कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सामान्य तत्त्वजिज्ञासुओं का भी इस ग्रन्थ में प्रवेश हो, इसको लक्ष्य कर के सरल शब्दों में लिखने का साहस किया है। इस ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में परीक्षार्थियों के लिए परीक्षान्त भाग तक की लघुचन्द्रिका टीका दी गयी है। आशा करते हैं कि इससे परीक्षार्थियों को सहयोग प्राप्त होगा। इस लेखन कार्य में सदा ही गुरुजनों की कृपादृष्टि प्राप्त होती रही है, जिसके कारण यह कार्य सम्पन्न हो पाया है। इस ग्रन्थ पर प्रासङ्गिकम् लिखने तथा समय—समय पर मार्गनिर्देशन करते रहने के लिए विद्यागुरुश्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिसत्यानन्दगिरिजीमहाराज के युगलचरण कमलों में भूयसः प्रणाम निवेदन करता हूँ। आप की असीमकृपा दृष्टि के कारण ही यहां तक पहुंचने का मार्ग सुगम हो पाया है। जिन संस्थाओं में गुरुजनों के सानिध्य में अध्ययन किया है। वे संस्थायें हैं—श्रीकैलास आश्रम ऋषिकेश(उत्तराञ्चल), श्रीराजराजेश्वरीमठ ललिताघाट वाराणसी (उ.प्र.), श्री दक्षिणामूर्तिमठ मिश्रपोखरा वाराणसी (उ.प्र.), श्रीस्वामिभोलानन्दविद्याभवन वाराणसी (उ.प्र.), श्रीकैलास आश्रम उजेली उत्तरकाशी(उत्तराञ्चल) तथा श्रीरुद्रावास आश्रम उजेली उत्तरकाशी (उत्तराञ्चल) इत्यादि। इन सभी संस्थाओं के प्रति हृदय से आभार प्रगट करते हुए इनके मङ्गलमय भविष्य की कामना करता हूँ और परमपूज्य गुरुजनों के चरण कमलों में

प्रणाम निवेदन करता हूँ। शुभ सम्मति लिखने के लिए श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठ अनन्तश्रीविभूषित ब्र०दिव्यचैतन्यजी के प्रति हृदय से आभार प्रकट करता हूँ। अद्वैतसिद्धि के परीक्षान्त भाग पर्यन्त सत्यानन्दप्रबोधिका टीका का लेखन कार्य श्रीगोकुलधाम कनखल हरिद्वार(उत्तराञ्चल) में हुआ है। इस संस्थान के प्रति आभार प्रगट करते हुए भगवान् श्रीगोकुलेश्वरमहादेव के चरणकमलों में प्रार्थना करता हूँ कि यह संस्थान सदैव उन्नति के पथ पर अग्रसर रहे।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में परमादरणीय श्रीमत्स्वामिब्रह्मानन्दतीर्थजी महाराज की असीम कृपा दृष्टि रही है। आपका स्नेह एवं सौहार्द हमें प्राप्त होता रहा है। आप की प्रेरणा से इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए सहयोग सन्तरामचेरिटेवलट्रस्ट श्रीगोकुलधाम के भक्तमण्डल के सदस्य श्रीमान्लालानौहरचन्द्रगर्गजी, एवं श्रीमान्रामलालगर्गजी,श्रीमान्वैजनाथगर्गजी, श्रीमान्दर्शनकुमारगर्गजी तथा श्रीमान्मोहनलालगर्गजी ने किया है। आप सभी के मङ्गलमय जीवन के लिए भगवान् श्रीगोकुलेश्वरमहादेव के चरणकमलों में प्रार्थना करते हैं। इस ग्रन्थ के प्रूफ संसोधनादि कार्य में श्रीगोकुलधाम पहाड़ी बाजार के सन्त एवं भक्तमण्डल का पूर्ण सहयोग रहा है। आप सभी के प्रति हृदय से आभार प्रगट करते हुए भूरिश: मङ्गल की कामना करते हैं। सावधानी पूर्वक प्रूफसंशोधनादि कार्य करने पर भी त्रुटि रह ही जाती है। अत: उनका संकेत करने पर अग्रिम संस्करण में सुधार कर दिया जायेगा। इति शिवम्।।

श्रीमच्छङ्करभगवत्पाद जयन्ती **सतामनुचर:**

विक्रमी सम्वत्—२०६१

स्वामिविशुद्धानन्दगिरि:

शाङ्कराब्द—१२ १७ गोकुलधाम कनखल:

दिनाङ्क—२४. ४. २००४ हरिद्वार: (उत्तराञ्चल:)

ॐ श्रीकाशीविश्वनाथो विजयतेतराम्

शुभसम्मति

यस्याङ्घ्रिपङ्कजपरागपरप्रभावाद्, भूत्वा कृती कृतिमतां सृतिमाचरामि।
तं सद्गुरुं सततसर्वसुखं सदग्र्यं, वन्दे सदा विमलबोधघनं विचित्रम्।।

अनादि संसार में सुख के अनन्तर दु:ख और दु:ख के अनन्तर सुख का अनुभव प्रत्येक जीव करता रहता है। यद्यपि कोई भी दु:ख नहीं चाहता है किन्तु अनिच्छित दु:ख प्राप्त होता ही रहता है। इसका कारण नाना जन्मों में सङ्ग्रह किये गये पुण्य—पाप के प्रति जीवों का कर्तृत्वाभिमान ही है। कर्तृत्वाभिमान का मूल कारण अज्ञान है। उस अज्ञान की निवृत्ति होने पर जीव शोक—मोह को पार कर जाता है। इसे श्रुति स्पष्ट रूप से कह रही है— ''तरति शोकमात्मवित्'' (छा.उ. ७.१.३)। इस रहस्य को गुरुजनों की कृपा से कुछ ही महानुभाव अवगत करते हैं। जैसा कि श्री मद्भगवद्गीता में कहा गया है—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन, आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य:।
आश्चर्यवच्चैनमन्य: श्रृणोति, श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

इस स्मृति वाक्य के द्वारा आत्म दर्शन को दुर्लभ बतलाते हुए ज्ञाता का दौर्लभ्य कहा गया तथा कथन का दौर्लभ्य कह कर उपदेष्टा का दौर्लभ्य कहा गया और श्रवण दौर्लभ्य के द्वारा श्रोता का दौर्लभ्य दिखलाया गया है, तथा अन्तिम में श्रवण—दर्शन और कथन होने पर भी आत्म साक्षात्कार को अत्यन्त आयास साध्य कहा गया है। ऐसे आत्मतत्त्व को न समझ पाने के कारण समय—समय पर द्वैतवादियों के द्वारा अद्वैत सिद्धान्त पर शङ्काभास प्रस्तुत किया जाता रहा है। द्वैतवादियों के द्वारा प्रस्तुत शङ्काभासों का निराकरण सहजता पूर्वक अद्वैत आचार्यों के द्वारा किया जाता रहा है। व्यासतीर्थ के द्वारा उठायी गयी शङ्काओं का निराकरण श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी के द्वारा जिस ग्रन्थ में किया गया है। उसका नाम अद्वैतसिद्धि है। अद्वैतसिद्धि के उपर गुरुचन्द्रिका—लघुचन्द्रिका टीका है। जो विद्वानों को सदा ही अपनी ओर आकर्षित करती रहती है। अद्वैतसिद्धि के भावों का बोध सामान्य तत्त्व जिज्ञासुओं को भी हो। इसको लक्ष्य कर के विद्वानों के द्वारा रचित कुछ हिन्दी टीकाएं भी प्रकाश में आयी। इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए श्रीमत्स्वामिविशुद्धानन्दगिरिजीमहाराज के द्वारा यह जो सत्यानन्दप्रबोधिका टीका लिखी गयी है। वह अत्यन्त उपादेय है। इस हिन्दी टीका को देखकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुयी। स्वामी जी ने अपने अनुवाद के साथ इस ग्रन्थ को प्रकाशित कर राष्ट्रभाषा की स्मृद्धि तथा वेदान्त तत्त्व जिज्ञासु पाठकों का प्रभूत उपकार साधन किया है। अनुवाद की भाषा मूलानुगत है। अत: आशा करते हैं कि यह अनुवाद अद्वैतसिद्धि के प्रचार में भी अधिक सहायक होगा। इस महत्व के प्रकाशन के लिए हम हृदय से विद्वद्वर्य श्रीस्वामी जी का हृदय से अभिनन्दन और संवर्धन करते हैं। श्रीस्वामी जी हमारे साथ श्रीकैलाश आश्रम ऋषिकेश तथा काशी जी में अध्ययन किया है। भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथजी के युगल चरण कमलों में प्रार्थना है कि आपको दिव्य सन्यास निष्ठा प्राप्त हो तथा आप सर्वविध उन्नति करते रहें।। ॐ।।

अक्षय तृतीया	**भगवत्पादीय**
विक्रमी संवत् — २०६१	ब्र० दिव्य चैतन्य
शाङ्कराब्द — १२१७	श्रीराजराजेश्वरी मठ
दिनाङ्क — २२.४.२००४	ललिता घाट वाराणसी (उ.प्र.)

ॐ श्री काशीविश्वनाथो विजयतेतराम्

प्रासङ्गिकम्

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्यलोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ्मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि।।

भारत के उत्तराखण्ड हिमालयाञ्चलस्थ सुप्रसिद्धतीर्थ कनखल में विद्वान् सन्यासियों का चिरन्तनकाल से निवास रहा है। जिनके द्वारा परम्परापूर्वक ब्रह्मविद्या परक वेदान्तादि ग्रन्थों का पठन पाठन उपदेशादि का प्रचार प्रसार होता रहा है। इसी परम्परा को आगे बढाते हुए वर्तमान समय में स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के द्वारा अद्वैतसिद्धि पर लिखी गयी यह सत्यानन्दप्रबोधिका टीका आप सभी के सम्मुख प्रस्तुत हो रही है। "तरति शोकमात्मवित्" "तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित अद्वैतसिद्धान्त के ऊपर संसारासक्त चित्त वाले द्वैतवादियों के द्वारा समय—समय पर कीचड़ उछालने का असफल प्रयास होता रहा है। इन प्रयासों को विफल करने के लिए समय—समय श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के द्वारा सहजता पूर्वक प्रयास किया जाता रहा है। इसी परम्परा में न्यायामृतकार के द्वारा उठाये गये आक्षेपों का समाधान अद्वैतसिद्धि में श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिमधुसूदनसरस्वतीजी के द्वारा किया गया है। अद्वैतसिद्धि और अद्वैतसिद्धिकार के विषय में संक्षेप से प्रथम भाग की भूमिका में उल्लेख किया जा चुका है। अतः उस पर अधिक न कह कर वर्तमान में प्रस्तुत इस द्वितीय भाग के जिन प्रसङ्गों पर यह टीका लिखी गयी है उनका संक्षेप से सार लिखना ही उचित है, क्योंकि इससे संक्षेप में विषय का अवगाहन करने वाले जिज्ञासुओं को सहायता मिलेगी। द्वितीय भाग में आये हुए प्रसंङ्गों का सार यह है—

१.जगन्मिथ्यात्व में विशेषानुमान

जगत् में सत्यत्व को सिद्ध करने के लिए न्यायामृतकार ने जो आठ सामान्यानुमान और आठ विशेषानुमान किए, उनमें अद्वैतसिद्धिकार ने दोषों का प्रदर्शन पीछे के प्रकरण में दिखाया। अब इस प्रकरण में अद्वैतसिद्धिकार ने जगत् में मिथ्यात्व को सिद्ध करने के लिए सत्ताइस अनुमानों का प्रदर्शन करके अन्त में कहा कि पूर्वपक्षी के हेतु अल्प और दोषयुक्त है, जबकि सिद्धान्ती के हेतु अधिक और निर्दुष्ट है, वैसे तो अपने अपने हेतुओं की पुष्टि के लिए पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों ही अनुकूल तर्क देते हैं, परन्तु आगे दिखाये जायेंगे कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित अनुकूल तर्क दुर्बल है और सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित अनुकूलतर्क प्रबल है। इस प्रकरण में आये हुए अनुमानों का बहुत ही सरलता पूर्वक विवेचन सत्यानन्दप्रबोधिका में किया गया है। अतः तत्तद् स्थलों पर ही उनका विवेचन देखना उचित है।

२.मिथ्यात्वानुमान के आगमबाध के ऊपर विचार

पूर्वपक्षी का कहना है "विश्वं सत्यम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा "असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" इत्यादि स्मृतियों के द्वारा और "नाभाव उपलब्धेः" इत्यादि ब्रह्मसूत्रों के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जाता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि उक्त श्रुति के द्वारा महानुभाव इन्द्र और बृहस्पति के उद्देश्यों से निखिल कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, इस प्रकार से उक्त श्रुति के द्वारा इन्द्र और वृहस्पति की प्रशंसा की गयी है, जगत् के सत्यत्व प्रतिपादन में उक्त श्रुति का कोई तात्पर्य नहीं है। प्रदर्शित ब्रह्मसूत्र का यह तात्पर्य है कि सत् ब्रह्म का अभाव अर्थात् शून्यत्व नहीं है,क्योंकि प्रमाणों से ब्रह्म की उपलब्धि होती है। अतः वह सूत्र जगन्मिथ्यात्व का विरोधी नहीं है। उक्त स्मृतिवाक्य में इतना ही कहा गया कि जगत् असत् से विलक्षण है, जो कि जगत् को मिथ्या मानने वाले सिद्धान्ती को भी स्वीकार है। अतः वह स्मृति भी जगत् के मिथ्यात्व का विरोधी नहीं है।

३. असत् के साधकत्व के ऊपर विचार

पूर्वपक्षी का कहना है कि अनुमान के पक्ष, हेतु इत्यादि को पारमार्थिक सत्य न मानने पर वे पक्षादि साध्य के साधक नहीं हो सकते हैं। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि साधक होने के लिए पक्षादि को व्यावहारिक सत्य मानना ही पर्याप्त है, इसके लिए पक्षादि को पारमार्थिक सत्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। व्यावहारिकसत्व का लक्षण है– ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वम्, अज्ञानादि के साधक साक्षी में व्यावहारिकसत्त्व नहीं है, यह नहीं कह सकते,क्योंकि केवल ब्रह्मज्ञान के द्वारा बाध्य व्यावहारिक जगत् में तथा अत्यन्ताबाध्य साक्षी में भी उक्त लक्षण विद्यमान हैं। जगत् को पारमार्थिक सत्य न मानने पर लोकमर्यादा का अतिक्रमण होगा और विचार व्यर्थ होगा–ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि जगत् को व्यावहारिक सत्य मानने के कारण सभी मर्यादाओं की उपपत्ति हो जाने से सिद्धान्ती के द्वारा लोकमर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया गया है।

४. असत् के साधकत्व के अभाव में बाधक के ऊपर विचार

सिद्धान्ती का कहना है जो उभयमतसिद्ध सद्भिन्न है उसमें भी साधकत्व देखा जाना ही मिथ्या पदार्थ में साधकत्व न मानने में बाधक है। जैसे प्रतिबिम्ब में बिम्बसाधकत्व देखा जाता है। एवं मिथ्या स्वाप्नपदार्थ में भाविशुभाशुभसूचकत्व देखा जाता है। इसी प्रकार रेखा से अभिन्नत्वेन आरोपित वर्णों में अर्थ का साधकत्व देखा जाता है। और शंकाविष में मरण का साधकत्व देखा जाता है। इस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि उक्त स्थल पर शंका, जो कि सत्य है, वह ही साधक है, न कि शंकोपलक्षित विषय मिथ्या विष भी। जैसे घटोपलक्षित घटात्यन्ताभाव और घटध्वंस में घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व देखे जाने पर भी उसका अभाव उपलक्षणीभूत घट में देखा जाता है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त स्थल पर घट का विशेषण होना सम्भव न होने के कारण ही घट को उपलक्षण माना जाता है। परन्तु शंकितविषस्थल पर मिथ्याविष को विशेषण मानने में कोई बाधक न रहने के कारण, उपलक्षण न मानकर विशेषण ही मानना उचित है, और विशेषण कार्यान्वयी होता ही है।

५. दृगदृश्यसम्बन्ध के ऊपर विचार

पूर्वपक्षी का कहना है दृश्यत्व मिथ्यात्व का साधक नहीं हो सकता,क्योंकि जगत् यदि सत्य है तो भी दृश्य होने में कोई आपत्ति नहीं। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि दृक् अर्थात् ज्ञान तो ज्ञेय से सम्बन्ध रखे बिना ज्ञेय को प्रकाशित नहीं कर सकता। यदि करता तो एक ही घटज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित हो जाता। अतः यदि पूर्वपक्षी को जगत् की सत्यता के ऊपर रुचि है तो उसको ज्ञान–ज्ञेय के उस सम्बन्ध का निरुपण करना होगा, जिस सम्बन्ध के बल पर घटज्ञान केवल घट को ही प्रकाशित करता है, पटादि को नहीं। वह सम्बन्ध तो संयोग या समवाय हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान को चाहे आत्मस्वरूप माने या आत्मा का गुण माने, उस ज्ञान का ज्ञेय के साथ संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं हो सकता। सिद्धान्ती के मत में तो ज्ञान–ज्ञेय का आध्यासिक सम्बन्ध है, क्योंकि सिद्धन्ती के मत में मिथ्याज्ञेय सत्यज्ञान में अध्यस्त है। ज्ञान–ज्ञेय में विषयविषयिभाव सम्बन्ध ा है–ऐसा पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि वह तो विषयत्व और विषयित्वरूप एक–एक में रहने वाला है, जबकि सम्बन्ध तो दो में रहने वाला होता है। इस प्रकार इस प्रकरण में ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध ा का अनेक प्रकार से निर्वचन करने का प्रयास किया गया, जिनका सिद्धान्ती के द्वारा पुष्ट युक्तियों के बल पर खण्डन किया गया है।

६. अनुकूलतर्क के ऊपर विचार

पूर्वपक्षी का कहना है कि सिद्धान्तमत में सम्पूर्ण दृश्य यद्यपि ब्रह्मरूप दृक् में अध्यस्त है,

ऐसा माना जाता है तथापि दृक् के द्वारा किसी समय किसी विषय को किसी प्रमाता के प्रति प्रकाशित करने के लिए तत्तद् विषय से सन्निकृष्ट इन्द्रिय से जन्य तत्तद् विषयाकार वृत्ति के माध्यम से ही तत्तद् विषय का अनावृत दृक के साथ सम्बन्ध माना जाता है। ऐसी स्थिति में विषय को सत्य मानने पर भी उक्त सम्बन्ध के माध्यम से ही विषय का ज्ञान के साथ सम्बन्ध माना जा सकता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि प्रकाश के लिए यह नियम है कि वह अपने से साक्षात् सम्बन्धित का ही प्रकाशक होता है। अत: ज्ञानरूप प्रकाश उक्त वृत्तिरूप परम्परा सम्बन्ध से विषय का प्रकाशक नहीं माना जा सकता है। विषयाधिष्ठान चैतन्य अनावृत होकर ही प्रकाशक हो सकता है। वृत्ति के द्वारा ही आवरण भङ्ग होता है। अत: वृत्ति से पूर्व ज्ञानज्ञेय का आध्यासिक सम्बन्ध रहने पर भी विषय का प्रकाशन न होना उचित ही है। सिद्धान्त मत में विषयी में विषय का अध्यास होता है—ऐसा नियम नहीं माना जाता है, किन्तु ज्ञान—ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध माना जाता है। अत: विषयी अज्ञान का विषय ब्रह्म में अध्यास मानने पर उक्त नियम का व्यभिचार नहीं होगा। अत: जगत् को सत्य मानने पर दृग्दृश्य सम्बन्ध की अनुपपत्ति दृढ़ हो गई।

७. प्रतिकर्मव्यवस्था के ऊपर विचार

प्रतिकर्मव्यवस्था का अर्थ है—किसी पुरुष का किसी समय कोई विषय ही ज्ञान का कर्म होता है, न कि सभी पुरुषों को सर्वदा सभी विषय ज्ञान के कर्म होते हैं। अद्वैत मत में यत्पुरुषीय इन्द्रिय से जिस विषय के सन्निकर्ष से उस विषय के आकार की वृत्ति बनती है, उस पुरुष को उस विषय का ज्ञान होता है। विषयप्रकाशक चैतन्य के विषय में तीन मत है, प्रथम अविद्योपाधिक सर्वगत अविद्या के द्वारा अनावृत जीवचैतन्य ही विषयप्रकाशक है, इस मत में प्रकाशक जीवचैतन्य के साथ विषय के उपराग के लिए वृत्ति मानी जाती है। द्वितीयमत है अविद्या के द्वारा आवृत वही सर्वगत जीवचैतन्य ही विषयप्रकाशक है। इस मत में आवरणनाश के लिए वृत्ति मानी जाती है। तृतीय मत में जीवचैतन्य परिच्छिन्न है। अत: ब्रह्म चैतन्य ही विषयप्रकाशक है। इस मत में जीव चैतन्य का ब्रह्मचैतन्य से अभिन्न होकर अभिव्यक्ति के लिए वृत्ति मानी जाती है। पूर्वपक्षी का कहना है कि उक्त व्यवस्था तो तभी बन सकती है, यदि वृत्ति से पूर्व व्यावहारिक घटादि विद्यमान हो। परन्तु तब तो "यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्" इस व्याप्ति के बल पर व्यावहारिक घटादि में जब प्रतीतिमात्रशरीरत्व नहीं है, तब मिथ्यात्व भी नहीं रह सकता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि उक्त व्याप्ति व्यावहारिक घटादि में व्यभिचरित होने के कारण अमान्य है, क्योंकि अनुकूलतर्क सहकृत पूर्वोक्त मिथ्यात्वानुमान के द्वारा व्यावहारिक घटादि में मिथ्यात्व सिद्ध होने पर भी प्रत्यभिज्ञा के बल पर व्यावहारिक पदार्थों में स्थायित्व सिद्ध होने के कारण प्रतीतिमात्रशरीरत्व नहीं है। उक्त प्रथम मत में प्रकाश चैतन्य सर्वगत होने पर भी "असङ्गो ह्ययं पुरुष:"इस श्रुति के बल पर स्वत: विषय से उपरक्त नहीं होता है, किन्तु वृत्ति के द्वारा ही उपरक्त होता है।

८. प्रतिकूलतर्क के ऊपर विचार

पूर्वपक्षी का कथन है—मिथ्यात्वानुमान के लिए प्रतिकूल तर्क यह है कि जगत् यदि मिथ्या है तब तो उसका कोई अधिष्ठान होना चाहिए। परन्तु सामान्यरूप से ज्ञात होता हुआ अज्ञातविशेषवाला—जो होता है,उसे अधिष्ठान कहते हैं,किन्तु इस प्रकार अधिष्ठान का लक्षण सामान्यविशेष से रहित ब्रह्म में नहीं जा रहा है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि अधिष्ठान का लक्षण हमारे मत में है—स्वरूपेणज्ञात होता हुआ विशेषवाला के रूप से अज्ञात। यह लक्षण ब्रह्म में सुलभ है। दूसरी बात है कि ब्रह्म भी कल्पितसामान्यविशेषवाला होने से पूर्वपक्षी का लक्षण भी ब्रह्म में जाता ही है। वहाँ कल्पित व्यक्तिभेद से सत्त्व आनन्दत्वादि सामान्य है और परिपूर्णानन्दत्वादि विशेष है। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित दूसरा प्रतिकूल तर्क है कि पारमार्थिक घटादि के रहने से तभी

पूर्वदृष्ट उसके संस्कार से व्यावहारिक घटादि की कल्पना हो सकती है, जब कि सिद्धान्तमत में पारमार्थिक जगत् अमान्य है। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि अध्यास के लिए अपने कारण के रूप से संस्कार अपेक्षित है, न संस्कार के विषय की सत्यता। वह संस्कार कल्पित घटादि के ज्ञान से भी उत्पन्न हो ही सकता है। तृतीय प्रतिकूल तर्क है प्रधानभूत पूर्वदृष्ट घटपटादि के साथ अधिष्ठान का सादृश्य न रहने के कारण अध्यास नहीं हो सकता। इसका उत्तर यह है अविद्याध्यास अनादि होने के कारण कारणीभूतसादृश्य की अपेक्षा नहीं रखता है, और सादि—अन्त:करणाध्यास में अविद्यासम्बन्धित्व ही सादृश्य है। अत: अध्यास की उपपत्ति हो जायेगी। चतुर्थ तर्क है कि भ्रम को दोष से अजन्य मानने पर भ्रम के अप्रामाण्य में स्वतस्त्व की आपत्ति आयेगी। और दोष से जन्य मानने पर दोष का अध्यास दोषान्तर से जन्य होने से अनवस्था दोष आता है। इसका समाधान यह है कि अनादि अविद्याध्यास दोष की अपेक्षा नहीं रखता है और सादि अध्यास अविद्यारूप दोष से जन्य होने के कारण अप्रामाण्य का न तो स्वतस्त्व की आपत्ति आती है और न अनवस्था। पञ्चम तर्क है कि अज्ञानरूप बन्ध यदि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी रूप मिथ्या है तब बन्ध के अत्यन्ताभाव के लिए प्रयत्न व्यर्थ है,क्योंकि अत्यन्ताभाव अनुत्पाद्य है, इसका उत्तर यह है कि अधिष्ठानसाक्षात्कार के पूर्व भ्रमबाधकज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रवृत्ति सार्थक है। षष्ठ और सप्तम तर्क यह है कि बन्ध यदि ब्रह्म में अध्यस्त होता तब न तो,ब्रह्म के निदिध्यासन से साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार से बन्ध की निवृत्ति होनी चाहिए थी, और न तो श्रवणादिनियमादृष्ट से सापेक्ष ब्रह्मज्ञान से ही बन्ध की निवृत्ति होनी चाहिए थी, क्योंकि देवता के निदिध्यासन से साध्य देवतासाक्षात्कार से निवर्त्य जो पाप, वह देवता में अध्यस्त नहीं है, और दूरगमनादिनियमादृष्ट से सापेक्ष सेतुदर्शनादि से निवर्त्य पाप भी सेतु में अध्यस्त नहीं है। इसका समाधान यह है कि, शुक्त्यादि में अध्यस्त रजतादि की शुक्तिसाक्षात्कार से निवृत्ति देखे जाने से ब्रह्म में अध्यस्त प्रपञ्च की ब्रह्मसाक्षात्कार से निवृत्ति मानने में कोई दोष नहीं है। देवतादर्शनादि से पापादि का कारणरूप से अवस्थानमात्र होता है, न कि निवृत्ति होती है। अष्टम तर्क यह है कि प्रपञ्च यदि कल्पित होता तो "जन्माद्यस्य यत:" इस सूत्र में और "यतो वा इमानि" इस श्रुति में प्रपञ्च के जन्मादि का प्रतिपादन नहीं किया जाना चाहिए था, क्योंकि कल्पित में न तो किसी से विरोध की शंका होती है, और न विरोध का समाधान करना उचित है। इसका समाधान यह है कि, प्रपञ्च को कल्पित मानने पर भी सिद्धान्ती प्रपञ्च में व्यावहारिकसत्ता मानते है। अत: व्यवहारदशा में विरोध की शङ्का होना और उसका समाधान करना उचित ही है। इस प्रकार अन्य प्रतिकूल तर्कों का भी खण्डन पुष्ट युक्तियों के द्वारा किया गया है।

९. समान्यरूप से मिथ्यात्वश्रुति के ऊपर विचार

मिथ्यात्वानुमान का समर्थन "एकमेवाद्वितीयम्" यह श्रुति भी करती है। प्रश्न होता है कि प्रत्यक्षादि के द्वारा श्रुति के स्वरूप श्रुति के प्रामाण्य और श्रुति की योग्यता को आश्रय करके ही श्रुति अपने अर्थ का प्रतिपादन करती है। अत: "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" इस न्याय के बल पर श्रुति अपने स्वरूपादि के मिथ्यात्व का बोधन नहीं कर सकती है।, करने पर श्रुत्यर्थ में तात्त्विकत्व नहीं रहेगा, क्योंकि शब्दबोध्य अर्थ अपने स्वरूपादि के समानसत्ताक होता है—ऐसा नियम है। इसका उत्तर यह है कि सदर्थक स्वाप्नदेवतावाक्य का स्वरूपादि मिथ्या होने पर भी वाक्यार्थ सत्य होने के कारण उक्त नियम व्यभिचरित है। श्रुति के द्वारा अपने स्वरूपादि के मिथ्यात्व का बोधन किये जाने पर भी श्रुत्यर्थ मिथ्या इसलिए नहीं है कि मिथ्यात्व का जो हेतु दृश्यत्वादि है, वह श्रुत्यर्थ में नहीं है। प्रश्न होता है कि श्रुति के द्वारा बोध्य द्वितीयाभाव को सत्य मानने पर अद्वैतहानि होगी, और असत्य मानने पर श्रुति में अतत्त्वावेदकत्व की आपत्ति आयेगी। इसका सदुत्तर यह है कि प्रथम पक्ष में अभाव को अधिकरणस्वरूप मानने के कारण अद्वैतहानि नहीं होगी। द्वितीय

पक्ष में अवान्तरतात्पर्य का विषय द्वैताभाव असत्य होने पर भी मुख्यतात्पर्य का विषयीभूत ब्रह्म के सत्य होने के कारण श्रुति में अतत्त्वावेदकत्व की आपत्ति नहीं आयेगी।

१०. अद्वैत श्रुति के बाध के ऊपर विचार

प्रश्न होता है कि आपातबोधित द्वैतमिथ्यात्व श्रुति का अर्थ नहीं हो सकता है, किन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से और पूर्वोत्तर वाक्य से अविरुद्ध अर्थ ही श्रुति का अर्थ हो सकता है। अत: प्रत्यक्षादि से और पूर्वोत्तर वाक्य से विरोध होने के कारण द्वैतमिथ्यात्व श्रुति का अर्थ नहीं हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि द्वैतप्रत्यक्ष में अप्रामाण्य की संभावना रहने के कारण, वह अद्वैत श्रुति का विरोध नहीं कर सकता है। प्रश्न होता है कि घटपटादि के ज्ञान के उत्तरकाल में अवश्य ही घटपटादि में रहने वाले भेद का ज्ञान होता है। अत: अद्वैतश्रुति के द्वारा कहीं भी अभेद सिद्ध करना सम्भव नहीं। इसका समाधान यह है कि घटपट के पारस्परिक भेदज्ञान से ही उसी ज्ञान का घटपट में रहने वाले भेद का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि भेदज्ञान प्रतियोगिज्ञान से जन्य होता है। यदि घटपटभेदज्ञान का घटपटनिष्ठ भेद का ज्ञान द्वितीयज्ञान से होता है, तब द्वितीयज्ञान का घटपटनिष्ठ भेद का ज्ञान तृतीयज्ञान से मानना पड़ेगा। अनवस्था दोष से बचने के लिए उक्त प्रकार के भेदज्ञानध ाारा की कहीं विश्रान्ति माननी होगी। इस प्रकार अवसर प्राप्त करके अभेदश्रुति के द्वारा चरमभेदज्ञान का घटपटादि के साथ अभेद सिद्ध हो जायेगा और इस प्रकार से अद्वैतश्रुति सर्वाभेद में पर्यवसित हो जायगी। प्रश्न होता है कि अद्वैतश्रुति के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के मिथ्यात्व का बोधन होता है, अथवा सम्पूर्णजगत् का ब्रह्म से अभेद। आद्यपक्ष में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस प्रकार सामानाधिकरण्य नहीं हो पायेगा, क्योंकि सत्य और मिथ्या का अभेद सम्भव नहीं, द्वितीयपक्ष में शुक्तिरजतादि भी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण शुक्तिरजतादि के ज्ञान को प्रमा मानना पड़ेगा। इसका उत्तर यह है कि आद्यपक्ष में ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का विवर्तोपादान होने के कारण उक्त सामानाधिकरण्य की उपपत्ति हो जायेगी। द्वितीयपक्ष में वस्तुतो भेद न रहने पर भी आविद्यकभेद को लेकर व्यवस्था बन जायेगी।

११. एकमेवाद्वितीयम्– इस श्रुति के अर्थ के ऊपर विचार

प्रश्न होता है "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इस पूर्ववाक्य के द्वारा इदं शब्द वाच्य विश्व का सत् से अभिन्न के रूप से सत्यत्व कह कर पुन: "एकमेवाद्वितीयम्" इस उत्तर वाक्यस्थ अद्वितीय शब्द के द्वारा सत्यविश्व का निषेध मानने पर व्याघातदोष आता है। इसका उत्तर यह है कि सद्भिन्नत्वेन विश्व नहीं था–यही निषेध का अर्थ है। वहाँ एक शब्द के द्वारा सजातीय भेद का, एव शब्द के द्वारा स्वगतभेद का और अद्वितीय शब्द के द्वारा विजातीयभेद का ब्रह्म में निषेध किया गया। प्रश्न है कि द्वितीय शब्द का अर्थ है सहाय। अत: अद्वितीय शब्द का अर्थ होगा–सृष्टि करने में ब्रह्म का कोई सहाय नहीं है। इसीप्रकार अनेकार्थक एक शब्द का अर्थ अन्य या मुख्य भी होता है। अत: श्रुतिस्थ एक शब्द का अर्थ ऐसा किया जाय कि ब्रह्म जीवादि से भिन्न है, अथवा जीवादि में मुख्य है। इसका उत्तर यह है श्रुतिस्थ किसी पद का वही अर्थ ग्राह्य है,। जो अर्थ तात्पर्यार्थ से विरुद्ध न हो। षड्विधतात्पर्यलिङ्गों के बल पर श्रुति का भेदत्रय निषेध में तात्पर्य है ऐसा निश्चय होता है। श्रुतिस्थ पदों का पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अर्थ करने पर श्रुतितात्पर्य के साथ विरोध होने के कारण वैसा अर्थ ग्राह्य नहीं हो सकता है।

१२. ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्ति के ऊपर विचार

"तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा बन्ध ज्ञान से निवर्त्य है–यह सिद्ध है और बन्ध के मिथ्यात्व के बिना ज्ञाननिवर्त्यत्व अनुपपन्न है, इस अर्थापत्तिप्रमाण से बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध है। शुक्तिरूप्य रज्जुसप्र इत्यादि जो ज्ञाननिवर्त्य है। वहाँ निवर्त्यता का अवच्छेदक सर्वानुगत

मिथ्यात्व है और शुक्तिज्ञान, रज्जुज्ञानादि में जो निवर्तकता है, उसका अवेच्छेदक सर्वानुगत अधिष्ठानप्रमात्व है। अत: ब्रह्मज्ञान भी अधिष्ठान प्रमा होने के कारण बन्धनिवर्तक है और बन्ध भी ब्रह्मज्ञाननिवर्त्य होने के कारण मिर्थ्या है—ऐसा मानना ही उचित है। प्रश्न होता है कि ज्ञान अपने प्रागभाव के प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तक है, स्मृति संस्कार के प्रति कार्यत्वेन निवर्तक है, अत: जो पदार्थ मिथ्या नहीं है उसमें भी ज्ञाननिवर्त्यत्व देखे जाने से ज्ञाननिवर्त्यत्व के बल पर मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती। इसका उत्तर यह है कि आत्मज्ञान को अधिष्ठानप्रमात्व के बिना और किसी प्रकार से प्रपञ्चनिवर्तक माना नहीं जा सकता है, क्योंकि प्रपञ्च भावरूप होने के कारण आत्मज्ञान प्रतियोगी के रूप से निवर्तक नहीं हो सकता है। आकाशादि आत्मज्ञान का जनक न होने के कारण आत्मज्ञान कार्य के रूप से आकाशादि का निवर्तक नहीं माना जा सकता है। बन्ध का हेतु अज्ञानमात्र होने के कारण ज्ञान से अतिरिक्त और कोई बन्ध का निवर्तक हो नहीं सकता है,"मायां नु प्रकृतिं विद्यात्" इत्यादि श्रुति के बल पर अज्ञान मात्र ही बन्ध का हेतु है—यह सिद्ध है।

१३. दृष्टिसृष्टि के ऊपर विचार

दृष्टिसृष्टि की अन्यथानुपपत्ति के बल पर भी जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध है। दृष्टिसृष्टि उस पदार्थ को कहा जाता है, जिसकी सत्ता दोष से प्रयुक्त होने के कारण ज्ञात होती है और जिसकी सत्ता ज्ञानकाल मात्र में ही होती है, अथवा अज्ञात सत्ता नहीं होती है, अथवा जिसकी ज्ञातैकसत्ता प्रतिपन्नोपाधि की दृष्टि से जन्य हो, अथवा दूसरे द्रष्टा से अवेद्य होता हुआ जिसकी ज्ञातैकसत्ता हो। सादिपदार्थ में ही दृष्टिसृष्टि मानी जाती है। प्रश्न हो सकता है कि दृष्टिसृष्टिपक्ष में जगत् प्रतीतिमात्र शरीरवाला होने के कारण नियतकारण से जन्य नहीं हो सकता, और तब तो स्वर्गादि के लिए ज्योतिष्टोमादि की कारणता का श्रुति के द्वारा कथन व्यर्थ हो जायेगा। इसका उत्तर है कि स्वाप्न कार्यकारण के बोधकवाक्य के जैसे ही उपपत्ति कर लेनी चाहिए। प्रतिकर्मव्यवस्था का तथा अधिष्ठानेन्द्रियसम्प्रयोग, संस्कार और दोषरूप त्रिविधकारणजन्यत्वरूप अध्यास का तटस्थ लक्षण को मन्द अधिकारी के विषय में समझना चाहिए। सत्यवस्तु का मिथ्यावस्तु के साथ अभिन्नत्वेन अवभास रूप अध्यास का स्वरूपलक्षण तो दृष्टिसृष्टिपक्ष में विरुद्ध नहीं, क्योंकि इदमवच्छिन्नचैतन्यरूप सत्यवस्तु का मिथ्यारजत के साथ "इदं रजतम्" इस प्रकार अभेदेन अवभास होता ही है। प्रश्न होता है अविद्यासहकृत जीव से सृष्टि होती है ऐसा मानने पर, अविद्या के एक होने के कारण, तथा दृष्टिसृष्टिपक्ष में जीव भी एक होने के कारण जगत् का वैचित्र्य की उपपत्ति नहीं होनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि अज्ञान एक होने पर भी उसकी अनेक शाक्तियाँ रहने के कारण उक्त उपपत्ति हो जायेगी। अत: ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च आविद्यक है और प्रातीतिकसत्ता वाला है—यह सिद्ध हो गया।

स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के द्वारा अद्वैतसिद्धि पर लिखी गयी इस टीका की विशेषता यह है कि टीकाकार ने विषय को अति सरल और सामान्य राष्ट्रभाषा में लिखने का सफल प्रयास किया है। इस टीका से अद्वैततत्त्व जिज्ञासुओं को अवश्य ही लाभ होगा इसमें हमारी सम्मति है। सत्यानन्दप्रबोधिकाकार स्वामिविशुद्धानन्दगिरि के सर्वविध मङ्गलमय जीवन के लिए भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथजी से प्रार्थना करते हैं। जिन महानुभावों ने इसके सम्पादन आदि में सहायता की है, वे भी प्रशंसनीय है। वे भी उन्नति करते रहें—यही हमारी भगवान् श्रीकाशीविश्वनाथजी से प्रार्थना है। इति शिवम्।

महाशिवरात्रि	**भगवत्पादीय**
विक्रमी सम्वत्—२०६०	**स्वामिसत्यानन्दगिरि**
शाङ्कराब्द—१२१६	**स्वामिभोलानन्दविद्याभवन**
दिनाङ्क—१८. २. २००४	**बी ८/४१ बाडा गम्भीरसिंह वाराणसी (उ.प्र.)**

सङ्केतानां विवरणम्

अ०सू०	अष्टाध्यायी सूत्र
ईशा०उ०	ईशावास्योपनिषत्
उप०सा०	उपदेशसाहस्री
ऐ०उ०	ऐतरेयोपनिषत्
क०उ०	कठोपनिषत्
के०उ०	केनोपनिषत्
खं०ख०	खण्ड़नखण्ड़खाद्य
गी०	भगवद्गीता
चि०	चित्सुखी
छा०उ०	छान्दोग्योपनिषत्
जै०न्या०मा०	जैमिनीय न्यायमाला
जै०सू०	जैमिनिय सूत्र
तं०वा०	तन्त्र वार्तिक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषत्
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै०सं०	तैत्तिरीय संहिता
नृसिहो०	नृसिंहतापिनी उपनीषत्
न्या०कु०	न्याय कुसुमाञ्जली
न्या०सू०	न्याय सूत्र
पं०द०	पञ्चदशी
पा०सू०	पाणिनी सूत्र
प्रश्नो०	प्रश्नोपनिषत्
बृ०उ०	बृहदारण्यकोपनिषत्
ब्र०सि०	ब्रह्मसिद्धि
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
मां०का०	माण्डूक्य कारिका
मां०उ०	माण्डूक्योपनिषत्
मनु०	मनुस्मृति
महा० भा०	महाभारत
मु०उ०	मुण्डकोपनिषत्
यो०वा०	योगवासिष्ठ
ल०च०	(अद्वैतसिद्धिव्याख्या) लघुचन्द्रिका
विष्णु पु०	विष्णुपुराण
श्वेता०उ०	श्वेताश्वतरोपनिषत्
सं०शा०	संक्षेपशारीरक

अनुक्रमणिका

द्वितीयभागे

॥ ॐ ॥

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीस्वामिमधुसूदनसरस्वतीप्रणीता

॥ अद्वैतसिद्धिः ॥

प्रथमः परिच्छेदः

मिथ्यात्वे विशेषानुमानानि

मिथ्यात्वे च विशेषतोऽनुमानानि—
ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यब्रह्मान्यासत्त्वानधिकरणत्वं पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्ति, ब्रह्मावृत्तित्वात्,

---

स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृता

सत्यानन्दप्रबोधिका

ॐ श्री परमात्मने नमः

**यो धत्ते निजमाययैव भुवनाकारं विकारोज्झितो, यस्याहुः करुणाकटाक्षविभवौ स्वर्गापवर्गाभिधौ।
प्रत्यग्बोधसुखाद्वयं हृदि सदा पश्यन्ति यं योगिनस्तस्मै शैलसुताञ्चितार्द्धवपुषे शश्वन्नमस्तेजसे॥
महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि, तयोर्न भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे॥
श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम्। नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम्॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम्, तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥**

''मिथ्यात्वानुमानस्यानुमानबाधविचारः'' इस पूर्व प्रकरण में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चसत्यत्वसाधक अनेक अनुमान उपस्थापित किये गये हैं। सिद्धान्ती के द्वारा उक्त सभी अनुमानों का निराकरण कर देने के पश्चात् अब प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधक विशेषानुमान प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

मिथ्यात्वसाधक सामान्यानुमान में जो व्यावहारिक प्रपञ्च पक्ष था, उसी व्यावहारिक प्रपञ्चमात्र में रहने वाले धर्म को पक्ष बनाया गया है। अर्थात् ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व और ब्रह्मान्यत्व इन दोनों धर्मों से विशिष्ट असत्त्वानधिकरणत्व को पक्ष बनाया गया है। पारमार्थिक सत्त्व के अधिकरणावृत्तित्व को साध्यकोटि में रखा गया है। ब्रह्मावृत्तित्व को हेतु बनाया गया है। शुक्तिरजतत्त्व अथवा परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद को दृष्टान्त के रूप में रखा गया है। शुक्तिरूप्यत्व ब्रह्म में अवृत्ति है तथा परमार्थसत्त्वाधिकरण में भी अवृत्ति है। अतः दृष्टान्त शुक्तिरूप्यत्व में हेतु और साध्य के रह जाने से व्याप्ति मिल गयी। ब्रह्मान्यत्व ब्रह्म में रह नहीं सकता है। अतः ब्रह्मान्यत्वादि से विशिष्ट धर्म की ब्रह्म में अवृत्तिता होने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो जाने से पक्षधर्मता की सिद्धि हो जायेगी। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता की सिद्धि हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। परमार्थसत्त्वेन परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद को दृष्टान्त बनाने पर भी उसमें हेतु का समन्वय हो जायेगा, क्योंकि परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद ब्रह्म में रहता नहीं है और परमार्थसत्त्व के अधिकरण में भी परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद के न होने से दृष्टान्त में साध्य का भी समन्वय हो जायेगा। पक्ष में हेतु है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूपपरामर्श के होने से केवल व्यावहारिक प्रपञ्च में रहने वाले पक्षीभूत उक्त असत्त्वानधिकरणत्वरूपधर्म में पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणावृत्तित्त्व सिद्ध

शुक्तिरूप्यत्ववत्, परमार्थसद्भेदवच्च॥ १॥ विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्॥ २॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो जाने पर व्यावहारिक प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च यदि पारमार्थिकसत्त्वाधिकरण होता तब व्यावहारिक प्रपञ्च में रहने वाला पक्षस्वरूप उक्त धर्म पारमार्थिकसत्त्वाधिकरणवृत्ति हो जाता है। तब तादृशवृत्तित्व पक्ष में रहता है। अर्थात् तादृश अवृत्तित्व (साध्य) पक्ष में नहीं रहता, जबकि उक्त अनुमान के द्वारा साध्य को पक्ष में सिद्ध कर दिया गया। अत: यह सिद्ध हो गया कि व्यावहारिक प्रपञ्च पारमार्थिकसत्त्वा— धिकरण नहीं है, अपितु मिथ्या है। परमार्थसत्त्वेन परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद को दृष्टान्त बनाने से यह लाभ होता है कि पूर्वपक्षी के मत में घटादि को परमार्थसत् माना जाता है। अत: परमार्थसद्रूप घटादि का भेद ब्रह्म में रह जाने से हेतु दृष्टान्त में नहीं जायेगा, किन्तु ब्रह्म और घट दोनों ही पूर्वपक्षी के मत में परमार्थसत् होने के कारण परमार्थसत्त्वेन ब्रह्म और घट में भेद नहीं मानता है। जैसे देवदत्त और यज्ञदत्त दोनों ही मानव होने के कारण मानवत्वेन दोनों में भेद नहीं माना जाता है। इसलिए पूर्वपक्षी मतानुसार ब्रह्म में घटत्वेन परमार्थसद् (घट) का भेद रहने पर भी परमार्थसत्त्वेन परमार्थसद् घट का भेद ब्रह्म में न होने से दूसरे दृष्टान्त में भी हेतु का समन्वय हो जाता है। साध्य में कुछ लोग यह दोष देते हैं कि अद्वैतसिद्धान्त में पारमार्थिकसत्त्वाधिकरण अप्रसिद्ध है, क्योंकि ब्रह्मेतर किसी भी पदार्थ में सिद्धान्ती पारमार्थिकसत्त्व नहीं मानते हैं। यद्यपि सिद्धान्ती ब्रह्म को परमार्थसत् मानते है किन्तु उसमें परमार्थसत्त्वरूपधर्म नहीं मानते हैं, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में ब्रह्म को निर्धर्मक माना गया है। अत: अद्वैतमत में पारमार्थिक सत्त्वाधिकरण के अप्रसिद्ध होने के कारण पुरा साध्य. ही अप्रसिद्ध हो गया। इसलिए उक्त अनुमान में साध्याप्रसिद्धि दोष है। इसका समाधान यह है कि सिद्धान्ती पारमार्थिकसत्त्वरूप धर्म को पारमार्थिक नहीं मानते हैं किन्तु व्यावहारिक (मिथ्या) मानते हैं। मिथ्यारूप किसी धर्म को ब्रह्म में मानने से ब्रह्म को पारमार्थिकसद् मानने में कोई बाधा नहीं आती है। अत: व्यावहारिक जो पारमार्थिक सत्त्वरूप धर्म उसके अधिकरण में अवृत्तित्वरूपसाध्य विवक्षित है। इस प्रकार के साध्य की दृष्टान्तद्वय में प्रसिद्धि होने के कारण उक्त अनुमान में साध्याप्रसिद्धिदोष नहीं है। इस विषय में श्री सुरेश्वराचार्य जी का वचन उल्लेखनीय है।

अक्षमा भवत: केयं साधकत्वप्रकल्पने।
किं न पश्यसि संसारं तत्रैवाज्ञानकल्पितम्॥

पञ्चपादिकाकार ने भी कहा है— आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्मा:॥ १॥

विमतं मिथ्या, ब्रह्मान्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्। इस अनुमान में 'विमतम्' पद से ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा के द्वारा अबाधित सद्रूप से प्रतीति के योग्य, ब्रह्मभिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्च को ग्रहण किया गया है। साध्यबोधकमिथ्या पद से सद्भिन्नत्वरूप मिथ्यात्व विवक्षित है न कि सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्व, क्योंकि बन्ध्यासुतादि अलीक पदार्थों में ब्रह्मान्यत्वरूप हेतु के रहने और सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होता है। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि पूर्वोक्त प्रकार से साध्य का अर्थ सद्भिन्नत्व करने पर हेतु (ब्रह्मान्यत्व) और साध्य (सद्भिन्नत्व) में अभेदापत्ति होगी तो इसका समाधान यह है कि यह अनुमान अद्वैतवादी के द्वारा माध्व के प्रति किया गया है। माध्वमतानुसार सद्भिन्नत्व

परमार्थसत्त्वं स्वसमानाधिकरणान्योन्याभावप्रतियोग्यवृत्ति, सदितरावृत्तित्वात्, ब्रह्मत्ववत्।। ३।।
ब्रह्मत्वमेकत्वं वा सत्त्वव्यापकम्, सत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, असद्वैलक्षण्यवत्।। ४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

केवल असत्पदार्थ में है और ब्रह्मान्यत्व घटादि प्रपञ्च और असत् पदार्थ दोनों में है। अत: साध्य और हेतु का अर्थ भिन्न–भिन्न होने के कारण हेतु और साध्य में अभेदापत्ति नहीं दी जा सकती। अथवा साध्यबोधक मिथ्या पद से द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ मिथ्यात्व में से कोई भी ग्रहण किया जा सकता है। दृष्टान्त में हेतु हैं, क्योंकि ब्रह्म से अन्य शुक्तिरूप्य है। अत: ब्रह्मान्यत्व शुक्तिरूप्य में रहेगा। शुक्तिरूप्य के सद्भिन्न होने से सद्भिन्नत्वरूप साध्य भी दृष्टान्त में है। अत: व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु के रहने से पक्षधर्मता भी है। इसलिए व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श के रहने से प्रपञ्च में सद्भिन्नत्वरूपसाध्य की सिद्धि हो जायेगी। प्रपञ्चरूपपक्ष में सद्भिन्नत्वरूपसाध्य की सिद्धि हो जाने से द्वैतवादी के द्वारा प्रतिपादित प्रपञ्चनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्व का निराकरण हो गया।। २।।

द्वैतवादी के मत में परमार्थसद्वस्तु अनेक हैं। उसको निराकरण करने के लिए और परमार्थसद्वस्तु एक ही है, इसको सिद्ध करने के लिए सिद्धान्ती के द्वारा अनुमान किया जा रहा है। परमार्थसत्त्व स्वसमानाधिकरण अन्योन्याभाव के प्रतियोगी में नहीं रहता है, क्योंकि सत से इतर में नहीं रहता है जैसे ब्रह्मत्व। पक्ष में हेतु है क्योंकि पूर्वपक्षी घटादि व्यावहारिक प्रपञ्च को सत् मानता है। अत: घटादि को सत् से इतर उनके मत में माना नहीं जा सकता। उनके मत में असत् शुक्तिरूप्यादि और खपुष्पादि को ही सत् से इतर माना जा सकता है। उन शुक्तिरूप्यादि में परमार्थसत्त्व नहीं रहता है। अत: परमार्थसत्त्व सदितरावृत्ति हो गया। अत: सदितरावृत्तित्व परमार्थसत्त्व में रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा— स्व–ब्रह्मत्व, उसका अधिकरण ब्रह्म, उसमें भेद घटादि का है न कि ब्रह्म का, क्योंकि स्व में स्व का भेद नहीं रहता है। उक्त भेद का प्रतियोगी घटादि है। उसमें ब्रह्मत्व अवृत्ति है। अत: उक्त अवृत्तित्व ब्रह्मत्व में गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय इस प्रकार से होगा— सद् (ब्रह्म) से इतर शुक्तिरूप्यादि में ब्रह्मत्व अवृत्ति है। अत: सदितरावृत्तित्व ब्रह्मत्व में चला गया। इस प्रकार पक्षधर्मता और व्याप्ति के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य का समन्वय इस प्रकार से होगा— स्व परमार्थसत्व, उसका अधिकरण परमार्थसत् (ब्रह्म), उसमें भेद घटादि का है। उक्त भेद के प्रतियोगी घटादि में परमार्थसत्त्व की अवृत्ति है। अत: उक्त अवृत्तित्व परमार्थसत्त्व में चला जायेगा। इस प्रकार इस अनुमान से एक ही पदार्थ में परमार्थसत्त्व सिद्ध होगा। इतरों में अर्थत: मिथ्यात्व सिद्ध होगा।। ३।।

इस अनुमान में पक्ष ब्रह्मत्व अथवा ब्रह्मगत एकत्व (अद्वितीयत्व) धर्म है। सत्त्वव्यापकत्व को साध्य बनाया गया है। अर्थात् ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र ब्रह्मत्वम्'' अथवा '' यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र एकत्वम् (अद्वितीयत्वम्)।'' सत्त्वसमानाधिकरणत्व हेतु है और असद्भेद दृष्टान्त है। इस अनुमान में आये हुए सत्त्व पद से परमार्थसत्त्व विवक्षित है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–परमार्थसत्त्व के अधिकरण (ब्रह्म) में असद्भेद रहता है। अत: सत्त्वसमानाधिकरण असद्भेद होगा। इसलिए सत्त्वसमानाधिकरणत्व असद्भेद में गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— "यत्र यत्र (परमार्थ) सत्त्वं तत्र तत्र असद्वैलक्षण्यम्, यथा ब्रह्म।" इस व्याप्ति में

व्याप्यवृत्तिघटादिः जन्याभावातिरिक्तस्वसमानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगी, अभावप्रतियोगित्वात्, अभिधेयत्ववत्। अभिधेयत्वं हि परमते केवलान्वयित्वादन्योन्याभावमात्रप्रतियोगि। स च समानाधिकरण

सत्यानन्दप्रबोधिका

कोई दोष न होने से सत्त्वव्यापकत्व असद्भेद में चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय— (परमार्थ) सत्त्व के अधिकरण (ब्रह्म) में ब्रह्मत्व अथवा एकत्व रहता है, क्योंकि सभी के मत में ही ब्रह्म एक है (ब्रह्म अनेक नहीं)। अतः सत्त्व समानाधिकरण ब्रह्मत्व अथवा एकत्व है। इसलिए सत्त्वसमानाधिकरणत्व ब्रह्मत्व अथवा एकत्व में चला जायेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। अर्थात् ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र ब्रह्मत्वम्'' ऐसी व्याप्ति के सिद्ध हो जाने पर, इस व्याप्ति का व्यतिरेक यह होगा— ''यत्र यत्र ब्रह्मत्वाभावः तत्र तत्र सत्त्वाभावः, यथा जगत्।'' इसी प्रकार ''यत्र यत्र सत्त्वं तत्र तत्र एकत्वम्'' इस व्याप्ति का भी व्यतिरेक यह होगा— 'यत्र यत्र एकत्वाभावः तत्र तत्र सत्त्वाभावः, यथा जगत्''। इस व्यतिरेक व्याप्ति के लिए भी प्रपञ्च दृष्टान्त बन जायेगा, क्योंकि प्रपञ्च में अनेकता होने के कारण एकत्वाभाव है। अतः प्रपञ्च में सत्त्वाभाव भी मानना पड़ेगा। प्रपञ्च में सत्त्वाभाव के सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। यही इस अनुमान से सिद्ध करना था।। ४।।

इस अनुमान में व्याप्यवृत्तिघटादि पक्ष है। जन्याभाव (ध्वंसाभाव) से अतिरिक्त स्वसमानाधिकरणाभावमात्रप्रतियोगित्व साध्य है। अभावप्रतियोगित्व को हेतु बनाया गया है। अभिधेयत्व दृष्टान्त है। इस अनुमान में यदि घटादि को ही पक्ष बनाते तो घटसमाना— धिकरणाभावमात्रप्रतियोगित्व घटादि में सिद्ध होने पर भी घटादि में अव्याप्यवृत्तित्वसिद्ध होता, क्योंकि परमत में संयोगसम्बन्ध से भूतल में जिस अवच्छेदेन घट रहता है उसी भूतल में अन्य अवच्छेदेन संयोगसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकघटात्यन्ताभाव भी रहता है। इस प्रकार संयोगेन घट में अव्याप्यवृत्तित्व सिद्ध होने से सिद्धसाधनदोष होता। अतः सिद्धसा— धनदोष के वारण के लिए घटादि का विशेषण व्याप्यवृत्ति दिया गया है। साध्य में अभाव मात्र प्रतियोगित्व न कहकर अभावप्रतियोगित्व कहने पर सिद्धसाधनदोष होगा, क्योंकि स्वसमाना— धिकरणभेदप्रतियोगित्व घटादि में पूर्वपक्षी भी मानता है, क्योंकि जिस भूतलादि अधिकरण में घट रहता है उस अधिकरण में घट का भेद भी रहता है। अभाव मात्र प्रतियोगित्व कहने पर अभाव मात्र से अत्यन्ताभाव का भी ग्रहण होगा। अत्यन्ताभाव का ग्रहण होने से स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व घट में पूर्वपक्षी के मतानुसार सिद्ध न होने से सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। ''जन्याभावातिरिक्त'' यह विशेषण बाधदोष वारण करने के लिए दिया गया है, क्योंकि जहां पर कपाल के नाश से नाश्य घट होता है वहां पर कपाल का पहले ही नाश हो जाने से घटनाश कपाल में नहीं रहता है, अपितु कपालिका में रहता है। ऐसे स्थल पर स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व घट में सिद्ध नहीं होता है। जैसे स्व—घट, उसका अधिकरण कपाल है और घटध्वंस का अधिकरण कपालिका है, क्योंकि कपाल के नाश से नाश्य घट है। अतः बाधदोष होता है। ''जन्याभावातिरिक्त'' यह विशेषण देने पर पूर्वोक्त प्रकार से ध्वंसाभाव को लेकर बाधदोष नहीं दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व को साध्य क्यों नहीं बनाया गया? ऐसा साध्य बनाने से न तो जन्याभावातिरक्तत्व पद देने की आवश्यकता होती

एव। अस्मन्मते तु मिथ्यैवेति नोभयथापि साध्यवैकल्यम्।। ५।। अत्यन्ताभावः प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिः, नित्याभावत्वात्, अन्योन्याभाववत्।। ६।। अत्यन्ताभावत्वं प्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्तिमात्रवृत्ति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और न मात्र पद देने की, क्योंकि अत्यन्ताभाव पद दे दिये जाने से भेद को लेकर उक्त सिद्धसाधनदोष दिया नहीं जा सकता है और न उक्त बाधदोष दिया जा सकता है और जिस अधिकरण में घट रहता है उसी अधिकारण में घट का अत्यन्तभाव रहता है यहीं तो सिद्धान्ती को सिद्ध करना है। अतः अत्यन्ताभाव पद ही देना चाहिए था। इसका समाधान यह है कि अत्यन्ताभाव पद देने से दृष्टान्त में साध्य और हेतु नहीं रहता। दृष्टान्त अभिधेयत्व में अभावप्रतियोगित्वरूप हेतु है। यद्यपि पूर्वपक्षी के मतानुसार अभिधेयत्व केवलान्वयी होने से उसका अत्यन्ताभाव नहीं होता है। तथापि पूर्वपक्षी के मत में भी उसका अन्योन्याभाव माना जाता है। अतः अन्योन्याभावप्रतियोगित्व अभिधेयत्व में रहने से दृष्टान्त में हेतु का समन्वय हो जाता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के मतानुसार अन्योन्याभाव को लेकर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। जैसे स्व–अभिधेयत्व उसका अधिकरण अभिधेय उसमें भेद अभिधेयत्व का, उस भेद का प्रतियोगी अभिधेयत्व। अतः उक्त प्रतियोगित्व अभिधेयत्व में चला गया। अद्वैतमत में अभिधेयत्व मिथ्या होने के कारण उसका अत्यन्ताभाव भी मिलता है। इसलिए स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व अभिधेयत्व में रहेगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी और सिद्धान्ती दोनों के मतानुसार दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जाता है। पक्ष में हेतु है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य की सिद्धि होने से व्याप्यवृत्तिघटादि मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे।। ५।।

इस अनुमान में अत्यन्ताभाव पक्ष है। प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तित्व साध्य है। अर्थात् प्रतियोगी जिस देश में रहता है वहीं पर उसका अत्यन्ताभाव रहता है। नित्याभावत्व हेतु है। हेतु घटक नित्य पद ध्वंसादि में व्यभिचार वारण के लिए दिया गया है, क्योंकि घट जिस भूतलादि में रहता है वहां घट का ध्वंस नहीं रहता है। घटध्वंस तो कपाल अथवा कपालिका में रहता है। हेतु घटक अभाव पद ब्रह्म में व्यभिचार वारण के लिए दिया गया है। अन्योन्याभाव को दृष्टान्त बनाया गया है। पूर्वपक्षी अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव दोनों को नित्य मानता है। अतः दृष्टान्त (अन्योन्याभाव) में नित्याभावत्व हेतु रहेगा। दृष्टान्त में साध्य भी है क्योंकि अन्योन्याभाव के प्रतियोगी के अधिकरण देश में अन्योन्याभाव रहता है। जैसे घटभेद का प्रतियोगी घट, उसका अधिकरण कपाल देश, उस में घटभेद रहता है। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रह जाने से व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु है क्योंकि पूर्वपक्षी अत्यन्ताभाव को नित्याभाव मानता है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्यसिद्धि का फल यह होगा कि प्रतियोगी के आधार में अत्यन्ताभाव के रह जाने से प्रतियोगिभूतवस्तु मिथ्या सिद्ध हो जायेगी।। ६।।

अत्यन्ताभावत्व, प्रतियोगी के अशेष अधिकरण में वृत्तिमात्र में वृत्ति है अथवा प्रतियोगी से अवच्छिन्न देश में रहने वाले अभावमात्र में वृत्ति है। नित्याभावमात्र में वृत्ति होने से, जैसे अन्योन्याभावत्व। साध्य घटक अशेष पद सिद्धसाधनदोष वारण करने के लिए

प्रतियोग्यवच्छिन्नवृत्तिमात्रवृत्ति वा नित्याभावमात्रवृत्तित्वात्, अन्योन्याभावत्ववत्।। ७।। घटात्यन्ताभावत्वं (स्व)प्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्ति, एतत्कपालसमानकालीनैतद्घटप्रतियोगिकाभाववृत्तित्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

दिया गया है, क्योंकि जिन आचार्यों के मत में समवायिकारण से अन्यत्र प्रतियोगी (घटादि कार्य) के अधिकरण (भूतलादि) में कार्य का अत्यन्ताभाव माना जाता है। उनके मतानुसार प्रतियोगी के यत्किञ्चिद् अधिकरण में प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव रहता है। इसी प्रकार अव्याप्यवृत्ति कपिसंयोगादि का अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के यत्किञ्चिद् अधिकरण में रहता ही है। अशेष पद देने पर कार्य का अशेष अधिकरणों में अभाव पूर्वपक्षी नहीं मानता है। इसी प्रकार कपिसंयोगाभाव का प्रतियोगी कपिसंयोग भी अशेषवृक्ष में नहीं रहता है। अतः सिद्धसा–धनदोष का वारण हो जायेगा। साध्य घटक मात्र पद से लाभ यह होगा कि न्यायमत में दो प्रकार का अत्यन्ताभाव माना जाता है। प्रथम केवल अत्यन्ताभाव द्वितीय व्यधिकरणात्यन्ताभाव (घटत्वेन पटाभाव)। साध्यघटक मात्र पद न देने पर यत्किञ्चिद् अत्यन्ताभाव (व्यधिकरणात्यन्ताभाव) को नैयायिक ग्रहण कर अत्यन्ताभावत्व (पक्ष) में प्रतियोग्यशेषाधिकरणवृत्तिवृत्तित्वरूप साध्य को सिद्ध कर देता। जैसे पटत्वेन घटाभाव उसका प्रतियोगी घट, उसका अधिकरण कपाल, उसमें पटत्वेन घटाभाव की वृत्ति है। उस अत्यन्ताभाव में अत्यन्ताभावत्व के होने से सिद्ध–साधनदोष होगा। मात्र पद देने से सभी प्रकार के अत्यन्ताभाव का ग्रहण होने से व्यधिकरणात्यन्ताभाव (पटत्वेन घटाभाव) और समानाधिकरणात्यन्ताभाव (घटत्वेन घटाभाव) दोनों को लेना पड़ेगा। उनमें से व्याधिकरणात्यन्ताभाव को लेकर भले ही सिद्धसाधनदोष पूर्वपक्षी दे सकता हो, परन्तु समानाधिकरणात्यन्ताभाव को लेकर पूर्वपक्षी सिद्धसाधनदोष नहीं दे सकेगा, क्योंकि घटाभाव के प्रतियोगी घट के अशेषाधिकरण में घट का अत्यन्ताभाव नैयायिक नहीं मानता है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–अन्योन्याभाव नित्याभाव है। अतः अन्योन्याभावत्व नित्याभावमात्रवृत्ति है। इसलिए नित्याभावमात्रवृत्तित्व अन्योन्याभावत्व में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–घटान्योन्याभाव का प्रतियोगी घट के अशेषाधिकरण में घटान्योन्याभाव रहता है। उक्त अन्योन्याभाव में अन्योन्याभावत्व रहेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय–अत्यन्ताभाव नित्याभाव है। अतः नित्याभावमात्रवृत्ति अत्यन्ताभावत्व है। इसलिए अत्यन्ताभावत्व में नित्याभावमात्रवृत्तित्व है। दृष्टान्त में द्वितीय साध्य का समन्वय–प्रतियोगी जिन–जिन देशों में रहता है, वहीं सर्वत्र उसका भेद भी रहता है, जैसे घटभेद का प्रतियोगी घट उसका देश कपालादि उसमें घटभेद है। उसमें घटभेदत्व के रहने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। स्वप्रतियोगिसामानाधिकरण्य प्रतियोगी के अत्यन्ताभाव में सिद्ध हो जाने से प्रतियोगी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा।। ७।।

घटात्यन्ताभावत्व, स्व (घटात्यन्ताभाव) का जो प्रतियोगी (घट) उसका जनक (घटप्रागभाव) के अधिकरण (कपाल) में रहने वाले (घटात्यन्ताभाव) में रहता है, क्योंकि एतद्कपालसमानकालीन जो एतद्घटप्रतियोगिकाभाव उस में वृत्ति है, जैसे प्रमेयत्व। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–एतत्कपाल के समान काल में एतद्घट का अभाव (प्रागभावादि) है। अभाव भी एक प्रमेय पदार्थ है। इसलिए अभाव में प्रमेयत्व की वृत्ति रहेगी। अतः एतत्कपालसमानकालीनैतद्घटप्रतियोगिकाभावृत्तित्व प्रमेयत्व में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–घटाभाव का प्रतियोगी घट, उसका

प्रमेयत्ववत्।। ८।। एतत्कपालमेतद्घटात्यन्ताभावाधिकरणम्, आधारत्वात्, पटादिवत्।। ९।। ब्रह्मत्वं न परमार्थसन्निष्ठान्योन्याभावप्रतियोगितावच्छेदकम्, ब्रह्मवृत्तित्वात्,असद्वैलक्षण्यवत्।। १०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जनक घटप्रागभाव, उसके अधिकरण कपाल में रहने वाले रूप रस गन्धादि सभी प्रमेय है। अतः उनमें प्रमेयत्व की वृत्ति है। इसलिए स्वप्रतियोगिजनकाभावसमानाधिकरणवृत्तित्व प्रमेयत्व में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—एतत्कपाल—पक्षीभूत घट का समवायीकरणीभूतकपाल (न कि अन्य कपाल)। ऐसा कपाल जिस काल में है उसी काल में पूर्वपक्षी भले ही एतत् कपाल में एतद्घट का अत्यन्ताभाव न माने, किन्तु एतत्कपाल से अन्य स्थान पर उसी काल में ही एतद्घट का अत्यन्ताभाव मानता है। उक्त घटात्यन्ताभाव में घटात्यन्ताभावत्व की वृत्ति है। अतः एतत्कपालकालीनैतद्घटप्रतियोगिकाभाववृत्तित्व घटात्यन्ताभावत्व में चला जायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से और पक्ष में हेतु के रहने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य की सिद्धि होने से घट मिथ्या सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि कार्य के प्रागभाव का अधिकरण समवायिकारण माना जाता है। यदि उसी में ही घटादि कार्य का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जाता है तब प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व घटादि में सिद्ध हो जायेगा।। ८।।

यह कपाल इसी घट के अत्यन्ताभाव का अधिकरण है, क्योंकि आधार है, जैसे पटादि। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—पटादि रूपादि का आधार है। इसलिए आधारत्व हेतु दृष्टान्त में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—एतद्घट के अत्यन्ताभाव का अधिकरण पट है। अतः एतद्घटात्यन्ताभावाधिकरणत्व पट में चला जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—एतत्कपाल एतद्घट का आधार होता है। अतः एतत्कपाल में आधारत्व हेतु चला जायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय हो जाने से और पक्ष में हेतु के रहने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। एतत्कपाल में एतद्घट का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जाने से एतद्घट में मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा। इस अनुमान पर यदि कोई शङ्का करे कि एतत्कपाल में एतद्घटात्यन्ताभाव के अनुमान में बाधदोष है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि प्रात्यक्षिकबाध और अनुमानबाध का उद्धार पीछे किया जा चुका है। आगमबाध का उद्धार आगे किया जायेगा। अतः यह अनुमान निर्दुष्ट है।। ९।।

इस अनुमान में ब्रह्मत्व पक्ष है। परमार्थसदनुयोगिकभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वाभाव साध्य है। ब्रह्मवृत्तित्व हेतु है। असद्भेद दृष्टान्त है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—ब्रह्म में असत् का भेद रहता है। अतः ब्रह्मवृत्ति असद्भेद है। अतः ब्रह्मवृत्तित्व असद्भेद में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—"परमार्थसत् ब्रह्म असद्विलक्षणं न" ऐसा भेद नहीं मिलता है, क्योंकि ब्रह्म असद्विलक्षण है। अतः ऐसे भेद का प्रतियोगी असद्विलक्षण नहीं हुआ। इसलिए प्रतियोगितावच्छेदक असद्वैलक्षण्य (असद्भेद) नहीं हुआ। अतः अवच्छेदकत्व असद्वैलक्षण्य में नहीं गया। इसलिए उक्त अवच्छेदकत्वाभाव असद्वैलक्षण्य में चला गया। यद्यपि अद्वैतमतानुसार "परमार्थसद्—असद्भिन्नं शुक्तिरजतं न" ऐसा कहा जा सकता है किन्तु यह अनुमान माध्व के प्रति किया गया है। माध्वमत में शुक्तिरजत को असत् ही माना जाता है। अतः "परमार्थसद्—असद्भिन्नं न" ऐसा भेद नहीं मिलता है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। पक्ष में हेतु का समन्वय—ब्रह्मवृत्ति ब्रह्मत्व है। अतः ब्रह्मवृत्तित्व ब्रह्मत्व में चला

परमार्थसत्प्रतियोगिको भेदो न परमार्थसन्निष्ठः, परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वात्, परमार्थसत्त्वा–वच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववत्।। ११।। भेदत्वावच्छिन्नं सद्विलक्षणप्रतियोग्यधिकरणान्यतरवत्, अभावत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाववत्।। १२।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जायेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य की सिद्धि का फल यह है कि यदि प्रपञ्च परमार्थसद् होता तो उसमें "परमार्थसत्प्रपञ्चो ब्रह्म न" इस प्रकार का भेद मिल जाता तब उक्त भेद की प्रतियेगितावच्छेदक ब्रह्मत्व हो जाता, किन्तु इस अनुमान से यह सिद्ध कर दिया गया कि उक्त अवच्छेदकता ब्रह्मत्व में नहीं है। अतः प्रपञ्च को परमार्थसद् नहीं कहा जा सकता है। अपितु घटादिप्रपञ्च को मिथ्या ही कहा जायेगा।। १० ।।

इस अनुमान से यह सिद्ध करना है कि जिस भेद का प्रतियोगी परमार्थसत् है उस भेद का अनुयोगी परमार्थसत् नहीं है अर्थात एक ही परमार्थसत् है अर्थात् ब्रह्म को छोड़कर अन्य कोई भी पदार्थ परमार्थसत् नहीं है। अतः ब्रह्मभिन्न प्रपञ्च मिथ्या है। इस अनुमान में परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद पक्ष है। परमार्थसदनुयोगिकत्वाभाव साध्य है। परमार्थ–सत्प्रतियोगिकत्व हेतु है। परमार्थसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव दृष्टान्त हैं। दृष्टान्त घटक अभाव पद से अन्योन्याभाव विवक्षित है। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—परमार्थसत्प्रतियोगिकाभाव ही परमार्थसत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाव होता हैं। अतः दृष्टान्त में परमार्थसत्प्रतियोगिकत्व रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—यद्यपि पूर्वपक्षी के मत में परमार्थसत् जो घट, तत्प्रतियोगिक भेद परमार्थसत् जो पट, उसमें रहता है। अतः परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद परमार्थसदनुयोगिक हो सकता है, परन्तु परमार्थसत्त्वेन परमार्थसत्प्रतियोगिक भेद परमार्थसदनुयोगिक किसी के भी मत में नहीं हो सकता है। अतः परमार्थसत्त्वावच्छिन्न प्रतियोगिकाभाव में परमार्थसदनुयोगिकत्वाभाव रहेगा। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु है। अतः पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए ।। ११।।

इस अनुमान में सकल भेद को पक्ष बनाया गया है। सद्विलक्षणप्रतियोग्यनुयोग्यन्यतर–वत्त्व को साध्य बनाया गया है। अभावत्व हेतु है। शुक्तिरजतप्रतियोगिकाभाव दृष्टान्त हैं। इस अनुमान के साध्य का तात्पर्य यह है कि दुनियाँ में जितने भेद हैं उनके प्रतियोगी और अनुयोगी इन दोनों में से कम से कम एक तो सद्विलक्षण होगा ही। यद्यपि कहीं कहीं पर अनुयोगी प्रतियोगी दोनों भी सद्विलक्षण हो सकते हैं। जैसे ''रज्जुसर्पः शुक्तिरूप्यन्न'' इस भेद में अनुयोगी (रज्जुसर्प) और प्रतियोगी (शुक्तिरूप्य) दोनों ही सद्विलक्षण है। किन्तु ऐसा कोई भी भेद नहीं मिल सकता, जिसके अनुयोगी और प्रतियोगी दोनों ही सद् हों, यही इस अनुमान से सिद्ध करना है। ऐसा सिद्ध होने पर एक ब्रह्म ही सत् सिद्ध होगा। ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। पक्ष और दृष्टान्त दोनों ही अभाव है। अतः उनमें अभावत्व हेतु रहेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय ''शुक्ति रजतन्न'' इस प्रकार से रजतप्रतियोगिकभेद लेने पर भेद के अनुयोगी शुक्ति को पूर्वपक्षी भले ही सद्विलक्षण न मानता हो, अर्थात् सत् मानता हो, किन्तु उक्त भेद के प्रतियोगी रजत को सद्विलक्षण मानता है। अतः शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकाभाव में सद्विलक्षण प्रतियोग्यनुयोग्यन्यतरवत्त्व है। अतः दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के समन्वय

परमार्थसन्निष्ठो भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, परमार्थसदधिकरणकत्वात्, शुक्तिरूप्यप्रतियोगिक–भेदवत् ॥१३॥ मिथ्यात्वं ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वव्यापकम्, सकलमिथ्यावृत्तित्वात्, मिथ्यात्वसमानाधि–

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो जाने से और पक्ष में हेतु के रहने से परामर्श की सिद्धि हो जायेगी। अतः पूर्वपक्षी को बाध्य होकर पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी पडेगी।। १२।।

इस अनुमान में परमार्थसदनुयोगिकभेद पक्ष है। परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वाभाव साध्य है। परमार्थसदनुयोगिकत्व हेतु है। शुक्तिरजतप्रतियोगिक भेद दृष्टान्त है। परमार्थसदनुयोगिकभेद में परमार्थसदनुयोगिकत्व के रहने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय–शुक्तिरजतप्रतियोगिकभेद परमार्थसद् ब्रह्म में रहता है। अतः परमार्थसदनुयोगिकत्व शुक्तिरजतप्रतियोगिक भेद में चला जायेगा, क्योंकि भेद जिसमें रहता है वह भेद का अनुयोगी होता है और जिसका भेद रहता है, वह भेद का प्रतियोगी होता है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय–परमार्थसद्ब्रह्म में रहने वाले शुक्तिरजत प्रतियोगिकभेद का प्रतियोगी उभयमत से परमार्थसत् नहीं है, अपितु असत् या प्रातिभासिक शुक्तिरजत है। अतः शुक्तिरजतप्रतियोगिक भेद में परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वाभाव के रहने से दृष्टान्त में साध्य का समन्वय हो गया। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान रूप परामर्श की सिद्धि होने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष पर साध्य सिद्धि का फल यह है कि जिसभेद का अनुयोगी परमार्थसत् है, उस भेद का प्रतियोगी परमार्थसत् नहीं हो सकता है। अर्थात दो परमार्थसत् नहीं है। अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् मिथ्या है।। १३।।

इस अनुमान में मिथ्यात्व धर्म को पक्ष बनाया गया है। ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वव्यापकत्व को साध्य बनाया गया है। अर्थात् ''यत्र यत्र ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्'' यही सिद्ध करना है। यहां व्यापकतावच्छेदक मिथ्यात्वत्व है। सकलमिथ्यावृत्तित्व हेतु है अथवा मिथ्यात्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व हेतु है। दृश्यत्व दृष्टान्त है। पक्ष में प्रथम हेतु का समन्वय–मिथ्यात्व धर्म सकल मिथ्या पदार्थों में रहता है। इसलिए सकल मिथ्यावृत्ति मिथ्यात्व है। अतः सकलमिथ्यावृत्तित्व मिथ्यात्व में चला जायेगा। पक्ष में द्वितीय हेतु का समन्वय–मिथ्यात्व के अधिकरण (मिथ्या) में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी परमार्थसत्त्व आदि है, अप्रतियोगी मिथ्यात्व है, क्योंकि मिथ्यात्व के अधिकरण में परमार्थसत्व का अत्यन्ताभाव तो रह सकता है, किन्तु मिथ्यात्व के अधिकरण में मिथ्यात्व का अत्यन्ताभाव नहीं मिल सकता है। अतः उक्त अप्रतियोगित्व रूप हेतु मिथ्यात्व में चला जायेगा। दृष्टान्त में प्रथम हेतु का समन्वय–शुक्तिरजतादि सकल मिथ्या पदार्थों में दृश्यत्व रहता है। इसलिए सकलमिथ्यावृत्ति दृश्यत्व है। अतः सकल मिथ्यावृत्तित्व दृश्यत्व में चला जायेगा। दृष्टान्त में द्वितीय हेतु का समन्वय–मिथ्यात्व के अधिकरण शुक्तिरजतादि मिथ्या पदार्थों में दृश्यत्व रहता है। अतः शुक्तिरजतादि निष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी दृश्यत्व नही होगा। अपितु अप्रतियोगी होगा। इसलिए उक्त अप्रतियोगित्व रूपहेतु दृश्यत्वं में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय– ''यत्र यत्र ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्वं तत्र तत्र दृश्यत्वं यथा व्यावहारिकप्रपञ्चः'' इस व्याप्ति में कोई दोष न होने से उक्त व्यापकत्वरूपसाध्य का समन्वय दृश्यत्व में हो जायेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता ज्ञानरूप परामर्श के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य सिद्धि का फल यह

करणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वाद्वा, दृश्यत्ववत्।।१४।। दृश्यत्वं परमार्थसदवृत्ति, अभिधेयमात्रवृत्तित्वात्, शुक्तिरूप्यत्ववत्।। १५।। दृश्यत्वं परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यम्, दृश्येतरावृत्तिधर्मत्वात्, प्रातिभासिकत्ववत्।। १६।। उभयसिद्धमसद्विलक्षणं मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगा कि ब्रह्मतुच्छोभयातिरिक्तत्व प्रपञ्च में है। अत: उसमें मिथ्यात्व को स्वीकार करना पडेगा।। १४।।

इस अनुमान में दृश्यत्व को पक्ष बनाया गया है। परमार्थसदवृत्तित्व को साध्य बनाया गया है। अभिधेयमात्रवृत्तित्व अर्थात् अवाच्यावृत्तित्व को हेतु बनाया गया है। शुक्तिरूप्यत्व को दृष्टान्त बनाया गया है। ''यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'' (तै० उ०—२—४) इत्यादि श्रुतियों से सुस्पष्ट है कि दृक् स्वरूप ब्रह्म अवाच्य है। अत: अवाच्य में अवृत्ति दृश्यत्व की होने से अवाच्यावृत्तित्व दृश्यत्व में चला जायेगा। इस प्रकार से पक्ष में हेतु का समन्वय हो जायेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—अवाच्य ब्रह्म में शुक्तिरूप्यत्व की वृत्तिता न होने से अवाच्यावृत्तित्व शुक्तिरूप्यत्व रूप दृष्टान्त में चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—शुक्तिरूप्यत्व की परमार्थसद् में वृत्तिता नहीं है। अत: परमार्थसदवृत्तित्व शुक्तिरूप्यत्व में चला जायेगा। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु और साध्य के होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य की सिद्धि का फल यह है कि परमार्थसद् में दृश्यत्व नहीं रहता है। अर्थात् जिसमें दृश्यत्व रहता है वह परमार्थसद् नहीं है। अत: प्रपञ्च में दृश्यत्व के होने से प्रपञ्च परमार्थसद् नहीं है, अपितु मिथ्या है।। १५।।

इस अनुमान में दृश्यत्व पक्ष है। परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यत्व साध्य है अर्थात् ''यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र परमार्थसद्भिन्नत्वम्'' यही सिद्ध करना है। दृश्येतरावृत्तिधर्मत्व हेतु है और प्रातिभासिकत्व दृष्टान्त है। पक्ष में हेतु है क्योंकि दृश्येत्तर में दृश्यत्व नहीं रहता है। अत: दृश्येत्तरावृत्तित्व दृश्यत्व में रहेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—प्रातिभासिकत्व प्रातिभासिक को छोड़कर अन्यत्र कहीं पर नहीं रह सकता है और प्रातिभासिक पदार्थ दृश्य तो है ही। अत: प्रातिभासिकत्व दृश्य को छोड़कर के अन्यत्र नहीं रह सकता है। अत: दृश्येतरावृत्तिधर्म प्रातिभासिकत्व है। इसलिए दृश्येतरावृत्तिधर्मत्व प्रातिभासिकत्व में चला गया। ''यत्र यत्र प्रातिभासिकत्वं तत्र तत्र परमार्थसद्भिन्नत्वम्'' इस व्याप्ति में कोई दोष न होने से प्रातिभासिकत्व रूप दृष्टान्त में परमार्थसद्भिन्नत्वव्याप्यत्वरूपसाध्य है। इस प्रकार परामर्श के मिल जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। दृश्यप्रपञ्च में परमार्थसद् का भेद सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च परमार्थसद्रूप सिद्ध न होकर मिथ्या ही सिद्ध हो जायेगा।। १६।।

अद्वैत सिद्धान्तानुसार असद्विलक्षण=ब्रह्म, प्रपञ्च और शुक्तिरूप्यादि प्रातिभासिक पदार्थ हैं। माध्वमतानुसार असद्विलक्षण=ब्रह्म और प्रपञ्च ही हैं, क्योंकि माध्वमत में असत् ख्याति स्वीकार होने से बाध्य मात्र को असत् माना गया है। इसलिए उभयमतानुसार असद्विलक्षण ब्रह्म और प्रपञ्च है। इस प्रकार उभयमतानुसार असद्विलक्षण ब्रह्म के होने पर भी ब्रह्म को पक्ष नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि ब्रह्म निर्धर्मक है। उसमें आधारत्व धर्म रूप हेतु नहीं रह सकता है। अत: इस अनुमान में पक्ष व्यावहारिक प्रपञ्च है। मिथ्यात्वासमानाधिकरणधर्मानधिकरणत्व साध्य है। आधारत्व हेतु है। शुक्तिरूप्य दृष्टान्त है।

आधारत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।।१७।। प्रतियोग्यवच्छिन्नो देशोऽत्यन्ताभावाश्रयः, आधारत्वात्, कालवत् ।।१८।। आत्मत्वावच्छिन्नं परमार्थसत्त्वाधिकरणप्रतियोगिकभेदत्वावच्छिन्नरहितम्, परमार्थसत्त्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—शुक्तिरूप्य में रहने वाले धर्मों (अद्वैतमत में मिथ्यात्व और माध्वमत में अलीकत्व) का आधार शुक्तिरूप्य है। अतः उसमें आधारत्व हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—मिथ्यात्व का अधिकरण मिथ्यापदार्थ। उसमें न रहने वाला धर्म परमार्थसत्त्व, उसका अनधिकरण शुक्तिरूप्य है। अतः उक्त अनधिकरणत्वरूपसाध्य शुक्तिरूप्य में चला जायेगा। पक्ष में हेतु है, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च के धर्मों (घटत्वपटत्वादि) का आधार व्यावहारिक प्रपञ्च होता ही है। अतः उसमें आधारत्वरूप हेतु रहेगा। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूप परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्यसिद्धि का फल यह होगा कि मिथ्यात्व के अधिकरण मिथ्या पदार्थ में न रहने वाले परमार्थसत्त्वधर्म का अनधिकरण प्रपञ्च के सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा।। १७।।

इस अनुमान में प्रतियोगी से अवच्छिन्न देश पक्ष है। अव्याप्यवृत्ति पदार्थों को ग्रहण कर सिद्धसाधनदोष आता है। उसको वारण करने के लिए पक्ष का घटक अवच्छिन्न पद दिया गया है। अर्थात् संयोगादि अव्याप्यवृत्ति पदार्थों का आश्रय जो शाखावच्छेदेन वृक्षरूप देश वही मूलावच्छेदेन संयोगात्यन्ताभाव का आश्रय भी है। ऐसा पूर्वपक्षी मानता है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा किन्तु अवच्छिन्न पद दे देने से प्रतियोगी से अवच्छिन्न देश से शाखावच्छिन्न वृक्षरूप देश लेंगे। जिसे पूर्वपक्षी संयोग के अत्यन्ताभाव का आश्रय नहीं मानता है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। अत्यन्ताभावाश्रयत्व साध्य है। आधारत्व हेतु है और काल दृष्टान्त है। प्रतियोगी के आधारभूत देश में आधारत्व के रहने से पक्ष में हेतु का समन्वय हो गया। ''यो यदाधारः सः तदत्यन्ताभावाश्रयः, यथा कालः।'' काल जगत् का आधार होने से प्रतियोगी और प्रतियोग्यत्यन्ताभाव का भी आश्रय है। अर्थात् काल घटादि का आधार है। अतः आधारत्व काल में रहेगा और काल घटादि के अत्यन्ताभाव का भी आश्रय है। इसलिए उक्त आश्रयत्व भी काल में रहेगा। अतः काल में हेतु और साध्य का समन्वय हो जाने से व्याप्तिग्रह हो जायेगा। पक्षधर्मता और व्याप्तिग्रह की सिद्धि हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। ऐसा होने पर प्रपञ्च में मिथ्यात्व के चतुर्थ लक्षण—''स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'' का समन्वय हो जाने से प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा।। १८।।

इस अनुमान में आत्मत्वावच्छिन्न आत्मा पक्ष है। परमार्थसत्त्वाधिकरण प्रतियोगिक—भेदत्वावच्छिन्नरहितत्व साध्य है। परमार्थसत्त्व हेतु है और परमार्थसत्त्वावच्छिन्नपरमार्थसत् दृष्टान्त है। आत्मत्वावच्छिन्न आत्मा में परमार्थसत्त्व उभयवादी सिद्ध होने से पक्ष में हेतु गया। दृष्टान्त परमार्थसत्त्वावच्छिन्न परमार्थसत् में परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद सम्भव नहीं है क्योंकि घटत्वावच्छिन्न घटरूप परमार्थसत् में पटत्वावच्छिन्न पट रूप परमार्थसत् का भेद पूर्वपक्षी के मत में मान्य हो सकता है। परन्तु परमार्थसत्त्वेन घटरूप परमार्थसत् में पटरूप परमार्थसत् का भेद पूर्वपक्षी के मत में भी मान्य नहीं है। अतः परमार्थसत्त्वावच्छिन्न परमार्थसत् में परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद का अभाव ही पूर्वपक्षी के द्वारा भी मान्य है।

परमार्थसत्त्वावच्छिन्नवत्। परमार्थसति परमार्थसद्भेदाङ्गीकारवादिमतेऽपि स भेदो न परमार्थसत्त्वावच्छिन्ननिष्ठः, किन्तु घटत्वाद्यवच्छिन्ननिष्ठ एव॥ १९॥ शुक्तिरूप्यं मिथ्यात्वेन प्रपञ्चान्न भिद्यते,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः दृष्टान्त में साध्य का भी समन्वय हो गया। परमार्थसत् में परमार्थसत्त्व के होने से दृष्टान्त में हेतु भी है। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य सिद्धि का फल यह है कि जैसे परमार्थसत् में परमार्थसत् का भेद नहीं रहता है, यदि इसी प्रकार आत्मत्वावच्छिन्न आत्मा में भी परमार्थसत् का भेद नहीं रहता है तो प्रपञ्च को परमार्थसत् नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ''आत्मा प्रपञ्चो न भवति'' इस प्रकार से आत्मा में प्रपञ्च का भेद रहता है। इस भेद का प्रतियोगी प्रपञ्च यदि परमार्थसत् होता तो आत्मा में परमार्थसत्त्वाधिकरण प्रतियोगिक भेद रह जाता है। परन्तु जब इस अनुमान के द्वारा आत्मा में परमार्थसत्त्वाधिकरण प्रतियोगिक भेद नहीं रहता है, यह सिद्ध कर दिया गया तब उक्त भेद के प्रतियोगी प्रपञ्च को परमार्थसत्त्वाधिकरण न मानकर मिथ्या ही मानना पड़ेगा। पूर्वपक्षी यत्किञ्चित् घटादिरूप परमार्थसत्त्वाधिकरण पदार्थों का भेद आत्मा में मानता है। अतः पूर्वपक्षी सिद्धसाधनदोष दे नहीं सकता है, क्योंकि साध्य भेद नहीं, किन्तु भेदाभाव है। परन्तु नैयायिक यह तो कह सकता है कि हम जो आत्मा में परमार्थसदधिकरणघटादि का भेद मानते हैं वह भेद तो वास्तविक है, न कि काल्पनिक। अतः परमार्थसदधिकरण घटादि का काल्पनिक भेद का अभाव हम भी आत्मा में मानते हैं। अतः सिद्धसाधनदोष होगा, अतः नैयायिक के द्वारा उक्त प्रकार से उद्भावित उस सिद्धसाधनदोष के निवारण के लिए साध्य में भेदाभाव शब्द का प्रयोग न करके भेदत्वावच्छिन्नाभाव (सकलभेदाभाव) कहा गया। ऊपर कहे गये प्रकार से नैयायिक काल्पनिक भेद का अभाव मान सकता है, किन्तु वास्तविक भेद का अभाव नहीं मानता है। अतः सिद्धसाधनदोष नहीं लग सकता है। नैयायिक कह सकता कि देवदत्तावच्छिन्न आत्मा में आत्मत्वेन परमार्थसदधिकरण यज्ञदत्तात्मप्रतियोगिक भेद हम भी नहीं मानते हैं। अतः सिद्धसाधनदोष लग रहा है। इस दोष का निवारण करने के लिए केवल आत्मा को पक्ष न बनाकर आत्मत्वावच्छिन्न कहा गया। अतः यत्किञ्चित् आत्मा को पक्ष मानकर उक्त सिद्धसाधनदोष दिया नहीं जा सकता है॥ १९॥

इस अनुमान में शुक्तिरूप्य पक्ष है। शुक्तिरूप्यधर्मिक मिथ्यात्वलिङ्गकप्रपञ्चप्रतियोगिक जो भेद उस भेद का अत्यन्ताभाव साध्य है। अर्थात् ''शुक्तिरूप्यं प्रपञ्चप्रतियोगिकभेदवत्, मिथ्यात्वात्, रज्जुसर्पवत्,'' इत्याकारक अनुमान का साध्यीभूत जो भेद उस भेद का अत्यन्ताभाव प्रकृत अनुमान में साध्य है। व्यवहारविषयत्व हेतु है। दृष्टान्त ब्रह्म है। पक्ष में हेतु का समन्वय—शुक्तिरूप्य का हान—उपादान—उपेक्षा—अभिलाप—स्फुरणादि रूप व्यवहार होता है। ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से अभिलापादि व्यवहार का विषय शुक्तिरूप्य बनता है। अतः व्यवहारविषयत्व शुक्तिरूप्य में चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—ब्रह्म स्फुरणरूप व्यवहार का विषय बनता है। अथवा ''ब्रह्म परमार्थसत् है।'' एवं ''ब्रह्म स्वयं प्रकाश है।'' इस प्रकार वाणी के बोलने रूप व्यवहार का विषय ब्रह्म होता है। अतः ब्रह्म में व्यवहारविषयत्व रूप हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— इस अनुमान में साध्य का समन्वय—

व्यवहारविषयत्वात्, ब्रह्मवत्। साध्यसत्त्वमत्र त्रेधा–स्वस्यामिथ्यात्वेनोभयोर्मिथ्यात्वेनोभयोरमिथ्यात्वेन वा। तत्रान्तिमपक्षस्यासम्भवात्, पक्षे साध्यसिद्धिपर्यवसानं मध्यमपक्षेण, दृष्टान्ते तु प्रथमपक्षेणेति विवेकः।।२०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

तीन प्रकार से हो सकता है। १. स्वस्यामिथ्यात्वेन, जिसमें साध्य का समन्वय करना हो उसे स्व शब्द से लेना चाहिए। यदि साध्यधर्मित्वेन विवक्षित पदार्थ में अमिथ्यात्व है तो उसमें मिथ्यात्वरूप लिङ्ग नहीं रहने से अर्थात् ''अमिथ्यापदार्थः, प्रपञ्चान्नभिद्यते, मिथ्यात्वात्,'' ऐसा अनुमान करना सम्भव न होने से मिथ्यात्वलिङ्गक प्रपञ्चप्रतियोगिकभेद का अत्यन्ताभावरूप साध्य रह जायेगा। २. उभयोर्मिथ्यात्वेन– जिस पदार्थ के भेद का अत्यन्ताभाव साध्य है वह पदार्थ और जिसमें उक्त अत्यन्ताभाव को सिद्ध करना है वह पदार्थ, इन दोनों पदार्थों के मिथ्या होने पर भी साध्य का समन्वय हो जाता है। अर्थात् जब दोनों पदार्थ मिथ्या होंगे तब मिथ्यात्वलिङ्गक एक का भेद दूसरे में नहीं रह सकेगा। जैसे एक घट का दूसरे घट में और एक पट का अपर पट में घटत्वलिङ्गक तथा पटत्वलिङ्गक भेद नही रहता है। अर्थात् ''एतद् घटः तद् घटो न, घटत्वात्'' अथवा ''एतत् पटः, तत् पटो न, पटत्वात्'' ऐसा घटत्वादि हेतु के द्वारा एक घटादि का दूसरे घटादि में भेद सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उभय के मिथ्या होने पर मिथ्यात्वलिङ्गक भेद का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जायेगा, जो कि इस अनुमान में साध्य के रूप से विवक्षित है। ३. उभयोरमिथ्यात्वेन–यत्प्रतियोगिकभेद के अत्यन्ताभाव को साध्य बनाया है वह और उक्त अत्यन्ताभावरूपसाध्य का धर्मित्वेन जो विवक्षित हो वह, इन दोनों के अमिथ्या होने से साध्य का समन्वय हो जाता है, क्योंकि दोनों के अमिथ्या होने से किसी में भी मिथ्यात्व रूपलिङ्ग नहीं रहेगा। इसलिए मिथ्यात्वलिङ्गक भेद का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जायेगा। मूल में ''अन्तिमपक्षस्य'' के बाद समुच्चयार्थक चकार का अध्याहार करना चाहिए। इससे अर्थ यह होगा कि प्रथम और अन्तिम पक्ष असम्भव होने से पक्ष में साध्य का समन्वय मध्यम पक्ष से होगा, क्योंकि प्रथम पक्ष में साध्य धर्मित्वेन विवक्षित का अमिथ्यात्व चाहिए और अन्तिम पक्ष में दोनों का अमिथ्यात्व चाहिए, परन्तु पक्षीभूतशुक्तिरूप्य में ये दोनों बातें नहीं है। अतः उक्त दोनों पक्षों के असम्भव होने से मध्यम पक्ष से साध्य का समन्वय होगा। मध्यम पक्ष से साध्य का समन्वय पक्ष में करने पर शुक्तिरूप्य के जैसे प्रपञ्च को भी मिथ्या मानना पड़ेगा, क्योंकि मध्यम पक्ष से जहां साध्य का समन्वय होता है वहां दोनों मिथ्या होते हैं। यह पीछे कहा जा चुका है। ब्रह्मरूप दृष्टान्त में प्रथम पक्ष के अनुसार साध्य का समन्वय होगा, क्योंकि ब्रह्म के अमिथ्या होने से उसमें मिथ्यात्व नहीं है। इसलिए ''ब्रह्म प्रपञ्चान्नभिद्यते मिथ्यात्वात्'' इस प्रकार अनुमान करना सम्भव न होने के कारण मिथ्यात्वलिङ्गक प्रपञ्चप्रतियोगिक भेद का अत्यन्ताभावरूप साध्य ब्रह्म में है। इस प्रकार पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु और साध्य के समन्वय हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य सिद्धि से यह लाभ होगा कि शुक्तिरूप्य के जैसे ही प्रपञ्च भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा।। २०।।

इस अनुमान में ''विमतम्'' पद से ब्रह्मविषयिणी प्रमा से भिन्न प्रमा के द्वारा अबा–धित सद्रूप से प्रतीति के योग्य ब्रह्मभिन्न (व्यावहारिक) प्रपञ्च को ग्रहण किया गया है। अर्थात् व्यावहारिक प्रपञ्च को इस अनुमान में पक्ष बनाया गया है। मिथ्यात्व साध्य है। मोक्ष

विमतं मिथ्या, मोक्षहेतुज्ञानाविषयत्वे सत्यसदन्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्।। २१।। मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वं परमार्थसत्त्वव्यापकम्, परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्वात्, पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्ववत्।। २२।। एतत्पटात्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटानाद्यभावत्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

हेतु ज्ञानाविषयत्वे सति असदन्यत्व हेतु है। शुक्तिरूप्य दृष्टान्त है। मिथ्यात्वरूपसाध्य दृष्टान्त शुक्तिरूप्य में है और हेतु भी है, क्योंकि शुक्ति को रजत समझने से मोक्ष हो जायेगा, ऐसा कोई भी नहीं मानता है। अर्थात् मोक्ष का हेतुभूतज्ञान पूर्वपक्षी ईश्वरस्य दासोऽहमित्यादि कुछ भी मानता हो किन्तु शुक्तिरूप्य के ज्ञान को मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान नहीं मानता है। अतः शुक्तिरूप्य में मोक्ष हेतु ज्ञान का अविषयत्व चला गया। इस अनुमान से पहले ही शुक्तिरूप्य को असद् से भिन्न सिद्ध कर दिया गया है, क्योंकि शुक्तिरूप्य सत्त्वेन प्रतीति का योग्य है। जब कि असत् किसी भी आश्रय में सत्त्वेन प्रतीति का योग्य नहीं है। अतः शुक्तिरूप्य में असदन्यत्व भी गया। इस प्रकार दृष्टान्त में हेतु और साध्य के रहने से व्याप्ति मिल गयी। पक्ष में हेतु है, क्योंकि ''ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'' (छा०उ० २—२३—१), ''ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'' (मु० उ० ३—२—१), ''ब्रह्मविदाप्नोति परम्'' (तै० उ० २—१—१) इत्यादि श्रुतियों में ब्रह्म विषयकज्ञान को ही मोक्ष का हेतुभूत ज्ञान कहा गया है न कि प्रपञ्चविषयकज्ञान को। घटपटादि प्रपञ्च के ज्ञान से मोक्ष होता है, ऐसा पूर्वपक्षी भी मानता नहीं है और प्रपञ्च को उभयवादी असत् से भिन्न भी मानते ही हैं। अतः प्रपञ्च में हेतु का समन्वय हो जायेगा। पूर्वोक्त प्रकार से परामर्श की सिद्धि हो जाने से प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी ।। २१।।

इस अनुमान में मोक्षहेतुज्ञानविषयत्व पक्ष है। परमार्थसत्त्वव्यापकत्व साध्य है, अर्थात् ''यत्र यत्र परमार्थसत्त्वं तत्र तत्र मोक्षहेतुज्ञानविषयत्वम्'' ऐसी व्याप्ति यहां पर अभीष्ट है। परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्व हेतु है। पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व दृष्टान्त है। पक्ष में हेतु का समन्वय—परमार्थसत्त्व का अधिकरण जो ब्रह्म है उसी में मोक्ष हेतु ज्ञान का विषयत्व भी है। अतः मोक्षहेतुज्ञानविषयत्व में परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्व गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—यद्यपि व्यावहारिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व धर्मादि में रहता है, तथापि पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व ब्रह्म में ही रहता है। अतः परमार्थसत्त्व का जो अधिकरण ब्रह्म है, उसी में पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयकत्व है। इसीलिए पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व में परमार्थसत्त्वसमानाधिकरणत्व चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— "यत्र तत्र परमार्थसत्त्वं तत्र तत्र पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्वम्, यथाब्रह्म" इस व्याप्ति में कोई दोष न होने से परमार्थसत्त्व का व्यापकत्व पारमार्थिकत्वेन श्रुतितात्पर्यविषयत्व में हैं। इस प्रकार परामर्श की सिद्धि हो जाने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्य की सिद्धि का फल यह होगा कि परमार्थसत्त्व के व्यापक मोक्ष हेतु ज्ञान की विषयता प्रपञ्च में न होने से व्याप्य—परमार्थसत्त्व भी प्रपञ्च में नहीं रहेगा। अतः प्रपञ्च को मिथ्या ही मानना पड़ेगा।। २२ ।।

इस अनुमान में एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव पक्ष हैं। एतत्तन्तुनिष्ठत्व साध्य है। एतत्पटानाद्यभावत्व हेतु है। एतत्पटप्रतियोगिकान्योन्याभाव दृष्टान्त है। पक्ष में हेतु का समन्वय—अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव और प्रागभाव ये तीनों अभाव अनादि है। अतः पक्षीभूत एतत्पटप्रतियोगकात्यन्ताभाव में एतत्पटानाद्यभावत्व हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में हेतु का

एतत्पटान्योन्याभाववत्। तन्तुनाशजन्यपटनाशस्य कदापि तन्तुवृत्तिता नास्तीति तत्र व्यभिचारवारणायानादिपदम्। यस्य पटस्याश्रयविभागेन नाशस्तदत्यन्ताभावस्य पक्षत्वे त्वनादिपदमनादेयमेव। अत्र चैतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वावच्छिन्नस्य पक्षीकरणान्न सम्बन्धान्तरेणात्यन्ताभावमादायांशतः सिद्धसाधनम्, पक्षतावच्छेकावच्छेदेन साध्यसिद्धेरुद्देश्यत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समन्वय—अन्योन्याभाव अनादि है। अतः एतत्पटप्रतियोगिकान्योन्याभावरूप दृष्टान्त में एतत्पटानाद्यभावत्व रूप हेतु चला जायेगा। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—एतत्पट का भेद एतत्तन्तु में रहता है। अतः एतत्पटप्रतियोगिकान्योन्याभाव में एतत्तन्तुनिष्ठत्व चला जायेगा। इस प्रकार परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष पर साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष पर साध्य की सिद्धि का फल यह होगा कि एतत्पट के उपादानकारण एतत्तन्तु में ही एतत्पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध हो जाने से पट मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। इस अनुमान में हेतु घटक अनादि पद इसलिए दिया गया है कि जहां पर तन्तु के नाश (ध्वंस) से पट का नाश होता है वहां पर पटनाश तन्तु में नहीं रहता है, अपितु तन्तु के उपादान कारण में रहता है। अनादि पद न देने पर उक्त पटनाश में पटाभावत्व रह जाता है और साध्य के न रहने से व्यभिचारदोष होता है, किन्तु अनादि पद देने पर पटनाश (पटध्वंस) नहीं ले सकते हैं, क्योंकि ध्वंस अनादि नहीं होता है। जिस पट का नाश उसके समवायीकारणीभूत तन्तु के नाश से न होकर असमवायिकारणीभूत तन्तुसंयोग के नाश से होता है, यदि उस पट के अत्यन्ताभाव को पक्ष बनाया जाता है तो अनादि पद न देने पर भी व्यभिचारदोष नहीं होगा, क्योंकि असमवायिकारण नाश जन्य पट के नाश में एतत्तन्तुनिष्ठत्व और एतत्पटाभावत्व दोनों हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि पट का असमवायिकारण तन्तु संयोग का नाश होने पर पट का नाश हो गया किन्तु ऐसे स्थल पर तन्तु का नाश नहीं होता है। अतः एतत्पट का नाश एतत्तन्तु में रहेगा और उस नाश में एतत्पटाभावत्व भी रहेगा। अतः व्याभिचारदोष वारण करने के लिए हेतु घटक अनादि पद को देने की आवश्यकता नहीं है। इस अनुमान में एतत्पटप्रतियोगिक सकल अत्यन्ताभाव को पक्ष बनाया गया है। इसलिए समवाय सम्बन्ध से एतत्पट के अधिकरण एतत्तन्तु में संयोग सम्बन्ध से एतत्पट के अत्यन्ताभाव को लेकर आंशिक सिद्धसाधनता नहीं दिखाई जा सकती है, क्योंकि प्रकृत में पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यसिद्धि उद्देश्य है न कि पक्षतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि सकल पक्ष को उद्देश्य बनाकर साध्य सिद्धि की जा रही हो तो ऐसे स्थल पर सिद्धसाधनदोष तब आता है यदि अनुमान से पहले ही सकल पक्ष पर साध्य सिद्ध हो, यत्किञ्चित पक्ष में साध्यसिद्धि होने पर भी सिद्धसाधनदोष नहीं आता है। इस पर विशेष विचार प्रथम भाग के पृष्ठ ५ पर किया जा चुका है। अथवा एतत्पटात्यन्ताभावमात्र को पक्ष न बनाकर समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक जो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नप्रतियोगिताक एतत्पटात्यन्ताभाव को पक्ष बनायेंगे। ऐसा करने पर सम्बन्धान्तर को लेकर जो अंशतः सिद्धसाधनदोष आ रहा था वह नहीं आयेगा। इसी प्रकार व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न एतत्पटात्यन्ताभाव को लेकर जो सिद्धसाधनदोष आ रहा था वह भी नहीं आयेगा। अर्थात जिस तन्तु में पटत्वेन पट है उसी तन्तु में घटत्वेन एतत्पट का अत्यन्ताभाव माना जाता है। अतः सिद्धसाधनदोष होता किन्तु पक्ष में व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्न विशेषण देने पर व्यधिकरणधर्मावच्छिन्न—

समवायसम्बन्धावच्छिन्नो व्यधिकरणधर्मानवच्छिन्नश्च य एतत्पटात्यन्ताभावः स एव वा पक्षः। तन्तुशब्देन च पटोपादानकारणमुक्तम्। तत्र च (पट)प्रागभावस्य सत्त्वान्न तेन व्यभिचारः। कार्यकारण— योरभेदेन सिद्धसाधनादिदूषणानि प्रागेव तत्त्वप्रदीपिकानुमानोपन्यासे निराकृतानि।। २३।। यद्वा समवायसम्बन्धावच्छिन्नोऽयमेतत्पटात्यन्ताभाव एतत्तन्तुनिष्ठः, एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभावत्वात्, सम्बन्धान्तरावच्छिन्नैतत्पटात्यन्ताभाववदिति विशिष्यानुमानम्।। २४।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतियोगिताकात्यन्ताभाव को लेकर सिद्धसाधनदोष नहीं होगा। अद्वैतवेदान्तमत में एतत्पट का विवर्तोपादानकारण एतत्पटावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य और परिणामी उपादानकारण एतत्पटावच्छिन्न— ब्रह्मचैतन्याश्रिता मूलाविद्या है। अतः एतत्पट का प्रागभाव उक्त दोनों उपादान कारणों में रहेगा न कि एतत्तन्तु में, क्योंकि सिद्धान्ती एतत्तन्तु को एतत्पट का उपादानकारण नहीं मानते हैं। अतः एतत्पट के प्रागभाव में हेतु एतत्पटानाद्यभावत्व के रहने और साध्य एतत्तन्तुनिष्ठत्व के न रहने से व्यभिचारदोष होगा। इस व्यभिचारदोष के वारण के लिए कह रहे हैं कि साध्यस्थ एतत्तन्तु पद के स्थान पर एतत्पटोपादानकारण कहेंगे। ऐसा कहने पर व्यभिचारदोष का वारण हो जायेगा, क्योंकि अद्वैतवेदान्तमत में एतत्पट का प्रागभाव एतत्पट के उपादान कारण ब्रह्म और अविद्या में रहेगा और पूर्वपक्षी के मत में एतत्पट का प्रागभाव एतत्पट के उपादान कारण एतत्तन्तु में रहेगा। अतः एतत्पट के प्रागभाव में हेतु और साध्य दोनों के रहने के कारण व्यभिचारदोष नहीं होगा। "न च कार्यस्य कारणाभेदेन तदनाश्रितत्वात् सिद्धसाधनम्, अनाश्रितत्वेनान्याश्रितत्वेन वोपपत्याऽर्थान्तरञ्चेति वाच्यम्, अभेदे कार्यकारणभावव्याहत्या कथञ्चिदपि भेदस्यावश्याभ्युपेयत्वात्" इन पंक्तियों के द्वारा कार्यकारण में अभेद मानकार सिद्धसाधनादि दोषों का उद्भावन और उसका परिहार तत्त्वप्रदीपिका के अनुमान के अवसर पर प्रथम भाग के पृष्ठ ९४—९५ पर किया गया है।। २३।।

अथवा समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक इस पट का अत्यन्ताभाव इस तन्तु में रहने वाला है, एतत्पटप्रतियोगिकात्यन्ताभाव होने से। जैसे संयोगसम्बन्धावच्छिन्न एतत्पटप्रतियोगिका— त्यन्ताभाव। पक्ष घटक "अयम्" पद का विवरण समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताक" है। अर्थात् "अयम्" पद से कपालादि में सिद्ध जो पटकाल में रहने वाला पटत्वेन पटात्यन्ताभाव वही लिया जायेगा। एतत्तात्पर्यार्थक "अयम्" पद न देने से पट के असमवायिकारण के नाश से पट का नाश होने के पश्चात् एतत्तन्तु में रहने वाले समवायसम्बन्धावच्छिन्न एतत्पटात्यन्ताभाव को लेकर अथवा घटत्वेन एतत्पटात्यन्ताभाव को लेकर सिद्धसाधनदोष पूर्वपक्षी देता। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु है, क्योंकि अत्यन्ताभाव में अत्यन्ताभावत्व रहता ही है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—यद्यपि पूर्वपक्षी एतत्तन्तु में समवायेन पट का अत्यन्ताभाव नहीं मानता है किन्तु एतत्तन्तु में संयोगेन पट का अत्यन्ताभाव मानता है। अतः दृष्टान्त में साध्य चला गया। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान रहने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्यसिद्धि का फल यह होगा कि समवाय सम्बन्ध से एतत् पट एतत्तन्तु में रहता है ऐसी स्थिति में जब उसी तन्तु में एतत्पट का अत्यन्ताभाव सिद्ध कर दिया गया तब पट मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार इस अनुमान से विशेषरूप से किसी एक व्यावहारिकपट में मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार अन्य व्यावहारिक पदार्थों में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा।। २४।।

अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सत्युक्तपक्षतावच्छेदकवत्, स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगि, अनात्मत्वात्, संयोगवत्। न च विश्वात्यन्ताभावे व्यभिचारः, तस्याधिकरणस्वरूपत्वेऽनात्मत्वहेतोरेवाभावात्, अतिरिक्तत्वे तस्य मिथ्यात्वेनात्यन्ताभावप्रतियोगितया साध्यस्यैव सत्त्वात्। न चात्यन्ताभावस्यात्यन्ताभावे

सत्यानन्दप्रबोधिका

मूलस्थ "उक्त पक्षतावच्छेदकवत्" का अर्थ है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चसत्यत्व–साधक अनुमानों में से प्रथम अनुमान में जो प्रथम पक्ष कहा गया है, उसका जो अवच्छेदक है तद्वान् को, अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व से विशेषित कर, इस अनुमान में पक्ष बनाया गया है। अर्थात् प्रथम भाग के पृष्ठ २५८ पर पूर्वपक्षी के द्वारा किये गये अनुमान में पक्षतावच्छेदक है– "ब्रह्मप्रमान्येनाबाध्यत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्वम्"। इस अवच्छेदक से युक्त व्यावहारिक प्रपञ्च को पक्ष बनाया गया है। इस पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जिस व्यावहारिकप्रपञ्च को पक्ष बनाकर सत्यत्व सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है, उसी को पक्ष बनाकर हम प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध कर देंगे। अव्याप्यवृत्तित्व को लेकर सिद्धसाधनदोष के वारण के लिए पक्ष का विशेषण– "अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व" दिया गया है। स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व जो मिथ्यात्व का लक्षण है, वही इस अनुमान में साध्य है। अनात्मत्व हेतु है और संयोग दृष्टान्त है। पक्ष में हेतु और दृष्टान्त में हेतु और साध्य का समन्वय सुस्पष्ट है। अतः परामर्शज्ञान के होने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। जैसे स्व–प्रपञ्च उसका अधिकरण–ब्रह्म, उसमें प्रपञ्चाभाव, उसका प्रतियोगी प्रपञ्च। अतः प्रतियोगित्व प्रपञ्च में गया। अर्थात् प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो गया। इस पर पूर्वपक्षी को शङ्का है कि ब्रह्म में यदि विश्वात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव माना जाय तब तो विश्वाभावाभावरूपविश्व के ब्रह्म में रह जाने से विश्व सत्य सिद्ध हो जायेगा। इसलिए सिद्धान्ती विश्व के सत्य सिद्ध हो जाने के भय से विश्वात्यन्ताभाव को स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं मान सकते हैं। अतः विश्वात्यन्ताभाव में साध्य के न रहने से और हेतु के रहने से व्यभिचारदोष होगा। ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्धान्त में अध्यस्त पदार्थ की निवृत्ति को अधिष्ठान स्वरूप माना जाता है। इसलिए विश्वात्यन्ताभाव आत्मस्वरूप होने के कारण उसमें आत्मत्व ही रहेगा अनात्मत्वरूप हेतु नहीं रहेगा। अतः विश्वात्यन्ताभाव में हेतु और साध्य दोनों के न रहने के कारण व्यभिचारदोष नहीं होगा। यदि विश्वात्यन्ताभाव को अधिष्ठान (आत्म) स्वरूप न मान कर उससे अतिरिक्त माना जाता है तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान से अतिरिक्त विश्वात्यन्ताभाव को व्यावहारिक माना जाता है। व्यावहारिक पदार्थ मिथ्या होने के कारण वह स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभाव का प्रतियोगी होगा। अतः विश्वात्यन्ताभाव में हेतु और साध्य दोनों के रहने से व्यभिचारदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि विश्वात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव स्वीकार करने पर उसका प्रतियोगी विश्वात्यन्ताभाव होगा न कि विश्व। अतः विश्व में स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी अपितु विश्व में सत्यत्व की सिद्धि हो जायेगी, क्योंकि "विरुद्धयोरेकनिषेधेऽपरस्य सत्यतापत्तिः" ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार विश्व और विश्वात्यन्ताभाव इन दोनों विरुद्ध पदार्थों में से विश्वात्यन्ताभाव के निषेध कर दिये जाने से विश्व की सत्यता की प्राप्ति होगी। इस

तत्प्रतियोगित्वलक्षणमिथ्यात्वासिद्धिरिति वाच्यम्, अभावेऽभावप्रतियोगित्वस्य भावगताभावप्रतियोगित्वाविरोधित्वात्, प्रागभावस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽपि तत्प्रतियोगित्वस्य घटादौ सर्वसिद्धत्वात्। उपपादितश्चैतन्मिथ्यात्वमिथ्यात्वे। अत्र चाव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणशब्देनैकदेशावच्छेदेनाविद्यमानत्वं पक्षविशेषणं विवक्षितम्। एतेन स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वोक्तौ बाधः, अवयववृत्तित्वानधिकरणत्वोक्तौ घटादीनामपक्षत्वापत्तिरिति दूषणद्वयमपास्तम्। अनात्मत्वहेतुस्तु जड़त्वहेतुव्याख्यानेनैव व्याख्यातः॥ २५॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भावप्रतियोगिकाभाव (विश्वाभाव) में अभाव (विश्वाभावाभाव) की प्रतियोगिता होने पर भी भाव (विश्व) में भी अभाव की प्रतियोगिता स्वीकार करने पर कोई विरोध नहीं है। जैसे घटध्वंस के अनन्तर घटप्रागभाव का अत्यन्ताभाव के रहने के साथ–साथ घट का भी अत्यन्ताभाव रहता है। यहां पर घटप्रागभाव के अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी घटप्रागभाव होगा और घटात्यन्ताभाव का प्रतियोगी घटरूपभाव पदार्थ होगा। अत: एक ही काल में अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी अभाव (घटप्रागभाव) भी रहा और भाव (घट) भी रहा। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है। अत: अभाव की प्रतियोगिता विश्वाभाव में मानने के साथ–साथ विश्व में भी अभाव की प्रतियोगिता होने से विश्व में मिथ्यात्व का उक्त लक्षण चले जाने से विश्व में मिथ्यात्व की सिद्धि हो जायेगी। मिथ्यात्वमिथ्यात्वप्रकरण में प्रपञ्चमिथ्यात्व के मिथ्या होने पर भी प्रपञ्च में सत्यत्व की आपत्ति नहीं होती है, इस पर विस्तार से चर्चा प्रथम भाग के पृष्ठ ५० पर की जा चुकी है। अत: पूर्वपक्षी का यह कथन कि विश्वात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव मानने पर विश्व सत्य सिद्ध हो जायेगा, का खण्डन हो गया। पक्ष घटक ''अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व'' शब्द से ''एक देशावच्छेदेनाविद्यमानत्वम्'' विवक्षित है। अर्थात् जो वस्तु जिस देश में है वही देश उस वस्तु का अधिकरण हो सकता है और जिस देश में वह वस्तु नहीं है वह देश उस वस्तु का अधिकरण नहीं हो सकता है। अत: अपने आधार के एक देश मात्र में न रहने वाला अर्थात् अपने आधार में व्याप्त होकर रहने वाला घटादि प्रपञ्च को पक्ष बनाया गया है। इसलिए पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो दोष दिया जा रहा था कि अव्याप्यवृत्ति–का अर्थ–स्वसमानाधिकरणा–त्यन्ताभावप्रतियोगित्व करने पर पक्ष घटक अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व का अर्थ होगा–स्वसमाना–धिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व, जबकि साध्य है–स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगित्व। अत: बाध दोष होगा। इसका खण्डन हो गया, क्योंकि अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व का अर्थ स्वसमाना–धिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व नहीं किया गया है किन्तु ''एकदेशावच्छेदेनाविद्यमानत्वम्'' किया गया है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने यह जो दूसरा दोष दिया था कि अव्याप्यवृत्तित्व का अर्थ अवयववृत्तित्व करते हैं तो अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व का अर्थ होगा–अवयववृत्तित्वान धिकरणत्व। ऐसा अर्थ लेने पर घटादि का पक्ष कोटि में प्रवेश नहीं हो पायेगा, क्योंकि घटादि की अपने अवयव में वृत्तिता ही होती है। पूर्वपक्षी का यह दोष भी खण्डित हो गया, क्योंकि सिद्धान्ती ने अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्व का अर्थ अवयववृत्तित्वानधिकरणत्व किया ही नहीं है। अनात्मत्व हेतु का विवरण जड़त्व हेतु के निवर्चन के अवसर पर किया जा चुका है। अत: उसका निवर्चन यहां पर नहीं किया जा रहा है॥ २५॥

पूर्वोक्त अनुमान प्रयोग के समीचीन सिद्ध हो जाने के कारण यह दूसरा अनुमान प्रयोग भी निर्दुष्ट सिद्ध हो गया। इस दूसरे अनुमान में पूर्व अनुमान में जो पक्ष था उसमें विशेषण

अत एव नित्यद्रव्यान्यदव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणमुक्तपक्षतावच्छेदकवत्, केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगि, पदार्थत्वात्, नित्यद्रव्यवत्, इत्यपि साधुः। दृष्टान्तश्चायं परपरीत्या, स्वमते तु शुक्तिरूप्यवदित्येव। न च स्वरूपेणात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेऽत्यन्तासत्त्वापातः, तद्वैलक्षण्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

नित्यद्रव्यभेद को दे दिया गया है। अर्थात् ''नित्यद्रव्यभिन्नत्वे सति अव्याप्यवृत्तित्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मप्रमान्येनाबाध्यत्वे सति असत्त्वानधिकरणत्वे सति ब्रह्मान्यत्वम्'' यह इस अनुमान का पक्षतावच्छेदक धर्म है। तद्वान् पक्ष है। केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व साध्य है। अर्थात् जिसका अभाव सर्वत्र विराजमान है ऐसे अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व साध्य है। पदार्थत्व अर्थात् पदशक्यत्व हेतु है। आकाशादि नित्य द्रव्य दृष्टान्त है। यह दृष्टान्त पूर्वपक्षी के मतानुसार है। सिद्धान्ती के मतानुसार दृष्टान्त शुक्तिरूप्य है। पूर्वपक्षी आकाशादि को नित्य द्रव्य और अवृत्ति पदार्थ मानता है। अतः आकाशादि की कहीं पर भी अधिकरणता प्रसिद्ध न होने के कारण अर्थात् आकाशादि का अत्यन्ताभाव सर्वत्र रहने के कारण आकाशादि केवलान्वयि अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी है। अतः आकाशादि नित्यद्रव्य में उक्त साध्य का समन्वय हो जायेगा। सिद्धान्ती के अनुसार शुक्तिरूप्य का सर्वत्र अत्यन्ताभाव माना जाता है, क्योंकि जहां पर शुक्तिरूप्य प्रतीत नहीं हो रही है। वहां पर उसका अत्यन्ताभाव तो है ही, और जिस शुक्ति में उसकी प्रतीति हो रही है उस शुक्ति में भी उसका अत्यन्ताभाव है। अतः शुक्तिरूप्य भी केवलान्वय्यत्यन्ताभाव का प्रतियोगी हो जायेगा। हेतु पक्ष और दृष्टान्त दोनों में है, क्योंकि दोनों का ही पद के द्वारा बोध होता है। अतः परामर्श की सिद्धि हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष पर साध्य की सिद्धि का फल यह होगा कि व्यावहारिक प्रपञ्च केवलान्वयि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च जिस अधिकरण में प्रतीत हो रहा है वहां पर भी उसका अत्यन्ताभाव स्वीकार करना पडेगा। ऐसा स्वीकार करने पर प्रपञ्च मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जिस रूप से व्यावहारिक प्रपञ्च की प्रतीति हो रही है यदि उसी रूप से ही प्रपञ्च को अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी मान लिया जाता है तो प्रपञ्च को अत्यन्त असत् (अलीक) मानने की आपत्ति होगी, क्योंकि अत्यन्त असत् के भेद का प्रयोजक व्यावहारिक प्रपञ्च में नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षी अत्यन्त असत् का प्रयोजक केवलान्वय्यत्यन्ताभावप्रतियोगित्व को मानता है। उसी को व्यावहारिक प्रपञ्च में मान लेने पर पूर्वपक्षी के मत में अत्यन्त असत् और व्यावहारिक प्रपञ्च में भेद ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। सिद्धान्ती के मत में भी अत्यन्त असत् और व्यावहारिक प्रपञ्च में भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती प्रपञ्च में अत्यन्त असत् के भेद का प्रयोजक– ''क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन विद्यमानत्वम्'' को मानते हैं। यह प्रयोजक व्यावहारिक प्रपञ्च में मिलेगा नहीं, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च को केवलान्वयि अभाव का प्रतियोगी मान लिया गया है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अत्यन्त असत् की न तो उत्पत्ति होती है न तो निवृत्ति। अतः जिसकी उत्पत्ति ओर निवृत्ति होती है उसमें अत्यन्त असत् का वैलक्षण्य रहेगा। प्रकृत में व्यावहारिक प्रपञ्च की उत्पत्ति और निवृत्ति होती है। अतः प्रपञ्च में अत्यन्त असत् का वैलक्षण रहेगा। दूसरी बात है पूर्वपक्षी ने पीछे जो कहा है कि सिद्धान्ती के मत में अत्यन्तासत् के भेद का प्रयोजक ''क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन विद्यमानत्वम्,'' है, किन्तु वैसा है नहीं, अपितु अत्यन्तासत् के भेद का प्रयोजक यह है कि ''क्वचिदपि उपाधौ सत्त्वेन प्रतीयमानत्वम्''। यह प्रयोजक तो व्यावहारिक प्रपञ्च में रहता ही है, क्योंकि यद्यपि व्यावहारिक प्रपञ्च को केवलान्वयि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी

प्रयोजकाभावादिति वाच्यम्, उत्पत्तिनिवृत्त्योरन्यतरप्रतियोगित्वेन परिहारात् ।। २६।।

आत्मत्वावच्छिन्नधर्मिको भेदो न परमार्थसत्प्रतियोगिकः, आत्माऽप्रतियोगिकत्वात्; शुक्तिरूप्यप्रतियोगिकभेदवत्। न च घटपटसंयोगे व्यभिचारः, हेतुमत्तया निर्णीतेऽङ्कुरादाविव

सत्यानन्दप्रबोधिका

माना जाता है तथापि ''घटः सन्'' ''पटः सन्'' इस प्रकार से सद्रूप ब्रह्म में घटादि व्यावहारिक प्रपञ्च की सत्त्वेन प्रतीयमानता है। अतः केवलान्वयि अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी प्रपञ्च होते हुए भी अत्यन्त असत् से विलक्षण है।। २६।।

इस अनुमान में आत्मत्वावच्छिन्नानुयोगिताकभेद पक्ष है। अर्थात् आत्मत्वेन आत्मनिष्ठ भेद को पक्ष बनाने से पूर्वपक्षी अनेक आत्मा मान कर एक आत्मा का भेद दूसरे आत्मा में नहीं ले सकता है, क्योंकि आत्मत्वेन एक आत्मा का भेद दूसरे आत्मा में नहीं मिलता है। जैसे मानवत्वेन देवदत्त का भेद यज्ञदत्त में नहीं लिया जाता है। अतः यहां भेदीय प्रतियोगिता आत्मा में न रहकर प्रपञ्च में रहेगी। परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वाभाव साध्य है। आत्माऽप्रतियोगिकत्व अर्थात् अनात्मप्रतियोगिकत्व हेतु है। शुक्तिरजतप्रतियोगिक भेद दृष्टान्त है। शुक्तिरजत में सर्वसम्मत अनात्मरूपता और परमार्थसद्भिन्नता रहने के कारण शुक्तिरजतप्रतियोगिकभेद में हेतु और साध्य का समन्वय हो जायेगा। इसी प्रकार पक्ष में भी हेतु है, क्योंकि आत्मत्वेन आत्मा में आत्मा का भेद ही नहीं रहेगा, अतः आत्मत्वावच्छिन्नानुयोगिक भेद का प्रतियोगी प्रपञ्च (अनात्मा) ही होगा। अतः उक्त भेद में अनात्मप्रतियोगिकत्व रहेगा ही। इस प्रकार व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मता का ज्ञान हो जाने से पक्ष में साध्य की सिद्धि हो जायेगी। पक्ष में साध्यसिद्धि का फल यह होगा कि प्रपञ्चप्रतियोगिकभेद परमार्थसत्प्रतियोगिकभेद नहीं है। इसलिए प्रपञ्च परमार्थसत् सिद्ध न होकर मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। पूर्वपक्षी का कथन है कि इस अनुमान का हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि जहां पर घट का संयोग पट में है अथवा पट का संयोग घट में है ऐसे स्थल पर संयोग का प्रतियोगी घट पट अन्यतर है। इन दोनों में कोई भी आत्मा नहीं है। अतः आत्मा के प्रतियोगी न होने से घट पट संयोग में आत्माऽप्रतियोगिकत्वरूप हेतु चला गया। पूर्वपक्षी के मत में घट पट दोनों ही परमार्थसत् है। अतः उक्त संयोग का प्रतियोगी परमार्थसत् होगा। अतः उक्त संयोग में परमार्थसत्प्रतियोगिकत्वरूप साध्याभाव के होने से व्यभिचारदोष हो गया। सिद्धान्ती का कथन है कि पूर्वपक्षी पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचारदोष नहीं दे सकता है, क्योंकि अनुमान पर विचार करने से पहले ही घटादि प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व निश्चित रूपेण रहता है यह नहीं कहा जा सकता है। इसलिए घट पट संयोग में परमार्थसत्प्रतियोगिकत्व का निश्चित रूप से रहना न सिद्ध होने पर उक्त संयोग में साध्याभाव नहीं जायेगा। पूर्वपक्षी यह तो कह सकता है कि उक्त संयोग में हेतु के रहने पर भी साध्य का सन्देह है। अर्थात् सन्दिग्ध व्यभिचार है। किन्तु सन्दिग्ध व्यभिचार वहां ही व्याप्तिज्ञान का विरोधी माना जाता है जहां व्याप्ति ग्राहक तर्क का अभाव रहता है। अन्यथा सभी सदनुमानों में पक्ष पर हेतु का निश्चय होने पर भी साध्य का सन्देह होता है। अतः अनुमितिमात्र का उच्छेद हो जायेगा। प्रकृत में व्याप्ति ग्राहक तर्क पीछे तद् तद् स्थलों पर दिखलाए गये हैं और विशेष रूप से ''अनुकूलतर्कविचार'' के अवसर पर दिखलाया जायेगा। अतः यहां पर सन्दिग्धव्यभि–चारदोष नहीं है। जैसे ''क्षितिः सकर्तृका, कार्यत्वात्, घटवत्'' इस ईश्वरसाधक अनुमान में यद्यपि अंकुरादि में हेतु का निश्चय और साथ–साथ साध्य का सन्देह है। अतः व्यभिचारसंशय है। तथापि यहां व्यभिचार संशय को व्याप्तिनिश्चय का विरोधी नहीं माना जाता है। क्योंकि प्रथम भाग के

साध्यसन्देहस्यादोषत्वात्। एवमन्येऽपि प्रयोगाः यथोचितमारचनीया विपश्चिद्भिरिति दिक्॥ २७॥

हेतवोऽभीष्टसिद्ध्यर्थं सम्यञ्चो बहवश्च नः।
अल्पाः परस्य दुष्टाश्चेत्यत्र स्पष्टमुदीरितम्॥ १॥
अभीष्टसिद्धावनुकूलतर्कबलाबलं चात्र परीक्ष्य यत्नात्।
प्रवक्ष्यते दोषगणः परेषां न खेदनीयं तु मनोऽधुनैव॥ २॥ — ॥ २८॥

—ः इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि ः—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पृष्ठ ६ अन्तिम पंक्ति में यह कहा गया है साध्याभावनिश्चय वाले में हेतु के सन्देह को सन्दिग्धानैकान्तिकता कहते हैं, न कि हेतु के निश्चय वाले में साध्य के सन्देह को। इसी प्रकार प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधक यथोचित् अन्यान्य अनुमान प्रयोगों की रचना अद्वैतवादी विद्वानों को कर लेनी चाहिए, यहां पर तो संक्षेप से केवल दिग्दर्शन कराया गया है॥ २७॥

पक्षीभूत व्यावहारिक प्रपञ्च में मिथ्यात्वसिद्धि के लिए हमारे हेतु बहुत हैं। अर्थात् सिद्धान्ती के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधक सत्ताईस अनुमान प्रयोग दिखलाए गये हैं और वे सभी निर्दुष्ट हैं। संसारासक्तद्वैती (माध्व) के द्वारा प्रपञ्च सत्यत्वसाधक जो अनुमान किये गये हैं वे अल्प हैं और दुष्ट हैं। यह अर्थ यहां पर स्पष्ट रूप से कहा गया है॥ १॥

प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानुमानों में जो अनुकूल तर्क और प्रतिकूल तर्क है। उनके बलाबल की परीक्षा पहले सावधानीपूवर्क कर लेने के पश्चात् पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित अनुमानों में दोषों का प्रदर्शन किया जायेगा। अभी ही मन को खेदयुक्त नहीं करना चाहिए। अर्थात् यहां अनुकूल तर्कों का प्रदर्शन और प्रतिकूल तर्कों का निराकरण न देखकर मन को खेदयुक्त नहीं करना चाहिए। वस्तुतः यह समग्र प्रथम परिच्छेद संसार की असारता को दिखलाता हुआ ही समाप्त होगा, अतः अभी से खेद का कोई कारण नहीं है॥२॥ — ॥२८॥

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विश्वमिथ्यात्वे विशेषतोऽनुमानानि n

9

मिथ्यात्वानुमानस्यागमबाधविचारः

नन्वस्तु शब्दबाधः, तथा हि ''विश्वं सत्यम्,'' ''यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघम्''— ''याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः'' इत्यादिश्रुतिभिः ''असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्'' इत्यादिस्मृतिभिः ''नाभाव उपलब्धेः, वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' इत्यादिसूत्रैश्च

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी के द्वारा उपस्थापित प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध न होने पर पुनः पूर्वपक्षी प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के बाधक के रूप में आगम प्रमाण को उपस्थापित करते हुए कह रहा है कि श्रुति—स्मृति—सूत्र इत्यादि आगमप्रमाण से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध होगा। जैसे— ''विश्वं सत्यम्''। इस श्रुतिवाक्य से पूर्वपक्षी यह कह रहा है कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में सत्य शब्द का अर्थ होता है—पारमार्थिकसत्। अतः सत्य शब्द का श्रुति में जहां पर भी प्रयोग होगा, वहां पर सत्य शब्द से पारमार्थिकसत् अर्थ लिया जायेगा। ''विश्वं सत्यम्'' में सत्य शब्द है। अतः उसका अर्थ पारमार्थिकसत् होने से ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिप्रमाण के बल पर विश्व को पारमार्थिकसत् स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा होने पर इस श्रुतिवाक्य के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि इस वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष प्राप्त जगत्सत्यत्व का अनुवादमात्र किया गया है। अतः इस वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य न होने से इसके द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं होगा। इस अरूचि के कारण पूर्वपक्षी अन्य दो श्रुति वाक्यों को उपस्थापित कर रहा है— ''यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघम्।'' (सः इन्द्रः) यच्चिकेत = यत् जानाति, तत् सत्यम् इत्= एव, न मोघं =व्यर्थम्। अर्थात् वह इन्द्र, ''यह इस काल में कर्तव्य है'' ऐसा जिसको जानता है वह सत्य ही है, व्यर्थ (मिथ्या) नहीं है।) ''याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।'' {ईश्वर ने यथार्थ (सत्य) रूप से जाग्रतादि पदार्थों को बनाया, चिरकाल तक वर्षों के लिए।} पूर्वपक्षी का आशय यह है कि उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों में ईश्वर के द्वारा सत्य प्रपञ्च की रचना का प्रतिपादन किया गया है, जो कि वेद को छोड़कर और किसी प्रमाण के द्वारा अधिगत नहीं हो सकता है। अतः उक्त दोनों श्रुतिवाक्यों को अनुवादक नहीं कहा जा सकता है। इसलिए ''यच्चिकेत....'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा परमेश्वर के सत्योपादान गोचर अपरोक्षबोध और ''याथातथ्यतो....'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा परमार्थसत् जगत् के सृजन का प्रतिपादन किया गया है। अतः उक्त श्रुतिवाक्यों के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधकानुमान का बाध हो जायेगा। आगे पूर्वपक्षी सिद्धान्ती पर कटाक्ष करते हुए कह रहा है कि जो लोग प्रपञ्च को मिथ्या मानते हैं वे भ्रान्त और मिथ्यावादी है। इसमें प्रमाणरूप से श्रीमद्भगवद्गीता का यह स्मृतिवाक्य उद्घृत कर रहा है— असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।'' अर्थात् सत्य से भिन्न जगत् है ऐसा कथन असुरों का है और जगत् सत्य है— ऐसा कथन शिष्टों का है ऐसा पूर्वपक्षी का आशय है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्र में ''नाभाव उपलब्धेः'' (ब्र०सू० २—२—२८)—विज्ञान से व्यतिरिक्तपदार्थों का अभाव मानना तर्क सङ्गत नहीं है, क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त घटादि प्रपञ्च का अनुभव स्पष्ट होता है। ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' (ब्र० सू० २—२—२९)— स्वप्नादिप्रत्यय का एवं जाग्रत्प्रत्यय का परस्पर बाधित विषयत्व एवं अबाधित विषयत्वरूप विरुद्ध स्वभाव होने के कारण स्वप्नादि दृष्टान्त से जाग्रत्प्रत्यय

विश्वस्य सत्यत्वप्रतिपादनादिति चेत् ॥ १॥

न, श्रुतेस्तत्परत्वाभावात्। तथा हि—''विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च न प्रमिणन्ति व्रतं वाम्। अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्'' इति ऋक्संहिता—द्वितीयाष्टकवाक्यस्यायमर्थः। हे इन्द्राब्रह्मणस्पती! मघवाना मघवानौ, मघमिति धननाम, धनवन्तौ मखवन्ताविति वा। विश्वं सर्वं सत्यं कर्म, सद्भूतत्वात्, फलस्यावश्यम्भावित्वाद्वा। तादृशं कर्म, युवयोरित् युवयोः, इत्—इत्थमवधारणे वा। युवामेवोद्दिश्य सर्वाणि कर्माणि अनुष्ठेयानीत्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, चन इत्येतत् पदद्वयसमुदायः, ऐकपद्यं त्वध्यापकसम्प्रदायसिद्धम्। वां युवयोर्व्रतं संकल्पं कर्म वा। न प्रमिणन्ति न हिंसन्ति (मीङ् हिंसायां क्रैयादिकः) किन्त्वनुमोदन्त इति यावत्। नोऽस्माकं हविर्दध्यादिकम्, अन्नं च पुरोडाशादिकं च। अच्छ अभिलक्ष्य वाजिना

सत्यानन्दप्रबोधिका

को काल्पनिक (मिथ्या) नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार उक्त श्रुति—स्मृति—सूत्र इत्यादि आगम प्रमाण से प्रपञ्च में सत्यत्व का प्रतिपादन होने से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा॥ १॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो उक्त वेदवाक्यों का अर्थ किया, उसमें उक्त वेदवाक्यों का तात्पर्य नहीं है। अर्थात् उक्त वेदवाक्यों के द्वारा विश्व में सत्यत्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है। इस को स्पष्ट करने के लिए क्रमशः उक्त वेदवाक्यों का अर्थ कर रहे हैं। उसमें से ऋक्संहिता का द्वितीय अष्टकस्थ मंत्र इस प्रकार से है—

विश्वं सत्यं मघवाना युवोरिदापश्च न प्रमिणन्ति व्रतं वाम्।
अच्छेन्द्राब्रह्मणस्पती! हविर्नोऽन्नं युजेव वाजिना जिगातम्॥

आचार्यप्रवर ने इस मंत्र का तीन प्रकार से अर्थ किया है और इस मंत्र का माधवीयभाष्य में भी तीन प्रकार से अर्थ का निर्देश किया गया है। उसमें से प्रथम अर्थ इस प्रकार से है—हे इन्द्र! और ब्रह्मणस्पति! तुम दोनों, मघवाना—मघवानौ—धनवन्तौ=धनवान् हो। मघ यह धन का नाम है। अथवा मघवानौ का अर्थ मखवन्तौ है अर्थात् यज्ञविषयक सभी कार्य आप दोनों के द्वारा सम्पादित हैं। सर्व यागादिरूप कर्म अपने—अपने कारण से उत्पन्न होने के कारण व्यावहारिक सत्य है अथवा कर्म का फल अवश्यम्भावी होने से कर्म व्यावहारिक सत्य है। तादृश कर्म (युवोः इत् अर्थात् युवयोः इत्) तुम दोनों के ही है। अर्थात् तुम दोनों को ही उद्देश्यकर सभी कर्म अनुष्ठेय है। आपः—व्यापनशील देवगण तुम दोनों के सङ्कल्प या कर्मरूपव्रत का हनन (नाश) नहीं करते हैं अपितु आप दोनों के कर्म का अनुमोदन करते हैं। इस पर यदि कोई शङ्का करे कि चन अव्यय है जो किसी शब्द के साथ प्रयुक्त होता है। जैसे किञ्चन इत्यादि। अतः पूर्वोक्त प्रकार से च और न को अलग—अलग कर के अर्थ नहीं किया जा सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''चन'' यह दो पदों (च और न) का समुदायरूप है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से अर्थ करना उचित ही है। प्रश्न होता है कि पद पाठ में चन को एक पद मानकर पाठ होता है। अतः दो पद मानना ठीक नहीं है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चन को एक पद मानकर गुरु परम्परा से केवल पद पाठमात्र होता है किन्तु अर्थ करते समय चन को दो पद मानते हैं। जैसे ''ददाति मह्यं यादुरी....'' इस वेदमन्त्र का पदपाठ करते समय गुरु परम्परा से ''यादुरी''

वेगवन्तावश्वाविव। युजा युक्तौ सन्तौ। जिगातम्—देवयजनमागच्छतम्, (जिगातिर्गतिकर्मा जौहोत्यादिकः) अन्नं घासं प्रति अश्वाविवेति वा। यद्वा—हे इन्द्राब्रह्मणस्पती! विश्वं सर्वं सत्यं सत्त्वेन परिदृश्यमानं जगत्, युवयोरित् युवयोरेव, युवाभ्यामेव सृष्टम्, अथवा युवयोरेव विश्वं सर्वं स्तोत्रम्, सत्यं यथार्थम्। यद्यत् गुणजातं स्तुत्या प्रतिपाद्यते तत्सर्वं युवयोर्विद्यमानमेव न तु आरोपितमित्यर्थः। आपो व्यापनशीला देवताः, अबुपलक्षितानि पञ्चभूतानि वा। युवयोर्व्रतं जगदुत्पादनाख्यं कर्म न हिंसन्ति। इत्थं महानुभावौ युवां जिगातम्। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्। तथा च स्तुतिपरतया नास्य विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्।। २।।

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः।
यच्चिकेत सत्यमित्तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।। ऋक् सं०— ८।१।१७।६

सत्यानन्दप्रबोधिका

को एक पद माना गया है। किन्तु व्याख्यान के समय ''दूरी आदरवती या मह्यं ददाति'' इस प्रकार से भिन्न पदत्वेन व्याख्यात है ''न प्रमिणन्ति'' का अर्थ ''न हिंसन्ति'' इसलिए किया गया कि क्र्यादि गण की मीङ् धातु हिंसा अर्थ में है। नः— हम लोगों के, हविः— दध्यादिक, च—और, अन्नम्—पुरोडाश को, अच्छ—अभिलक्ष्य कर, वाजिनौ इव—वेगवान दो अश्वों के समान, युजा—युक्त हुए तुम दोनों अर्थात् दोनों साथ—साथ, जिगातम्—देवयजन में आओ। अथवा हरी—हरी घास की ओर लपकते हुए अश्वों की तरह शीघ्र पधारिये। जुहोत्यादि गण की (गत्यर्थक) गा धातु से जिगातम् बना है। अथवा उक्त मन्त्र का इस प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है— हे इन्द्र! और ब्रह्मणस्पति! सत्त्वेन परिदृश्यमान जगत् तुम दोनों का ही है। तुम दोनों के द्वारा ही विरचित है। अथवा तुम दोनों के उद्देश्य से प्रयुक्त सम्पूर्ण स्तोत्र यथार्थ है। अर्थात् तुम दोनों की जिस—जिस गुणसमुदाय के द्वारा स्तुति की जाती है वे गुण समुदाय आप दोनों में वस्तुतः विद्यमान हैं न कि आरोपित हैं। व्यापनशील देवगण अथवा जलोपलक्षित पञ्चमहाभूत तुम दोनों जनों के जगदुपादानाख्य कर्मरूपव्रत को नाश नहीं करते हैं। ऐसे महानुभाव तुम दोनों हमारे देवयजन में शीघ्र पधारिये। शेषमन्त्र पूर्ववद् व्याख्येय है। पूर्वोक्त प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण मन्त्र देवतास्तुतितात्पर्यक है। अतः इस मन्त्र का प्रपञ्च सत्यत्व बोधन में तात्पर्य नहीं है। इसलिए इस मन्त्ररूप आगम प्रमाण के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का बाध नहीं हो सकता है।। २।।

इसी प्रकार ऋग्वेद के अष्टम अष्टक में स्थित ''शाक्मना'' इत्यादि मन्त्र भी इन्द्रस्तुतितात्पर्यक है। इसलिए यह मन्त्र भी प्रपञ्च सत्यत्व बोधन में तात्पर्य नहीं रखता है। इसी रहस्य को सिद्धान्ती स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''यच्चिकेत सत्यमित्''. ...इसका पूर्ण विग्रह इस प्रकार है।

शाक्मना शाको अरुणः सुपर्ण आ यो महः शूरः सनादनीलः।
यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता।।

शाक का नाम ही शाक्मा है। उस शाक्मारूपबल से (इन्द्र) युक्त है। अर्थात् इन्द्र अपने ही बल से सभी कार्य करने में समर्थ है। इन्द्र होने के कारण ही अर्थात् स्वयं सर्वसामर्थ्यवान् होने के कारण ही इन्द्र को दूसरे की सहायता की अपेक्षा नहीं है। रक्तवर्ण का कोई शोभनपर्ण पक्षी आ रहा है। प्रादियों की धातु के योग में उपसर्ग संज्ञा होने के कारण श्रुतिस्थ आङ्रूप उपसर्ग के पठित होने के कारण गच्छति का अध्याहार कर

इत्यस्यापि अष्टमाष्टकस्थस्येन्द्रस्तुतिपरतया न विश्वसत्यत्वे तात्पर्यम्। तथा हि—शाक्मना शाकैव (शाक्मैव)शाक्मा तेन शाक्मना बलेन। शाकः शक्तः, स्वशक्त्यैव सर्वं कर्तुं शक्त इत्यर्थः। न हीन्द्रस्य सहायान्तरापेक्षास्ति, इन्द्रत्वादेव। अरुणः अरुणवर्णः कश्चित् शोभन–वर्णः पक्षी आगच्छतीत्यध्याहारः; उपसर्गश्रुतेः। यो महो महान् शूरः विक्रान्तः, सनात् पुराणः, अनीलः अनीडः नीडस्याकर्ता। न हीन्द्रोऽग्निवत् कुत्रचिदपि यज्ञे निकेतनं करोति। एवं सुपर्ण इत्यादिरूपकेणेन्द्रमाह—स इन्द्र इदमिदानीं कर्तव्यमति यच्चिकेत जानाति, तत्सत्यमित् सत्यमेव, न मोघं, न व्यर्थं, स्पार्हं स्पृहणीयं, वसु निवासार्हं धनं, जेता जयति शत्रुभ्यः सकाशात्। उत अपि, दाता ददाति च स्तोतृभ्यः। जेता दातेति तृन्,तेन 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। एवमेवान्यदपि सत्यत्वप्रतिपादकमुन्नेयम्।। ३।।

''याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधात्'' इत्यपि वाक्यं न प्रपञ्चसत्यत्वे प्रमाणम्, तस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

के आगच्छति रूप अर्थ का ग्रहण किया गया है। यह जो महान शूर विक्रान्त सनातन इन्द्ररूप पक्षी है, वह कहीं पर भी अपना घोंसला नहीं बनाता है। (पक्षिओं के घोंसले को नीड़ कहा जाता है।) अग्नि के समान इन्द्र भी यज्ञ में कहीं भी निकेतन नहीं करता है। इस प्रकार से सुपर्ण इत्यादिरूप से यह मन्त्र इन्द्र को कहता है। वह इन्द्र, ''यह इस काल में कर्तव्य है'' ऐसा जिसको जानता है वह सत्य ही है, व्यर्थ नहीं है। अर्थात् वह इन्द्र जिस कार्य को करने का निश्चय कर लेता है उसे पूर्ण करके ही रहता है। उसका पौरूष कभी भी व्यर्थ नहीं होता है। उस इन्द्र को रहने के लिए जब धन की जरूरत पड़ती है तो उस वाच्छनीय धन को शत्रुओं से जीतता है और अपने उपासकों को पुष्कल धन का दाता भी है। यहां पर यदि कोई शङ्का करे कि जेता और दाता शब्द तृजन्त है। अतः ''कतृकर्मणोः कृति'' (पा०सू० २–३–६५) से वसु शब्द में षष्ठी विभक्ति होनी चाहिए। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जेता और दाता शब्द ''तृन्'' प्रत्ययान्त है। अतः ''न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्'' (पा०सू० २–३–६९) इस सूत्र के द्वारा षष्ठी विभक्ति का निषेध हो जाने से मन्त्रस्थ ''वसु'' पद के उत्तर में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं किया गया है। इसी प्रकार यदि पूर्वपक्षी किसी अन्य वैदिक मन्त्रों को प्रपञ्च सत्यत्व प्रतिपादक के रूप से उपस्थित करता है। जैसे– ''ध्रुवा द्यौ ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्।'' ''ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।'' आपाततः विश्वसत्यता के प्रतिपादक इन मन्त्रों का भी उचित अर्थ प्रदर्शित कर यह सिद्ध कर देना चाहिए कि किसी भी वैदिक वाक्य का प्रपञ्च के पारमार्थिकसत्ता के प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं है अपितु स्तुति आदि में है।। ३।।

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्चसत्यत्व में ईशावास्योपनिषद् का दिया गया मन्त्र इस प्रकार है– ''स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।। (ई० उ० ८)

यह मन्त्र वाक्य भी प्रपञ्च के सत्यत्व में प्रमाण नहीं हो सकता है, क्योंकि इस वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि पूर्वकल्प में जैसी सृष्टि थी ठीक उसी प्रकार की सृष्टि ईश्वर ने इस कल्प में भी बनायी। इस प्रकार से सृष्टि का प्रवाह अनन्त वर्षों से चला आ रहा है। अतः इस वाक्य के द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्व का बोधन नहीं होता

पूर्वसृष्टप्रकारेण सर्जनमर्थः, न तु जगत्सत्यत्वं जगत्सर्जनगतसत्यत्वं वा। यत्र च स्तुत्यादिपरत्वं नास्ति तत्रापि प्रत्यक्षसिद्धानुवादकतया ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' इत्यादिवाक्यवन्न तत्परत्वम्।। ४।।

न च त्वन्मन्ते सर्वत्र ब्रह्मसत्त्वस्यैव स्फुरणात्तदतिरिक्तस्य कालत्रयाबाध्यत्वरूपस्य घटादिसत्त्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तेः तद्बोधकत्वेन श्रुतेर्नानुवादकत्वमिति वाच्यम्, इतरसत्त्वबाध–पुरस्सरत्वाद् ब्रह्मसत्त्वस्फुरणाभ्युपगमस्य तत्रैव सत्यादिपदप्रवृत्तिस्वीकारेण तदतिरिक्तविश्व–

सत्यानन्दप्रबोधिका

है और इस वाक्य के द्वारा जगत्सर्जनगतसत्यत्व का भी बोधन नहीं होता है। जहां पर प्रपञ्चसत्यत्वप्रतिपादक वाक्यों में स्तुत्यादिपरत्व नहीं है वहां पर भी उक्त वाक्य प्रत्यक्षसिद्ध प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत्त्व का अनुवादक होने के कारण प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्यत्व का प्रतिपादक नहीं होता है। जैसे ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''। अर्थात माध्यन्दिनसंहिता के अश्वमेध प्रकरण में ऋत्विजों के प्रश्नोत्तर प्रतिपादक यह मन्त्र है। उसमें से प्रश्नों का प्रतिपादक मन्त्र इस प्रकार से है– ''कः स्विदेकाकी चरति? कः स्विज्जायते पुनः? किं स्विद् हिमस्य भेषजम्? किं वाऽवनं महत्?'' इन प्रश्नों के उत्तर वाक्य इस प्रकार से हैं– ''सूर्य एकाकी चरति, चन्द्रमा जायते पुनः। अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्''। यह वाक्य देवता स्तुतिपरक नहीं है किन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का अनुवादक होने के कारण यह वाक्य प्रतिपाद्यवस्तुपरक भी नहीं है। अतः प्रत्यक्ष सिद्ध व्यावहारिकसत्त्व के अनुवादकता मात्र में ही ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि मन्त्र वाक्य जब चरितार्थ हो गये, तब उन वाक्यों में अद्वैतश्रुति से विरुद्धार्थ विश्व पारमार्थिकतात्त्विकता के बोधकत्व की कल्पना उचित नहीं है।। ४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतवेदान्ती के मत में यह स्वीकार किया जाता है कि ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रतीतियों में ब्रह्मनिष्ठ सत्ता का ही सर्वत्र स्फुरण होता है, ब्रह्मनिष्ठसत्त्व से भिन्न कालत्रयाबाध्यत्वरूप घटादिनिष्ठसत्त्व की प्रत्यक्ष से प्राप्ति ही नहीं है। अतः घटनिष्ठपारमार्थिकसत्त्व का बोधक ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुति को प्रत्यक्ष का अनुवादक नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् जिसको प्रत्यक्ष कहता उसी को श्रुति भी कहती तो श्रुति में अनुवादकत्व की प्रसक्ति होती किन्तु प्रकृत में प्रत्यक्ष ब्रह्मनिष्ठसत्त्व को कह रहा है और श्रुति घटादिरूपविश्वनिष्ठसत्त्व को बतला रही है। अतः श्रुति में अनुवादकत्व की प्रसक्ति नहीं होगी। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त में ब्रह्मनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्व से इतर घटादिनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्व के बाध पूर्वक ही ब्रह्मसत्त्व का स्फुरण स्वीकार किया जाता है। उसी ब्रह्मनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्वरूप अर्थ में ही सत्यादि पदों की प्रवृत्ति को स्वीकार करने के कारण ब्रह्मनिष्ठसत्त्व से भिन्न प्रपञ्चनिष्ठसत्त्व श्रुतिजन्यशाब्दबोध का विषय नहीं होता है। अतः ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि मन्त्रों के सत्यादि पदों के द्वारा ब्रह्मनिष्ठसत्त्व का बोधन होता है न कि विश्वनिष्ठसत्त्व का। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि उक्त मन्त्र के द्वारा विश्वनिष्ठसत्त्व का बोधन होता है। उसका खण्डन हो गया किन्तु जब तक बाध नहीं होता है तब तक अर्थात् अज्ञान काल में प्रत्यक्ष में ब्रह्मरूपसत्त्व प्रपञ्चगतत्वेन भासता है। ब्रह्मसत्त्व ही सत्यादि पदों का अर्थ है। अतः सत्यादि पद घटित मन्त्र (विश्वं सत्यम्) के द्वारा वही ब्रह्मसत्त्व प्रपञ्चगतत्वेन बोधित होता है। अर्थात् अद्वैतश्रुति से विरुद्ध होने के कारण ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति घटादिगत पारमार्थिकसत्त्व का बोधन नहीं करा सकती, अपितु उक्त श्रुति घटादितगत व्यावहारिक सत्त्व

सत्यत्वस्य शाब्दबोधाविषयत्वात्तदादायानुवादकत्वापरिहारात्।। ५।।

अथ 'पृथिवी इतरभिन्ना', 'न हिंस्यात् सर्वाभूतानि' इत्यादौ घटादावेकदेशे प्रत्यक्षेण, ब्राह्मणादावेकदेशे वाक्यान्तरेण, विधेयसिद्धावपि सर्वत्रासिद्धत्वाद् यथा नानुवादकत्वम्, तथा विश्वमात्रसत्यत्वस्य प्रत्यक्षेणाप्राप्तत्वात् नानुवादकत्वमिति मन्यसे? मैवम्, दृष्टान्ते हि पृथिवीत्वं हिंसात्वञ्च एकोऽनुगतो धर्म इति तदवच्छेदेन विधेयस्याप्राप्तत्वेन तत्र नानुवादकत्वं युक्तम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

का बोधन कराती है और प्रत्यक्ष के द्वारा भी घटादिगत व्यावहारिक सत्त्व का ही बोधन होता है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप पारमार्थिकसत्त्व का बोधन प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो सकता है। इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य में अनुवादकत्व की प्रसक्ति अवश्यम्भावी है।। ५।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि ''पृथिवी इतरभिन्ना, पृथिवीत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा जलम्'' इस इतरभेदानुमान में पक्षीभूत पृथिवी के एक देशभूत घटादि में इतरभेद प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध होने पर भी पृथिवीत्वावच्छेदेन सम्पूर्ण पृथिवी में इतरभेद प्रसिद्ध न होने के कारण सिद्धसाधनता (अनुवादकता) अनुमान में नहीं मानी जाती है। इसी प्रकार ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा जहां सर्वप्राणियों में अहिंसारूप विधेय का बोधन किया जाता है, वहां सर्वप्राणियों में से ब्राह्मणादि कुछ प्राणियों में अहिंसा की प्राप्ति वाक्यान्तरेण– ''ब्राह्मणो न हन्तव्यः'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा यद्यपि प्राप्त है, तथापि सम्पूर्ण प्राणियों में किसी अन्य श्रुतिवाक्य के द्वारा अहिंसा प्राप्त न होने के कारण ''न हिंस्यात्'' इस वाक्य को अनुवादक नहीं माना जाता है। वैसे ही प्रकृत में यद्यपि प्रत्यक्ष के द्वारा प्रत्यक्ष योग्य घटादिरूप कुछ पदार्थों में पारमार्थिकसत्त्व सिद्ध है किन्तु धर्मादिरूप ऐसे अनेक पदार्थ हैं जिसमें पारमार्थिकसत्त्व प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं हैं। अतः श्रुति (विश्वं सत्यम्) ने जो धर्मादि सहित सम्पूर्ण विश्व में पारमार्थिकसत्त्व का बोधन करा रही है। उस विश्व के एक भाग (घटादि) में प्रत्यक्ष से सत्त्व का बोधन होने पर भी ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य को अनुवादक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी की ऐसी शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पृथिवी में अनुगत एक पृथिवीत्व नामक धर्म रहता है और सम्पूर्ण हिंसाओं में अनुगत एक हिंसात्व नामक धर्म रहता है। उस पृथिवीत्वावच्छेदेन पृथिवी में इतर भेद रूप विधेय प्राप्त नहीं है और हिंसात्वावच्छेदेन हिंसा में निषेधरूपविधेय प्राप्त नहीं है किन्तु यत् किञ्चित् घटत्वावच्छिन्न पृथिवी में इतर भेद रूप विधेय प्राप्त है और यत् किञ्चित (ब्राह्मणादि) हिंसा में निषेधरूपविधेय प्राप्त है। इसलिए उक्त दोनों स्थलों पर अनुवादकता नहीं मानी जाती है। प्रकृत में विश्वत्व नामक कोई अनुगत धर्म होता नहीं है। अपितु सर्वनाम होने के कारण विश्व शब्द घटत्व पटत्वादि रूप से घट पटादि का उपस्थापक है। अर्थात् विश्व शब्द यद्यपि सम्पूर्ण प्रपञ्च का उपस्थापन करेगा किन्तु सकल प्रपञ्चानुगत विश्वत्व रूप धर्मावच्छेदेन नहीं करेगा, किन्तु घटत्व पटत्वादि धर्मावच्छेदेन ही घटपटादिरूप सम्पूर्ण प्रपञ्च को विश्व शब्द उपस्थापन करेगा, क्योंकि विश्व शब्द सर्वनाम है और सर्वनाम में अनुगत धर्म कोई रहता नहीं है, क्योंकि सर्वनाम से कहीं पर किसी को और अन्यत्र किसी को ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार घटत्वादिरूप से घटादि में प्रत्यक्ष के द्वारा सत्त्व

इह तु विश्वत्वं नाम नैको धर्मोऽस्ति, किन्तु विश्वशब्दः सर्वनामत्वात्तेन तेन रूपेण घटपटादीनामुपस्थापकः, तेषु च प्रत्येकं सत्त्वं गृहीतमेवेति कथं नानुवादकत्वम्? प्रकारवैल-क्षण्याभावात्।। ६।।

न चैकशाखास्थविधिवाक्यैकार्थशाखान्तरस्थविधिवाक्यस्य पुरुषान्तरं प्रतीव येन पुंसा वादिविप्रतिपत्त्यादिना घटादिसत्ता प्रत्यक्षेण न निर्णीता तं प्रत्यर्थवत्त्वेन नानुवादकत्वमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

का ग्रहण होता है और घटत्वादिरूप से ही घटादि में श्रुति के द्वारा सत्त्व का बोधन होता है। अतः श्रुति में अनुवादकत्व अवश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि अवच्छेदक में भिन्नता का अभाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि प्रत्यक्ष के द्वारा घटत्वादिना विश्व में सत्त्व जहां प्राप्त है वहां श्रुति के द्वारा विश्वत्वेन विश्व में सत्यत्व का बोधन होता तब श्रुति को अनुवादक नहीं माना जाता, क्योंकि अवच्छेदक भिन्न–भिन्न हैं, किन्तु प्रकृत में उक्त दोनों स्थलों पर अवच्छेदक घटत्वादि ही है। अतः श्रुति में अनुवादकत्व अवश्यम्भावी है। प्रश्न हो सकता है कि घटादि अंश में प्रत्यक्ष के द्वारा सत्त्व की प्राप्ति होने पर भी परमाणु आदि अंश में प्रत्यक्ष के द्वारा सत्त्व की प्राप्ति नहीं होने के कारण श्रुति में अनुवादकता नहीं आ सकती है। इसका उत्तर यह है कि उक्त युक्तियों से विश्वत्व नामक एक कोई धर्म नहीं है किन्तु घटत्वपटत्वादि धर्मों का समूह मात्र है विश्वत्व। अतः विश्व के परमाण्वादि अंश में प्रत्यक्ष के द्वारा सत्त्व की प्राप्ति भले ही न हो परन्तु विश्व के घटादि अंश में (प्रत्यक्ष ग्राह्य सभी पदार्थों में) घटत्वादिरूप से प्रत्यक्ष के द्वारा सत्व प्राप्त है ही, और उन घटादि अंश में घटत्वादि रूप से सत्त्व का बोधन श्रुति के द्वारा होता ही है। अतः श्रुति में प्रत्यक्ष की अनुवादकता आयेगी ही। जबकि पृथिवीत्वेन पृथिवी में (न कि घटत्वादि रूप से पृथिवी में) अनुमान के द्वारा इतर भेद का बोधन होता है, परन्तु पृथिवीत्वेन पृथिवी में इतरभेद का बोधन प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है, अपितु घटत्वादिरूप से पृथिवी में इतरभेद प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त है। अतः वहां अनुमान में अनुवादकता नहीं आयेगी, यही विषमता है।।। ६।।

शङ्का होती है कि जैसे वेद की एक शाखा में स्थित जो विधिवाक्य का अर्थ है ठीक वैसा ही अर्थवाला जो दूसरी शाखा में स्थित विधिवाक्य है, उस विधिवाक्य को दूसरी शाखा के अध्येता के प्रति सार्थक होने के कारण उसमें अनुवादकत्व नहीं माना जाता है। अर्थात उनमें से एक वाक्य विधायक और समानार्थक शाखान्तरस्थ वाक्य को अनुवादक नहीं माना जाता है, अपितु दोनों ही वाक्य विधायक ही माने जाते हैं। ठीक इसी प्रकार ''घटः सन्'' यह प्रत्यक्ष और ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति वाक्य समानार्थावगाही होने पर भी अनुवादक नहीं है क्योंकि माध्व और अद्वैतवेदान्ती से भिन्न एक तीसरा व्यक्ति जो श्रुति में आस्था रखने वाला है, लेकिन उसकी बुद्धि विचार में कुशल नहीं है। माध्वादि कहता है कि विश्व में पारमार्थिकसत्त्व है और सिद्धान्ती कहते हैं कि विश्व में पारमार्थिकसत्त्व नहीं है। वादियों की इस विप्रतिपत्ति को सुनकर वह तीसरा व्यक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा घटादि में पारमार्थिकसत्ता का निर्णय नहीं कर पाता। उक्त निर्णय के लिए वह श्रुति की शरण लेता है और ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य के आधार पर घटादि में पारमार्थिकसत्त्व का निर्णय कर लेता है। अतः उस व्यक्ति के लिए ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य अज्ञात

वाच्यम्, एवं सत्यनुवादस्थलस्यैवाभावप्रसङ्गात्। न च सर्वाविवादस्थलमेवोदाहरणम्, सर्वाविवादस्य निश्चेतुमशक्यत्वात्, पुरोवादपूर्वकत्वादनुवादस्यात्रायं पुरोवाद इत्यस्यैवाभावान्न शाखान्तरस्थ–वाक्यस्यानुवादकत्वप्रसङ्गः।। ७।।

यत्तु–बृहदारण्यकभाष्ये देहभिन्नात्मबोधिकायाः 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' इत्यादिश्रुतेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञापक होने के कारण प्रमाण एवं सार्थक है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि जिस–जिस अर्थ को लेकर वादियों में विप्रतिपत्ति है उस–उस विषय में श्रुति को अनुवादक नहीं माना जायेगा। ऐसा यदि स्वीकार कर लिया जाये तब तो अनुवाद स्थल का ही अभाव हो जायेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जिस पर कोई विवाद नहीं है उस विषय को कथन करने वाला श्रुतिवाक्य ही अनुवाद का उदाहरण बन जायेगा, जैसे ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''। यहां पर कोई विवाद नहीं है क्योंकि सर्वमान्य है कि अग्नि शीत के लिए दवा रूप से काम करती है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा कोई स्थल मिलेगा ही नहीं जहां पर कोई विवाद न हो। पूर्वपक्षी ने जो ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' को सर्वमान्य स्थल बतलाया, वह भी सर्वमान्य स्थल नहीं है, क्योंकि स्वभाव वादी लोग कार्यकारण भाव नहीं मानते हैं। अतः हिम निवृत्तिरूप कार्य के प्रति अग्नि को कारण नहीं मानते हैं। उनका कथन है कि कहीं भी कार्यकारण भाव नहीं है, केवल सर्वत्र स्वभाव से ही सब कुछ हो रहा है। अतः सर्वमान्य अविवाद स्थल का निश्चय करना अशक्य होने से अनुवाद की कथा ही समाप्त हो जायेगी। इसलिए पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है। अनुवाद का अर्थ यह होता है कि किसी वाक्य का पहले कथन किसी व्यक्ति के द्वारा किया गया हो। इसके पश्चात् दूसरे किसी व्यक्ति के द्वारा उसी वाक्य के कथन को अनुवाद कहा जाता है। प्रकृत में सम्पूर्ण वेद अनादि तथा अपौरूषेय होने के कारण उसकी शाखाओं में पौर्वापर्य सम्भव नहीं है। अतः दो शाखाओं में जो एक ही प्रकार के विधिवाक्य का कथन है उन दोनों कथनों में कोई पूर्ववाद है और दूसरा पश्चात् वाद है ऐसा न होने से शाखान्तरस्थवाक्य को अनुवाद नहीं कहा जा सकता है। अथवा ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इस अध्ययन विधि में स्वाध्याय पद से स्वशाखामात्र का ग्रहण है। अतः स्वशाखास्थविधिवाक्यप्रतिपाद्य अर्थविषयकज्ञान स्वशाखाऽध्ययन से पूर्व अन्यदीयशाखास्थ विधिवाक्य के अध्ययन से जन्य नहीं हो सकता है, क्योंकि शाखान्तर के अध्ययन का विधान ही नहीं है। अतः अनुवादकत्व का प्रसङ्ग यहां पर नहीं आ सकता है।। ७।।

भगवान् भाष्यकार ने बृहदारण्यकोपनिषत् के सम्बन्धभाष्य में लिखा है– ''येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके'' इत्युपक्रम्यास्तीत्येवोपलब्धव्य इत्येवमादि निर्णयदर्शनात्.....। ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'' (बृ० उ० ४–४–५) इति च ''ज्ञपयिष्यामि'' (बृ० उ० २–१–१५) इत्युपक्रम्य ''विज्ञानमयः'' (बृ० उ० २–१–१६) इति च व्यतिरिक्तात्मास्तित्वम्। तत्प्रत्यक्षविषयमेवेति चेत्। न, वादिविप्रतिपत्तिदर्शनात्।।'' इस सम्बन्धभाष्यवाक्य का अभिप्राय पूर्वपक्षी इस प्रकार से वर्णन करता है– ममायं देहः'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा देह और आत्मा का भेद प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी पुनः ''अस्तीत्येवोपल–ब्धव्य'' (क० उ० ३–१३) इस श्रुति के द्वारा देह से व्यतिरिक्त आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। अतः प्रत्यक्षगृहीत देहात्मभेद को विषय करने वाली होने से इस श्रुति

प्रत्यक्षप्राप्तानुवादित्वमाशङ्क्य वादिविप्रतिपत्तिदर्शनादित्यादिना तत्परिहृतम्। तथा च प्रत्यक्षसिद्ध–सत्त्वग्राहकत्वेऽपि वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थकत्वेन नानुवादकत्वं प्रकृतेऽपीत्युक्तम्। तदयुक्तम्, भाष्यार्थानवबोधात्। तथा हि–तत्र वादिविप्रतिपत्तिदर्शनेन देहव्यतिरिक्तत्वेनात्मनः प्रत्यक्षतैव नास्ति। अन्यथा प्रत्यक्षप्रामाण्यवादिनश्चार्वाकादेस्तत्र विप्रतिपत्तिर्न स्यादित्युक्तम्, न तु वादिविप्रतिपत्ति–निरासेनास्तीत्यादेस्सार्थकत्वम्, अननुवादकत्वं वा। तथा चोक्तं तत्रैव–तस्माज्जन्मान्तरसम्बन्ध्यात्मास्तित्वे जन्मान्तरेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारविशेषोपाये च शास्त्रं प्रवर्तत इति॥ ८॥

ननु चातुर्मास्यमध्यपर्वणोः ''द्वयोः प्रणयन्ति'' इति वाक्यस्य चोदकप्राप्ताग्निप्रणयन–

सत्यानन्दप्रबोधिका

में अनुवादकता की आपत्ति होगी। इस आशङ्का को निराकरण करते हुए भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि वादि–विवाद स्थल पर विशेष निर्णायक होने के कारण इस श्रुति में अनुवादकता नहीं है। अर्थात् देहात्मभेद के प्रत्यक्ष के विषय में चार्वाक–नैयायिक आदि का विवाद होने के कारण उक्त भेदप्रत्यक्ष की प्रामाणिकता का निश्चय न होने से ''ममायं देहः'' इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा देहात्मभेद सिद्ध नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा बोधित देहात्मभेद में वादिओं की विप्रतिपत्ति है। अतःवादि–विवाद स्थल पर विशेष निर्णायक होने के कारण श्रुति में अनुवादकत्व की प्रसक्ति नहीं होगी। ठीक इसी प्रकार प्रत्यक्ष से सिद्ध जो प्रपञ्चगतसत्त्व उस पर वादिओं की विप्रतिपत्ति है। उस वादिओं की विप्रतिपत्ति निरासार्थकत्वेन प्रपञ्चसत्यत्व प्रतिपादकवाक्यजात (विश्वं सत्यम् इत्यादि) में भी अनुवादकत्व नहीं है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो कुछ कहा है वह उसकी अज्ञानता को दर्शाता है, क्योंकि वह भाष्य के अर्थ को अवगत ही नहीं कर सका है। भगवान् भाष्यकार का क्या आशय है, उसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि वादिओं की विप्रतिपत्ति देखने से देहव्यतिरिक्ततत्वेन आत्मा की प्रत्यक्षता ही नहीं है। देह से भिन्नत्वेन आत्मा की प्रत्यक्षता होने पर प्रत्यक्षनिष्ठप्रामाण्यवादी चार्वाकादि को आत्मा की देहव्यतिरिक्तता में विप्रतिपत्ति ही नहीं होती। ऐसा उक्त स्थल पर कहा गया है न कि वादिओं को विप्रतिपत्ति के निरास से ''अस्ति....'' इत्यादि का सार्थकत्व कहा गया है, अथवा वादिओं की विप्रतिपत्ति के निरास से अनुवादकत्व नहीं कहा गया है,क्योंकि वहीं पर देहव्यतिरिक्त आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता है इसे भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि जन्मान्तर सम्बन्धी आत्मा के अस्तित्व में और जन्मान्तरीय जो इष्ट और अनिष्ट इनके क्रमशः प्राप्ति और परिहार का बोध शास्त्र के द्वारा ही होता है प्रत्यक्षादि से नहीं होता है॥ ८॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्च में प्रत्यक्षसिद्धव्यावहारिकसत्त्व से विलक्षण पारमार्थिकसत्त्व के प्रतिपादन के लिए ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति प्रवृत्त होती है। जैसे पूर्वमीमांसा दर्शन के सप्तम अध्याय तृतीय पाद नवम अधिकरण के तेईस–चौबीस–पच्चीस सूत्र में विचार किया गया है कि दर्शपौर्णमासप्रकृतिक चातुर्मास्य संज्ञक इष्टि के चार पर्व (खण्ड) होते हैं– १. वैश्वदेव, २. वरुणप्रघास, ३. शाकमेध, ४. शुनासीर। उसी चातुर्मास्य प्रकरण में यह विधिवाक्य श्रुत है– ''द्वयोः प्रणयन्ति द्वाभ्यामेति, ऊरू वा एतौ यज्ञस्य यद्वरुणप्रघासाश्च साकमेधाश्च।'' जिसका तात्पर्य यह है कि चातुर्मास्य इष्टि के मध्यम दो (वरुणप्रघास और शाकमेध) पर्वों में अग्नि का प्रणयन करना चाहिए अर्थात् गार्हपत्यकुण्ड से आहवनीय

व्यतिरिक्ताग्निप्रणयनविधायकत्ववत् प्रत्यक्षप्राप्तव्यावहारिकसत्त्वविलक्षणत्रिकालनिषेधा-प्रतियोगित्वरूपसत्त्वप्रमापकत्वं प्रकृतेऽस्त्विति चेन्न, त्रैकालिकसत्त्वनिषेधकश्रुतिविरोधेन विश्वसत्यत्वश्रुतेस्त्रैकालिकसत्त्वपरत्वाभावात्। न च वैपरीत्यमेव किं न स्यात्? विनिगमका-भावादिति वाच्यम्, तात्पर्यान्यथानुपपत्तिगतिसामान्यानामेव विनिगमकत्वात्।। ९।।

अद्वैतश्रुतिर्हि षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेता। तत्र त्रिविधं तात्पर्यलिङ्गम्— प्रामाण्यशरीरघट-

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

कुण्ड में अग्नि ले जाना चाहिए। दर्शपूर्णमासकर्म की विकृति चातुर्मास्य इष्टि है। अतः ''प्रकृतिवद् विकृतिःकर्तव्याः'' इस अतिदेश वाक्य के द्वारा दर्शपौर्णमास विहित अग्नि प्रणयनरूप अङ्ग भी चातुर्मास्य इष्टि के चारों पर्वों में प्राप्त है। अतः श्रुति के द्वारा पुनः ''द्वयोः प्रणयन्ति....'' इस प्रकार से मध्य के दो पर्वो में अग्नि प्रणयन करो—ऐसा विधान व्यर्थ हो रहा है। इसलिए चातुर्मास्य प्रकरणगत ''द्वयो प्रणयन्ति'' यह प्रत्यक्ष श्रुत वाक्य व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि ''प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः'' इस अतिदेश वाक्य के द्वारा चातुर्मास्य इष्टि के मध्यभावी दो पर्वो (वरुणप्रघास तथा शाकमेध) को छोड़कर प्रथम (वैश्वदेव) और चतुर्थ (शुनासीर) में ही अग्नि प्रणयन प्राप्त होता है। इसलिए मध्यभावी दो पर्वो में अप्राप्त अग्नि प्रणयन का विधान ''द्वयोः प्रणयन्ति.....'' इस विधिवाक्य के द्वारा किया जाता है। ठीक इसी प्रकार यदि प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्त्व का बोधन हो जाता है जो ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। अतः यह श्रुतिवाक्य व्यर्थ होकर यह बोधन करता है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा प्रपञ्चगत केवल व्यावहारिक सत्यत्व का बोधन कराया जाता है। पारमार्थिकसत्त्व (त्रिकालाबाधितत्व) का नहीं। इसलिए प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्त्व की प्रमापकता ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतियों में सिद्ध होती है अनुवादकता नहीं। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं, कि ''नेह नानास्ति किञ्चनः'' (बृ० उ० ४—४—१९) इत्यादि प्रपञ्चगत त्रैकालिक सत्त्वनिषेधक श्रुतियों के द्वारा जगत् में पारमार्थिकसत्त्व का निषेध किया जा रहा है। अतः ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व मानने पर विरोध होगा। इसलिए श्रुतिवाक्यों में पारस्परिक विरोध परिहार के लिए यह मानना पड़ेगा कि ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य प्रपञ्च में पारमार्थिकसत्त्व का बोधन नहीं करा रहा हैं। अर्थात् ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य को गौणार्थक मानना चाहिए। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती ने प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्त्व का निषेधक "नेह नानास्ति" इत्यादि श्रुतियों के अनुरोध पर निर्णय किया कि "विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य गौणार्थक है किन्तु एकतरपक्षपातीनि युक्ति (विनिगमक) का अभाव होने के कारण "विश्वं सत्यम्" इस प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्यत्व-' बोधक श्रुतिवाक्य के अनुरोध पर "नेह नानास्ति किञ्चनः" इत्यादि श्रुतिवाक्यों को ही गौणार्थक क्यों न मान लिया जाय ? पूर्वपक्षी की शङ्का का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि परस्पर विरोधी श्रुतिवाक्यों में कौन स्वार्थपरक है? और कौन गौणार्थक है ? इसका निर्णय करने के लिए एकतरपक्षपातीनी युक्ति सिद्धान्ती के पास है। वह युक्ति है— तात्पर्यान्यथा—उपपत्ति और गतिसामान्य।। ९।।

अद्वैतश्रुति स्वार्थपरक है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जो श्रुति षड्वि-धतात्पर्यलिङ्ग से युक्त होती है, वह स्वार्थपरक होती है। प्रकृत में अद्वैतश्रुति षड्वि-धतात्पर्यलिङ्ग से युक्त है। अतः षड्विधतात्पर्यलिङ्ग से युक्त होने के कारण अद्वैतश्रुति का

कमर्थनिष्ठमज्ञातत्वमबाधितत्वं प्रयोजनवत्त्वञ्च। त्रिविधं तु शब्दनिष्ठम्। अतिप्रसङ्गवारक—मुपक्रमोपसंहारयोरैकरूप्यमभ्यासोऽर्थवादश्चेति। तत्र शब्दनिष्ठलिङ्गत्रये तावन्न विवादः, सर्वासामेवोपनिषदामेवं प्रवृत्तत्वात्। मानान्तरासिद्धतया मोक्षहेतुज्ञानविषयतया चाज्ञातत्वं सप्रयोजनत्वञ्च निर्विवादमेव। अबाधितत्वमात्रं सन्दिग्धम्। तच्चान्यथानुपपत्तिगतिसामान्याभ्याञ्च निर्णीयते। न हि सर्वप्रपञ्चनिषेधरूपमद्वैतं व्यावहारिकं येन तत्र श्रुतेर्व्यावहारिकं प्रामाण्यं स्यात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैत में जो तात्पर्य है वह प्रपञ्च के पारमार्थिकसत्त्वनिषेध के बिना अनुपपन्न होकर यह सिद्ध कर देता है कि ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य गौणार्थक है। अतः अद्वैत श्रुति को स्वार्थ परक स्वीकार किया जाता है। षड्विधतात्पर्यनिर्णायकलिङ्ग ये हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

उक्त षड्विधतात्पर्यलिङ्गों में से तीन प्रमात्व के लक्षण के घटक प्रमेयरूप अर्थ में रहते हैं। अर्थात् प्रमात्व का लक्षण है— अनधिगताबाधितप्रयोजनवदर्थविषयकज्ञानत्वम्। इसके घटक तीन हैं— अज्ञातत्त्व, अबाधितत्व और प्रयोजनवत्व। इन्हीं को दूसरे शब्दों में अपूर्वता, उपपत्ति और फल कहा जाता है और ये ही उक्त छह लिङ्गों में से तीन लिङ्ग है। इस प्रकार प्रमात्व लक्षण के तीन घटक जो विषयनिष्ठ है, वे ही तीन प्रकार के तात्पर्यलिङ्ग कहे जाते हैं। शेष तीन तात्पर्यलिङ्ग शब्दनिष्ठ हैं। प्रथम उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता, द्वितीय—अभ्यास, तृतीय—अर्थवाद। ये तीनों लिङ्ग अतिप्रसङ्ग के वारक अर्थात् तात्पर्यान्तर के वारक होते हैं। जैसे "नेह नानास्ति....'' इस श्रुति का तात्पर्य अद्वैत में है। अतः तात्पर्यान्तर द्वैत होगा। उस द्वैत रूप तात्पर्यान्तर का वारण करने वाले ये उपक्रमादि होते हैं। अर्थात् अद्वैत ब्रह्म के जैसे ही सत्यकामत्वादिविशिष्ट ब्रह्म में भी श्रुतिबोधितत्त्वेन अपूर्वत्व, अबाधितत्व और उपासना विषयत्वेन प्रयोजनवत्त्वरूपलिङ्गत्रय की प्रसक्ति है। अतः सगुण ब्रह्म में भी श्रुति का तात्पर्य प्रसक्त हुआ, किन्तु अभ्यासादि तीन का अद्वैत में ही पाये जाने से अद्वैत में ही तात्पर्य है मानना पड़ेगा, क्योंकि द्वैत में अभ्यासादि पाये नहीं जाते हैं। अद्वैत में श्रुति का तात्पर्य न मानने से अद्वैत में अभ्यासादि के वैयर्थ्य की आपत्ति होगी। इसलिए अभ्यास आदि सगुण ब्रह्म रूप तात्पर्यान्तर के वारक है। उक्त षड्विधतात्पर्यलिङ्गों में से शब्दनिष्ठ उक्त तीन लिङ्गों के विषय में विवाद नहीं है, क्योंकि सभी उपनिषदों के सभी प्रकरणों में उपक्रमादि में भी अद्वैत की चर्चा है और अद्वैत का ही पुनः पुनः अभ्यास किया गया है तथा अद्वैत के सुगमबोध के लिए अर्थवाद वाक्यों का प्रयोग किया गया है। अर्थनिष्ठ तीन लिङ्गों में से अज्ञातत्त्व और प्रयोजनवत्त्व के विषय में विवाद नहीं है, क्योंकि शास्त्रेतर प्रमाणों से अद्वैत असिद्ध होने से अद्वैत में अज्ञातत्त्व निर्विवादरूप से है और मोक्ष का हेतुभूतज्ञान (अद्वैतज्ञान) का विषय अद्वैत है। इसलिए मोक्षरूप प्रयोजन वाला भी अद्वैत है। अतः सप्रयोजन (फल) में भी विवाद नहीं है। इस प्रकार अद्वैत का अज्ञातत्त्व और सप्रयोजनवत्त्व निर्विवाद होने पर भी अद्वैत का अबाधितत्त्वमात्र संदिग्ध है। वह अबाधितत्त्व अन्यथानुपपत्ति और गति सामान्य इन दोनों से निर्णीत होता है। सभी वेदान्त वाक्यों के द्वारा साक्षात् अथवा परम्परया एक मात्र अद्वैत तत्त्व की (गति) अवगति होती है। इसलिए निषेधक वाक्यों का भी पर्यवसान अद्वैत में ही होता है। इस पर विशेष विचार ''गतिसामान्यात्'' (ब्र० सू० १—१—१०) में किया गया है। अन्यथानुपपत्ति

अतस्तत्र तात्त्विकमेव प्रामाण्यम्, द्वैतसत्यत्वं तु व्यावहारिकम्, अतस्तत्र न श्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यम्। परस्परविरुद्धयोर्द्वयोस्तात्त्विकत्वायोगात्, वस्तुनि च विकल्पासम्भवात्, तात्त्विकव्यावहारिकप्रामाण्यभेदेन च व्यवस्थोपपत्तेः। स्तुति(अतत्)परत्वेनावधारितस्य विश्वसत्यत्ववाक्यस्यैवान्यथाव्याख्यातुमुचितत्वात्। तथा हि—चतुर्धा हि सामानाधिकरण्यम्;— अध्यासे 'इदं रजतम्' इत्यादौ, बाधायां 'स्थाणुः पुमान्' इत्येवमादौ, विशेषणविशेष्यभावेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि सर्व प्रपञ्च का निषेधरूप अद्वैत व्यावहारिक नहीं है। जिससे अद्वैत में व्यावहारिक प्रामाण्य हो। अर्थात् सर्वप्रपञ्चरूपद्वैत का निषेधरूप अद्वैत का भान व्यावहार में नहीं होता है, क्योंकि सर्वत्र व्यवहार में द्वैत का ही भान होता है। यदि व्यावहारिक होता अद्वैत तब अद्वैत में श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य होता किन्तु अद्वैत व्यावहारिक नहीं है। अतः अद्वैत में श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य नहीं माना जा सकता है। इसलिए अद्वैत श्रुति में व्यावहारिक प्रामाण्य का अभाव होने से अद्वैत श्रुति में तात्त्विक ही प्रामाण्य है। द्वैतप्रपञ्च का सत्यत्व तो व्यावहारिक है। इसलिए द्वैतसत्यत्व में श्रुति का तात्त्विक प्रामाण्य नहीं है अपितु व्यावहारिक प्रामाण्य है। परस्पर विरुद्धार्थ (द्वैत और अद्वैत) प्रतिपादक दो वाक्यों में तात्त्विक प्रामाण्य सम्भव नहीं होता है, क्योंकि क्रिया में विकल्प होने पर भी एक ही वस्तु में विकल्प (विरुद्ध दो आकार) कभी भी नहीं होता है। अद्वैत में श्रुति का तात्त्विक प्रामाण्य और द्वैत में श्रुति का व्यावहारिक प्रामाण्य है। इस प्रकार से श्रुति में वर्णित द्वैत और अद्वैत दोनों की व्यवस्था हो जाती है और किसी एक (द्वैत और अद्वैत) की उपेक्षा भी नहीं होती है। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से परस्पर विरुद्ध द्वैत और अद्वैत दोनों तात्त्विक नहीं हो सकते हैं। अतः द्वैतपरक श्रुतिवाक्य और अद्वैतपरक श्रुतिवाक्य इन दोनों में से एक वाक्य का आपात प्रतीयमान अर्थ से भिन्न अर्थ करना उचित ही होगा। वह द्वैत परक वाक्य का ही भिन्न अर्थ करना होगा। इसमें हेतु दिया जा रहा है— स्तुतिपरत्वेनावधारितत्त्वात्। यहां पर अनुमान का आकार होगा— विश्वं सत्यमितिवाक्यमन्यथाव्याख्येयम् —स्तुतिपरत्वेनावधारितत्वात्—वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवतेत्यादिवाक्यवत्। यहां पर साध्य—अन्यथाव्याख्येयत्व है। अन्यथा—आपात प्रतीयमान अर्थ से भिन्नार्थक के रूप से,व्याख्येय है। प्रकृत में आपात प्रतीयमान अर्थ है— विश्व सत्यत्व। इससे भिन्न अर्थ बाधायाम् सामानाधिकरण्य से निकलेगा—जो विश्वरूप से प्रतीत हो रहा है, वह विश्व नहीं अपितु सत्य ब्रह्म है।''अतत्परत्वेनावधारितस्य'' ऐसा पाठ स्वीकार करने पर तत्परत्व का अर्थ होगा—अद्वैतपरत्व और अतत्परत्व का अर्थ होगा—अद्वैत से भिन्न स्तुति आदि परत्व। पूर्वोक्त अनुमान में साध्य—अन्यथाव्याख्येयत्व को स्पष्ट करने के लिए कह रहे हैं कि ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य में विश्व और सत्य दोनों पदों का सामानाधिकरण्य प्रतीत होता है। समान विभक्तिक परस्परसाकाङ्क्ष पदद्वयत्व का नाम सामानाधिकरण्य है। वह सामानाधिकरण्य चार प्रकार का होता है। १. अध्यास में अर्थात् आधार और आरोप्य एतदुभयतादात्म्य बोधक जो पदद्वय तन्निष्ठ सामानाधिकरण्य ''इदं रजतम्'' इत्यादि में है। यहां पर अर्थ होता है कि ''इदम्'' में रजत अध्यस्त है। २. बाधायाम् सामानाधिकरण्य में बाध्यमान जो तादात्म्य तादृश तादात्म्य से उपलक्ष्यमाण जो अधिष्ठान तादृश अधिष्ठान बोधक पदद्वयनिष्ठ सामानाधिकरण्य होता है, जैसे ''स्थाणुः पुमानेव" यहां पर स्थाणुत्वेन

'नीलमुत्पलम्'इत्यादौ, अभेदेन 'तत्त्वमसि'इत्येवमादौ। अत्र च बाधायामध्यासे वा सामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सत्यत्वबोधकश्रुतेः षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेताद्वैतश्रुतिबाधकत्वम्।। १०।।

ननु— आत्मन आनदत्वबोधिका श्रुतिरपि "सुखं सुप्तोस्मि" इति साक्षिप्रत्यक्षसिद्धानन्दानुवादिनी सत्त्वश्रुतिवद्भवेदिति चेन्न, साक्षिण उपहितानन्दविषयत्वेन श्रुतेश्च निरुपाधिकानन्दविषयत्वेन भिन्नविषयत्वादनुवादत्वायोगात्। तदा हि स्वरूपानन्दो गृह्यते।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्व में ज्ञात वस्तु पुरुष ही है। यही अर्थ प्रतीत होता है। इसलिए ऊपर पदद्वय को अधिष्ठानबोधकत्व लिखा गया है। अर्थात् जो पहले स्थाणुरूप से प्रतीत हो रहा था, वह स्थाणु नहीं किन्तु पुरुष है ऐसा बोध होता है। ३. विशेषणविशेष्यभाव स्थल पर बाध्यतादात्म्यातिरिक्त तादात्म्य बोधक पदद्वय में सामानाधिकरण्य होता है। जैसे नीलमुत्पलम्। यहां पर नीलरूप विशेषण से विशिष्ट उत्पल का बोध होता है। ४. अभेद सामानाधिकरण्य वहां होता है जहां शुद्ध व्यक्ति मात्र बोधक पदद्वयनिष्ठ सामानाधिकरण्य होता है जैसे तत्त्वमसि। प्रकृत में सत्यत्व बोधक वाक्य (विश्वं सत्यम्) में सत्त्वविशिष्ट बोधक पद (सत्यम्) के साथ में प्रपञ्च बोधक पद (विश्वम्) के सामानाधिकरण्य की बाध में अर्थात् जो विश्वरूप से प्रतीत हो रहा है, वह विश्व नहीं है किन्तु सत्यस्वरूप ब्रह्म है अथवा सत्यस्वरूप ब्रह्म में विश्व अध्यस्त है, इस प्रकार से अध्यास में उपपत्ति हो जाने से सत्यत्वबोधक श्रुति के द्वारा षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेत जो अद्वैतश्रुति उसका बाध नहीं माना जा सकता है। अपितु षड्विधतात्पर्यलिङ्गोपेत होने के कारण अद्वैतश्रुति प्रबल है और षड्विधतात्पर्यलिङ्ग से रहित होने के कारण प्रपञ्चसत्यत्वश्रुति दुर्बल है। अत: प्रबल अद्वैत श्रुति के द्वारा दुर्बल विश्वसत्यत्व श्रुति का ही बाध मानना उचित है। मूलस्थ ''अध्यासे वा'' में जो ''वा'' शब्द है वह व्यवस्थित विकल्प में है। इसलिए अर्थ यह होगा कि तत्त्व साक्षात्कार हो जाने पर बाध प्रयुक्त सामानाधिकरण्य है और सत्त्व साक्षात्कार से पूर्व आध्यासिक सामानाधिकरण्य है।। १०।।

''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुति में अनुवादकत्व की सिद्धि को सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी पुन: शङ्का कर रहा है कि जैसे विश्वसत्यत्वप्रतिपादिका श्रुति प्रत्यक्ष सिद्ध सत्त्व की अनुवादिका है ठीक उसी प्रकार आत्मस्वरूप आनन्द की बोधिका ''विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'' (बृ० उ० ३—९—३९) यह श्रुति भी ''सुखं सुप्तोऽस्मि'' इत्याकारक साक्षिप्रत्यक्ष से सिद्ध आनन्द की अनुवादिका होगी। अत: उक्त श्रुति के आधार पर आत्मा में भी आनन्दरूपता सिद्ध नहीं हो सकती है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि साक्षिप्रत्यक्ष के द्वारा अविद्यावृत्ति से उपहित आनन्द का ग्रहण होता है और श्रुति का विषय निरुपाधिक आनन्द है। अत: दोनों का भिन्न—भिन्न विषय होने से श्रुति में अनुवादकत्व की आपत्ति नहीं आयेगी। यद्यपि स्वरूपानन्द अविद्या के द्वारा उपहित होकर साक्षी के द्वारा ग्रहीत होता है किन्तु विषय कोटि में केवल स्वरूपानन्द ही प्रविष्ट होता है अविद्या उपाधि होने के कारण विषय कोटि में प्रविष्ट नहीं होती है। अविद्या विषय कोटि से बाहर रहकर के स्वरूपानन्दरूपविषय को उपहित कर देती है। अत: सुषुप्तिकाल में व्यक्ति को स्वरूपानन्दरूपविषय का अनुभव होता है। अर्थात् मुक्ति दशा के जैसे ही शुद्ध स्वरूपानन्द सुषुप्ति काल में भी गृहीत होता है किन्तु सुषुप्ति काल में अविद्या विद्यमान रहती है। इसलिए तत्कालीन अनुभव का विषय जो स्वरूपानन्द

स्वरूपश्चाज्ञानोपहितमेव साक्षिविषयः।। ११।।

ननु "तत्त्वमसि" इत्यादौ नवकृत्वोऽभ्यासवत्, पिपासितस्य जलगोचरप्रमाणसंप्लववदैक्ये षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्, भावरूपाज्ञाने प्रत्यक्षसिद्धे "तम आसीत्" इत्यादिश्रुतिवत् सत्त्वश्रुतिर्दार्ढ्यार्था इति चेन्न, अशेषविशेषग्राहिप्रत्यक्षप्राप्ते तद्दार्ढ्यार्थमन्यानपेक्षणात्। पिपासितस्य शब्दलिङ्गानन्तरं जले प्रत्यक्षमपेक्षितं, न तु प्रत्यक्षानन्तरं शब्दलिङ्गे। न च तर्हि "तम आसीत्"

सत्यानन्दप्रबोधिका

है उसे शुद्ध (अनुपहित) नहीं कहा जा सकता है। मूलस्थ ''तदा'' पद का अर्थ है— सुषुप्ति अवस्था में।। ११।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती इस बात को स्वयं स्वीकार करते हैं कि तात्पर्यग्राहक अभ्यासरूपलिङ्ग के द्वारा प्रतिपाद्य विषय में दृढ़ता का सम्पादन होता है न कि पर को पूर्व का अनुवादक माना जाता है। इसलिए छान्दोग्योपनिषत् के छठे अध्याय में ''तत्त्वमसि'' के नव बार अभ्यास से जीव ब्रह्म की एकता में दृढ़ता आती है। रास्ते में जाते हुए पिपासित व्यक्ति को किसी से जल के विषय में पूछने पर पहले उसे शब्द प्रमाण से जल का बोध होता है। इसके पश्चात् ''समीपवर्तिदेशः जलवान्, पक्षिकलरववत्त्वात्, सम्प्रतिपन्नदेशवत्'' इस अनुमान से जल की अनुमिति करता है। इसके पश्चात् प्रत्यक्ष से जल का ज्ञान होता है। यहां पर पिपासित पुरुष को जल विषयक प्रमाणों का सम्प्लव (समूह) अर्थ की दृढ़ता के लिए है न कि शब्द प्रमाण के विषय का अनुवादक अनुमान प्रमाण और शब्द प्रमाण एवं अनुमान प्रमाण के विषय का अनुवादक प्रत्यक्ष प्रमाण को माना जाता है। उपक्रम—उपसंहार की एकरूपता रूप तात्पर्यलिङ्ग के द्वारा अद्वैत में श्रुति के तात्पर्य का निश्चय हो जाने के पश्चात् उसी अद्वैत में ही अभ्यास अपूर्वता—फलादि के रहने पर अद्वैत में श्रुति का तात्पर्य दृढ़ ही होता है। ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इस प्रकार भावरूप अज्ञान का साक्षिप्रत्यक्ष सिद्धान्ती मानते हैं। उसी प्रत्यक्षसिद्ध भावरूप अज्ञान का कथन ''तम आसीत्'' इस श्रुति के द्वारा किया गया है। यहां पर भी श्रुति के द्वारा अर्थ की दृढ़ता ही होती है न कि श्रुति में अनुवादकत्व सिद्धान्ती के द्वारा स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष के द्वारा जो विश्वसत्यत्व का ज्ञान हुआ उसी विश्व सत्यत्व को श्रुति के द्वारा भी कथन कर दिये जाने से विश्वसत्यत्व की पुष्टि हो जाती है न कि अनुवादक होने से विश्वसत्यत्वरूप विषय में श्रुति वाक्य की प्रामाणिकता ही समाप्त हो जाती है। मूल के प्रमाणसम्प्लव का अर्थ यह है कि जहां पर एक विषय में अनेक प्रमाणजन्यज्ञान विषयतासम्बन्ध से रहते हैं। वहां पर प्रमाणों का सम्प्लव कहा जाता है। जैसे वह्नि में प्रत्यक्ष—अनुमानादि प्रमाणजन्यज्ञान विषयतासम्बन्ध से रहते हैं। इसलिए वह्नि में प्रमाणों का सम्प्लव कहा जाता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विषय में रहने वाले सम्पूर्ण विशेषों (विषय में रहने वाले विशेष तत्तत् रूपादि, तत्तद् आकारादि) का ग्रहण प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता है। अतः किसी विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण के उपस्थित हो जाने पर विषय की दृढ़ता के लिए अनुमान—शब्दादि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं होती है। अतः विश्वसत्यत्व का उपस्थापक प्रत्यक्ष प्रमाण को विषय की पुष्टि के लिए ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुति की अपेक्षा नहीं मानी जा सकती अपितु विश्व सत्यत्व की बोधिका विश्व सत्यत्वश्रुति को प्रत्यक्ष की अनुवादिका मात्र ही स्वीकार करना उचित है। पिपासित व्यक्ति को शब्द लिङ्गादि परोक्ष प्रमाणों के द्वारा विषयगतनिखिल

इत्यादेः न किञ्चिदवेदिषमिति प्रत्यक्षसिद्धाज्ञानदार्ढ्यार्थत्वं न स्यादिति वाच्यम्, "तम आसीत्" इत्यस्य सृष्टिपूर्वकालसम्बन्धित्वेनाज्ञानग्राहितया सुषुप्तिकालसम्बन्धित्वेनाज्ञानग्राहकं प्रत्यक्षमपेक्ष्य भिन्नविषयत्वेनैव प्रामाण्यसम्भवात्।। १२।।

ननु 'षड्विंशतिरस्य वंक्रयः' इति मन्त्रस्याश्वमेधे चोदकप्राप्तस्य "चतुस्त्रिंशद्वाजिनोः

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेषों का ग्रहण न होने के कारण उन विशेषों के सम्बन्ध में जिज्ञासा का समाधान शब्द लिङ्गादि प्रमाणों से नहीं हो पाता है। अतः उस समाधान के लिए शब्दलिङ्गादि को प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है। प्रत्यक्ष के अनन्तर किसी भी शब्द अनुमानादि प्रमाण की अपने विषय की पुष्टि के लिए अपेक्षा नहीं रहती है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि प्रत्यक्ष के अनन्तर शब्द प्रमाण से किसी का बोध होने पर शब्द प्रमाण को अनुवादक मानने पर ''न किञ्चिदवेदिषम्'' इत्याकारक स्मृति की अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध सुषुप्तिकालीन साक्षिप्रत्यक्ष से सिद्ध जो अज्ञान, उसकी दृढ़ता में ''तम आसीत्'' इस श्रुति का उपयोग न होकर अनुवादमात्र में तात्पर्य स्वीकार करना होगा। अनुवादकशब्द को प्रमाणरूप से स्वीकार नहीं किया जाता है। इसलिए ''तम आसीत्'' इस श्रुति को अज्ञान में प्रमाण रूप से उपस्थापित जो अद्वैत वेदान्ती करते हैं, वह असङ्गत हो जायेगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''तम आसीत्'' इस श्रुति का विषयीभूत अज्ञान सृष्टिपूर्वकालिनत्वेन है। अर्थात् उक्त श्रुति सृष्टि के पूर्वकालीन अज्ञान को बतला रही है। सौषुप्तिक साक्षि प्रत्यक्ष उक्त सृष्टि से पूर्वकालीन अज्ञान का बोधन न कर सुषुप्तिकालीन अज्ञान का बोधन करता है। अतः प्रत्यक्ष और श्रुति का विषय भिन्न–भिन्न होने से प्रत्यक्ष से अनधिगत विषय का प्रकाशक होने के कारण उक्त श्रुति को प्रमाणरूप से स्वीकार करने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं है।। १२।।

अग्निषोमीय पशुयाग प्रकृतियाग है। इसमें ''षड्विंशतिरस्य वंक्रयः'' यह वाक्य पठित है। अग्निषोमीय पशु का हनन करने के पश्चात् उसकी पसलिया गिन–गिन कर निकाली जाती है। तूपर (सींग रहित छाग) और गोमृग (गवय) आदि पशुओं के दोनों पार्श्वों में तेरह–तेरह पसलियां अर्थात् सब मिलाकर छब्बीस पसलियां होती हैं जिन्हें बंक्रि कहते हैं। उन पसलियों के निकालते समय यह मन्त्र बोला जाता है। अश्वमेध याग अग्निषोम की विकृतियाग है। इसमें ''अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्याः'' इत्यादिवाक्य से तीन पशु याग विहित हैं। अर्थात् एक अश्व सम्बन्धी, एक तूपर सम्बन्धी और एक गोमृग सम्बन्धी। इनमें पसलियों की गणना के समय ''प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्यताः'' इस अतिदेश (चोदक) वाक्य के द्वारा ''षड्विंशतिरस्य वंक्रयः'' यह मन्त्र प्राप्त होता है, परन्तु अश्वमेध के प्रकरण में इससे विरुद्धार्थक एक दूसरा विशेष मन्त्र है– ''चतुस्त्रिंशत् वाजिनो देववन्धोर्वंक्रीरश्वस्य'।। इस मन्त्र का अर्थ है कि अश्व के शरीर में चौतीस पसलियां होती हैं। अतः अश्व की पसलियों को निकालते समय ''चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देववन्धोः"...इस मन्त्र को बोलना चाहिए। तूपर और गोमृग में छब्बीस ही पसलियां होती हैं। अतः उनकी पसलियां गिनते समय भी ''चतुस्त्रिंशद् ....'' इस मन्त्र को न बोल दिया जाये, इसके लिए उस प्रकरण में एक दूसरा ''षड्विंशतिरित्येव ब्रूयात्'' यह वाक्य पढ़ा गया है। अर्थात् पहले छागादि की पसलियों को गिनने के लिए ''षड्विंशतिः....'' यह मन्त्र अतिदेशवाक्य

देवबन्धोः" इति वैशेषिकमन्त्रेणापोदितस्य षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति वचनवत् प्रत्यक्षप्राप्त–जगत्सत्त्वस्य मिथ्यात्वश्रुत्यापाततोऽपोदितस्य प्रतिप्रसवार्थं सत्त्वश्रुतिरिति चेन्न, मिथ्यात्वश्रुतेः प्रत्यक्षबाधकत्वाभ्युपगमे तस्याः बलवत्त्वेन तद्विरोधात् सत्यत्वश्रुतेरन्यपरत्वाद्देवताधिक–रणन्यायासम्भवाच्च प्रतिप्रसवार्थत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्।। १३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से प्राप्त था। उसके पश्चात् उसका बाध करके अश्व की पसलियां गिनने के लिए ''चतुस्त्रिंशत्...'' का विधान किया गया। पुनः कोई ''चतुस्त्रिंशत्...'' इस मन्त्र को छागादि की पसलियों के गणना के समय न बोल दे, इसके लिए पुनः ''षड्विंशतिः....'' का विधान किया गया। किन्तु यह अन्तिम वाक्य प्रथम वाक्य का अनुवादक नहीं माना जाता है अपितु विधायकवाक्य ही माना जाता है। इस पर विस्तार से विचार पूर्वमीमांसा के नवम अध्याय के चतुर्थपाद में किया गया है। ठीक इसी प्रकार ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष से प्राप्त जो प्रपञ्च का सत्यत्व उस सत्यत्व का ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस मिथ्यात्वश्रुति से आपाततः अपवाद हुआ। उस अपवाद का अपवाद करने के लिए अर्थात् प्रत्यक्षप्राप्त विश्वसत्यत्व का पुनर्विधान के लिए ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति है। अतः इस श्रुति को अनुवादक नहीं माना जा सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो यह कहा है कि प्रपञ्चसत्यत्वप्रत्यक्ष का बाधक मिथ्यात्वश्रुति है और मिथ्यात्वश्रुति का बाधक विश्वसत्यत्वश्रुति है। इस प्रकार से यदि ''सन् घटः'' इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण की बाधिका मिथ्यात्वश्रुति को स्वीकार कर लिया तब मिथ्यात्वश्रुति को प्रत्यक्ष की अपेक्षा से प्रबल अवश्य की मानना पड़ेगा। प्रबल मिथ्यात्वश्रुति के विरोध के कारण ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि प्रपञ्च सत्यत्वबोधक श्रुतियों का स्वार्थ में तात्पर्य न मानकर प्रशंसा आदि अन्य अर्थ में तात्पर्य मानना होगा। अतः ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा प्रपञ्च गत सत्यत्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि देवताधिकरण न्याय के बल पर विश्व प्रशंसापरक ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य से भी विश्व की सत्यता का प्रतिपादन हो सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं। कि प्रकृत में देवताधिकरण न्याय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् जिस प्रमाण का बाधक प्रमाणान्तर अथवा साधक प्रमाणान्तर नहीं मिलता है। ऐसे अन्यार्थपरक (प्रशंसादिपरक) वाक्यों को भी स्वार्थ में प्रमाण माना जाता है। इस न्याय के बल पर देवताओं के विग्रहादि की सिद्धि होती है। जैसे ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' इस वाक्य के द्वारा इन्द्र के विग्रहादि की सिद्धि होती है। इसलिए इस न्याय को देवताधिकरण न्याय कहा जाता है। इस पर विशेष विचार ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में तृतीय पाद के अष्टम अधिकरण में किया गया है। प्रकृत में ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य का बाधक प्रमाण मिथ्यात्वश्रुति एवं मिथ्यात्वानुमानादि के विद्यमान होने के कारण यहां पर देवताधिकरणन्याय नहीं लग सकता है। अपवाद के अपवाद को प्रतिप्रसव कहा जाता है। प्रकृत में पूर्वपक्षी के द्वारा जो प्रतिप्रसव कहा गया, वह सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षसिद्ध विश्वसत्यत्व की अपवादिका मिथ्यात्वश्रुति में विश्वसत्यत्वश्रुति का भी अपवादकत्व सम्भव होने से अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध विश्वसत्यत्व की अपवादिका मिथ्यात्वश्रुति जो कि षड्विधतात्पर्यलिङ्गों से उपेत है, की अपवादिका विश्वसत्यत्वश्रुति जो षड्विधतात्पर्यलिङ्गों से रहित है, सम्भव न होने से प्रतिप्रसव नहीं हो सकता है।। १३।।

ननु सत्त्वप्रत्यक्षप्रामाण्ये तेनैव मिथ्यात्वश्रुत्यनुमानादिबाधः। तदप्रमाण्ये न तेन सत्त्वश्रुतेरनुवादकत्वमिति चेन्न, प्रत्यक्षाप्रामाण्येऽपि तत्सिद्धबोधकस्यानुवादकत्वसम्भवात्। न हि प्रमितप्रमापकत्वमनुवादकत्वम्, किन्तु पश्चाद्बोधकत्वमात्रम्। पश्चात्त्वञ्च प्रमाणावधि–कमप्रमाणावधिकञ्चेति न कश्चिद् विशेषः। न च श्रुतेः सर्वसिद्धप्रमाणभावायाः सदर्थत्वाया–ननुवादकत्वाय च प्रत्यक्षाप्राप्ततात्त्विकसत्त्वविषयत्वमवश्यं वक्तव्यम्। तथा चाप्रमाणेन प्रत्यक्षेण कथं श्रुतेरनुवादकत्वमिति वाच्यम्। सत्त्वांशस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेऽपि वाक्यार्थस्य क्रियादिसम–

सत्यानन्दप्रबोधिका

विश्वसत्यत्वश्रुतिनिष्ठ अनुवादकता के परिहार के लिए पुनः पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सत्त्वविषयक जो "घटः सन्" इत्यादि प्रत्यक्ष, उस प्रत्यक्ष को सिद्धान्ती प्रमाण मानते हैं अथवा नहीं? यदि प्रमाण मानते हैं तो उसी प्रमाणीभूत प्रत्यक्ष से मिथ्यात्वश्रुति एवं मिथ्यात्वानुमानादि का बाध हो जायेगा। यदि उस सत्त्वविषयक ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष को अप्रमाण मानते हैं तब उस अप्रमाणीभूत प्रत्यक्ष से ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति में अनुवादकता सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि एक प्रमाण से प्रकाशित पदार्थ के प्रकाशक दूसरे वाक्य को ही अनुवादक कहा जाता है। सिद्धान्ती द्वितीय विकल्प को स्वीकार कर के समाधान दे रहे हैं। सत्त्वविषयक ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप से स्वीकार न करने पर भी उस अप्रमाणीभूत सत्त्व प्रत्यक्ष के द्वारा भासित जो प्रपञ्चसत्यत्व, उसका बोधक ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति में अनुवादकत्व सम्भव है, क्योंकि किसी प्रमाण से प्रमित के प्रमापक को ही अनुवाद कहा जाता है ऐसा नहीं। अर्थात् ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्षप्रमा का विषयीभूत पदार्थ (प्रपञ्चसत्यत्व) की प्रमा को उत्पन्न करने वाले (विश्वं सत्यम् इत्यादि श्रुतिवाक्य) को ही अनुवादक माना जाएगा ऐसा नहीं है। अपितु समानविषयक दो क्रमिक वादों में पश्चात्भावीवाद को अनुवाद कहा जाता है। वह किसी प्रमाणभूतवाद के पश्चात् हो अथवा किसी अप्रमाणभूतवाद के पश्चात् हो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसलिए ''घटः सन्'' इत्यादि भ्रम से अवभासित प्रपञ्चसत्त्व के ग्राहक ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों को अनुवादक माना ही जायेगा। प्रामाण्यनिर्वाह के लिए विश्वसत्यत्वश्रुति को अनुवादक नहीं मानना चाहिए, इस विचार से पूर्वपक्षी शङ्का कर है कि वादिप्रतिवादी दोनों के ही मत से श्रुति मात्र में प्रामाण्य सम्मत है। अनधिगताबाधितार्थविषयक ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। इसलिए ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतियों के सदर्थत्व (प्रामाण्य रक्षण) के लिए और अननुवादकत्व (अधिगतविषयबोधकत्वाभाव) सिद्ध करने के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा अनधिगत तात्त्विकसत्त्व को ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा सिद्ध किया जा रहा है। अतः प्रपञ्चनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्व का बोधन न करने के कारण प्रत्यक्ष में प्रामाण्य नहीं रहा, अर्थात् श्रुति के द्वारा सिद्ध प्रपञ्चनिष्ठ तात्त्विक सत्त्व का बोध प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं हो रहा है। किन्तु प्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्चगत व्यावहारिक सत्व का ही बोध होता है। अतः प्रत्यक्ष अप्रमाणीभूत हो गया। ऐसे अप्रमाणीभूत प्रत्यक्ष के द्वारा श्रुति में अनुवादकता नहीं सिद्ध किया जा सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''विश्वं सत्यं मघवाना....'' इस सम्पूर्ण मन्त्र के एक देश विश्वसत्यत्व अंश प्रत्यक्ष से सिद्ध होने पर भी देवताप्रशंसारूप सम्पूर्ण वाक्यार्थ प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं है। अतः एक अंश को लेकर श्रुति में अनुवादकत्व और अप्रमाण्य आने पर भी ''विश्वं सत्यम्...'' इस मन्त्र

भिव्याहारसिद्धस्यापूर्वत्वेन तद्विषयतयैवाननुवादकत्वोपपत्तावद्वैतश्रुतिविरुद्धतात्त्विकसत्त्व–विषयत्वकल्पनायास्तदर्थमयोगात्। परमार्थसद्विषयता तु सर्वश्रुतीनां शुद्धब्रह्मतात्पर्यकत्वेनैव, अवान्तरतात्पर्यमादाय व्यावहारिकसद्विषयतेति कर्मकाण्डप्रामाण्योपपादने वक्ष्यते।। १४।।

न च प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयार्थं श्रुतिसंवादमपेक्षत इति न तेन श्रुतेरनुवादकत्वम्।। अन्यथा "सत्यं ज्ञानम्", "नेह नाना" इत्यादिश्रुतिरप्यनुवादिनी स्यात्। ब्रह्मसत्त्वस्य लोकतो

सत्यानन्दप्रबोधिका

में आया हुआ ''प्रमिणन्ति'' इस क्रिया पद और ''आपश्च'' इत्यादि कारक पद के साथ उच्चरित ''विश्वं सत्यम्...'' यह जो मन्त्र है उसके द्वारा सिद्ध है जो देवताप्रशंसा रूप वाक्यार्थ, वह अपूर्व है। अर्थात् श्रुति से इतर प्रमाणों के द्वारा अनधिगत है। इस प्रकार के विषय (देवताप्रशंसारूप वाक्यार्थ) को लेकर ''विश्वं सत्यम्'' श्रुति में अननुवादकत्व (अनधिगतत्व) की उपपत्ति हो जाने पर ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के प्रामाण्य रक्षा के लिए और अननुवादकत्व के लिए अद्वैतश्रुति से विरुद्ध विश्वगत पारमार्थिकसत्त्वविषयकत्व की कल्पना अनुचित है। एक भाग में अनुवादकत्व के होने पर भी दूसरे भाग में अननुवादकत्व की उपपत्ति होती है। जैसे सभी वाक्यों में वाक्यार्थघटक पदार्थ में अनुवादकत्व के होने पर भी पदार्थ संसर्गरूपवाक्यार्थ अपूर्व होने के कारण अननुवादकत्व की उपपत्ति हो जाती है। वाक्यार्थ के अपूर्वत्व के लिए पदार्थ अथवा वाक्यार्थांश के भी अपूर्वत्व की अपेक्षा नहीं होती है। सभी श्रुतियों का परमतात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में ही है। इसलिए सभी श्रुतियों को तात्त्विकविषयक कहा जाता है। कर्मकाण्ड आदि श्रुतियों का भी परमतात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में ही है, केवल अवान्तर तात्पर्य को लेकर ही उनमें व्यावहारिकसत् कर्म की बोधकता स्वीकार की जाती है। इस पर विशेष विचार कर्मकाण्ड के प्रामाण्य उपपादन के अवसर पर किया जायेगा। प्रकृत में ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के तीन अर्थ है। प्रथम आपाततः प्रतीयमान अर्थ (प्रपञ्च सत्यत्व), द्वितीय अवान्तर तात्पर्यार्थ देवता प्रशंसादि, तृतीय– मुख्यतात्पर्यार्थ (शुद्ध ब्रह्म)। इस प्रकार इस श्रुति का भी शुद्ध ब्रह्म में मुख्यतात्पर्य होने से इस श्रुति में परमार्थसद्विषयता आ जायेगी।। १४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रत्यक्ष स्वप्रामाण्य की सिद्धि के लिए ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के समर्थन की अपेक्षा रखता है। अतः प्रत्यक्ष के विषय का अनुवादकत्व श्रुति में नहीं आयेगा, क्योंकि श्रुति प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं कर रही है। भले ही प्रत्यक्ष श्रुति की अपेक्षा कर रहा हो। यहां पर पूर्वपक्षी का भाव यह है कि यदि कदाचिद् श्रुति और श्रुति से इतर प्रमाण दोनों के द्वारा ही एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया हो तो ऐसे स्थल पर श्रुति से इतर प्रमाण को ही श्रुति का अनुवादक कहा जायेगा न कि श्रुति को श्रुति से इतर प्रमाण की अनुवादिनी कहा जायेगा। अन्यथा—केवल प्रत्यक्ष के द्वारा जो अर्थ कहा गया है, उस प्रत्यक्ष की अपेक्षा न रखकर के श्रुति के द्वारा वही अर्थ कहे जाने मात्र से श्रुति में अनुवादकत्व की आपत्ति देने पर ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'', इत्यादि श्रुतियों को भी अनुवादक मानना पड़ेगा, क्योंकि ''सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते'' आचार्य श्रीमण्डनमिश्र के इस कथनानुसार ब्रह्म सर्वलौकिक प्रत्ययवेद्य स्वीकार किये जाने से ब्रह्मसत्त्व लोकतः सिद्ध है। इसी प्रकार भ्रमाधिष्ठानत्वलिङ्गकानुमान "ब्रह्मसत्, भ्रमाधिष्ठानत्वात्, शुक्तिरूप्याधिष्ठानशुक्तिवत्'' के द्वारा भी ब्रह्मसत्त्व सिद्ध है। इसी प्रकार विश्वमिथ्यात्व प्रतिपादक श्रुति—''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि को भी अनुवादक मानना

भ्रमाधिष्ठानत्वेन लिङ्गेन च मिथ्यात्वस्य दृश्यत्वाद्यनुमानेनावेदमूलप्रवाहानादिविज्ञानवादादिना च प्राप्तेरिति वाच्यम्। यदि हि दृष्टेऽप्यर्थे प्रत्यक्षं स्वप्रामाण्यनिर्णयाय श्रुतिसंवादमपेक्षेत तदा श्रुतिसंवादविरहिणि दृष्टे कुत्रापि निश्शङ्कप्रवृत्तिर्न स्यात्। न स्याच्चैवम्,"अग्निर्हिमस्य भेषजम्"इत्याद्यप्यनुवादकम्। न चेष्टापत्तिः, मानान्तरगृहीतप्रमाणभावप्रत्यक्षनिर्णीते

सत्यानन्दप्रबोधिका

पड़ेगा, क्योंकि दृश्यत्वादिलिङ्गक अनुमान– ''प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्'' के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्व सिद्ध है और वेदबाह्य विज्ञानवादी प्रवाह रूप से विज्ञान को अनादि और सत् मानता है एवं प्रपञ्च को मिथ्या मानता है। ऐसे विज्ञानवादी के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्व सिद्ध है। विज्ञानवादी ज्ञान से अतिरिक्त प्रपञ्च को अलीक मानता है न कि मिथ्या, इस अरुचि के कारण मूल में आदि पद दिया गया है। आदि पद से शून्यवादी का ग्रहण किया गया है। शून्यवादी के मत में ज्ञानज्ञेय रूप प्रपञ्च को मिथ्या स्वीकार किया जाता है। अतः प्रमाणान्तर सिद्ध अर्थ का ही कथन करने से उक्त श्रुतियों को अनुवादक मानने की आपत्ति आयेगी। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यदि देखे हुए घटादि विषय में भी प्रत्यक्ष स्वकीयप्रामाण्य के निर्णय के लिए श्रुति के समर्थन की अपेक्षा करेगा तब तो श्रुति समर्थन से रहित देखे हुए विषय में कहीं भी निश्शङ्क प्रवृत्ति नहीं होगी। अर्थात् श्रुतिसमर्थन से रहित दृष्टार्थग्राहक प्रत्यक्ष में प्रामाण्य का निर्णय नहीं हो पायेगा। अनिर्णीतप्रामाण्यकप्रत्यक्ष से निश्शङ्क प्रवृत्ति नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''– इत्यादि श्रुतियों में भी सर्वमत सिद्ध अनुवादकता सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि पूर्वपक्षी के उक्त कथनानुसार जैसे "घटः सन्" इत्यादि प्रत्यक्ष अपने प्रामाण्य के निर्णय के लिए "विश्वं सत्यम्" इत्यादि श्रुति की अपेक्षा रखता है। ऐसे ही अग्नि में हिम निवारकत्व है यह प्रत्यक्ष भी अपनी प्रामाणिकता के लिए उक्त श्रुति की अपेक्षा करता है। अतः यदि उक्त युक्ति से "विश्वं सत्यम्" इस श्रुति को अनुवादक न माना जाय तो उसी समानयुक्ति से ही "अग्निर्हिमस्य भेषजम्" इस श्रुति को भी अनुवादक नहीं मानना चाहिए, अपितु यह श्रुति अर्थतः प्रथम प्रवृत्त पुरोवादरूप मानी जायेगी, अनुवादरूप नहीं। यहां पर अनुवादकत्वाभाव में इष्टापत्ति नहीं दी जा सकती है, क्योंकि किसी प्रमाण (श्रुति) का अपने अर्थ में जो प्रामाण्य है वह प्रामाण्य मानान्तर (प्रत्यक्ष) के द्वारा गृहीत है, यह प्रत्यक्ष निर्णीत (स्पष्टतया प्रमाणित) होने पर भी मानान्तर (श्रुति) को अनुवादक न मानने पर जगत् से अनुवादकत्व की कथा का ही उच्छेद हो जायेगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'', ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि श्रुतियों में अनुवादकता की आपत्ति होगी, वह अनुचित है, क्योंकि ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा घटत्वसमानाधिकरणसत्त्व का ग्रहण होता है और उक्त श्रुतिवाक्य के द्वारा ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्व का ग्रहण होता है। इस प्रकार जो श्रुति के द्वारा ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्व कहा जा रहा है वह प्रत्यक्ष से गम्य नहीं है। अतः प्रत्यक्ष और श्रुति का एक विषय न होने से प्रत्यक्ष का अनुवादक श्रुति को नहीं कहा जा सकता है। अनुमान (तर्क) के द्वारा भी श्रुति में अनुवादकत्व की प्रसक्ति नहीं होगी, क्योंकि निर्विवादसिद्ध अर्थ के बोधक शब्द को अनुवादक कहा जाता है किन्तु कोई भी तर्क सर्वदेश सर्वकाल सर्वपुरुष साधारण ही नहीं होता है। इस विषय को तार्किक–शिरोमणि श्री रघुनाथ भट्टाचार्य का कथन अत्यन्त

मानान्तरस्याननुवादकत्वे जगत्यनुवादकत्वकथोच्छेदप्रसङ्गात्। न च "सत्यं ज्ञानम्" "नेह नाना" इत्यादेरप्यनुवादकतापत्तिः, अनुवादकता हि न तावत् प्रत्यक्षेण, ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वादिकं ह्यनेन प्रतिपादनीयम्, तच्च न प्रत्यक्षगम्यम्। नाप्यनुमानेन, न हि तर्कः सर्वदेशकालीनपुरुषसाधारण इत्यादिना प्रागेव निराकृतत्वात्। नापि प्रवाहानादिविज्ञानवादिमतेन,

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्पष्ट करता है–

विदुषां निवहैरिहैकमत्या यददुष्टं निरटङ्कि यच्च दुष्टम्।
मयि कल्पनाधिनाथे रघुनाथे मनुतां तदन्यथैव।।

जिसको विद्वत् मण्डली ने एकमत होकर तर्क के बल पर निर्दुष्ट सिद्ध कर दिया है और जिसको दुष्ट सिद्ध कर दिया है। मुझ तर्कवागीश रघुनाथ के द्वारा उसको विपरीत ही सिद्ध कर दिया जा सकता है। अर्थात् निर्दोष को सदोष और सदोष को निर्दोष सहजता पूर्वक सिद्ध कर दिया जायेगा। तर्क सर्वमान्य कोई नहीं होता है इस पर विशेष चर्चा प्रथम भाग के पृष्ठ (२२२) पर की गयी है। अतः सर्वदेशकालीनपुरुषसाधार–णीभूता श्रुति को असाधारण अनुमान का अनुवादक नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात है कि वस्तुतः "ब्रह्म सत्, अधिष्ठानत्वात्" इस अनुमान का अनुवादक तत्त्वमसि इत्यादि श्रुति को नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त अनुमान से सत्त्वरूप धर्म से विशिष्ट ब्रह्म का ही बोध होता है। उसी अर्थ का बोध तत्त्वमसि इत्यादि श्रुति से होता है, ऐसा मानने से उस बोध से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि अज्ञान का विषय सत्त्वादि से विशिष्ट ब्रह्म नहीं, अपितु सत्त्वाद्युपलक्षिताखण्ड ब्रह्म ही है। अतः "तत्त्वमसि" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्य से अज्ञाननिवर्तक सत्त्वाद्युपलक्षिताखण्डब्रह्मविषयक बोध उत्पन्न होता है– यही मानना होगा, और तब अनुमान और उक्त श्रुतियों के विषय भिन्न–भिन्न होने के कारण श्रुति को अनुमान का अनुवादक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि प्रपञ्चमिथ्यात्व बोधक श्रुतियों को भी अनुवादक मानना पड़ेगा, क्योंकि उक्त श्रुतियाँ विज्ञानवादादि से सिद्ध प्रपञ्चमिथ्यात्व का कथन कर रही है। यह कथन भी पूर्वपक्षी का असङ्गत है, क्योंकि अपौरुषेय श्रुतिवाक्य अनादिकाल से चले आ रहे हैं, जबकि विज्ञानवाद का प्रादुर्भाव कुछ ही हजार वर्ष पूर्व हुआ है। इसलिए अपौरुषेयश्रुति से पूर्व विज्ञानवाद की सिद्धि न होने विज्ञानवाद से सिद्ध प्रपञ्चमिथ्यात्व का अनुवादक श्रुतिवाक्यों को नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने विज्ञानवाद से सिद्ध प्रपञ्चमिथ्यात्व का अनुवादक प्रपञ्चमिथ्यात्वश्रुति को नहीं माना, क्योंकि श्रुति से पूर्व विज्ञानवाद की सिद्धि नहीं हो सकी, ठीक उसी प्रकार सत्त्वश्रुति को भी ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष का अनुवादक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि सत्त्वप्रत्यक्ष अपौरुषेय श्रुति से पूर्व में नहीं है। अतः ''घटः सन्'' इस सत्त्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा न कर के ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतिवाक्य प्रपञ्चको सत्य कह रहे हैं। इसलिए श्रुति में सापेक्षानुवादकत्व नहीं आ सकता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुति में निरपेक्षानुवादकता है। निरपेक्षानुवादकता वहां पर आती है जहां पर उत्तर ज्ञान स्वोत्पत्ति में पूर्वज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है किन्तु उत्तर ज्ञान में पूर्वज्ञानविषयविषयकत्व रहता है। प्रकृत में सत्त्वश्रुति में सत्त्वप्रत्यक्षज्ञानविषयविषयकत्व होने से निरपेक्षानुवादकता की आपत्ति होगी। इस शङ्का का निराकरण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि

तस्यापौरुषेयश्रुत्यवधिकपूर्वत्वाभावात्। न च सत्त्वश्रुतेः सत्त्वप्रत्यक्षानपेक्षत्वात् न सापेक्षानुवादकत्वम्, निरपेक्षानुवादकत्वं तु धारावहनवन्नाप्रामाण्यहेतुः। उक्तं हि नयविवेके–"सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दैवादनुवादे धारावहनवदिति" इति वाच्यम्। यतो लाघवादनुवादकत्वमेवाप्रामाण्ये प्रयोजकम्, न तु सापेक्षानुवादकत्वम्, अनधिगतार्थबोधकत्वस्य प्रामाण्यघटकस्य तावतैव गतार्थत्वात्। न च तर्हि धारावहनबुद्धावप्रामाण्यम्, तस्याः वर्तमानार्थग्राहकत्वेन तत्तत्क्षणविशिष्टग्राहकतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त प्रकार से श्रुति में निरपेक्षानुवादकता आ रही है किन्तु वह अप्रामाण्य की प्रसञ्जिका नहीं हो सकती है। जैसे धारावाहिकस्थल पर द्वितीय–तृतीय आदि ज्ञानों में निरपेक्षानुवादकता के रहने पर भी उक्त ज्ञानों को अप्रामाण्य नहीं माना जाता है। अर्थात् धारावाहिकस्थल पर उत्तर ज्ञान स्वोत्पत्ति में पूर्वज्ञान की अपेक्षा नहीं करता है। इसलिए उसमें सापेक्षानुवादकत्व नहीं होता है किन्तु उसमें पूर्वज्ञानविषयविषयकत्वेन निरपेक्षानुवादकत्व होता है। उनमें निरपेक्षानुवादकत्व होने पर भी उनको प्रामाणिक ही माना जाता है। इसमें प्रमाण के रूप में पूर्वपक्षी प्रभाकरमतानुयायी श्री भवनाथ मिश्र के कथन को उद्घृत कर रहा है– ''सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः न तु दैवादनुवादे धारावहनवत्''। अर्थात् सापेक्ष अनुवाद वाक्य को सुन कर श्रोता में प्रमिति उत्पन्न नहीं होती है। दैवादनुवादे–निरपेक्षानुवाद वाक्य को सुनकर श्रोता में प्रमिति उत्पन्न होती है। जैसे धारावाहिक स्थल पर निरपेक्षानुवादकत्व रहता है और उसमें प्रामाण्य भी रहता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी ने अप्रामाण्य में सापेक्ष अनुवादकत्व को हेतु बतलाया और सिद्धान्ती ने अप्रामाण्य में अनुवादकत्व को हेतु बतलाया है, अतः सिद्धान्ती के मत में लाघव है। इसलिए अप्रामाण्य का हेतु अनुवादकत्व को ही मानना चाहिए, सापेक्ष अनुवादकत्व को नहीं, क्योंकि अनधिगतार्थविषयकत्वरूप जो प्रामाण्यघटक है, वह अप्रामाण्य में अनुवादकत्व मात्र को हेतु मानने से ही चरितार्थ हो जाता है। अतः सापेक्षानुवादकत्वेन ज्ञान में अप्रामाण्य को स्वीकार करने पर गौरवदोष होगा। अर्थात् महर्षि जैमिनी ने ''अर्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणम्''– (जै० सू० १–१–५) इस सूत्र में कहा है कि अनधिगतार्थबोधकत्व जिस ज्ञान में होता है उसी ज्ञान में प्रामाण्य होता है। अतः जिस वाक्य में सापेक्षानुवादकत्वेन अथवा निरपेक्षानुवादकत्वेन अधिगतार्थबोधकत्व है उसमें अप्रामाण्य रहेगा। अतः अधिगतार्थबोधकत्व अर्थात् अनुवादकत्व को ही अप्रामाण्य का हेतु मानना चाहिए। ऐसा मानने में लाघव भी है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सापेक्ष अनुवादकवाक्य के जैसे ही निरपेक्ष अनुवादक वाक्य से भी अनधिगताबाधितविषयक प्रमाज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि निरपेक्षानुवादकवाक्य का विषय अधिगत है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि निरपेक्षानुवादकत्व को भी अप्रामाण्य के प्रति हेतु मानने पर धारावाहिक प्रत्यक्ष में भी अप्रामाण्य मानना पड़ेगा, क्योंकि उक्त स्थल पर द्वितीयादिज्ञान प्रथमप्रत्यक्षगृहीतार्थक है। इस शङ्का का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि धारावहनबुद्धि का अर्थ है प्रत्यक्षज्ञानधारा। प्रत्यक्ष वर्तमानग्राही होता है। अतः उक्त धाराप्रत्यक्ष तत्तत्क्षणविशेषितार्थविषयक होने से अनधिगतार्थबोधक है। अतः धारावाहिक प्रत्यक्ष में अनुवादकत्व की आपत्ति नहीं होगी। कौन श्रुति अतत्परक है अर्थात् स्वार्थपरक नहीं है इसमें हेतु प्राप्तत्वमात्र (अनुवादकत्व मात्र) ही है। अतः अतत्परक श्रुतिवाक्यों का स्वार्थ से भिन्न स्तुत्यादि अर्थ में ही तात्पर्य मानकर सप्रयोजन अर्थबोधकता का उपपादन किया

अनुवादकत्वाभावात्। किन्तु श्रुतेरतत्परत्वे प्राप्तत्वमात्रमेव प्रयोजकम्, अन्यथा वैफल्येन स्वाध्यायविधि–ग्रहणानुपपत्तेः।। १५।।

अपि चेयं सत्त्वश्रुतिरपि सत्त्वप्रत्यक्षसापेक्षत्वात् सापेक्षानुवादिन्येव। नहि सत्त्वप्रत्यक्षं विना तन्मूलशक्यशक्त्यादिग्रहमूलकशब्दप्रवृत्तिसम्भवः। अत एव "यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है। अन्यथा—सापेक्षानुवादकत्व अप्रामाण्य अर्थात अतत्परत्व के प्रति हेतु मानने पर और निरपेक्षानुवादकत्व को प्रामाण्य अर्थात तत्परत्व के प्रति हेतु मानने पर अर्थवाद वाक्य में भी तत्परत्व मानना पड़ेगा, क्योंकि अर्थवादवाक्य प्रत्यक्ष का निरपेक्ष अनुवादक है, सापेक्षानुवादक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष में श्रुति अवधिपूर्वत्व नहीं है। अतः स्वार्थपरक होने के कारण अर्थवादवाक्यों का लक्षणा के द्वारा प्रशंसादिरूप अर्थ नहीं लिया जा सकता है। क्योंकि जब कोई वाक्य स्वार्थपरक नहीं होता है तब अन्य परक अर्थ करने के लिए लक्षणा करनी पड़ती है। इसलिए उस अर्थवादवाक्य से जो ज्ञान होगा वह कोई प्रयोजन वाला अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, क्योंकि "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता..." इस वाक्य से "वायु तेज भागने वाली देवता है।" ऐसा जो अर्थ का ज्ञान होता है उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः प्रयोजन वाला न होने से उक्त अर्थवादवाक्य में वैफल्य आ गया और वैफल्य होने से वह वाक्य स्वाध्यायविधि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" के द्वारा गृहीत नहीं होगा, क्योंकि स्वाध्यायविधि से जिस अध्ययन का विधान किया गया है। उस अध्ययन का अर्थ होता है—प्रयोजनवाले अर्थ का ज्ञान। जबकि अर्थवाद वाक्य से निष्फल (निष्प्रयोजन) अर्थ का ज्ञान हो रहा है। अतः अर्थवाद वाक्य का स्वाध्यायविधि से ग्रहण नहीं होगा, जब कि स्वाध्यायविधि से सभी श्रुतिवाक्यों का ग्रहण होता है।। १५।।

सापेक्षानुवादकत्व ही अप्रामाण्य के प्रति हेतु है निरपेक्षानुवादकत्व नहीं— ऐसा जो पूर्वपक्षी को अभिमान है। ऐसे अभिमान को चूर्ण करने के लिए सिद्धान्ती यह दिखाने जा रहे हैं कि विश्वसत्यत्वश्रुति में भी सापेक्षनुवादकत्व है। "विश्वं सत्यम्" इत्यादि श्रुति का "घटः सन्" इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा, सत्यादिशब्दों में सत्यत्वादि अर्थ को बोधन कराने की शक्ति है यह ज्ञात होने के पश्चात् ही, अर्थबोध हो सकता है। अतः शक्य (शब्दार्थ) और शक्ति इन दोनों का ज्ञान प्रत्यक्षमूलक है। अर्थात् सत्त्वप्रत्यक्ष है मूल जिसका शक्य—शक्ति के ज्ञान का और शक्य—शक्ति आदि का ज्ञान है मूल जिसका=शब्दप्रवृत्तिका। शब्दप्रवृत्ति=अध्ययन। अध्ययन का अर्थ है— अर्थ ज्ञानपूर्वक गुरुमुख से सुनकर उच्चारण। अर्थात् शब्दप्रवृत्तिरूप कार्य अपने कारण शक्य—शक्ति आदि के ज्ञान की अपेक्षा करता है और शक्य—शक्ति आदि ज्ञान रूप कार्य अपने कारण सत्त्वप्रत्यक्ष की अपेक्षा रखता है। अतः शब्दप्रवृत्ति परम्परया अर्थात् अध्ययन विधि परम्परया सत्त्व प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखती है। इसलिए सत्त्वश्रुति सत्त्व प्रत्यक्ष सापेक्ष होने के कारण सापेक्षानुवादिनी है। सापेक्षानुवादकत्व को पूर्वपक्षी ने स्वयं अप्रामाण्य के प्रति हेतु माना है। इसलिए सत्त्वश्रुति का स्वार्थ में प्रामाण्य नहीं है किन्तु स्तुति आदि में ही उसका प्रामाण्य माना जाता है। इस प्रकार "विश्वं सत्यम्" इस श्रुति में अपेक्षित सत्त्व की उपस्थिति प्रत्यक्षरूप प्रामाणान्तर से ही होती है। उसी का अनुवाद उक्त श्रुति करती है। अतएव आचार्यप्रवरश्रीवाचस्पति मिश्र जी का यह जो कथन है कि जहां पर शब्द को प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि) का सम्वाद (एकार्थत्व) है वहां पर जैसे प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि) से वह अर्थ प्रसिद्ध होता है। ठीक

प्रमाणान्तरादिवार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति; द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवै-कार्थप्रवृत्तेः, प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम्। प्रमाता ह्यव्युत्पन्नः, प्रथमं प्रत्यक्षादिभ्यो यथाऽर्थमवगच्छति, न तथा आम्नायतः। तत्र व्युत्पत्त्यपेक्षत्वात्" इतिवाचस्पतिमतमप्येतमर्थं संवादयति। तेन आम्नायस्य व्युत्पत्त्यपेक्षत्वेन प्रत्यक्षसापेक्षत्वस्यैवोक्तेः।। १६।।

न च वादिविप्रतिपत्तिनिरासप्रयोजनकत्वेन न निष्प्रयोजनानुवादकत्वम्, सप्रयोजनानुवादकत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

वैसे ही प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि) सम्वादी अर्थवाद वाक्य से भी उसी अर्थ (प्रत्यक्षादि सिद्ध अर्थ) की उपस्थिति स्वीकार किया जाता है। प्रमाणान्तर और अर्थवाद ये दोनों परस्पर अनपेक्ष हैं फिर भी प्रत्यक्ष और अनुमान के जैसा एकार्थ में प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् अनुमान से अग्नि का ज्ञान होने के पश्चात् उसी अग्नि को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित होने पर उस प्रत्यक्ष प्रमाण से भी अग्नि का यथार्थ ज्ञान ही होता है, न कि अययार्थ। यहां पर न तो उक्त अनुमान को उक्त प्रत्यक्ष की अपेक्षा है न तो उक्त प्रत्यक्ष को उक्त अनुमान की अपेक्षा है फिर भी दोनों प्रमाण एक ही अर्थ (अग्नि) का बोध कराने के लिए प्रवृत्त हैं। दार्ष्टान्त— ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' इस स्थल पर प्रत्यक्ष से वायुगत शिघ्रगामित्व का ज्ञान होने के पश्चात् उसी वायुनिष्ठ शिघ्रगामित्व को विषय करने वाला अर्थवाद वाक्य उपस्थित होने पर उस अर्थवाद वाक्य से भी वायुनिष्ठ शिघ्रगामित्व का ज्ञान हो ही जायेगा। यहां पर उक्त प्रत्यक्ष को अर्थवाद वाक्य की अपेक्षा नहीं है और अर्थवादवाक्य को उक्त प्रत्यक्ष की अपेक्षा नहीं है किन्तु दोनों (प्रत्यक्ष और अर्थवाद) एक ही अर्थ—वायुनिष्ठ शिघ्रगामित्व का बोध उत्पन्न करने में प्रवृत्त है। इस युक्ति के बल पर यद्यपि अर्थवाद वाक्य में निरपेक्षत्व होने से प्रामाण्य आ जाना चाहिए किन्तु प्रमाता की अपेक्षा से श्रुति सापेक्ष अनुवादिनी है, क्योंकि जिस प्रमाता को पदार्थ का ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है, वह प्रमाता (व्यक्ति) वेदवाक्य के ज्ञान से पहले प्रत्यक्षादि से जैसा अर्थ को जानता है वैसे वेद वाक्य से नहीं जानता है, क्योंकि वेदवाक्यार्थ ज्ञान में व्युत्पत्ति की अपेक्षा होती है। अर्थात् व्युत्पत्ति रहित अव्युत्पन्नप्रमाता प्रथमतः वेदवाक्य से अर्थ बोध नहीं कर सकता है। अपितु प्रत्यक्ष की अपेक्षा रखकर ही कर सकता है। अतः प्रमाता की अपेक्षा से वेदवाक्य सापेक्षानुवादक है। इस प्रकार आचार्यप्रवर श्री वाचस्पति मिश्र का मत भी हमारे द्वारा उक्त अर्थ को समर्थन करता है। इसलिए सिद्धान्त पक्ष से यह कहा गया कि वेदवाक्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा करता है और व्युत्पत्ति प्रत्यक्ष सापेक्ष होने के कारण ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति में सापेक्ष अनुवादकत्व है। इस प्रसङ्ग में एक विशेष विचार यह है कि यह उक्त विचार जहां पर पदार्थ प्रत्यक्षगम्य है वहां के लिए किया गया है। ऐसे स्थल पर श्रुति सापेक्ष अनुवादिनी हो जायेगी किन्तु जहां पर पदार्थ (आहवनीय, धर्म, ब्रह्म आदि पदार्थ) वेदैकगम्य है वहां पर श्रुति सापेक्ष अनुवादिनी नहीं मानी जायेगी।। १६।।

विश्वसत्यत्वश्रुति में सप्रयोजनानुवादकत्व है। अतः उक्त श्रुति स्वार्थपरक होने के कारण उसके द्वारा विश्व में सत्यत्व सिद्ध हो जायेगा। इस आशय से पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हुए कह रहा है कि जो वादी प्रत्यक्ष के द्वारा विश्वसत्यत्व गृहीत होने पर भी विप्रतिपन्न है विश्व को सत्य मानने के लिए तैयार नहीं है। जैसे विज्ञानवादी, शून्यवादी, अद्वैतवादी आदि। उनकी विप्रतिपत्ति के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत होने पर भी विश्वसत्यत्व

तु न स्वार्थपरत्वविरोधि; विद्वद्वाक्ये समुदायद्वित्वापादनरूपप्रयोजनवत्त्वेनानुवाद्यस्वार्थपरताया दृष्टत्वात्, अत एव तत्र वाक्यैकवाक्यता उक्ता, अन्यथा अर्थवादवत् पदैकवाक्यतैव स्यादिति वाच्यम्। प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूपप्रयोजनवत्त्वेन प्रमाणान्तरस्य सप्रयोजनतया स्वार्थपरत्वोक्तौ ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''इत्याद्यपि तेनैव प्रयोजनेन सप्रयोजनं स्वार्थपरञ्च स्यात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सन्दिग्ध ही होता है। अत: प्रत्यक्ष के द्वारा विश्वसत्यत्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिए उक्त श्रुति के द्वारा विश्व में सत्यत्वसिद्धि के माध्यम से वादियों की विप्रतिपत्ति का निरास होता है। अत: वादियों की विप्रतिपत्तिनिरासरूप प्रयोजन वाली होने के कारण विश्वसत्यत्व श्रुति में निष्प्रयोजन अनुवादकत्व नहीं है अपितु सप्रयोजन अनुवादकत्व है। सप्रयोजन अनुवादकत्व स्वार्थबोधकता का विरोधी नहीं होता है। अर्थात् ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य को अवश्य ही प्रमाण एवं स्वार्थपरक माना जायेगा और उसके द्वारा प्रपञ्च में सत्यत्व सिद्ध हो जायेगा। सप्रयोजनानुवादकवाक्य स्वार्थबोधक होता है। इसमें पूर्वमीमांसक की सम्मति देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विद्वद्वाक्य में यागसमुदायनिष्ठ जो द्वित्वापादनरूप प्रयोजन तद्वत्त्वेन अनुवाद्य जो यागत्रिकद्वयरूपस्वार्थ है, तद्बोधकत्व देखा गया है। अर्थात् ''दर्शपूर्णमास'' संज्ञक कर्म के प्रकरण में छह कर्मों का विधान किया गया है। आग्नेय, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रपय:– ये तीन याग अमावस्या के दिन किये जाते हैं और आग्नेय, उपांशुयाग, आज्यभाग– ये याग पौर्णमासी के दिन किये जाते हैं। इन षड्यागों के प्रकरण में पौर्णमासी में विहित तीन कर्मों का ''पौर्णमास'' और अमावस्या में विहित तीनों कर्मों का ''दर्श'' नामकरण करते हुए अनुवादरूप से दो वाक्य आये हैं ''य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते,'' ''य एवं विद्वानमावास्यां यजते''। इन वाक्यों के विषय में जैमिनीय मीमांसा के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के तृतीय सूत्र में विचार कर के सिद्धान्त पक्ष से यह कहा गया है कि उक्त विद्वद्वाक्य अपूर्वयागों के विधायक नहीं है किन्तु ''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' इस विधिवाक्य के द्वारा विहित षड्यागों का अनुवाद कर उनमें द्वित्व का ज्ञापन करना इनका प्रयोजन है। अर्थात् उक्त वाक्य एक–एक त्रिक को पौर्णमासी शब्द से और अमावस्या शब्द से अनुवाद करते हैं परन्तु यह अनुवाद निष्प्रयोजन नहीं है अपितु ''दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'' इस (फल सम्बन्ध बोधक) अधिकार विधि में जो द्विवचन है उसकी उपपत्ति ही इस अनुवाद का प्रयोजन है। यदि उक्त अनुवादक वाक्य न होते तो षड्यागों में ''दर्शपूर्णमासाभ्याम्–'' इस प्रकार द्विवचन का प्रयोग अनुपपन्न हो जाता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सप्रयोजन अनुवादक वाक्य स्वार्थ परक होते हैं। अत: उक्त विद्वद्वाक्यों का अधिकारवाक्य के साथ वाक्यैकवाक्यता पूर्वमीमांसाशास्त्र में कही गयी है। अर्थात् जहां स्वार्थबोध में समाप्तवाक्य परस्पर सापेक्ष हो कर दोनों मिलकर एक महावाक्यार्थबोध को उत्पन्न करते हैं वहां वाक्यैकवाक्यता कही जाती है। प्रकृत में अधिकारवाक्य और विद्वद्वाक्य का समुदितार्थ आकार ऐसा होगा– ''पौर्णमासामावास्यायागसमुदायस्य विद्वद्वाक्यनिष्पन्नार्थस्य दर्शाख्येन समुदायेन पौर्णमासाख्यसमुदायेन स्वर्गकाम इष्टिं कुर्यात्।'' यदि विद्वद्वाक्य को स्वार्थपरक न मानकर लक्षणा के द्वारा प्रशंसादि एकपदार्थ परक मानने पर अर्थवाद वाक्य के साथ जैसे विधिवाक्यों की पदैकवाक्यता होती है वैसे ही यहां पर भी पदैक वाक्यता माननी पड़ती है। अर्थात् जहां पर निष्प्रयोजन अनुवादक अर्थवादवाक्य यथाश्रुतस्वार्थ में तात्पर्य

तथा च न प्रत्यक्षसिद्धे वादिविप्रतिपत्तिनिरासार्थमन्यापेक्षा, दृष्टान्ते तु समुदायानुवादेन द्वित्वसम्पादनस्योद्देश्यस्यान्यतो लब्धुमशक्यतया तेन प्रयोजनेन स्वार्थपरत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात्। एतदभिप्रायश्च पूर्वोक्तं नयविवेकवाक्यम्।। १७।।

न चानुवादत्वेऽपि नैष्फल्यमात्रम्, न त्वप्रामाण्यम्, याथार्थ्यमेव प्रामाण्यम्, न

सत्यानन्दप्रबोधिका

न रखकर लक्षणा के द्वारा प्रसंशादिरूप पदार्थ का बोधन करता है। वहां पर उक्त अर्थवाद वाक्य को वाक्य न मानकर के पद माना जाता है और जब उसके साथ विधिवाक्य की एकवाक्यता होगी तब उस एकवाक्यता को पदैकवाक्यता कहा जाता है। किन्तु जहां पर सप्रयोजन अर्थवादवाक्य की प्रशंसादि पदों में लक्षणा नहीं होगी उनको पद न मानकर वाक्य माना जायेगा। इसलिए विधिवाक्य के साथ उस अर्थवाद वाक्य को जोड़कर महावाक्य बनाने पर वाक्यैकवाक्यता मानी जायेगी। प्रकृत में पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वमीमांसकों ने वाक्यैकवाक्यता माना है। अतः यह मानना पड़ेगा कि प्रयोजन वाला अनुवादवाक्य का स्वार्थ में प्रामाण्य होता है। प्रकृत में ''विश्वं सत्यम्'' यह वादिविप्रतिपत्तिनिरासरूप प्रयोजनवाला अनुवाद वाक्य है। अतः यह स्वार्थ में प्रामाण्य माना जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु में वादियों की विप्रतिपत्ति के निराशरूपप्रयोजन के कारण यदि ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि अनुवादकवाक्यों को प्रयोजन वाला मान कर उनमें स्वार्थपरकत्व या प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है तो प्रत्यक्षसिद्ध अग्नि आदि वस्तुओं के विषय में भी विज्ञानवादी शून्यवादी—आदियों की विप्रतिपत्ति है, क्योंकि उनके मत में बाह्य विषय या तो अलीक है, नहीं तो मिथ्या है। उक्त वादियों की विप्रतिपत्ति के निरास रूप प्रयोजन के कारण ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्'' इत्यादि सर्वप्रसिद्ध अनुवादकवाक्यों को प्रयोजन वाला मान कर उनमें स्वार्थपरकत्व या प्रामाण्य को मान लेने पर अनुवाद की कथा ही समाप्त हो जायेगी। अतः यह मानना उचित है कि प्रत्यक्ष से सिद्ध वस्तु में वादियों की विप्रतिपत्ति निराश के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। दृष्टान्त में छः यागों का जो समुदाय है वह उक्त विधिवाक्य के द्वारा विहित है। उसका विद्वद्वाक्य के द्वारा अनुवाद कर के द्वित्वसम्पादनरूप प्रयोजन विद्वद्वाक्य से भिन्न किसी अन्य प्रमाण से प्राप्त न होने के कारण द्वित्वसम्पादनरूप प्रयोजन रहने के कारण विद्वद्वाक्य को स्वार्थपरक कहा जा सकता है। इसी अभिप्राय वाला पूर्वोक्त नयविवेक वाक्य है— ''सापेक्षानुवादे हि न प्रमितिः, न तु दैवादनुवादे धारावहनवत्।'' अर्थात् नयविवेकवाक्य में जो ''सापेक्षानुवादे'' पद है, उसका अर्थ है ''निष्प्रयोजनानुवादे''। दैवादनुवादे'' पद का अर्थ है— ''सप्रयोजनानुवादे" अर्थात् निष्प्रयोजन अनुवादक वाक्य स्वार्थ परक नहीं होता है। अर्थात् उससे प्रमिति उत्पन्न नहीं होती है। सप्रयोजन अनुवादक वाक्य से प्रमिति उत्पन्न होती है और स्वार्थ परक भी माना जाता है। अतः प्रकृत में ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य निष्प्रयोजन अनुवादक होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य नहीं रखता है।। १७।।

प्रकारान्तर से अनुवाद वाक्य में प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है। ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि विश्वसत्यत्वबोधक वाक्यों में अनुवादकत्व स्वीकार कर लेने पर भी उक्त वाक्यों में निष्फलता मात्र हो सकती हैं, अप्रामाण्य नहीं। ज्ञाननिष्ठ याथार्थ्य ही प्रामाण्य है, अनधिगतार्थत्वविशिष्टयाथार्थ्य नहीं। यहां पर याथार्थ्य का अर्थ है— अबाधितार्थकत्व,

त्वनधिगतार्थत्वे सति याथार्थ्यमिति वाच्यम्। तात्पर्यविषये शब्दः प्रमाणम्। ''यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'' इत्यभियुक्ताभ्युपगमात्। अन्यथा स्वाध्यायविधिग्रहणानुपपत्तेरुक्तत्वाच्च। नह्यन्यतः सिद्धेऽर्थे शास्त्रतात्पर्यम्। अतो न तत्र प्रामाण्यम्। यदाहुर्भट्टाचार्याः— ''अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्''इति।। १८।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि यथा शब्द सत्यार्थक होता है। यहां पर पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जैसे देवदत्त ने कहा कि आचार्य जी आ रहे हैं। उसी को सुनकर यज्ञदत्त ने आकर कहा कि आचार्य जी आ रहे हैं। यहां पर यज्ञदत्त के वाक्य में अनुवादकत्व अवश्य है, लेकिन अप्रामाणिकत्व नहीं है, क्योंकि जैसा यज्ञदत्त ने कहा था वैसा ही हुआ, अर्थात् आचार्य जी आ गये। किन्तु जब देवदत्त के कथन से ही आचार्य जी के आने का ज्ञान रूप फल प्राप्त हो गया था। तब यज्ञदत्त का कथन निष्फल रहा। अर्थात् यज्ञदत्त के कथन का फल यद्यपि प्राप्त नहीं हुआ, तथापि यज्ञदत्त का कथन बाधित नहीं हुआ। अतः उसमें प्रामाण्य है। इसलिए अबाधितार्थकत्व को ही प्रामाण्य मानना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जिन आचार्यों ने स्मृति में प्रामाण्य माना है उनके मतानुसार भी अबाधितार्थकत्व को ही प्रामाण्य माना गया है अन्यथा (अनधिगतत्वे सति अबाधितर्थकत्व को प्रामाण्य मानने पर) स्मृति में प्रामाण्य सिद्ध ही नहीं हो पायेगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं, कि प्रमाज्ञान के लक्षण में अनधिगतविषयकत्व का प्रवेश आवश्यक है, क्योंकि तात्पर्यग्राहक छः तात्पर्य लिङ्गों से निर्णीत अर्थ में शब्द प्रमाण है। अर्थात् जिस विषय में छः तात्पर्यलिङ्ग पाये जायेंगे। उसी अर्थ में शब्द को प्रमाण माना जायेगा। छः तात्पर्यलिङ्गों में से एक लिङ्ग हैं— अपूर्वता। जिसका अर्थ है— अनधिगतार्थकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अर्थ अनधिगत है उसी अर्थ में शब्द को प्रमाण माना जायेगा। अतः प्रमा के लक्षण में अनधिगत विषयकत्व का प्रवेश आवश्यक है। प्रकृत में ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य से अधिगत विषयक ज्ञान उत्पन्न होने के कारण इस वाक्य को प्रमाण नहीं माना जा सकता है। इस रहस्य को प्राचीन आचार्यों ने— ''यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'' ऐसा कह कर स्पष्ट किया है कि शब्द का प्रामाण्य उसी अर्थ में होता है जो तात्पर्यग्राहक लिङ्गों से निर्णीत होता है। अन्यथा— जो वाक्य अधिगतार्थ का बोधक होने के कारण निष्फल है, उसको भी यदि प्रमाण माना जाये तो, अर्थवाद वाक्यों के प्रतीतार्थप्रतिपादन में अर्थवत्ता सम्भव न होने से अर्थात् निष्फल होने से अर्थवाद वाक्यों का ''स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'' इस अध्ययन विधि से अध्ययन का विधान सम्भव नहीं हो पायेगा। इस पर विशेष विचार खण्ड पञ्चदश में किया गया है। अतः प्रमाणान्तर से गृहीत अर्थ में शास्त्र का तात्पर्य नहीं होता है और न ही उसमें प्रामाण्य होता है। इसमें आचार्यप्रवर श्रीकुमारिलभट्टाचार्य की सम्मति दे रहे हैं— "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्।'' अर्थात् प्रमाणान्तर से अप्राप्त अर्थ में शास्त्र अर्थवत् होता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि स्मृति में प्रामाण्य मानने के लिए प्रमा ज्ञान के लक्षण में अनधिगतार्थकत्व का प्रवेश नहीं करना चाहिए। वह कथन उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति में प्रामाण्य सभी आचार्यों के मत से मान्य नहीं है। अतः स्मृति में प्रामाण्य के लिए प्रमा के लक्षण से अनधिगतार्थकत्व को निकाला नहीं जा सकता है। मनु आदि स्मृति ग्रन्थों का प्रयोजन यह है कि श्रुतियों में बिखरे हुए पदार्थों का संकलन। जैसे कि जैमिनीयन्यायमाला में कहा गया है— ''विप्रकीर्णार्थसंक्षेपात्, सार्थत्वादस्ति मानता।''।। १८।।

नन्वयमनुवादो न ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' इत्यादिवत् स्तुत्यर्थः ''न वा दध्ना जुहोति'' इत्यादिवदन्यविधानार्थः। अनुवाद्यत्वेऽप्यन्यविधानाय प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमात्। न हि ''ब्रीहीन् प्रोक्षति''इत्यादावारोपितब्रीह्यादेर्धीरनुवाद्यस्यासत्त्वे ह्याश्रयासिद्धौ धर्मध–

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने अनुवादक वाक्य (विश्वं सत्यम्) का अनुवाद्य अर्थ (विश्वसत्यत्व) में प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया। तब यहां पर प्रश्न होता है कि ''विश्वं सत्यम्'' इस अनुवादकवाक्य का जो अनुवाद्य अर्थ विश्व सत्यत्व, उसमें प्रामाण्य नहीं है तो किस अर्थ में प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है? क्योंकि श्रुतिवाक्यों में सर्वथा अप्रामाण्य स्वीकार नहीं किया जाता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त अनुवादक वाक्य प्रशंसार्थक है। अतः उसमें प्रामाण्य है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः'' इस श्रुति के द्वारा विहित वायुदेवताक श्वेत छाग द्रव्यक याग की स्तुति के लिए उक्त विधिवाक्य के शेष भूत ''वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता'' इस वाक्य के द्वारा वायु देवता की प्रशंसा की जाती है, वैसा प्रकृत में सम्भव नहीं है, क्योंकि ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य किसी भी विधिवाक्य का शेष नहीं है। अतः यह वाक्य किसी की स्तुति के लिए हो नहीं सकता है। अतः इस वाक्य को स्तुत्यर्थक मानकर इसमें प्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अथवा यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त अनुवादक वाक्य अन्य विधानार्थक है। अतः उसमें प्रामाण्य है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे ''अग्निहोत्रं जुहोति'' इस विधि वाक्य के द्वारा जिस होम का विधान किया गया है। उसी होम का ''दध्ना जुहोति'' यह वाक्य ''जुहोति'' पद से अनुवाद कर के विहित अग्निहोत्र का साधन–दधि का विधान करता है। अर्थात् ''अग्निहोत्रं जुहोति'' इस वाक्य से विहित होम से भिन्न होम साधनीभूत दधि का विधानरूप प्रयोजन वाला होने से ''दध्ना जुहोति'' इस वाक्य में प्रामाण्य माना जाता है, किन्तु प्रकृत में वैसा सम्भव नहीं है। क्योंकि किसी भी गुण के विधान के लिए ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति प्रत्यक्ष सिद्ध विश्व सत्यत्व का अनुवाद नहीं कर रही है। पूर्वोक्त प्रकार से सिद्धान्ती ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य का प्रामाण्य सिद्ध नहीं कर सके किन्तु श्रुति वाक्य में सर्वथा अप्रामाण्य मानना सम्भव नहीं है। अतः बाध्य होकर अनुवाद्य अर्थ (विश्व सत्यत्व) में प्रामाण्य मानना पड़ेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''विश्वं सत्यम्'' इस अनुवादवाक्य के द्वारा अनुवाद्य अर्थ विश्व सत्यत्व का उद्देश्य करके ''देवाऽपि न प्रमिणन्ति'' इत्याकारक अप्राप्त जो निषेध उस निषेध का विधान किया गया है। अतः यह वाक्य अन्य विधानार्थक होने के कारण ''दध्ना जुहोति'' के जैसे प्रामाणिक है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यह नियम है कि अनुवाद्यत्व होने पर भी अन्य अर्थ के विधान के लिए प्रमाण से अनूदित में तात्विकत्व होता है। जैसे ''ब्रीहिभिर्यजेत'' इस विधिवाक्य से जिस ब्रीहि का विधान किया गया है। उसी ब्रीहि का ''ब्रीहिन् प्रोक्षति'' इस प्रमाणवाक्य के द्वारा ब्रीहि से अन्य प्रोक्षण के लिए अनुवाद किया गया है। उक्त स्थल पर प्रमाण अनूदित जो ब्रीहि है, उसमें तात्त्विक बुद्धि '' ब्रीहिन् प्रोक्षति'' के द्वारा होती है। अर्थात् आरोपित (अतात्त्विक) बुद्धि नहीं होती है। अर्थात् उक्त वाक्य से जो ब्रीहिविषयकज्ञान होता है उस ज्ञान के विषयीभूत ब्रीहि आरोपित नहीं

र्मिसंसर्गरूपानुमितिवेद्य इवानुवाद्यविधेयसंसर्गरूपवाक्यार्थो बाधितः स्यादिति चेन्न, अस्यानुवादस्याप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वात्। न च प्रमाणानूदितस्य तात्त्विकत्वनियमः। स्वप्नाध्याये, शुक्तौ नेदं रजतमिति वाक्ये च व्यभिचारात्। अथ तत्र ज्ञानविषयतया निषेध्यतया चानुवाद

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है, क्योंकि अनुवाद्य ब्रीहि रूप आश्रय को यदि आरोपित माना जाये तो आश्रय की सिद्धि नहीं होने पर अनुवाद्य (ब्रीहि) और विधेय (प्रोक्षण क्रिया) इन दोनों का संसर्ग (क्रियाकर्मभावरूपसंसर्ग। क्रिया—प्रोक्षण, कर्म—ब्रीहि) रूप वाक्यार्थ का बाध हो जायेगा। जबकि ''ब्रीहिन् प्रोक्षति'' इस वाक्य के द्वारा वेद्य अर्थ को बाधित नहीं माना जाता है। अतः अनुवाद्य को तात्त्विक ही मानना पड़ेगा। इसमें दृष्टान्त देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अनुमान स्थल पर प्रत्यक्ष अवगत पर्वत का अनुवाद कर ''पर्वतो वह्निमान्'' इस वाक्य के द्वारा धर्मधर्मीसंसर्ग (पर्वत—वह्नि संयोग) का विधान किया जाता है। यदि यहां पर पर्वत रूप आश्रय असिद्ध (आरोपित) है तब अनुमान में आश्रयासिद्धिदोष हो जाने के कारण वह्निरूप धर्म और पर्वतरूप धर्मी इन दोनों का संसर्गरूप जो अनुमिति उसके बाधित हो जाने की आपत्ति होगी। प्रकृत में ''घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा जिस विश्व सत्यत्व का बोध हुआ है। उसी विश्व सत्यत्व का ही ''विश्वं सत्यम्'' इस प्रमाणभूत श्रुतिवाक्य के द्वारा अनुवाद किया गया है। अतः प्रमाण अनूदित जो विश्व सत्यत्व उसको तात्त्विक मानना पड़ेगा। यदि उसको अतात्त्विक माना जाय तो अनुवाद्य विधेयसंसर्ग (अनुवाद्य—विश्व सत्यत्व जो की उद्देश्य है और विधेय है निषेध, सिद्धान्ती के अनुसार) रूप वाक्यार्थ बाधित हो जायेगा। अतः विश्व रूप अनुवाद्य (उद्देश्य) को तात्त्विक मानना आवश्यक है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो विकल्प किये थे उसमें से द्वितीय विकल्प को स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं है। अर्थात् ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा जो प्रत्यक्ष सिद्ध विश्व सत्यत्व का अनुवाद किया गया है वह ''देवाऽपि न प्रमिणन्ति'' इत्याकारक अप्राप्त जो निषेधरूप अन्यार्थ उसके विधान के लिए किया गया है। इस प्रकार दूसरे पक्ष को स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है। पूर्वपक्षी ने द्वितीय विकल्प पर यह जो कहा था कि प्रमाण से अनुदित अर्थ तात्त्विक होता है। यहां पर पूर्वपक्षी के अनुमान का आकार होगा ''विश्वसत्यत्वं तात्त्विकम्, प्रमाणानूदितत्त्वाद् होमादिवत्।'' इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रमाण से जिस अर्थ का अनुवाद होता है वह अर्थ तात्त्विक होता है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में व्यभिचारदोष है। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् के स्वप्नाध्याय में अर्थात् अज्ञात जो स्वप्न का फल (किस स्वप्न को देखने से किस फल की सूचना मिलती है) उस फल का ज्ञापक जो ग्रन्थ उसे स्वप्नाध्याय कहते हैं। यहां पर व्यभिचार होगा, क्योंकि स्वप्न में किसी व्यक्ति को किसी पदार्थ का जो साक्षी प्रत्यक्ष होता है। उस साक्षी प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध जो स्वाप्निक पदार्थ उसका स्वप्नाध्याय में पठित ''यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति'' (छा० उ० ५—२—९) यह श्रुति वाक्यरूप प्रमाण के द्वारा अनुवाद करके कर्मसमृद्धि फलरूप अन्य का विधान किया गया है। अतः अन्य विधान के लिए प्रमाणानुदित हो गया—स्वाप्निक पदार्थ। उस स्वाप्निक पदार्थ को पूर्वपक्षी के मतानुसार तात्त्विक होना चाहिए, जबकि वह तात्त्विक नहीं है। इसी प्रकार भ्रम स्थल पर ''इदं रजतम्'' इस भ्रमज्ञान के द्वारा सिद्ध जो मिथ्यारजत। उस मिथ्या रजत का ''नेदं रजतम्'' इस प्रमाण वाक्य के ''इदं रजतम्''

इति न तात्त्विकत्वम्। तर्हि प्रकृतेऽपि ''नेह नाना'' इति निषेधार्थत्वादस्यानुवादस्य न तात्त्विकत्वमिति गृहाण। अत एव न वाक्यार्थस्यासत्त्वप्रसङ्गः, तात्पर्यविषयस्य सत्त्वात्। अथ ''किञ्चिन'' इत्यनेनैवानुवादस्य कृतत्वात् किमधिकेनेति चेन्न, सामान्यतो निषेधस्य हि ''किञ्चन'' इत्यनेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

इस अंश के द्वारा जो अनुवाद किया गया है वह ''न'' (नेदं रजतम् का न) पद के द्वारा सूचित निषेध रूप अन्य विधान के लिए किया गया है। अर्थात् यह अनुवाद अन्य विधान के लिए है। अतः अन्य विधान के लिए ''नेदं रजतम्'' इस प्रमाण वाक्य से अनूदित जो मिथ्या रजत है। उसमें तात्त्विकत्त्व न होने से व्यभिचार है। पूर्वपक्षी उक्त व्यभिचारदोष को वारण करते हुए कह रहा है कि स्वप्नाध्याय के श्रुतिवाक्य के द्वारा स्वाप्निक भ्रमज्ञान का विषयीभूत पदार्थ स्त्री आदि का अनुवाद किया गया है। अतः उसे अतात्त्विक माना जा सकता है किन्तु ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा किसी भ्रमज्ञान के विषयीभूत पदार्थ का अनुवाद नहीं किया गया है। अतः इस श्रुतिवाक्य के द्वारा बोधित पदार्थ तात्त्विक होगा। इसी प्रकार ''नेदं रजतम्'' इस वाक्य के द्वारा जो रजत का अनुवाद किया गया है,वह निषेध्य के रूप से किया गया है और जो निषेध्य पदार्थ होता है वह मिथ्या ही होता है। अतः वह अतात्त्विक होगा। किन्तु 'विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा निषेध्य के रूप से विश्व का अनुवाद नहीं किया गया है। इसलिए ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा बोधित पदार्थ तात्त्विक होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निषेध्यतया अनुदित वस्तु अतात्त्विक मानी जाती है— इस पूर्वपक्षी के कथनानुसार प्रकृत में भी ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इस वाक्य के द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध जिस विश्व सत्यत्व का अनुवाद किया गया है। उसी विश्व सत्यत्व का ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस श्रुति वाक्य के द्वारा निषेध किया गया है। अतः विश्व सत्यत्व का निषेध्य के रूप से अनुवाद होने के कारण विश्व सत्यत्व अतात्त्विक ही होगा। अत एव = उक्त निषेधार्थत्व होने से ही वाक्यार्थ के बाधितत्त्व का प्रसङ्ग नहीं आयेगा, क्योंकि तात्पर्य विषय का सत्त्व है। अर्थात् प्रत्यक्ष के द्वारा बोधित किया गया विश्व सत्यत्व जब तात्त्विक नहीं है तब उसी का अनुवाद करने वाला ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इस वाक्य के अर्थ का असत्त्व (बाधितत्त्व) होने की जो शङ्का हो रही थी, वह नहीं होगी, क्योंकि यदि श्रुति ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इतना कह कर ही शान्त हो जाती, इसके पश्चात् कुछ भी नहीं कहती तब तो वाक्यार्थ बाधित हो जाता किन्तु श्रुति ने आगे कहा है कि ''नेहनानास्ति किञ्चन''। इस श्रुति वाक्य के द्वारा विश्व सत्यत्व का निषेध किया गया है। उक्त निषेध अबाधित है। अतः उभय वाक्य के जोड़ने से जो महावाक्य बनेगा, उस महावाक्य के घटक ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' का तात्पर्य यह होगा कि निषेध्य का समर्पण करना। यह तात्पर्य बाधित नहीं है। अतः ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इस श्रुति के वाक्यार्थ के बाधितत्त्व का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। इसी प्रकार ''देवा न प्रमिणन्ति'' इस निषेध के निषेध्य का समर्पण ''विश्वं सत्यम्'' के द्वारा किया गया है। यह तात्पर्यार्थ बाधित नहीं है। अतः वाक्यार्थ के बाधितत्त्व का प्रसङ्ग नहीं होगा। इस पर विशेष विचार लघुचन्दिका में किया गया है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस श्रुति के घटक ''किञ्चन'' पद के द्वारा ही निषेधयरूप प्रपञ्च का जब अनुवाद हो गया तब ''किञ्चन'' से अधिक ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा पुनः निषेध्य का अनुवाद करने का क्या प्रयोजन है? अर्थात् ''विश्वं

निषेध्यसमर्पणेऽपि विशिष्य निषेधे विशिष्य निषेध्यसमर्पणस्योपयोगात्॥ १९॥

अथ निषेधवाक्यस्य न निषेध्यसमर्पकवाक्यान्तरापेक्षा। अन्यथा ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादावपि निषेध्यसमर्पणार्थं ''कलञ्जं भक्षयेत्'' इत्यादिवाक्यान्तरसापेक्षत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, सर्वत्रापेक्षानियमाभावात्। सति सम्भवे प्रकृते त्यागायोगात्। ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'', ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इत्यादौ वाक्यान्तरप्राप्तस्य निषेधदर्शनाच्च॥ २०॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्यम्'' इस वाक्य को निषेध्य का अनुवादक माना नहीं जा सकता है, क्योंकि पुनरुक्तिदोष होगा। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि निषेध दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम—सामान्यरूप से और द्वितीय—विशेषरूप से। सामान्यरूप से निषेध के लिए निषेध्य का सामान्य रूप से अर्थात् विश्व का नाम न लेकर अनुवाद ''किञ्चन'' पद के द्वारा किया गया है और विशेष रूप से विश्व का नाम लेकर निषेध के लिए निषेध्य का अनुवाद ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा किया गया है। अर्थात् सामान्य निषेध में सामान्यरूप से प्रतियोगी की उपस्थिति आवश्यक होती है और विशेष निषेध में विशेष रूप से प्रतियोगी की उपस्थिति आवश्यक होती है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से निषेध्य का अनुवादक ''किञ्चन'' और ''विश्वं सत्यम्'' दोनों को मानने पर पुनरुक्तिदोष नहीं होगा॥ १९॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि निषेधक वाक्यों को ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्यान्तर के द्वारा निषेध्य की उपस्थिति अपेक्षित नहीं होती है किन्तु निषेधा वाक्य घटक ''किञ्चन'' इत्यादि पदों के द्वारा ही निषेध्य की उपस्थिति हो जाती है। यदि निषेध वाक्य द्वारा निषेध्य पदार्थों के समर्पण के लिए वाक्यान्तर की अपेक्षा मानी जाय तो ''न कलञ्जं भक्षयेत्'' इस निषेधवाक्य को भी निषेध्यभूत कलञ्ज (विषैले बाण के द्वारा मारे गये पशु के मांस अथवा रक्त लशुन) की उपस्थिति कराने के लिए ''कलञ्जं भक्षयेत्'' इस प्रकार के वाक्यान्तर की अपेक्षा होगी जो कि वेद में सुलभ नहीं है। अतः निषेध्य समर्पक वाक्यान्तर के अभाव होने के कारण उक्त निषेध सम्भव नहीं हो पायेगा। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सभी निषधों में निषेध्य समर्पक वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। यदि निषेध्य समर्पक वाक्यान्तर उपलब्ध है तो उसका त्याग करना उचित नहीं होता है। अर्थात् जहां रागादि के कारण निषेध्य की प्रसक्ति है वहां निषेध्य प्रसञ्जक वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती है किन्तु जहां रागादि के कारण निषेध्य की प्रसक्ति नहीं है वहां पर वाक्यान्तर के द्वारा निषेध्य की प्रसक्ति स्वीकार की जाती है। अन्यथा अप्रसक्त प्रतिषेध की आपत्ति होगी। प्रकृत में रागादि मूलक प्रत्यक्ष के जैसे ही ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्य के द्वारा भी निषेध्य की प्रसक्ति जब उपलब्ध है। तब उसका त्याग करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रसक्त का ही प्रतिषेध किया जाता है। आगे यह दिखला रहे हैं कि कुछ स्थलों पर निषेध्य प्रसञ्जक वाक्यान्तर की अपेक्षा होती है और पीछे पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि निषेध वाक्य घटक पद के द्वारा ही निषेध्य की उपस्थिति हो जायेगी, उसके लिए वाक्यान्तर की अपेक्षा नहीं होती है। इसका समाधान भी देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इस वाक्य से प्राप्त अतिरात्र संज्ञक ज्योतिष्टोमयाग में षोडशिसंज्ञक पात्र के ग्रहण (सोमरसपूरित करने) का निषेध ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इस निषेध वाक्य के द्वारा किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य से प्राप्त प्रपञ्च सत्यत्व का निषेध ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इस निषेध वाक्य के द्वारा किया गया है, वह उचित ही है॥ २०॥

न च तद्वदेव विकल्पापत्तिः। सिद्धे वस्तुनि विकल्पायोगात्। षोडशिग्रहणाग्रहणवाक्य-योरुभयोरपि मानान्तराप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्ववदिह सत्त्वश्रुतेर्मानान्तरप्राप्तविषयत्वेन निषेधश्रुतेश्चाप्राप्तविषयत्वेन तुल्यबलत्वाभावाच्च। अत एव निषेधवाक्यप्राबल्यात् तदनु-रोधेनेतरन्नीयते। अथाप्राप्तान्यप्राप्त्यर्थत्वेऽप्यलौकिकस्य ''आपश्च न प्रमिणन्ति''

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि एक श्रुतिवाक्य से प्राप्त वस्तु का दूसरे श्रुतिवाक्य से निषेध करने पर विकल्प माना जाता है। जैसे अतिरात्रयाग में ग्रहण और अग्रहण दोनों ही शास्त्र से प्राप्त होने पर विकल्प माना जाता है। अर्थात् जिसकी इच्छा हो वह षोडशि संज्ञक पात्र का ग्रहण करें और जिसकी इच्छा न हो वह षोडशिसंज्ञक पात्र का ग्रहण न करें। इसी प्रकार प्रकृत में भी प्रपञ्चगत सत्यत्व और सत्यत्वाभाव (मिथ्यात्व) का विकल्प मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्ध वस्तु में विकल्प नहीं होता है अपितु क्रिया में विकल्प होता है। पूर्वपक्षी ने जो षोडशिसंज्ञक पात्र के ग्रहण और अग्रहण के विकल्प का दृष्टान्त दिया था। उक्त स्थल पर ग्रहण और अग्रहण क्रिया है। इसलिए विकल्प माना जाता है। प्रकृत में प्रपञ्च वस्तु है न कि क्रिया। अतः उसमें सत्यत्व या सत्यत्वाभाव रूप विकल्प नहीं होगा। यदि सिद्ध वस्तु में भी विकल्प माना जायेगा तब तो ''इदं रजतम्'' और नेदं रजतम्'' इन दोनों वाक्यों के बल पर रजत में भी सत्यत्व और सत्यत्वाभाव (मिथ्यात्व) का विकल्प मानना पड़ेगा और उक्त दोनों वाक्यों में पाक्षिक प्रामाण्य भी मानने की आपत्ति होगी, जबकि एक वाक्य ''इदं रजतम्'' अप्रामाणिक है और दूसरा वाक्य ''नेदं रजतम्'' प्रामाणिक है। दूसरी बात यह है कि ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' और ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' ये दोनों श्रुतिवाक्य श्रुति इतर प्रमाण से अनधिगत षोड़शिपात्र का ग्रहण और अग्रहण रूप पदार्थ विषयकत्वेन समानबल वाले हैं। अर्थात् कोई भी एक दूसरे से दुर्बल नहीं है। अतः उक्त दोनों वाक्यों में पूर्णता नहीं तो पाक्षिक प्रामाण्य रक्षण के लिए विकल्प माना जाता है। प्रकृत में विश्वसत्यत्वश्रुति में मानान्तर (प्रत्यक्ष) से प्राप्तार्थ विषयकत्व है और निषेधश्रुति में मानान्तर से अप्राप्तार्थविषयकत्व है। अतः दोनों में समानबलता नहीं है। अर्थात् निषेध श्रुति प्रबल है क्योंकि उसका विषय मानान्तर से अप्राप्त है और विश्वसत्यत्व श्रुति दुर्बल है, क्योंकि उसका विषय मानान्तर (प्रत्यक्ष) से प्राप्त है। इसलिए मानान्तर से अप्राप्तार्थ विषयकत्वेन निषेध वाक्य में प्राबल्य होने से निषेधवाक्यानुरोधेन सत्त्वादिबोधक वाक्य का अर्थ करना उचित ही है। अर्थात् निषेधवाक्य के लिए निषेध्य का समर्पक ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य को मानना उचित ही है। पूर्वपक्षी की पुनः शङ्का है कि अप्राप्त (श्रुति इतर प्रमाणों से अप्राप्त अर्थात् श्रुति से प्राप्त) से जो अन्य (प्रत्यक्ष प्राप्त विश्वसत्यत्व) उसका ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा अनुवाद किया गया है। ऐसा यदि माना भी जाये तब भी ''विश्वं सत्यम्'' इस मन्त्र भाग के अनन्तर ही ''आपश्चन प्रमिणन्ति व्रतं वाम्'' (व्यापनशील देवगण तुम दोनों के कर्मरूपव्रत को यथार्थरूप से जानते हैं। यहां पर चन को एक पद मानकर पूर्वपक्षी ने यह अर्थ किया है) इस वाक्य के द्वारा प्रमाणान्तर से अज्ञात पदार्थ (देवताओं के द्वारा प्रपञ्च को यथार्थरूप से मानना रूप पदार्थ) का कथन है। अतः उस अप्राप्त पदार्थ रूप अंश के साथ विश्व सत्यता रूप पदार्थ के संसर्ग रूप विधेय की स्थापना

इत्यादिपदार्थसंसर्गस्य विधेयस्य सत्त्वान्न निषेध्यार्थानुवादकत्वमिति चेन्न, तदन्यपरत्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्। ननु ''यत्तन्न'' इति निषेधानुवादलिङ्गाभावान्नानुवादः, न; यत्किञ्चिल्लिङ्गाभावेन लैङ्गिकाभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्॥ २१॥

ननु—तर्हि ''तत्सत्यम्'' इत्याद्यपि ''न सत्तन्नासदुच्यते'' इति ''असद्वा इदमग्र आसीत्''

सत्यानन्दप्रबोधिका

के लिए ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा विश्व सत्यत्व का अनुवाद किया गया है न कि निषेध्य पदार्थ का समर्पण करने के लिए। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त ''आपश्च न प्रमिणन्ति'' श्रुतिवाक्य के स्तुतिरूप अन्यपरत्व को पहले दिखाया जा चुका है। अर्थात् च और न को दो पद मानकर ''न प्रमिणन्ति'' इस प्रकार से पदच्छेद कर उसका अर्थ ''न हिंसन्ति'' कर के स्तुतिपरक अर्थ किया गया है। इसलिए उक्त श्रुतिवाक्य अर्थवाद वाक्य है न कि विधिवाक्य। अतः वह विधिवाक्य न होने के कारण उसके द्वारा किसी विधेयांश का प्रतिपादन न होने से उसके साथ विश्व सत्यता को नहीं जोड़ा जा सकता है। अतः ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा निषेध्य का समर्पणरूप प्रयोजन के लिए निषेध्यभूत प्रत्यक्ष प्राप्त विश्व सत्यता का अनुवाद ही मानना उचित है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी का कथन है कि ''यत्—तत्—न'' इत्याकारक जो निषेध प्रतीत होता है। उस निषेध के लिए जो किया गया अनुवाद उसको निषेधानुवाद कहते हैं। उस निषेधानुवाद का लिङ्ग जो ''यत्—तत्'' शब्द उसका प्रकृत में अभाव होने से ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य को निषेध्यार्थ का अनुवादक वाक्य नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् ''यत्'' इस शब्द के द्वारा निषेध्य का अनुवाद करके ''तन्न'' इस प्रकार से निषेध किया जाता है। जैसे ''यद् रजतं तन्न'' प्रकृत में ''यद् विश्वं सत्यम्, तन्न'' ऐसा श्रुतिवाक्य प्राप्त नहीं है। अतः सत्त्वश्रुतिवाक्य को निषेध्यार्थ का अनुवादक नहीं माना जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''यत्तन्न'' इस एक अनुवादक लिङ्ग के अभाव मात्र से अनुवादकत्वरूपलैङ्गिक वस्तु का अभाव नहीं माना जा सकता है। जैसे वह्निरूप साध्य के साधक धूम—आलोकादि अनेक लिङ्गों में से किसी एक लिङ्ग के अभाव मात्र से वह्निरूपलैङ्गिकवस्तु का अभाव नहीं माना जाता है। प्रकृत में ''यत्तन्न'' इस अनुवादकलिङ्ग के न होने पर भी निषेध वाक्य के निषेध्य प्रसञ्जक वाक्यान्तरसाकांक्षत्व रूप अनुवादक लिङ्ग के विद्यमान होने से ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य में निषेध्यसमर्पक अनुवादकता मानी ही जा सकती है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने यह जो नियम बनाया था कि जिसमें ''यत्'' पद का प्रयोग नहीं है उसमें अनुवादकत्व नहीं माना जाता है। इस नियम में व्यभिचारदोष है, क्योंकि ''दध्ना जुहोति'' इत्यादि अनेक स्थल दिखलाये जा सकते हैं। जहां पर ''यत्'' पद का प्रयोग नहीं है किन्तु वहां पर अनुवादकता है॥ २१॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि अनुवादकलिङ्ग के अभाव रहने पर भी ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतिवाक्यों को अनुवादक मानने पर ''तत् सत्यम्'' (छा० उ० ६—८—७) इत्यादि श्रुतियों को भी ''न सत् तन्नासदुच्यते'' (गी० १३—१३), ''असद् वा इदमग्र आसीत्'' (तै० उ० २—७) इत्यादि निषेध वाक्यों से प्रतिपाद्य जो ब्रह्मसत्यताप्रतियोगिक निषेध, उस निषेध का निषेध्यभूत ब्रह्मसत्यता का अनुवादक "तत्सत्यम्"इस वाक्य को मानना पड़ेगा, क्योंकि ''सन् घटः'' ''सद् घटज्ञानम्'' ''सत् सुखस्मरणम्'' इत्यादि प्रत्यक्ष से सिद्ध जो

इति च निषेधाय, ''सन् घटः'', ''सद्घटज्ञानम्'', ''सत्सुखस्फुरणम्'' इत्यादिसिद्ध ब्रह्मसत्तानुवादि स्यादिति चेन्न, ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्वस्य प्रत्यक्षादिभ्योऽप्राप्तेः, शून्यवादप्रसङ्गेन तस्य निषेधायोगाच्च। ''इदं सर्वम्'' ''यदयमात्मा'' इत्यत्रानुवादलिङ्गसम्भवेन(सद्भावेन) कल्पनाच्च। एवमानन्दश्रुतेरपि ''अदुःखमसुखं समम्'' इति निषेधाय न प्रत्यक्षप्राप्तानन्दानुवादित्वम्, दुःखसाहचर्येण सुखस्यापि वैषयिकस्यैव ग्रहणेन तन्निषेधाय ब्रह्मरूपसुखानुवादायोगात्। एतच्च सर्वमुक्तं विवरणे ''निष्प्रपञ्चास्थूलादिवाक्यानुसारेण 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इत्यादीनि

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्मसत्व उसी का कथन ''तत् सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा हो रहा है। अर्थात्

''सर्वप्रत्ययवेद्ये च ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते''।

इस प्रकार आचार्यश्रीमण्डनमिश्र के कथनानुसार ''सन् घटः'' इस प्रत्यक्षप्रतीति में ब्रह्मसत्ता का भान होता है। इसी प्रकार–

''परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित्सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।।''

इस श्रीसुरेश्वराचार्य के कथनानुसार ''सद् घटज्ञानम्'' यहां पर ब्रह्मसत्ता की प्रतीति होती है। इसी प्रकार ''सत् सुखस्मरणम्'' इत्यादि लौकिक प्रतीति में भी ब्रह्मसत्ता की प्रतीति होती है, क्योंकि सुख ही शुद्धचित् है। अतः ब्रह्म में आनन्दरूपता की प्रतिपादिका ''आनन्दं ब्रह्म'' इस श्रुति को भी अनुवादिनी मानना पड़ेगा। इस शङ्का का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ''तत्सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येनसत्त्व का बोधन कराया गया है जो "घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त नहीं है। 'घटः सन्'' इस प्रत्यक्ष के द्वारा घटत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्व प्राप्त है। अतः प्रत्यक्ष से अप्राप्त ब्रह्मत्वसामानाधिकरण्येन सत्त्व की प्रतिपादिका ''तत्सत्यम्'' इस श्रुति को अनुवादक नहीं कहा जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि ''न सत्तन्नासदुच्यते'' इस वाक्य के द्वारा निषेध्यभूत ब्रह्मसत्त्व का प्रतिपादन ''तत् सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा किया गया है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ऐसा मानने पर ब्रह्मसत्त्व का ही निषेध उक्त वाक्य के द्वारा मानना पड़ेगा। तब शून्यवाद की आपत्ति होगी जो कि पूर्वपक्षी को भी अभीष्ट नहीं है। अतः ब्रह्मसत्त्व का निषेध उक्त वाक्यों के द्वारा मानना उचित नहीं है। अपितु उक्त वाक्यों का अर्थ अन्य ही है। जिसे तत्–तत् स्थलों पर सूत्रकार भाष्यकार आदि आचार्यों ने स्पष्ट किया है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य में अनुवाद का कोई ''यत्'' पद आदि लिङ्ग नहीं होने से इस श्रुतिवाक्य को अनुवादक नहीं माना जा सकता है। वह कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''यदिदं सर्वम्'' (बृ० उ० ३–१–३), ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' (बृ० उ० ९–४–७) इत्यादि श्रुतिवाक्यों में अनुवाद के ''यत्'' पदरूपलिङ्ग को देखकर ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि वाक्यों में जहां स्पष्ट लिङ्ग की प्रतीति नहीं हो रही है, वहां पर भी अनुवादक लिङ्ग ''यत्'' शब्दादि की कल्पना कर ली जाती है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ब्रह्म को आनन्द स्वरूप सिद्ध करने वाली आनन्दश्रुति (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म) को भी ''अदुःखमसुखं समम्'' इस वाक्य से प्रतिपाद्य निषेध के लिए सौषुप्तिक साक्षिप्रत्यक्ष सिद्ध आनन्द का अनुवादक मानना पड़ेगा। पूर्वपक्षी

निषेध्यसमर्पकत्वेनैकवाक्यतां प्रतिपद्यन्ते, सुषुप्तौ निष्प्रपञ्चतायाः(यां) पुरुषार्थत्वदर्शनात्'' इति।। २२।।

अथ निष्प्रपञ्चता न पुरुषार्थः, मूर्च्छायां तत्त्वादर्शनात्। न च तदा तदज्ञानमात्रं न तु तदभाव इति वाच्यम्; समं सुषुप्तावपीति चेन्न, मूर्च्छायां स्वरूपसुखस्फुरणाभावात्, तथा च सूत्रम्—'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्' इति। सुषुप्तिमुक्तिकालीननिष्प्रपञ्चतायां स्वरूपसुखानुभवेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

का यह कथन भी असङ्गत है, क्योंकि दुःख को कोई भी ब्रह्मस्वरूपभूत नहीं मानता है। अतः उसके साहचर्य में पठित सुख भी ब्रह्म का स्वरूपभूत सुख नहीं हो सकता है। अतः श्रुति में आये हुए ''असुखम्'' इस पद के द्वारा वैषयिक सुख का ही निषेध किया गया है। अतः वैषयिक सुख का निषेध करने के लिए सौषुप्तिक साक्षिप्रत्यक्ष सिद्ध ब्रह्म का स्वरूपभूत सुख का अनुवाद आनन्दश्रुति के द्वारा किया गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। अतः अपूर्व (अप्राप्त) स्वरूपभूत आनन्द का ही विधान आनन्दश्रुति कर रही है न कि अनुवाद। यह सब कुछ विवरणाचार्य ने विवरण में कह दिया है। निष्प्रपञ्च का बोधक अस्थूलादि निषेध वाक्यों में अपेक्षित निषेध्य जो सप्रपञ्च, उसका समर्पण करने के लिए ''इदं सर्वं यदयमात्मा'' इस वाक्य के द्वारा निषेध्यभूत सप्रपञ्च का अनुवाद किया गया है। अतः इन दोनों वाक्यों में एकवाक्यता है। इस प्रकार निष्प्रपञ्च वाक्यों के साथ एकवाक्यतापन्न सप्रपञ्चवाक्यों में भी पुरुषार्थसाधनता आती है, क्योंकि सुषुप्तिकालावच्छेदेन निष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थत्व देखा जाता है।। २२।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्तिकालीन निष्प्रपञ्चता (प्रपञ्च का अभाव) को पुरुषार्थ (पुरुष का स्वतः प्रयोजन) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मूर्च्छावस्था में निष्प्रपञ्चता रहने पर भी कोई भी व्यक्ति उस मूर्च्छावस्था को नहीं चाहता है। अतः निष्प्रपञ्चता पुरुषार्थ नहीं है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च का अज्ञान मात्र रहता है न कि प्रपञ्चाभाव। अर्थात् मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर भी व्याधि, प्रहारादि के द्वारा प्रपञ्च के ग्रहण की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। अतः मूर्च्छा में प्रपञ्च का ज्ञानाभाव मात्र रहता है न कि प्रपञ्चाभाव और सुषुप्ति में प्रपञ्च का विलय हो जाने से प्रपञ्चाभाव रहता है। अतः मूर्च्छा और सुषुप्ति में भेद है। इसलिए निष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थ मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च का अज्ञान मात्र रहता है प्रपञ्च का अभाव नहीं, ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति में भी प्रपञ्च का अज्ञानमात्र रहता है, प्रपञ्च का अभाव नहीं। अर्थात् जैसे मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर भी व्याधि, प्रहारादि के द्वारा प्रपञ्च के ग्रहण का सामर्थ्य नष्ट हो जाने से मूर्च्छावस्था में प्रपञ्च का अज्ञान मात्र रहता है। ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में प्रपञ्च के विद्यमान रहने पर भी प्रपञ्च के ग्रहण का सामर्थ्य नष्ट हो जाने से प्रपञ्च का अज्ञानमात्र रहता है। अतः सुषुप्ति और मूर्च्छावस्था में कोई भेद नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मूर्च्छावस्था और सुषुप्ति अवस्था में भेद है, क्योंकि मूर्च्छावस्था में साक्षिस्वरूपसुख का भान नहीं होता है, अपितु दुःख का भान होता है। इसमें प्रमाणरूप से वेदान्तदर्शन के सूत्र को उपस्थापित कर रहे हैं— ''मूग्धेऽर्धसम्पत्तिः परिशेषात्'' (ब्र० सू० ३—२—९०) अर्थात् मूर्च्छावस्था में सुषुप्ति के अर्ध की प्राप्ति होती है, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों का उपरम (विलय) होने पर भी कर्मेन्द्रियों का

तस्याः पुरुषार्थत्वात्। तथा च श्रुतिः ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' इति। अथ ''तस्मादेकाकी न रमते'' इति श्रुतेः सप्रपञ्चतापि पुरुषार्थः। न, तस्याः दुःखसाधनत्वेन पुरुषार्थत्वायोगात्। कर्मकाण्डवदस्याः श्रुतेः अविवेकिपुरुषपरत्वाच्च।। २३।।

ननु 'पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' इति भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वश्रवणात् कथं न सप्रपञ्चता पुरुषार्थ इति चेन्न, मतेः पूर्वं ममापि प्रेरकपृथक्त्वेष्टेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

विलय नहीं होता है। हस्तादि की चेष्टा का परिशेष होने से कर्मेन्द्रियों का अनुपरम माना जाता है। सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों का ही विलय हो जाता है। अतः मूर्च्छावस्था और सुषुप्ति अवस्था में भेद है। दूसरी बात यह है कि सुषुप्ति और मुक्ति दोनों में पूर्ण निष्प्रपञ्चता के साथ स्वरूपसुख का अनुभव भी होता है। अतः सुषुप्तिकालीननिष्प्रपञ्चता में पुरुषार्थत्व है। जैसा कि श्रुतियों में कहा है– ''सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति''। (कैवल्योपनिषद्–१–१३)''। ''आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञः'' (माण्डूक्य उपनिषद्–५) ''ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्'' (कैवल्योपनिषद्–१–१४) इत्यादि श्रुतियों में अविद्या संस्कारादि से अतिरिक्त प्रपञ्च का सुषुप्ति में लय तथा पुनः उत्पत्ति और प्रपञ्चाभाव में सुख का अनुभव बतलाया गया है। निष्प्रपञ्चता में ही पुरुषार्थत्व है– इसमें प्रमाणरूप से दूसरी श्रुति दिखला रहे हैं– ''द्वितीयाद्वै भयं भवति'' (बृ० उ० १–४–२)। अनात्मज्ञान से भय उत्पन्न होता है। अर्थात् द्वैतप्रपञ्च भय (दुःख) का कारण होने से निष्प्रपञ्चता को ही पूर्ण अभयरूपता कहा जाता है। सप्रपञ्च में पुरुषार्थत्व सिद्ध करने के लिए पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि–''तस्मादेकाकी न रमते'' (बृ० उ० १–४–३)। अर्थात् पूर्ण सुखरूपता अकेले में नहीं होती है। अतः निष्प्रपञ्चता को पुरुषार्थ न मानकर सप्रपञ्चता को ही पुरुषार्थ मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यह निर्विवाद सिद्ध है कि सप्रपञ्चता दुःख का साधन है। अतः उसमें पुरुषार्थत्व नहीं माना जा सकता है। जैसे अविवेकी पुरुष के प्रति कर्म पुरुषार्थ है ठीक उसी प्रकार अविवेकी पुरुष के प्रति सप्रपञ्चता पुरुषार्थ है, विवेकियों के लिए नहीं। अर्थात् जैसे कर्मकाण्ड अविवेकियों के लिए है ठीक उसी प्रकार यह श्रुति भी देहाध्यासी अविवेकियों के लिए है। अतः ''तस्मादेकाकी न रमते'' यह श्रुति अविवेकी पुरुष को उद्देश्य करके ही कही गयी है।। २३।।

पुनः प्रकारान्तर से सप्रपञ्चता में पुरुषार्थत्व सिद्धि के लिए पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ''पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति'' (श्वेता० उ० १–६)। इस श्रुतिवाक्य के द्वारा भेदज्ञान को मोक्ष का साधन बतलाया गया है। अर्थात् आत्मा (जीव) और प्रेरिता (ईश्वर) को भिन्न–भिन्न समझकर उस भेदज्ञान में श्रद्धायुक्त होने से उसके द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भेदज्ञान मुक्ति का हेतु होने से भेद आदि रूप सप्रपञ्चता को पुरुषार्थ माना ही जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि प्रेरकत्वेन और पृथक्त्वेन समझकर मुक्त होता है, ऐसा उक्त श्रुति का अर्थ नहीं है किन्तु तत्त्वज्ञान से पूर्व चित्तशुद्धि के लिए ब्रह्म का प्रेरकत्वेन तथा पृथक्त्वेन ज्ञान (उपासना) सिद्धान्ती को भी इष्ट है। इसी अभिप्राय से कह रहे हैं कि मोक्षहेतुभूत अखण्डाकार चित्तवृत्ति से पूर्व ''ईश्वर मेरा प्रेरक है और मुझसे भिन्न है'' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह ब्रह्मज्ञान का उपकारक होता है जैसे सगुण ब्रह्म का ज्ञान। अर्थात्

सगुणब्रह्मज्ञानवत् प्रेरकत्वेन ब्रह्मज्ञानस्यापि परम्परयोपकारकत्वात्। 'एकधैवानुद्रष्टव्यम्'— इत्यादिवाक्यस्वारस्यादभेदज्ञानस्यैव साक्षान्मोक्षहेतुत्वात्। अत एव प्रेरकत्वज्ञानस्य जोषहेतुत्वमुक्तम्। तथोत्तरत्रापि 'वेदविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा ये विमुक्ताः' 'तदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः' इत्यभेद एव श्रूयते। अतो न भेदज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वम्। एतेन 'नेह नाना' इति श्रुतिरेव 'विश्वं सत्यम्' इत्यबाध्यत्वरूपबाधनिषेधाय

सत्यानन्दप्रबोधिका

जैसे सत्यकाम सत्यसंकल्पत्वादि गुणों से युक्त ब्रह्म का ज्ञान भी विशुद्धब्रह्मसाक्षात्कार में परम्परया उपकारक होता है, ठीक वैसे ही प्रेरकत्व, पृथक्त्वादि गुणों से युक्त ब्रह्म का ज्ञान भी परम्परया विशुद्ध ब्रह्म साक्षात्कार में उपकारक होता है। इस रहस्य को कल्पतरुकार ने इन शब्दों में कहा है—

निर्विशेषं परब्रह्म साक्षात्कर्तुमनीश्वराः, ये मन्दास्तेऽनुकम्प्यन्ते सविशेषनिरूपणैः।
वशीकृते मनस्येषां सगुणब्रह्मशीलनात्, तदेवाविर्भवेत् साक्षादपेतोपाधिकल्पनम्।

इस प्रकार प्रेरकत्वपृथक्त्वादि गुणों से युक्त ब्रह्म का ज्ञान मुक्ति में परम्परया उपकारक है और अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान मुक्ति में साक्षात् उपकारक है। इसमें श्रुतिप्रमाण दे रहे हैं— ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ० उ० ४—४—१९) अर्थात् एक ही प्रकार से (विज्ञानघन अद्वैत के रूप से) ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। मूलस्थ आदि पद के द्वारा ''शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते,'' ''सोऽयमात्मा स विज्ञेयः'' इत्यादि श्रुतियों का संग्रह कर लेना चाहिए। अतएव—प्रेरकज्ञान साक्षात्मोक्ष का हेतु न होने से प्रेरकज्ञान को जोष के प्रति हेतु कहा गया है। जोष का अर्थ है— ब्रह्मलोकावच्छिन्नप्रीतिविशेष। अतः उक्त श्रुतिवाक्य का यह अर्थ होगा— प्रेरकत्वेन पृथक्त्वेन ब्रह्म को समझकर उसके द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। उस ब्रह्मलोक की समाप्ति होने पर तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है। इस श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह षष्ठ मन्त्र था। इसके अनन्तर जो सप्तम मन्त्र आता है उसमें भी अभेद ज्ञान को ही मोक्ष के प्रति हेतु कहा गया है—

उद्गीतमेतत् परमन्तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरञ्च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।

अन्वय—तु एतत् परमम् ब्रह्म उद्गीतम् तस्मिन त्रयम् सुप्रतिष्ठा च अक्षरम् अत्र तत्पराः ब्रह्मविदः अन्तरम् विदित्वा ब्रह्मणि लीनाः योनिमुक्ताः (भवन्ति)। अर्थात्—पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्म के प्रतिपादन के बाद यह परमब्रह्म उत्तम अर्थात् सार कहकर गाया गया है। उसमें ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय आदि सभी त्रिपुटियां रज्जु में सर्प के समान प्रतिष्ठित हैं और वह (ब्रह्म) अक्षर है। इस अक्षर ब्रह्म में तत्पर ब्रह्मवेत्ता प्रपञ्च से ब्रह्म को असङ्ग जानकर सभी प्रकार के आवरणों को नष्ट करके चौरासी लाख योनियों से अर्थात् जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। मूल में ''ब्रह्मविदः'' के स्थान पर ''वेदविदः'' और ''योनिमुक्ताः'' के स्थान पर ''ये विमुक्ताः'' ऐसा पाठ किसी कारणवश हो गया है। इसी श्वेताश्वतर उपनिषद् के द्वितीय अध्याय के चतुर्दश मन्त्र में कहा गया है—

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वै आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।।

अन्वय—यथा मृदया उपलिप्तम् बिम्बम् एव तत् सुधान्तम् तेजोमयं भ्राजते तत् एकः देही आत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य वै कृतार्थः वीतशोकः भवते। अर्थात् जैसे मिट्टी से लिपा

विज्ञानवादादिप्राप्तविश्वनिषेधानुवादिनी किन्न स्यादिति निरस्तम्। भावाभावयोः परस्परविरहरूपत्वे समेऽपि भावग्रहो निरपेक्षत्वान्नाभावग्रहमपेक्षते। अभावग्रहस्तु सप्रतियोगितया भावग्रहमपेक्षते। अतो 'नेति नेति' श्रुतेरेव सत्त्वश्रुत्यपेक्षा, न तु सत्त्वश्रुतेर्नेति श्रुत्यपेक्षा। अन्यथा अन्योन्याऽश्रयापत्तेः।। २४।।

ननु—उत्सर्गापवादन्यायोऽस्तु यथा हि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इति श्रुतिरविशेषप्रवृत्तावपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

हुआ बिम्ब ही उस मिट्टी से चूना मिला कर धो देने के पश्चात् तेजस्वी हुआ चमकता है। ठीक वैसे ही कोई एक जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर के निश्चय रूप से (कृतार्थः—कृतकृत्यः—सर्वं कृत्यं कृतं येन, सर्वं प्रयोजनं समपादितं येन सः) कृतार्थ और शोकरहित हो जाता है। अर्थात् वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः भेदज्ञान को किसी भी प्रकार से मोक्ष के प्रति हेतु नहीं माना जा सकता है। एतेन— निष्प्रपञ्चसुख सप्रपञ्चसुख से उत्कृष्टसिद्ध हो जाने पर और सप्रपञ्चसुखबोधक एवं विश्वसत्त्वबोधक वाक्य निष्प्रपञ्चबोधक वाक्य का शेष सिद्ध हो जाने पर पूर्वपक्षी के द्वारा आगे कहा जाने वाला कथन भी खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी का कथन है कि विज्ञानवादियों के द्वारा जो विश्व का बाध प्राप्त है उसका अनुवाद ''नेह नानास्ति किञ्चन'' यह श्रुति कर रही है। किस लिए अनुवाद कर रही है तो कह रहे हैं कि ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा विश्वसत्यत्व (अबाध्यत्व) के बाध का निषेध करने के लिए। अर्थात् विश्व सत्यत्व (अबाध्यत्व) का विधान करने के लिए। मूलस्थ ''विज्ञानवादादि'' में आदि पद से शून्यवाद का ग्रहण करना चाहिए। विज्ञानवादी प्रपञ्च को मिथ्या न मानकर अलीक मानता है और शून्यवादी प्रपञ्च को मिथ्या मानता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि भाव—अभावाभाव और अभाव—भावाभाव इस प्रकार परस्पर विरहरूपता की दृष्टि से समान होने पर भी निरपेक्ष होने से भावग्रह अभावग्रह की अपेक्षा नहीं रखता है किन्तु अभावग्रह सप्रतियोगिक होने के कारण भावग्रह की अपेक्षा करता है। अतः ''नेति नेति'' यह श्रुति अभाव बोधक होने के कारण प्रतियोगी की प्राप्ति के लिए भावबोधक सत्त्वश्रुति (विश्वं सत्यम्) की अपेक्षा रखती है न कि सत्त्वप्रतिपादक श्रुति (विश्वं सत्यम्) ''नेति नेति'' इस श्रुति की, अन्यथा ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति को ''नेति नेति'' इस श्रुति की अपेक्षा मानने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। अर्थात् ''नेति नेति'' इस श्रुति को प्रपञ्च सत्यत्वाभावांश में सत्त्व श्रुति की अपेक्षा है और सत्त्व श्रुति को मिथ्यात्वाभावांश घटित सत्त्वांश में ''नेति नेति'' इस श्रुति की अपेक्षा है। अतः अन्योन्याश्रयदोष होगा। इसलिए प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सभी को ज्ञात विश्वसत्यत्व का बोधक विश्वसत्यत्वश्रुति को अनुवादक ही मानना पड़ेगा और विश्वसत्यत्वाभाव शून्यवाद के प्रति प्राप्त होने पर भी सभी के प्रति प्राप्त न होने से ''नेति नेति'' इत्यादि श्रुतियों को अनुवादक नहीं माना जा सकता है।। २४।।

पूर्वपक्षी उत्सर्ग—अपवादन्याय के आधार पर सत्त्वश्रुति और निषेध श्रुति में अविरोध सिद्ध कर रहा है। यहां पर सामान्यशास्त्र को उत्सर्ग कह रहे हैं और विशेषशास्त्र को अपवाद कह रहे हैं। पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' यह श्रुति सामान्यरूप से प्रवृत्त होने पर भी अर्थात् यज्ञीय हिंसा अयज्ञीय हिंसारूप सभी हिंसाओं का समानरूपेण निषेध के लिए प्रवृत्त होने पर भी किसी विशेष हिंसा को निषेध करने के लिए प्रवृत्त नहीं है। अतः इसमें निषेध्यभूत सामान्य हिंसा ही अपेक्षित है। इसलिए प्रत्यक्ष

हिंसात्वसामान्यस्य प्रत्यक्षादिप्राप्तत्वात्तन्निषेध्योपस्थितौ नाग्नीषोमीयवाक्यमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षते, तथा 'नेति नेति' इत्यादिश्रुतिरविशेषप्रवृत्तापि प्रत्यक्षप्राप्तघटादिसत्त्वरूपनिषेध्यमादाय निराकाङ्क्षा सती न प्रत्यक्षाप्राप्तधर्माधर्मादिसत्यत्वबोधिकां ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादिश्रुतिमपि निषेध्यसमर्पणायापेक्षितुमर्हति, यत्र तु मानान्तरेण निषेध्यस्याप्राप्तिस्तत्र (निषेधश्रुतिः) निषेध्यसमर्पणाय श्रुत्यन्तरमपेक्षत एव, यथा षोडशिग्रहणाग्रहणयोः, मानान्तरेण निषेध्योपस्थितावपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा विशेषरूप से यज्ञीय हिंसा प्राप्त न होने पर भी सामान्यरूप से रागतः अयज्ञीयहिंसा प्राप्त है। अतः सामान्यरूपेण हिंसा प्रत्यक्ष से प्राप्त हो जाने से ''न हिंस्यात्....'' के द्वारा जो निषेध किया गया है, उस निषेध को अपेक्षित निषेध्य—प्रत्यक्ष से प्राप्त हिंसा के रूप से उपस्थित हो जाने से ''न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'' यह निषेधवाक्य अपने निषेध्य की उपस्थिति के लिए अग्निषोमीय वाक्य के द्वारा जो यज्ञीय हिंसा का विधान किया गया है, उस यज्ञीय हिंसा की अपेक्षा नहीं करता है। अतः ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' इस निषेध वाक्य से अग्निषोमीययाग विहित हिंसा का निषेध नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी "नेति नेति" यह सामान्य निषेध अर्थात् प्रत्यक्ष से प्राप्त घट पटादि में रहने वाले सत्यत्व और प्रत्यक्ष से अप्राप्त धर्मादि में रहने वाले सत्यत्व का समान रूप से निषेध के लिए प्रवृत्त होने पर भी किसी विशेष सत्यत्व को निषेध करने के लिए नहीं है। अतः इसमें भी निषेध्यभूत सामान्यसत्त्व ही अपेक्षित है। इसलिए प्रत्यक्ष के द्वारा विशेष रूप से धर्मादिगत सत्त्व प्राप्त न होने पर भी सामान्यरूप से घटादिगत सत्त्व प्राप्त है। अतः ''नेति नेति'' यह सामान्य निषेध प्रत्यक्ष के द्वारा सामान्यरूप से प्राप्त घटादिगतसत्त्वरूप निषेध्य की प्राप्ति को लेकर चरितार्थ हो जायेगा। अतः प्रत्यक्ष से अप्राप्त विशेष रूप से धर्मादिगत सत्यत्व की बोधिका ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति की अपेक्षा ''नेति नेति'' यह निषेध वाक्य अपने निषेध्य समर्पण के लिए नहीं करेगा। अतः ''नेति नेति'' इस निषेधवाक्य से अतीन्द्रिय धर्मादि प्रपञ्चगत सत्यत्व का निषेध नहीं हो पायेगा। अतः दृश्यत्वादि हेतुओं का धर्मादि अंश में ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति से बाध होगा, क्योंकि ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा धर्मादिगत मिथ्यात्व (साध्य) का अभाव रूप सत्यत्व का उक्त रूप से बोधन किया गया है। यह पूर्वपक्षी का आशय है। दूसरी बात यह है कि निषेध श्रुति अपने निषेध्य समर्पण के लिए प्रमाण की अपेक्षा करती है किन्तु जहां पर निषेध्य का समर्पण श्रुति इतर प्रमाणों से हो जाता है। वहां पर निषेध्य समर्पण के लिए निषेध श्रुति को श्रुत्यन्तर की अपेक्षा नहीं होती है। प्रकृत में ''नेति नेति'' इस निषेध वाक्य को निषेध्य का समर्पण प्रत्यक्ष प्रमाण से हो जाने से उक्त वाक्य अपने निषेध्य समर्पण के लिए ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति वाक्य की अपेक्षा नहीं करेगा। जहां पर निषेध्य का समर्पण श्रुति इतर प्रमाणों से नहीं होता है वहां पर निषेध श्रुति अपने निषेध्य के समर्पण के लिए श्रुत्यन्तर की अपेक्षा करती है। जैसे ''नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' यह निषेध वाक्य अपने निषेध्यभूत षोड़शिग्रहण की उपस्थिति के लिए ''अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति'' इस श्रुति की अपेक्षा करता है, क्योंकि यहां पर षोड़शि का ग्रहण श्रुति इतर प्रमाणों से प्राप्त नहीं है। यदि निषेध श्रुति के निषेध्य का समर्पण श्रुति इतर प्रमाणों से होने पर भी निषेध श्रुति को निषेध्य समर्पण के लिए श्रुत्यन्तर की अपेक्षा होती है यह स्वीकार किया जाय तब तो ''न हिंस्यात्'' इस निषेध के लिए अपेक्षित

वाक्यापेक्षणे अग्नीषोमीयहिंसाया अपि निषेध्यत्वेनाधर्मत्वं स्यादिति चेत्।। २५।।

मैवम्, अग्नीषोमीयवाक्यस्य निषेधविषयन्यूनविषयत्वेनानन्यशेषतया स्वार्थतात्पर्यवत्त्वेन च न निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषता, ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादेस्तु निषेधविषयसमविषयत्वेन स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च निषेध्यसमर्पणद्वारेण निषेधवाक्यशेषतोचितैव। अत एव प्रत्यक्षाप्राप्त–

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध्य की उपस्थिति के लिए प्रत्यक्षादिप्रमाणों से प्राप्त निषेध्य (हिंसा) से भिन्न श्रुति प्रमाण से विहित अग्निषोमीय हिंसा की भी अपेक्षा माननी होगी और तब उस यज्ञीय हिंसा का भी निषेध ''न हिंस्यात्'' इस निषेधवाक्य के द्वारा मानना पड़ेगा। अत: अग्निषोमीय हिंसा भी निषिद्ध होने के कारण अधर्मजनिका होगी। यहां पर पूर्वपक्षी का आशय इस अनुमान में है– ''नेति नेति'' इति निषेध: स्वप्रतियोगिसमर्पणाय न विश्वं सत्यमिति वाक्यमपेक्षते, निषेधसामान्यत्वात्, न हिंस्यात् सर्वा भूतानि इति निषेधवत्।। २५।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दृष्टान्त दार्ष्टान्त में वैषम्य है। दृष्टान्त में ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' इस वाक्य के द्वारा बोधित हिंसा निषेध का विषय यज्ञीय हिंसा और अयज्ञीय हिंसा दोनों हैं और उसकी अपेक्षा से न्यून विषय (केवल यज्ञीय हिंसा) अग्निषोमीय वाक्य की है। अत: निषेध की अपेक्षा से न्यून विषयक होने के कारण अग्निषोमीय वाक्य को निषेध्य का समर्पक नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रथम भाग के पृष्ठ १९७ पर यह कहा गया है कि ''यत्र यत्र अनन्यशेषत्वं तत्र तत्र स्वार्थतात्पर्यवत्त्वम्''। जहां निषेधवाक्य और निषेध्य समर्पक वाक्य समानविषयक है वहीं निषेध्यसमर्पक वाक्य को निषेध वाक्य का शेष माना जाता है। अत: अग्निषोमीयवाक्य निषेधवाक्य की अपेक्षा से न्यूनविषयक होने से अनन्यशेष होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य वाला है। अत: उसका विषय निषेध्य नहीं हो सकता है। इसलिए निषेध्यसमर्पण द्वारा अग्निषोमीयवाक्य में निषेध्यवाक्य की शेषता नहीं मानी जा सकती है। दार्ष्टान्त में ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च के सत्यत्व का बोधन कराया गया और ''नेति नेति'' इस वाक्य के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च के सत्यत्व का निषेध किया गया है। अत: दोनों वाक्य समविषयक होने के कारण "विश्वं सत्यम्" यह वाक्य "नेति नेति" इस निषेधवाक्य का शेष माना जायेगा और निषेधवाक्य के द्वारा बोधित जो निषेध्य उस का समर्पक ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य को माना जाता है। दूसरी बात है कि पूर्वोक्त रीति से ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य प्रशंसा परक है। अत: स्वार्थ में तात्पर्य वाला न होने के कारण इसका विषय निषेध्य होता है। इसलिए निषेध्य समर्पण के द्वारा निषेधवाक्य का ही अङ्ग या वाक्यशेष मानना उचित ही है। अत: पूर्वपक्षी के द्वारा फलित जो अनुमान है उसमें बाध दोष है। निषेधवाक्य का शेष होनेसे ही प्रत्यक्षत: अप्राप्त धर्मादिनिष्ठसत्त्व के उपस्थापन से ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य में साफल्य भी है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि निषेधवाक्य को जो निषेध्य की अपेक्षा है, उस निषेध्य का समर्पण जब प्रत्यक्ष के द्वारा हो गया तब ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा निषेध्य का समर्पण मानना व्यर्थ है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती ने कहा कि यदि सम्पूर्ण निषेध्यों का समर्पण प्रत्यक्ष के द्वारा हो जाता तब तो ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य को निषेध्य का समर्पक मानना व्यर्थ होता, किन्तु धर्मादिगत सत्यत्वरूपनिषेध्य का समर्पण प्रत्यक्ष के द्वारा होता नहीं है। धर्मादिगतसत्यत्वरूपनिषेध्य का समर्पण ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा ही होता है।

धर्मादिसत्त्वोपस्थापनेन वाक्यसाफल्यमपि, स्वार्थतात्पर्यरहितत्वेन च नाग्नीषोमीयवाक्यतुल्य–त्वमित्युक्तम्। अतो दृश्यत्वादिहेतोर्धर्माद्यंशेऽपि श्रुत्या न बाधः। अथवा–व्यावहारिकसत्त्वपरेयं विश्वसत्यत्वश्रुतिः। न च व्यावहारिकसत्त्वे सर्वाविप्रतिपत्तेस्तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यम्, दशाविशेषे स्वर्गनरकादिसत्त्वप्रतिपादनेन तत्प्राप्तिपरिहारार्थं प्रवृत्तिनिवृत्त्योरेव तत्प्रयोजनत्वात्। व्यावहारिकत्वं च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं न त्वबाध्यत्वम्, मिथ्यात्वबोधकश्रुतिविरोधात्। न चैवं दृढभ्रान्तिजनकत्वा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

अतः निषेध के लिए अपेक्षित निषेध्य का समर्पक होने से उक्त वाक्य में व्यर्थता नहीं है। धर्मादि में आदि पद से प्रत्यक्ष प्राप्त घटादि का संग्रह कर लेना चाहिए। अतः इसका इस प्रकार से अर्थ होगा कि प्रत्यक्षतः प्राप्त घटादि और अप्राप्त धर्मादिनिष्ठ सत्त्व रूप निषेध्य के उपस्थापन द्वारा निषेधश्रुतिशेषत्वेन ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य का साफल्य है। ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य न होने से स्वार्थपरक अग्निषोमीयवाक्य से इसकी तुलना भी नहीं की जा सकती है। अतः पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुतिवाक्य धर्मादिगत सत्यत्व का बोधक है। इसके द्वारा मिथ्यात्वानुमान में पक्षगत धर्मादि अंश में बाधदोष होगा– यह कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य ही नहीं है। अतः इस श्रुतिवाक्य के द्वारा मिथ्यात्वानुमान में बाधदोष नहीं दिया जा सकता है। अथवा ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति व्यावहारिक सत्त्व का प्रतिपादन कर रही है। व्यावहारिक सत्त्वपरक मानने पर भी इस श्रुति के द्वारा स्तुति की भी उपपत्ति हो जायेगी और व्यावहारिकसत्त्व के उपस्थापन के द्वारा निषेध्य का समर्पण भी हो जाने से निषेध वाक्य की शेषता भी इस श्रुति में सिद्ध हो जायेगी। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि व्यावहारिकसत्त्व में किसी को भी विप्रतिपत्ति न होने से ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा व्यावहारिकसत्त्व का प्रतिपादन मानना व्यर्थ है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि दशाविशेषे=परलोक को अङ्गीकार न करने वाले वादिओं और अङ्गीकार करने वाले वादिओं की विप्रतिपत्ति से स्वर्गादि की सत्यता के विषय में जिस काल में संशय हो जाता है उस काल में मन्द अधिकारियों के प्रति ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा स्वर्ग नरकादि के व्यावहारिकसत्त्व प्रतिपादन के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए यागादि में प्रवृत्ति और नरक के परिहार के लिए ब्रह्महत्यादि से निवृत्ति की जाती है। ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा विश्व के व्यावहारिक सत्त्व के प्रतिपादन का यही प्रयोजन (साफल्य) है। व्यावहारिकसत्त्व का अर्थ–ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व है न कि सर्वथा अबाध्यत्व, क्योंकि सर्वथा अबाध्यत्व मानने पर मिथ्यात्वबोधक श्रुति से विरोध होगा। शङ्का हो सकती है कि विश्वसत्यत्व श्रुति के द्वारा ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिक सत्त्व का बोधन स्वीकार करने पर विश्वसत्यत्वश्रुति में दृढभ्रान्तिजनकत्व की आपत्ति होगी। अर्थात् मिथ्याप्रपञ्च को यत् किञ्चित् काल के लिए भी सत्य कह देने से भ्रान्ति उत्पन्न होती है और विश्वसत्यत्वश्रुति के द्वारा यह प्रतिपादन किया जा रहा है कि यदि अनन्तकाल तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता है तब तक यह प्रपञ्च सत्य बना रहेगा। ऐसा मानने पर दीर्घ (दृढ़) भ्रान्ति की जनकता श्रुति में आने से श्रुति में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे ''यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने'' (छा० उ० ५–२–९) इस श्रुति के ''पश्यति'' भाग तक के द्वारा स्वाप्निक

दत्यन्ताप्रामाण्यापत्तिः, स्वप्नार्थप्रतिपादनवदुपपत्तेः। एतावानेव विशेषः—तत्प्रातिभासिकम्, इदन्तु व्यावहारिकमिति।। २६।।

ननु मिथ्यात्वश्रुतेर्लक्षणया अखण्डचिन्मात्रपरत्वेन सत्त्वबोधनादविरोधित्वमेव। न, अखण्डार्थबोधस्य द्वितीयाभावबुद्धिद्वारकत्वेन जगत्सत्यत्वविरोधित्वात्। न च प्रपञ्चसत्यत्व—श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गः, अतत्त्वावेदकत्वस्यावान्तरतात्पर्यमादायेष्टत्वात्, परमतात्पर्येण तु तत्त्वावेदकत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्या स्त्री दर्शन का जो प्रतिपादन किया गया है वह सत्य समृद्धि का सूचक है, यह बतलाना रूप प्रयोजन के लिए किया गया है। अतः इस श्रुति में प्रामाण्य माना जाता है। ठीक इसी प्रकार ''विश्वं सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा जो व्यावहारिक विश्वसत्यत्व का बोधन कराया गया है वह ''नेह नानास्ति किञ्चन'' के द्वारा निषेध्य विश्वसत्यत्व के समर्पण रूप प्रयोजन के लिए किया गया है। अतः इस श्रुति के प्रामाण्य की उपपत्ति हो जायेगी। कहने का आशय यह है कि पूर्वोक्त श्रुति में स्वाप्निक मिथ्या पदार्थों का प्रतिपादन होने पर भी उसमें प्रामाण्य माना जाता है, क्योंकि उनके प्रतिपादन से समृद्धि का सूचन रूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार व्यावहारिक सत्य (मिथ्या) पदार्थों का प्रतिपादन सत्त्वश्रुति के द्वारा होने पर भी उसमें प्रामाण्य माना जायेगा, क्योंकि उसके प्रतिपादन से निषेध श्रुति के निषेध्य विश्वसत्यत्व का समर्पण रूप प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। यहां पर अन्तर इतना ही है कि स्वाप्नपदार्थ प्रातिभासिक और विश्वसत्यता व्यावहारिक है।। २६।।

सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा अबाधितत्त्व रूप सत्त्व का बोधन मानने पर मिथ्यात्व श्रुति से विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''एकमेवाद्वितीयम्'' ''नेह नानास्ति किञ्चन'' इत्यादि मिथ्यात्व—बोधक श्रुति लक्षणावृत्ति के द्वारा शुद्धचिन्मात्ररूपसत् का प्रतिपादन करती है न कि विश्वमिथ्यात्व का। ''विश्वं सत्यम्'' यह श्रुति विश्व की सत्यता को कह रही है न कि ब्रह्म को। अतः इन दोनों श्रुतियों में विरोध ही नहीं है। इसलिए ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के द्वारा प्रपञ्चगत अबाध्यत्वरूपसत्त्व का प्रतिपादन मानने में कोई हानि नहीं है। पूर्वपक्षी का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि आचार्यप्रवर ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा था— ''अद्वैतसिद्धेर्द्वैतमिथ्यात्वसिद्धिपूर्वकत्वात्''। अर्थात् उपलक्षितबुद्धि विशिष्टबुद्धि द्वारक होती है। अतः उपलक्षितबुद्धि से पहले विशिष्टबुद्धि माननी पड़ेगी। प्रकृत में जब पहले "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्चात्यन्ताभावविशिष्टब्रह्म की बुद्धि होगी तब उसके पश्चात् प्रपञ्चात्यन्ताभावोपलक्षितब्रह्म की बुद्धि होगी। अतः द्वारीभूत प्रपञ्चात्यन्ताभावविशिष्टबुद्धि से विश्वसत्यत्वबुद्धि का विरोध होने से विश्व मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि मिथ्यात्व बोधक श्रुतियों के द्वारा सत्त्वबोधक श्रुतियों का बाध माना जाय तब सत्त्वबोधकश्रुतियों में अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सत्त्वबोधक श्रुतियों का सर्वथा अप्रामाण्य नहीं है, क्योंकि विश्वसत्यता में अवान्तर तात्पर्य माना जाता है। अवान्तर तात्पर्य अर्थात् व्यावहारिकसत्त्व को मानकर अतत्त्वादेकत्वरूप प्रामाण्य सत्त्वबोधकश्रुतियों में इष्ट ही है, क्योंकि तत्त्वावेदकत्वरूपप्रामाण्य शुद्ध ब्रह्मबोधक महावाक्यों में ही होता है। किन्तु अद्वैत मत में सभी वेदान्त वाक्यों का क्वचित् साक्षात् क्वचित्

सर्वश्रुतीनामपि समम्। प्रातिभासिकव्यावृत्तस्य व्यावहारिकस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वादिरूपस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, आसांव्यावहारिकप्रामाण्यमव्याहतमेव। ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादिश्रुत्यनुरोधेनापि ''तत्सत्यम्'' इत्यादिश्रुतिर्न ब्रह्मणि व्यावहारिकसत्वपरा, ब्रह्मणो व्यवहारातीतत्वात्, तस्यापरमार्थत्वे च निरधिष्ठानतया शून्यवादापत्तेः, किञ्चित्तत्त्वमगृहीत्वा च बाधानुपपत्तेः। अत एव सत्यत्वश्रुतिविरोधेन मिथ्यात्वश्रुतिरेवान्यपरेत्यपि न, षड्विध तात्पर्यलिङ्गोपेतत्वेन मिथ्यात्वश्रुतेरनन्यपरतया प्रबलत्वात्। वैदिकतात्पर्यविषयस्य च तात्त्विकत्वनियमेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

परम्परया परम तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म में माना जाता है। अतः सत्त्वबोधकश्रुतियों में भी तत्त्वावेदकत्वरूप प्रामाण्य रहेगा। इसलिए अप्रामाण्य की प्रसक्ति नहीं होगी। सत्त्वबोधकश्रुतियों के अवान्तर तात्पर्य में व्यावहारिक प्रामाण्य विद्यमान है, क्योंकि व्यावहारिक प्रामाण्य का लक्षण है– ''प्रातिभासिकभिन्नत्वे सति तद्वति तत्प्रकारकत्वम्''। अर्थात् प्रातिभासिकभिन्नत्वे सति व्यावहारिकसत्यत्ववति जगति व्यावहारिकसत्यत्वप्रकारकज्ञानत्वम्''। इस प्रकार के प्रामाण्य का निराकरण सत्त्वबोधकश्रुतिवाक्यों में नहीं किया जा सकता है। अतः सत्त्वबोधक श्रुतियों का व्यावहारिक प्रामाण्य अव्याहत ही है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जैसे ''नेह नानास्ति........'' इस श्रुति के द्वारा विश्व का निषेध कर दिये जाने से ''विश्वं सत्यम्'' यह वाक्य विश्वनिष्ठ पारमार्थिकसत्त्व का बोधक नहीं हो सकता है, अपितु विश्वनिष्ठ व्यावहारिकसत्त्व का बोधक होता है, ठीक इसी प्रकार ''असद् वा इदमग्र आसीत्'' इस निषेधवाक्य के द्वारा सत् (ब्रह्म) का निषेध कर दिये जाने से ''तत्सत्यम्'' यह वाक्य ब्रह्म में पारमार्थिकसत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता अपितु ब्रह्म में व्यावहारिकसत्त्व का ही प्रतिपादन करता है– ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार का कथन अनुचित है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म किसी भी शब्दात्मक, ज्ञानात्मक, क्रियात्मक आदि व्यवहार का विषय ही नहीं होता है। अतः ''तत्सत्यम्'' यह वाक्य ब्रह्म में व्यावहारिक सत्त्व का प्रतिपादन नहीं कर सकता है। यदि पूर्वपक्षी के कथनानुसार ''तत्सत्यम्'' इस वाक्य के द्वारा ब्रह्म में व्यावहारिकसत्त्व का बोधन स्वीकार किया जाय तो ब्रह्म को अपारमार्थिक मानना पड़ेगा। ऐसी अवस्था में ''नेह नाना.........'' इस श्रुति के द्वारा जैसे प्रपञ्च का बाध होतां है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्म का भी बाध हो जाने से शून्यवाद की आपत्ति होगी, जो कि उभयमत में इष्ट नहीं है। इस पर यदि शून्यवादी कहता है कि उसे इष्ट है– उस पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि किसी तात्त्विक अधिष्ठान को स्वीकार किये बिना आरोपित पदार्थ का बाध नहीं होता है। यह रज्जूसर्पादि स्थल पर स्पष्ट देखा गया है। मूलस्थ चकार से यह कहा गया है कि परमार्थसत्यशुद्धब्रह्मरूपसाक्षी के बाध की अनुपपत्ति के कारण शून्यवाद की आपत्ति नहीं होगी। अतः बाध्य से अधिकसत्ता वाला बाधक (साक्षिज्ञान) का बाध सम्भव न होने से शून्यवाद की आपत्ति नहीं होगी, यदि बाध्य से अन्यूनसत्तावाले को बाधक माना जाय तो भी साक्षी के बाध की अनुपपत्ति के कारण शून्यवाद की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि साक्षी का भी बाध मानने पर बाध की सिद्धि ही नहीं होगी, क्योंकि असाक्षिकबाध सिद्ध ही नहीं होता है। मूलस्थ ''अतएव'' का अर्थ है–परमार्थसत्यशुद्धब्रह्म का प्रतिपादक ''तत्सत्यम्'' इत्यादिश्रुति और मिथ्यात्वबोधक ''नेह नानास्ति......'' इत्यादिश्रुति ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि सत्त्वबोधक श्रुतियों के विरोध के कारण अन्यपरक नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि शून्यवाद की आपत्ति होगी इसलिए ही, पूर्वपक्षी का यह कथन कि सत्त्वश्रुति

तात्पर्यज्ञापकानामपि लिङ्गानामर्थतथात्वे एव पर्यवसानात्। सत्त्वश्रुतिवाक्यस्थपदानाञ्चान्यपरत्वान्न सत्त्वे तात्पर्यलिङ्गाशङ्का॥ २७॥

ननु यदि सत्त्वश्रुतिः प्रत्यक्षप्राप्तार्थत्वान्न स्वार्थपरा, तर्हि मिथ्यात्वश्रुतिरपि तद्विरुद्धार्थत्वात् स्वार्थपरा न स्यात्तत्प्राप्तितद्विरोधयोस्तात्पर्याभावहेत्वोरुभयत्रापि समत्वादिति चेन्न, प्रत्यक्षापेक्षया चन्द्राधिकपरिमाणबोधकागमस्येव मिथ्यात्वबोधकागमस्यापि बलवत्वेन प्रत्यक्षप्राप्तानुवादिसत्त्व–

सत्यानन्दप्रबोधिका

के साथ विरोध होने से मिथ्यात्वश्रुति को अन्यपरक मानना चाहिए– खण्डित हो जाता है, क्योंकि ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि मिथ्यात्व बोधक श्रुतियां षड्विधितात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों से युक्त होने के कारण अनन्यपरक है। अर्थात् स्वार्थ में तात्पर्य रखने वाली होती हैं। अतः अन्यपरक (स्तुतिपरक) सत्त्वश्रुति की अपेक्षा अद्वैतश्रुति प्रबल है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अद्वैतश्रुति के प्रबल होने पर भी कर्मवाक्यों के जैसे उसमें व्यावहारिक प्रामाण्य रहेगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वैदिक वाक्यों का जिस विषय में तात्पर्य होता है वह विषय सत्य होता है। अतः वैदिक तात्पर्य विषयक प्रमाण में व्यावहारिकत्व नहीं है अपितु तात्त्विकत्व का नियम निश्चित है। इसलिए तात्पर्यग्राहक लिङ्गों से युक्त श्रौत अर्थ में यथार्थत्व है। अर्थात् जिस अर्थ में षड्लिङ्ग पाया जायेगा वह अर्थ यथार्थ ही होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि सत्त्वश्रुति में भी उपपत्ति आदि तात्पर्यग्राहक लिङ्ग होने से इस श्रुति के द्वारा विश्व के सत्त्व की सिद्धि होगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुति के घटक ''आपश्च न प्रमिणन्ति'' इत्यादि पदों का तात्पर्य इन्द्र की स्तुति में ही है, विश्व सत्यत्व में नहीं, क्योंकि सत्त्वश्रुति मानान्तर से प्राप्त अर्थ का अनुवादक है और उसका विश्वमिथ्यात्व साधक मानान्तरों के साथ विरोध है। अतः विश्व के सत्यत्व में तात्पर्य के लिङ्गों की आशङ्का नहीं की जा सकती है॥ २७॥

अर्थवाद तीन प्रकार का होता है। प्रथम–गुणवाद– जहां प्रमाणान्तर से विरोध होता है, उस अर्थवाद को गुणवाद कहते हैं। जैसे ''आदित्यो यूपः''। इस वाक्य का प्रमाणान्तर से विरोध होने के कारण स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है। द्वितीय अनुवाद–प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद को अनुवाद कहते हैं। जैसे ''अग्निर्हिमस्य भेषजम्''। इस वाक्य का भी स्वार्थ में तात्पर्य नहीं होता है, क्योंकि यह वाक्य भी प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थ का बोधक है। तृतीय भूतार्थवाद–प्रमाणान्तर से होने वाले बाध और बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद को भूतार्थवाद कहते हैं। ऐसे ''वज्रहस्तः पुरन्दरः'' वाक्य से देवताओं के विग्रह आदि की सिद्धि होती है। पूर्वपक्षी अर्थवाद के प्रथम और द्वितीय प्रकार को ध्यान में रखकर शङ्का कर रहा है कि यदि प्रत्यक्षरूप प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थ का बोधक होने के कारण ''विश्वं सत्यम्'' इस श्रुतिवाक्य का स्वार्थ में तात्पर्य सिद्धान्ती नहीं मानते हैं तो ''विश्वं सत्यम्'' इस प्रमाणान्तर से विरोध होने के कारण मिथ्यात्वश्रुति का भी स्वार्थ में तात्पर्य सिद्धान्ती नहीं मान सकते हैं, क्योंकि अर्थवाद के प्रथम और द्वितीय प्रकारों में देखा गया है कि जैसे प्रमाणान्तर से प्राप्ति, स्वार्थ में तात्पर्य के अभाव के प्रति हेतु बनती है। ठीक उसी प्रकार प्रमाणान्तर से विरोध भी स्वार्थ में तात्पर्य के अभाव के प्रति हेतु बनता है। अतः सत्त्वश्रुति और मिथ्यात्वश्रुति दोनों में ही तात्पर्याभाव का हेतु समानरूप से है। इसलिए यदि सिद्धान्ती मिथ्यात्वश्रुति

श्रुत्यपेक्षयापि बलवत्त्वात् (प्राप्तार्थाप्राप्तार्थयोर्विरोधे प्राप्तार्थस्याप्राप्तविध्यर्थत्वेनान्यशेषत्वनियमाद–प्राप्तार्थस्यैवानन्यशेषत्वेन बलवत्त्वात्) अन्यथा उभयोरप्यप्रामाण्यापत्तेः। तदुक्तं संक्षेपशरीरके– ''अतत्परा तत्परवेदवाक्यैर्विरुध्यमाना गुणवाद एव'' इति। अत एवानन्यशेषमिथ्यात्वश्रुति–विरोधान्न प्रत्यक्षागृहीतत्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्वपरा जगत्सत्यत्वश्रुतिरित्युक्तम्। अद्वैतश्रुतेश्च प्राबल्ये निरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिकमेव प्रयोजकम, न निषेधवाक्यत्वम्।। २८।।

एतेन निषेधवाक्यत्वेन प्राबल्ये किति तद्धिते वृद्धिविधायकात् ''किति च'' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

का स्वार्थ में तात्पर्य मानते हैं तो सत्त्वश्रुति का भी स्वार्थ में तात्पर्य मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे प्रत्यक्ष से प्राप्त चन्द्रमा का परिमाण अल्प है। उस अल्पपरिमाणग्राहक प्रत्यक्ष की अपेक्षा से चन्द्रमा का अधिक परिमाणग्राहक आगम मानान्तराप्राप्तार्थबोधकत्वेन बलवान होता है। ठीक इसी प्रकार मानान्तराप्राप्तार्थ बोधकत्वेन मिथ्यात्व बोधक आगम भी प्रत्यक्षावगत प्रपञ्च सत्त्वानुवादक विश्वसत्यत्वबोधक श्रुति की अपेक्षा से बलवान है। चन्द्रमा का अधिक परिमाणग्राहक आगम है– ''यददस्तरणेर्मण्डलं प्रतपतस्तद् विस्तरतो योजनायुतमाचक्षते द्वादशसहस्रं सोमस्य..... (श्रीमद्भा. महापु. ५–२४–२) श्रुति इतर प्रमाणों से प्राप्त अर्थ का बोधक श्रुति और श्रुति इतर प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ का बोधक श्रुति, इन दोनों में विरोध होने पर श्रुति इतर प्रमाणों से प्राप्त अर्थ का बोधकश्रुति, श्रुति इतर प्रमाणों से अप्राप्त अर्थ का बोधक श्रुति के प्रयोजन के लिए होने के कारण प्राप्तार्थबोधक श्रुति अन्यशेष एवं दुर्बल होती है और अप्राप्तार्थबोधकश्रुति अनन्यशेष एवं प्रबल होती है। अतः प्रबल श्रुति के अनुरोध पर निर्बल श्रुति में ही स्वार्थपरता का अभाव माना जाता है। पूर्वोक्त व्यवस्था को न स्वीकार करने पर प्राप्तार्थ बोधक श्रुति और अप्राप्तार्थबोधकश्रुति में विरोध होने पर दोनों में अप्रामाण्य की आपत्ति होगी। इस रहस्य को संक्षेप शारीरिककार श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने इन शब्दों में कहा है–

भेदश्रुतिस्त्वन्यपरा समस्ता समस्तवेदेषु न तत्पराऽसौ।
अतत्परा तत्परवेदवाक्यैः विरुध्यमाना गुणवाद एव।।

अन्वय–समस्तवेदेषु समस्ता भेदश्रुतिः तु अन्यपरा, असौ तत्परा न, अतत्परा तत्परवेदवाक्यैः विरुध्यमाना गुणवाद एव।

अर्थात् सम्पूर्ण वेदों में सभी भेद बोधक वाक्य स्तुति आदि अन्य अर्थ के बोधक हैं, वे स्वार्थपरक नहीं है। अतः ऐसे अतत्परक वाक्य स्वार्थबोधक अद्वैत वाक्यों से विरुद्ध होने के कारण गुणवाद (अर्थवाद) ही माने जाते हैं। इसलिए स्वार्थपरक एवं अनन्यशेष मिथ्यात्वश्रुति से विरोध होने के कारण प्रत्यक्ष से अगृहीत त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्यत्व का बोधक विश्व सत्यत्वश्रुति नहीं हो सकती है। ऐसी व्याख्या पूर्व में की गयी है और अद्वैतबोधक श्रुतियों की प्रबलता का कारण निरवकाशत्व और स्वार्थपरत्वादि ही है, निषेध वाक्यत्व नहीं। अर्थात् सिद्धान्ती की व्याप्ति है– ''यत्र यत्र निरवकाशत्वतात्पर्यवत्त्वादिकं तत्र तत्र प्राबल्यम्''। जबकि पूर्वपक्षी को भ्रम था कि सिद्धान्ती ऐसी व्याप्ति मान रहे हैं– ''यत्र यत्र निषेधवाक्यत्वं तत्र तत्र प्राबल्यम्''। अतः पूर्वपक्षी ने निषेधवाक्यत्व को प्राबल्य का प्रयोजक मान कर जो दोष दिया है वह खण्डित हो गया।। २८।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि निषेधवाक्यत्व को प्राबल्य का प्रयोजक मानने पर कित् तद्धित निमित्तक वृद्धि विधायक ''किति च'' (अष्टा० ७–२–११८) इस सूत्र की अपेक्षा

सूत्रात् सामान्यतो गुणवृद्धिनिषेधकं ''क्ङिति च'' इति सूत्रं बलवत् स्यात्। अग्नीषोमीयवाक्याद–हिंसावाक्यम्, षोडशि(ना)ग्रहणवाक्यादग्रहणवाक्यम्, ''सत्यं ज्ञानम्'' इत्यादिवाक्यात् ''असद्वा इदमग्र आसीत्'' इत्यादिवाक्यं च बलवत्स्यादित्यपास्तम्। सामान्यविशेषभावादिना सावकाशत्व निरवकाशत्वादिरूपबलवैपरीत्यात् ''विश्वं सत्यम् इत्यादेस्तु व्यावहारिकसत्वविषयतया अन्यशेषतया च सावकाशत्वादेः प्रागुक्तत्वात्। तस्मान्न सत्त्वश्रुतिविरोधः। नापि–

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।
एतां बुद्धिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सामान्यतः गुण और वृद्धि का निषेधक ''क्ङितिच'' (अष्टा० १–१–५) यह सूत्र बलवान होना चाहिए एवं ''अग्निषोमीयमालभेत'' इस अग्निषोमीय वाक्य की अपेक्षा से ''न हिंस्यात् सर्वाभूतानि'' यह हिंसानिषेधक वाक्य बलवान हो जाना चाहिए। इसी प्रकार षोडशिग्रहणवाक्य की अपेक्षा से अग्रहणवाक्य और ''सत्यं ज्ञानम्'' इस वाक्य की अपेक्षा से ''असद् वा इदमग्र आसीत्'' इस वाक्य को प्रबल मानना चाहिए। यहां पर पूर्वपक्षी का भाव यह है कि पूर्वोक्त सभी स्थलों पर निषेधवाक्यत्व है किन्तु प्रबलत्व नहीं है। अतः व्यभिचारदोष है। सिद्धान्ती का कथन है कि उक्त व्याप्ति को हम मानते ही नहीं है। अतः पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त आरोप खण्डित हो गया। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी ने सामान्यविशेषन्याय का अवलम्बन करके दोषों का उद्भावन किया था। उसी आधार पर यहां पर भी कह रहा है कि गुणवृद्धि निषेधक सूत्र सामान्यशास्त्र है और वृद्धि विधायक सूत्र विशेषशास्त्र है। अतः विशेषशास्त्र सामान्यशास्त्र का बाध करता है। किन्तु यह सङ्गत नहीं है, क्योंकि ''क्ङितिच'' इस निषेध सूत्र के द्वारा इक् लक्षण गुण और वृद्धि का निषेध किया गया है और ''कितिच'' इस सूत्र से विहित वृद्धि इक् लक्षण वाली नहीं है। अर्थात् इक् पद का उच्चारण करके वृद्धि का विधान नहीं किया गया है, किन्तु आदि अच् के वृद्धि का विधान किया गया है। अतः दोनों सूत्रों का भिन्न विषय होने के कारण यहां पर सामान्य विशेष न्याय का कथन करना अपनी मन्दबुद्धिता को दर्शाना मात्र है। सामान्यविशेषभावरूप से विद्यमान शास्त्रों में सामान्यरूपसावकाशशास्त्रों को अवकाश मिल जाने से अथवा अन्य का शेष हो जाने से उनका बल निवृत्त हो जाता है और निरवकाशरूप विशेषशास्त्रों के निरवकाश होने के कारण अथवा अनन्यशेष होने के कारण उनका बल बना रहता है। इसलिए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा कि सावकाशत्वादि बलवैपरीत्यरूप है और निरवकाशत्व बल रूप है। ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि श्रुतियों में सावकाशत्व हैं क्योंकि उक्त श्रुतियां व्यावहारिक सत्त्व के बोधन में सावकाश है और अन्य (निषेध श्रुति) का शेष है। यह पहले कहा जा चुका है। अतः प्रपञ्चमिथ्यात्व साधक अनुमान और श्रुति के साथ सत्त्वश्रुति का विरोध नहीं है क्योंकि मिथ्यात्वबोधक अनुमान और श्रुति प्रपञ्च के व्यावहारिक सत्त्व का बाध नहीं करते हैं, अपितु पारमार्थिक सत्त्व का। पूर्वपक्षी के द्वारा जगत्सत्यत्व प्रतिपादक स्मृतिवचन से विरोध दिखाकर मिथ्यात्वसाधक दृश्यत्वादि हेतुओं में जो बाध ा की शङ्का की गई थी उसका निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने श्रीमद्भगवद् गीता के षोडशाध्याय के अष्टम नवम श्लोकों के पूर्वार्द्धद्वय को उद्घृत कर जो विरोध दिखाया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्त्वावच्छिन्न–प्रतियोगिताकभेद को स्वीकार करने वाले मुझ सिद्धान्ती के मत में प्रपञ्च को असद्विलक्षण भी माना जाता

इत्यादिस्मृतिविरोधः, सद्विविक्तत्ववादिनो मम जगत्यसद्वैलक्षण्याङ्गीकारेण तत्प्रतिपादकस्मृति–विरोधाभावात् ॥ २९॥

ननु ''नाभाव उपलब्धेः'', ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' इति सूत्रद्वयेन जगतः पारमार्थिकसत्त्वबोधनेन विरोधः। न चानेन शून्यवादिनिरासार्थेनासद्वैलक्षण्यमात्रप्रतिपादनान्न विरोधः, अर्थक्रियाकारित्वलक्षणस्यासद्वैलक्षण्यस्य शून्यवादिमतेऽपि सत्त्वेन तन्मतनिरासार्थत्वानुपपत्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य के प्रतिपादक स्मृति से विरोध नहीं है। वस्तुतः उक्त स्मृति में यह कहा गया है कि जो माध्यमिक कहता है कि जगत् ईश्वरोपादान से रहित है, इसलिए सत्योपादानक नहीं है। अतः बाधावधिरूपसत्याधिष्ठान से शून्य है। माध्यमिक के इस कथन की निन्दा करते हुए उक्त स्मृति में कहा गया है कि जगत् सत्योपादनक है और सत्यज्ञान से बाध्य है। अतः उक्त स्मृति से विरोधोद्‌भावन अकाण्डताण्डव मात्र है॥ २९॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि ''नाभाव उपलब्धेः'' (ब्र० सू० २–२–२८) (प्रपञ्च का अभाव हो नहीं सकता, क्योंकि प्रपञ्च की उपलब्धि हो रही है) और ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' (ब्र० सू० २–२–२९) (जाग्रत् प्रपञ्च स्वप्न के समान हो नहीं सकता, क्योंकि स्वाप्निक पदार्थों से जाग्रत्पदार्थों में भिन्नता है।) इस सूत्रद्वय के द्वारा प्रपञ्च में पारमार्थिकत्व का बोधन होने से प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का इन सूत्रों में विरोध होगा अर्थात् प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान का उक्त सूत्रों के द्वारा बाध हो जायेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त सूत्रद्वय शून्यवाद का निरास रूप प्रयोजन वाला है। अतः उक्त सूत्रद्वय के द्वारा असद्वैलक्षण्यमात्र का प्रतिपादन होने से अस्मदीय अनुमान के साथ विरोध नहीं है, क्योंकि हम जगत् को मिथ्या मानने पर भी असत् से विलक्षण भी मानते हैं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि शून्यवादी के मत में भी जगत् में अर्थक्रियाकारित्वलक्षण वाला असद्वैलक्षण्य माना जाता है। अतः असद्वैलक्षण्य का प्रतिपादन करने वाले उक्त सूत्र के द्वारा शून्यवाद का निरास किया गया है ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि असद्वैलक्षण्य का लक्षण अर्थक्रियाकारित्व नहीं है अपितु निषेधाप्रतियोगित्व है। शून्यवादी जगत् में निषेधाप्रतियोगित्व नहीं मानता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जगत् में निषेधाप्रतियोगित्वरूपसत्त्व सिद्धान्ती भी नहीं मानते हैं अपितु जगत् का ''नेह नाना'' इत्यादि श्रुति के द्वारा निषेध मानते हैं। यदि उक्त सूत्रद्वय के द्वारा प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्यमात्र सिद्ध किया गया है– ऐसा माना जाय तो प्रपञ्च में स्वप्न के वैधर्म्य (वैलक्षण्य) का प्रतिपादन असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि असत् से वैलक्षण्य मात्र तो स्वप्न में भी है। अर्थात् यदि सूत्रकार के द्वारा जगत् को असद् से भिन्न कहा गया है–ऐसा माना जाय तब तो जाग्रत प्रपञ्च और स्वाप्नप्रपञ्च में असद् भिन्नता को लेकर साधर्म्य आ जाने से वैधर्म्य का कथन सूत्रकार के द्वारा अनुचित हो जायेगा। इसलिए उक्त सूत्रद्वय के द्वारा जगत् में असद्विलक्षणता मात्र का कथन किया गया है, ऐसा नहीं माना जा सकता है। अपितु जाग्रत जगत् पारमार्थिकसत्य है यह कहा गया है–यही मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर स्वप्न वैलक्षण्य का कथन सार्थक होगा। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती जैसे व्यावहारिक सत्यत्व को मानकर जगत् में स्वप्नभिन्नता मानते हैं वैसे ही शून्यवादी जगत् में असद्

निषेधाप्रतियोगित्वरूपस्यासद्वैलक्षण्यस्य त्वयाप्यनङ्गीकारात्। असद्वैलक्षण्यमात्रस्य साधने सूत्रे स्वप्नवैलक्षण्योक्त्ययोगाच्च। व्यावहारिकसत्यत्वमात्रेण स्वप्नवैलक्षण्यस्य त्वयाप्यङ्गीकारात्, असद्वैलक्षण्यमात्रस्य तन्मतेऽपि सत्त्वाच्च। तदुक्तं बौद्धैः ''द्वे सत्त्वे समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना'' इति चेन्न, सूत्रार्थानवबोधात्, तथा हि सद्रूपाद् ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदतः समन्वयस्य सर्वमसदित्यनुमानेन विरोधसन्देहे ''न सन्नासन्नसदसन्न चानुभयतत्त्वकम्। विमतं तर्कपीड्यत्वा—न्मरीचिषु यथोदकम्।'' इति ब्रह्मसाधारण्यान्निस्तत्त्वतायां प्राप्तायां सूत्रेण परिहारः। सतो ब्रह्मणो नाभावः = न शून्यत्वम्। उपलब्धेः = सत्त्वेन प्रमाणात् प्रतीतेः। तथा च किञ्चित् परमार्थसदवश्यं

सत्यानन्दप्रबोधिका

वैलक्षण्य—सांवृतिकसत्त्व (व्यावहारिक सत्यता) मानकर स्वप्नभिन्नता मानता है। अतः उक्त सूत्रद्वय से शून्यवादी मात्र का ही निराश नहीं किया गया है अपितु शून्यवादी और अद्वैतवेदान्ती दोनों के ही मतों का निराश किया गया है। जगत् के सांवृतिक सत्ता के विषय में बौद्धों ने स्पष्ट कहा है—

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना। लोके संवृतिसत्यं सत्यं च परमार्थः।।
सत्त्वं तु द्विविधं प्रोक्तं सांवृतं पारमार्थिकम्। सावृतं व्यावहार्यं स्यान्निवृतौ पारमार्थिकम्।।

अर्थात् दो सत्यों का आश्रय कर के बुद्ध ने धर्मोपदेश किया है। एक सांवृतिक सत्त्व और दूसरा पारमार्थिक सत्त्व। उसमें से व्यवहार का विषयीभूतसत्त्व सांवृतिक सत्त्व कहा जाता है। इसे ही आविद्यकसत्त्व भी कहते हैं। इसके निवृत्त होने पर पारमार्थिकसत्त्व रहता है। इसलिए मिथ्यात्व साधकदृश्यत्वादि हेतुओं का श्रुत्यादि के द्वारा बाध अवश्यंभावी है। इस प्रकार के पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी सूत्र के अर्थ को ही नहीं समझ पाया है। सूत्र का क्या अर्थ है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ब्रह्मसूत्र के इस अभावाधिकरण में दो वर्णक है। प्रथम वर्णक में विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है और द्वितीय वर्णक में शून्यवाद का निराकरण किया गया है। सिद्धान्ती सर्वप्रथम कल्पतरुकार श्रीमत्स्वामी अमलानन्द सरस्वती के द्वारा रचित शास्त्रदर्पण के द्वितीयवर्णक वाक्यों के अनुसार सूत्र का अर्थ कर रहे हैं। प्रथम समन्वयाध्याय में जो सद्रूपब्रह्म से जगत्सृष्टि का उपपादन किया गया है। वह ''सर्वमसत्, तर्कपीड्यत्वात्'' इस अनुमान से विरुद्ध है, अथवा नहीं। ऐसा सन्देह होता है, क्योंकि पूर्वपक्षी शून्यवादी इस अनुमान के द्वारा ब्रह्म को भी असत् सिद्ध करता है जबकि समन्वयसूत्र में ब्रह्म को सद्रूप माना गया है। इस पर पूर्वपक्ष की तरफ से कहा गया कि विरुद्ध है, क्योंकि ''विमतं, न सन्नासन्नसदसन् न चानुभयतत्त्वकम्, तर्कपीड्यत्वात्, मरुमरीचिकाजलवत्। ''विमतम्'' का अर्थ है ''सर्वम्''। अर्थात् ब्रह्म और व्यावहारिक प्रपञ्च को सत्, असत्, सदसत् एवं अनुभय रूप से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सभी पक्ष तर्क से बाधित हैं, जैसे मरूमरीचिका में जल। यहां पर माध्यमिक का कहना है कि उक्त पदार्थों को सत् नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनका बाध हो जाता है। असत् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनका काल से सम्बन्ध है। सदसद् नहीं कहा जा सकता, क्योंकि विरोध है एवं अनुभयरूप भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परस्पर विरोध होने से जैसे सत् और असत् दोनों मानना सम्भव नहीं, वैसे ही परस्पर विरोध होने से सद्भिन्न और असद्भिन्न दोनों मानना सम्भव नहीं हो सकता है। अतः ब्रह्म आदि सभी पदार्थ निस्तत्त्व है ऐसा उक्त अनुमान से सिद्ध किये जाने पर उसका परिहार ''नाभाव उपलब्धेः'' इस सूत्र के द्वारा

शून्यवादिनापि स्वीकार्यम्, अन्यथा बाधस्य निरवधिकत्वप्रसङ्गादिति सूत्रार्थः। स च न प्रपञ्चमिथ्यात्वविरोधी। तथा चोक्तम्—

''बाधितोऽपह्नवो मानैः व्यावहारिकमानता।
मानानां तात्त्विकं किञ्चिद्वस्तु नाश्रित्य दुर्भणा।।'' इति।। ३०।।

नापि स्वप्नवैधर्म्योक्त्ययोगः, तस्याः ''विमतं निस्तत्वं तर्कपीड्यत्वात्, मरुमरीचिकाजलवत्'' इत्यनुमाने बाध्यत्वप्रमाणागम्यत्वदोषजन्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनपरत्वात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

किया गया। ''ब्रह्म न बाध्यं सर्वबाधसाक्षित्वेन बाधायोग्यत्वात्'' इस अनुमान प्रमाण को लक्ष्य कर के सूत्र का अर्थ कर रहे हैं कि सद्रूप ब्रह्म का अभाव (शून्यत्व) नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि प्रमाणों के आधार पर ब्रह्म की प्रतीति होती है। यहां पर प्रमाण शब्द से यह अनुमान प्रमाण विवक्षित है— ''बाधः परमार्थसदधिष्ठानकम्, सावधिकत्त्वात्, रजतबाधवत्।'' अतः शून्यवादी को भी कोई एक तत्त्व अवश्य ही परमार्थसत् स्वीकार करना पड़ेगा। किसी को भी परमार्थसत् न मानने पर बाध को निरवधिक मानना पड़ेगा। अर्थात् बाध में बाध्य से अधिकसत्ताक वस्तुविषयकत्व सर्वानुभवसिद्ध है, उसका परित्याग हो जायेगा— यह सूत्र का अर्थ है। इस प्रकार का सूत्रार्थ मिथ्यात्व अनुमान का विराधी नहीं है। अर्थात् शून्यवाद के निराकरण से प्रपञ्च मिथ्यात्ववाद का निरास नहीं होता है। यह भाव है। इसी रहस्य को शास्त्रदर्पणकार ने कहा है प्रमाण के द्वारा किसी वस्तु का बाध करना अथवा प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु को स्वीकार करना अथवा प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु के व्यावहारिक सत्यता का साधन करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक किसी तात्त्विक अधिष्ठानरूप वस्तु को स्वीकार न कर लिया जाय। इस प्रकार आचार्यप्रवर ने यह दिखाया कि ''नाभाव उपलब्धेः'' इस से पूर्वपक्षी ने जो यह समझा था कि इस सूत्र के द्वारा प्रपञ्च के अभाव का निराकरण किया गया है वैसा नहीं है किन्तु ब्रह्म के अभाव का निराकरण इस सूत्र के द्वारा किया गया है।। ३०।।

यह जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी सिद्धान्ती के मत से ''वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'' इस सूत्र का सामञ्जस्य नहीं हो पायेगा। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जाग्रत् प्रपञ्च में स्वप्नवैधर्म्य का कथन भी असङ्गत नहीं है, क्योंकि उस सूत्र का कथन उपाधि के प्रदर्शनार्थ है। जैसे माध्यमिक के द्वारा प्रदर्शित ''विमतं निस्तत्त्वम्, तर्क पीड्यत्वात्, मरुमरीचिकाजलवत्'' इस अनुमान में बाध्यत्व, प्रमाणागम्यत्व, दोषजन्यत्व उपाधियों का प्रदर्शन किया गया है, क्योंकि इन सभी उपाधियों के दृष्टान्त में होने से साध्य व्यापकत्व है और पक्ष में न होने से साधनाव्यापकत्व है। यद्यपि व्यावहारिक प्रपञ्च और ब्रह्म दोनों ही पक्ष है, तथापि ब्रह्म में तो उपाधियों का अभाव सरलतापूर्वक जा रहा है किन्तु व्यावहारिक प्रपञ्च में उपाध्यभाव को ले जाने के लिए बाध्यत्व शब्द से ब्रह्मज्ञानेतरबाध्यत्व लेना, प्रमाणागम्यत्व शब्द से व्यावहारिकप्रमाणागम्यत्व लेना और दोषजन्यत्व शब्द से अविद्येतरदोषजन्यत्व लेना चाहिए। अतः इन उपाधियों के अभाव से पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि हो जायेगी। इसलिए इस सूत्र का सिद्धान्त मत से सामञ्जस्य ही है। भगवान् भाष्यकार, भामतीकार, कल्पतरुकार आदि आचार्यों ने इस अधिकरण की व्याख्या विज्ञानवाद—निराकरण परक एवं शून्यवाद निराकरण परक की है। अतः उक्त दोनों सूत्रों का विज्ञानवाद के निराकरण में तात्पर्य यदि माना जाता है तो भी कोई असङ्गति

विज्ञानवादनिराकरणपरेणापि नानेन सूत्रेण विरोधः। रूपादिरहितब्रह्मजगदुपादानत्वप्रतिपादक–समन्वयस्य नीलाद्याकारं विज्ञानं साधयता अनुमानेन विरोधसन्देहे–

''स्वप्नधीसाम्यतो बुद्धेर्बुद्ध्याऽर्थस्य सहेक्षणात्।
तद्भेदेनानिरूप्यत्वात् ज्ञानाकारोऽर्थ इष्यताम्।।

विमता धीः, न ज्ञानव्यतिरिक्तालम्बना, धीत्वात्, स्वप्नधीवत्। विपक्षे च ज्ञानाभानेऽप्यर्थभानप्रसङ्गो बाधकः। न हि भिन्नयोरश्वमहिषयोः सहोपलम्भनियमोऽस्ति। तस्मान्न ज्ञानातिरिक्तं सदिति प्राप्ते परिहारसूत्रं–'नाभाव उपलब्धेः' इत्यादि।। ३१।।

बाधेन सोपाधिकतानुमाने, उपायभावेन सहोपलम्भः।
सारूप्यतो बुद्धितदर्थभेदः स्थूलार्थभङ्गे भवतोऽपि तुल्यः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होगी, क्योंकि रूपादि रहित जो ब्रह्म उस ब्रह्म का जगदुपादनकत्व प्रतिपादक जो समन्वयाध्याय है, उसके साथ नीलाद्याकार (विषयाकार) विज्ञान को सिद्ध करने वाले अनुमान के साथ विरोध का संदेह होने पर पूर्वपक्ष (विज्ञानवाद) की तरफ से जो कहा गया है उसे इस कारिका में संग्रह कर के कह रहे हैं कि जाग्रत् पदार्थों की बुद्धि का स्वप्नधी के साथ साम्य होने से अर्थ का बुद्धि के साथ ईक्षण (उपलम्भ) होने से, बुद्धि भिन्नत्वेन अर्थ का निरूपण न होने से अर्थ को ज्ञानाकार मानना चाहिए। यहां पर पूर्वपक्षी विज्ञानवादी का आशय इस अनुमान से है–जाग्रदर्थः ज्ञानाकारः, स्वाप्नप्रपञ्चतुल्यत्वात्, बुद्ध्या सहोपलम्भत्वात्, ज्ञानभिन्नत्वेनानिरूप्यत्वात्, स्वाप्निकार्थवत्। उक्त कारिका के भावों को स्वयं स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि घटपटादि विषयधी ज्ञानव्यतिरिक्त विषयिका नहीं है अर्थात् ज्ञान से अतिरिक्त किसी पदार्थ को विषय नहीं करती है, घी होने से, जैसे स्वप्न घी। पूर्वपक्षी का कथन है कि यह अनुमान व्यभिचार शङ्का निवर्तक तर्क से शून्य नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञान का आकार घटादि नहीं है तब ज्ञान का भान न होने पर भी घटादि का भान होना चाहिए। इस प्रकार का विपक्ष बाधक तर्क है। इसको ही स्पष्ट करे हुए पूर्वपक्षी व्यतिरेक दृष्टान्त के द्वारा कह रहा है कि परस्पर भेद विशिष्ट जो अश्व तथा महिष उनका सहोपलम्भ नहीं होता है और अर्थ तथा बुद्धि का सहोपलम्भ का नियम है। इसलिए ज्ञान से अतिरिक्त सत् पदार्थ नहीं है ऐसा प्राप्त होने पर उसका निराकरण करते हुए सूत्रकार ने कहा– ''नाभाव उपलब्धेः''।। ३१।।

सर्वप्रथम उक्त सूत्र के अर्थ को कारिका के माध्यम से शास्त्रदर्पणकार ने स्पष्ट किया है। उक्त कारिका को ही मूल में उल्लेख कर दिया गया है। कारिका का अर्थ–ज्ञान से विषय में भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणों से स्पष्ट प्रतीत होता है, अतः पूर्वपक्षी का अनुमान बाधितार्थक है और पूर्वोक्त जो तीन उपाधियां कही गयी हैं वे भी यहां पूर्वपक्षी के अनुमान में है। ज्ञान के प्रति विषय का उपायत्व होने से ही ज्ञान के साथ विषय का उपालम्भ होता है न कि ज्ञान के साथ विषय का अभेद होने से ज्ञान और विषय का सहोपलम्भ होता है। जैसे प्रभापदार्थ रूपग्रह में हेतु है और रूप ज्ञान का विषय हुआ भी रूप प्रभा नहीं है, ठीक वैसे ही ज्ञान के प्रति घटादि विषय हेतु होने पर भी, घटादि विषय ज्ञान नहीं हो सकता है। अर्थात् घटादि विषय और घटादि का ज्ञान अभिन्न नहीं हो सकते है। विषयोपराग से ही ज्ञान का ग्रह होने से विषय में ज्ञानोपायता कही जाती है। अतः

सूत्रार्थस्तु नाभावः=ज्ञानातिरिक्तस्यार्थस्य नासत्त्वम्, किन्तु व्यवहारदशाऽबाध्यार्थक्रियाकारित्वरूपं सत्त्वमेव। उपलब्धेः=ज्ञानातिरेकेण प्रमाणैरुपलब्धेः। स्वप्नवैधर्म्योक्तिः बाध्यत्वाद्युपाधिप्रदर्शनाय। तेन बाधात् सोपाधिकत्वाच्च पूर्वानुमानं दुष्टमित्यर्थः। तस्मान्नैवमपि विरोधशङ्का। तदुक्तं ''तस्मान्न ज्ञानाकारोऽर्थः किन्तु बाह्यः।'' स चार्थक्रियाकारित्वसत्त्वोपेतोऽप्यद्वैतश्रुतिवशात् ब्रह्मणि कल्पितो न परमार्थसन्निति सिद्धान्तस्य सुगतमताद्भेद इति। उक्तं चात्मतत्त्वविवेके—

न ग्राह्यभेदमवधूय धियोऽस्ति वृत्तिस्तद्बाधने वलिनि वेदनये जयश्रीः।
नोचेदनित्यमिदमीदृशमेव विश्वं तथ्यं तथागतमतस्य तु कोऽवकाशः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

योगाचार के मत में भी विषय और ज्ञान के सारूप्य सिद्धि के लिए बुद्धि और बुद्धि का विषय रूप अर्थ का भेद सौत्रान्तिक मत के जैसे ही मानना आवश्यक है, क्योंकि सौत्रान्तिक मत में परमाणु रूप अर्थ, ज्ञान से अतिरिक्त माना जाता है। अर्थात् जिन युक्तियों से अवयवी का खण्डन किया गया उसी युक्ति से घटादि अवयवी रूप स्थूलार्थ का खण्डन करके परमाणु समूह को ज्ञान से अत्यन्त भिन्न विषयरूप से माना गया है। विषय को ज्ञान से भिन्न न मानने पर ज्ञान में विषय का प्रतिबिम्ब रूप सारूप्य सिद्ध नहीं हो पायेगा। स्थूलार्थ का खण्डन करने वाले योगाचार को भी सौत्रान्तिक की उक्त युक्तियों का अनुकरण करते हुए विषय और ज्ञान का अत्यन्त भेद मानना चाहिए। अन्यथा विषय के साथ ज्ञान का तादात्म्यरूप जो ज्ञान में विषय का सारूप्य योगाचार ने माना है, वह तो सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि ज्ञान और विषय के अभेद मानने पर उनमें तादात्म्य ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। इस पर विशेष विचार लघुचन्द्रिका में किया गया है। शास्त्रदर्पणकार ने उक्त कारिका का व्याख्यान जिस प्रकार से किया है उसी को ही यहां पर प्रदर्शित कर रहे हैं। ''नाभाव उपलब्धेः'' इस सूत्र का अर्थ है— ज्ञान से व्यतिरिक्त घटादि पदार्थों का असत्त्व नहीं है किन्तु व्यवहारकाल में अबाध्य—अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्त्व ही है, क्योंकि प्रमाणों के द्वारा ज्ञानभिन्नत्वेन अर्थ की उपलब्धि होती है। स्वप्न से वैधर्म्य का कथन बाध्यत्व, प्रमाणागम्यत्व, दोषजन्यत्वादि उपाधिओं को दिखलाने के लिए है। अतः बाधदोष होने से एवं सोपाधिक होने से पूर्वपक्षी का अनुमान दुष्ट है। इस प्रकार से सूत्र का अर्थ करने पर उक्त सूत्र के साथ किसी भी प्रकार का विरोध सिद्धान्त मत से नहीं होता है। इसी को ही शास्त्रदर्पणकार ने कहा है— घटादि पदार्थ को ज्ञान का आकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि घटादि पदार्थ ज्ञान से भिन्न है। इसके आगे बौद्धमत से अद्वैतमत में अन्तर बतला रहे हैं कि सिद्धान्तमत में विषय अर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्व (व्यावहारिकसत्त्व) से युक्त होने पर भी अद्वैत श्रुति के बल पर ब्रह्म में कल्पित है न कि परमार्थसत् है। जबकि बौद्ध बाह्य पदार्थ को अलीक मानता है। अतः अद्वैतवेदान्त का बौद्धमत से अन्तर है। इसी को आत्मतत्त्व विवेक में कहा है— ग्राह्य भेद के विना धी का आत्मलाभ नहीं है। अर्थात् जब तक ज्ञान से विषय का भेद नहीं माना जाता तब तक ज्ञानों का विषय के साथ वृत्ति अर्थात् सम्बन्ध ही नहीं हो सकता। अद्वैतश्रुति आदि प्रमाणों के द्वारा घटादि विषय का बाध हो जाने पर बलवत् वेदसिद्धान्त (अद्वैतसिद्धान्त) में जयश्री है। यदि अद्वैतश्रुति आदि के द्वारा घटादि विषय का बाध न भी माना जाय तो भी अर्थात् विषय को सत्य मानने पर यह अचिन्त्य जगत् जैसा प्रतीत हो रहा है वैसा ही रहेगा। किन्तु

इति धर्मिग्राहकमानबाधश्च प्रागेव परिहृत इति शिवम्।। ३२।।

—: इत्यद्वैतसिद्धौ विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधोद्धारः :—

सत्यानन्दप्रबोधिका

इससे बौद्ध मत को लाभ नहीं होगा। अर्थात् नैयायिक को जयश्री मिलेगी। कहने का भाव यह है कि यदि घटादि विषय का बाध होता है यह माना जाय तो जयश्री अद्वैत वेदान्ती को मिलती है और यदि घटादि विषय का बाध न माना जाय तो जयश्री नैयायिक को मिलती है। किसी भी प्रकार से बौद्धों को कोई लाभ होने वाला नहीं है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि मिथ्यात्वानुमान का पक्षीभूत प्रपञ्च यदि अलीक है तो आश्रयासिद्धिदोष होगा। यदि किसी प्रमाण के द्वारा प्रपञ्च सत्य है तो उसी प्रमाण के द्वारा मिथ्यात्वानुमान का बाध हो जायेगा। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि धर्मिग्राहक मान में व्यावहारिक प्रामाण्य उपजीव्य है वह मिथ्यात्व अनुमान के द्वारा बाधित नहीं है। मिथ्यात्वानुमान के द्वारा जो तात्त्विक प्रामाण्य बाधित है। वह उपजीव्य नहीं है। यह पहले कहा जा चुका है। इस प्रकार से प्रस्तुत विषय में जो कुछ पूर्वाचार्यों ने कहा है वह सभी निर्दोष है।। ३२।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां विश्वमिथ्यात्वस्यागमादिबाधोद्धारः

असतः साधकत्वविचारः

ननु—सत्त्वसाधकानां मिथ्यात्वसाधकानुमानेभ्यः प्राबल्यम्, मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वाबोधने सर्वमिथ्यात्वासिद्धिः, तद्बोधने परस्परव्याहतिराश्रयासि—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रपञ्चगतसत्त्व साधक प्रत्यक्ष—अनुमान—आगम आदि प्रमाणों में मिथ्यात्वसाधक अनुमान की अपेक्षा से प्रावल्य है क्योंकि सत्त्वसाधक प्रमाणों में परस्पर व्याहति आदि दोष नहीं है। जब कि मिथ्यात्वसाधक अनुमान परस्पर व्याहति आदि दोषों से युक्त होने के कारण दुर्बल है। अतः दुर्बल मिथ्यात्वानुमान के द्वारा प्रबल सत्त्वसाधक प्रमाणों का बाध नहीं हो सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि मिथ्यात्व साधक अनुमान अपने प्रतिज्ञा—हेतु—उदाहरण आदि से उपस्थापित पक्ष—हेतु—साध्य—व्याप्ति आदि के मिथ्यात्व का बोधन करता है अथवा नहीं ? यदि बोधन नहीं करता है तब सिद्धान्ती को अभिमत प्रपञ्चान्तर्गत सर्व के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि मिथ्यात्व बोधक अनुमान के द्वारा उस अनुमान के पक्षादि में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हुयी है। यदि मिथ्यात्वसाधक अनुमान के द्वारा उस अनुमान के प्रतिज्ञादि से उपस्थापित पक्ष—हेतु—व्याप्ति आदि में मिथ्यात्व का बोधन होता है तब परस्पर व्याहति—बाध—स्वरूपासिद्धि ,आश्रयासिद्धि—व्याप्यत्वासिद्धि आदि दोष होंगे। अर्थात् प्रतिज्ञादि तीन या पञ्च अवयव को मिलाकर व्याप्तिज्ञान रूप अनुमान प्रमाण होता है। प्रतिज्ञादि वाक्य स्वयं शब्दप्रमाण के रूप में पक्षादि के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। मीमासंक मर्यादा के अनुसार ज्ञान मात्र को स्वतः प्रमाण अथवा अबाधित विषयक माना जाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञादि वाक्य अपने शाब्द ज्ञान के माध्यम से पक्षादि में अबाधितत्त्व सिद्ध करते हैं दूसरी बात यह है कि बाधित पक्ष व्याप्त्यादि से अनुमिति प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती है। जैसे कि कल्पित मोदक से किसी की तृप्ति—पुष्टि होती नहीं है। अतः पक्षादि में अबाधितत्व माना जाता है। जब कि मिथ्यात्वानुमान के द्वारा उनमें बाधितत्त्व सिद्ध होता है। अतः व्याहति आदि दोष होगा। जैसे "विमतं मिथ्या" इस प्रतिज्ञा वाक्य से सिद्धान्ती पक्ष में मिथ्यात्व का विधान करते हैं और मिथ्यात्वानुमान से विश्व के मिथ्यात्व को सिद्ध करते हुए विश्व के अन्तर्गत प्रतिज्ञाविषयीभूत मिथ्यात्व के मिथ्यात्व को भी सिद्ध करते हैं। अतः व्याहति दोष है। इसी प्रकार अबाधितविषयक हेतु वाक्य के विषयीभूत हेतु को साध्यसिद्ध्यर्थ दिखलाते हुए मिथ्यात्वानुमान से विश्वान्तर्गत जो हेतु उसमें भी मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं। अतः व्याहति दोष है क्योंकि हेतु में अबाधितत्त्व और मिथ्यात्व दोनों को स्वीकार कर रहे हैं। सिद्धान्ती को हेतु में अबाधितत्त्व इसलिए भी मानना चाहिए कि बाधित हेतु से अनुमिति प्रमा उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसी प्रकार व्याप्ति में भी व्याहति दोष आयेगा। पक्ष के मिथ्या सिद्ध हो जाने से आश्रयासिद्धि दोष होगा, साध्य के मिथ्या सिद्ध हो जाने से बाध दोष होगा एवं हेतु के मिथ्या सिद्ध हो जाने से स्वरूपासिद्धि दोष होगा। उदाहरण वाक्य का विषयीभूत व्याप्ति में मिथ्यात्व का बोधन हो जाने पर व्याप्ति के अभाव के कारण व्याप्यत्वासिद्धि दोष होगा। इस प्रकार उभयथा दोष होने के कारण मिथ्यात्वानुमान असङ्गत है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रतिज्ञादि के द्वारा पक्षसाध्यादि में शब्द प्रमाण के आधार

द्ध्यादिकं चेति—चेन्न, मिथ्यात्वसाधकप्रतिज्ञाद्युपनीतपक्षादीनां मिथ्यात्वबोधनेऽपि व्याहत्यभावात्, प्रतिज्ञादिभिस्तेषां त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्वाप्रतिपादनात्।। १।।

ननु—साधकत्वान्यथानुपपत्त्या परमार्थसत्त्वमायाति, परमार्थसत एव साधकत्वात्, साधकतायाः प्राक्सत्त्वघटितत्वात्, न तु धीमात्रविषयत्वम्, अपरोक्षधीविषयत्वम्, सत्त्वेन तादृशधीविषयत्वं वा साधकताप्रयोजकम्, तुच्छे नित्यातीन्द्रिये चातिव्याप्त्यव्याप्तिभ्याम्। तत्त्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर अबाध्यत्व को जो पूर्वपक्षी सिद्ध कर रहा है वह क्या प्रतिज्ञादि के द्वारा पक्षादिगत पारमार्थिक अबाध्यत्व का बोध होता है, ऐसा पूर्वपक्षी कहना चाहता है। अथवा "पक्षसाध्यादेः पारमार्थिकमबाध्यत्वं बिना प्रतिज्ञादिना पक्षसाध्यादिबोधकत्वमनुपपन्नम्" इस अर्थापत्ति प्रमाण के आधार पर पक्षसाध्यादि में पारमार्थिक अबाध्यत्व पूर्वपक्षी सिद्ध कर रहा है। प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि प्रतिज्ञादि में पक्षादिगत पारमार्थिक अबाध्यत्व का बोधक कोई पद नहीं है। द्वितीय विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहारकालाबाध्य बोधकत्वेन ही उक्त अर्थापत्ति की उपपत्ति हो जाने से उक्त अर्थापत्ति का खण्डन हो गया। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मिथ्यात्वसाधक अनुमान से प्रतिज्ञादि के द्वारा उपस्थापित जो पक्षादि, उन पक्षादि के मिथ्यात्व का बोधन होने पर भी व्याहति आदि दोष नहीं होगा, क्योंकि प्रतिज्ञादि से पक्षादि के त्रिकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का प्रतिपादन नहीं होता है। अपितु व्यवहारकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का प्रतिपादन होता है। अतः प्रतिज्ञादि के द्वारा पक्षादि में व्यवहारकालाबाध्यत्वरूप सत्त्व का प्रतिपादन होता है और मिथ्यात्वानुमान से पक्षादि में त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्व के अभाव का बोधन होता है। इसलिए प्रतिज्ञादि का विषय और मिथ्यात्वानुमान का विषय भिन्न–भिन्न होने से पूर्वोक्तव्याहति आदि दोष नहीं होगा ।। १।।

सिद्धान्ती के द्वारा यह कहा गया कि मिथ्यात्वानुमान के द्वारा पक्ष–साध्य–हेतु आदि में मिथ्यात्व का बोधन होने पर भी पक्षादि में साधकत्व (कारणत्व) माना जायेगा। अर्थात् मिथ्याभूत पक्षादि रूप कारण के द्वारा अनुमितिरूप कार्य होगा। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जिसमें कारणत्व रहता है उसमें परमार्थसत्त्व रहता है। अर्थात् परमार्थसत् ही कारण हो सकता है। अतः पक्षादि कारण है। इसलिए उनको परमार्थसत् ही मानना पड़ेगा और मिथ्यात्वानुमान से उसमें परमार्थसत्त्वाभाव का बोधन होने पर व्याहति आदि दोष होंगे। अथवा पक्षादि को मिथ्या मानने पर पक्षादि में कारणत्व के न होने से पक्षादि के द्वारा मिथ्यात्वानुमिति रूप कार्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि "पक्षादिनां पारमार्थिकसत्त्वं बिना साधकत्वमनुपपन्नम्" इस अर्थापत्तिप्रमाण के आधार पर जहां साधकत्व है वहां पर परमार्थसत्त्व है ऐसा सिद्ध होता है। अतः परमार्थसत् पदार्थ को ही कार्य का साधक (कारण) स्वीकार किया जाता है। दूसरी बात यह है कि कारणता का लक्षण है—"नियतप्राक्कालसत्त्वे सत्यन्यथासिद्धिशून्यत्वम्"। अतः साधक में सिद्धि के अव्यवहित पूर्वकाल में परमार्थसत्त्व रहना चाहिए। अतः प्रतीतिमात्र विषयत्व, अपरोक्षज्ञान विषयत्व अथवा सत्त्वेन अपरोक्षज्ञान विषयत्व को कारणता के लक्षण का घटक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रतीतिमात्र विषयत्व को कारणता के लक्षण का घटक मानने पर शशशृङ्गादि तुच्छ पदार्थों में अतिव्याप्ति होगी। तुच्छ पदार्थ भी शब्दप्रमाण के द्वारा प्रतीति के विषय होते हैं। जैसा कि वार्तिककार आचार्यश्रीकुमारिल भट्ट ने कहा है—"अत्यन्तासत्यपि

ज्ञानमपि न तत्र प्रयोजकम्, वह्नित्वेनाज्ञातेऽपि वह्नौ दाहकत्वदर्शनात्, वह्नित्वेन ज्ञातेऽपि गुञ्जापुञ्जे तददर्शनाच्च। नापि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधितासत्त्वप्रतीतिस्तन्त्रम्, आत्मनो गौरत्वेनानित्यत्वस्य नभसो नैल्येन स्पर्शवत्त्वस्य चापत्तेः, 'गौरोऽहं, नीलं नभः' इत्यादिप्रतीतावपि त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधात्, यौक्तिकबाधस्य त्वन्मते प्रकृतेऽपि भावादिति–चेन्न, यादृश्या बुद्ध्या तव नभोनैल्यादिधीव्यावृत्तया घटादौ सत्त्वसिद्धिः, तादृग्बुद्धिविषयत्वस्यैव साधकत्वे तन्त्रत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।" यदि उक्त अतिव्याप्ति को वारण करने के लिए अपरोक्षज्ञान विषयत्व अथवा सत्त्वेन अपरोक्ष ज्ञान विषयत्व को कारणता के लक्षण का घटक बनाया जाता है, तब धर्मादि नित्यातीन्द्रिय पदार्थो में अव्याप्ति होगी, क्योंकि धर्मादि में सुखादि की कारणता है और उसमें उक्त लक्षण नहीं जा रहा है, क्योंकि धर्मादि को नित्य अतीन्द्रिय माना जाता है। यदि मीमांसकमत सिद्ध यागादि क्रिया रूप धर्म का प्रत्यक्ष करते समय धर्मत्वरूप सामान्यलक्षणा सन्निकर्ष के द्वारा निखिल धर्मों का ज्ञान हो जाता है। अतः अपरोक्षज्ञानविषयत्व अथवा सत्त्वेन अपरोक्षज्ञानविषयत्व को साधकता के लक्षण का घटक मानने पर भी धर्मादि में अव्याप्ति नहीं होगी। इसलिए तद्रूपत्वेन (घटत्वेन घट, पटत्वेन पट इत्यादि रूप से) ज्ञात पदार्थ को साधक मानना चाहिए–अर्थात् अपरोक्षज्ञानविषयत्व को कारणता के लक्षण का घटक मानना चाहिए किन्तु यह भी उचित नहीं है, क्योंकि वह्नित्वेन अज्ञात वह्नि में भी अर्थात वह्नित्वेन वह्नि का अपरोक्षज्ञान न होने पर भी वह्नि में दाह–पाकादि की कारणता अनुभूत है। अतः अव्याप्ति होगी। एवं नित्यातीन्द्रिय धर्मादि में भी अव्याप्ति होगी, क्योंकि सिद्धान्ती सामान्यलक्षणा के द्वारा धर्मादि का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं मान सकते हैं, क्योंकि सिद्धान्ती के द्वारा पीछे सामान्यलक्षणा का खण्डन किया गया है। दूसरी बात है वह्नित्वेन गुञ्जा–राशि का अपरोक्षज्ञान होने पर भी उसमें दाहादि की साधकता नहीं देखी जाती है। अतः तत्त्वेन अपरोक्ष ज्ञान विषयकत्व को साधकता के लक्षण का घटक नहीं माना जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि परमार्थसत्त्व साधकता में तन्त्र नही हैं। अपितु तीन–चार कक्षाओं में अबाधिता जो सत्त्वप्रतीति वह साधकता में तन्त्र है। अर्थात् जो सत्त्वप्रतीति उत्तरोत्तर उत्पन्न तीन–चार कक्षाओं में अबाधित रूप से रहती है, उस सत्त्वप्रतीति के विषयीभूतसत्त्व को साधकता के लक्षण का घटक माना जाता है न कि परमार्थसत्त्व को। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''अहं गौरः'' ''नीलं नभः'' इत्यादि प्रतीतियां भी तीन–चार कक्षाओं तक अबाधितसत्त्व विषयक है। अतः ''अहं गौरः'' इस प्रतीति के आधार पर आत्मा में गौररूप सिद्ध हो जायेगा और रूपवत्ता के कारण आत्मा में अनुमान से अनित्यता सिद्ध हो जायेगी। यहां पर अनुमान का आकार होगा–''आत्मा अनित्यः, अनित्यरूपवत्त्वात्, घटादिवत्।'' इसी प्रकार ''नीलं नभः '' इस प्रतीति के आधार पर नभ में नीलरूप और नीलरूपाव्यभिचरित स्पर्श भी अनुमान के द्वारा सिद्ध हो जायेगा। अनुमान का आकार होगा– नभः स्पर्शवान्, नीलरूपवत्वात्, नीलोत्पलवत्। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''आत्माकाशौ न रूपवन्तौ, विभूत्वात्, कालादिवत्" इस प्रकार की युक्ति (अनुमान) के द्वारा आत्मा और आकाश में रूपवत्ता का बाध हो जाता है। अर्थात् आत्मा और नभ में जो रूपवत्ता की प्रतीति है उसका बाध हो जाने से वह तीन–चार कक्षा तक नहीं रहती है। अतः उक्त प्रतीति के आधार पर आत्मा और नभ में रूपादि की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती

अत एव लोकप्रसिद्धिस्तन्त्रमितीष्टसिद्ध्युक्तमप्युक्ताभिप्रायेण सम्यगेव। एवं त्रिचतुरकक्ष्यास्वबाधिता वादिप्रतिवादिप्राश्निकादीनां सत्त्वबुद्धिस्तन्त्रमित्युपपन्नमेव। गुञ्जापुञ्जस्य वह्नित्वे आत्मनो गौरत्वे नभसो नीलत्वे च तादृग्बुद्धिविषयत्वस्य तवाप्यसंप्रतिपत्तेः, अन्यथा तेषामपि तत्र सत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् ॥ २॥

अथ–यादृश्या शब्दे क्लृप्तदोषरहितया बुद्ध्या तव ब्रह्मणि सत्त्वसिद्धिः तादृश्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

के मत में भी यौक्तिक बाध दिखाया जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती स्वयं ही प्रपञ्चसत्यत्वधी का मिथ्यात्वानुमान के द्वारा बाध मानते हैं। अतः प्रपञ्चान्तर्गत पक्षादि की सत्त्वधी युक्ति से बाधित होने के कारण तीन–चार कक्षा तक नहीं रह सकती है। इसलिए पक्षादिगतकारणता के लक्षण का घटक सत्त्व की असिद्धि से उसमें (पक्षादि में) साधकत्व सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् मिथ्यात्वानुमान के द्वारा अपने साध्य की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''नीलं नभः'' इत्यादि प्रातिभासिकसत्त्व विषयक बुद्धि से भिन्न ''घट सन्'' इत्यादि व्यावहारिकसत्त्व विषयक बुद्धि के द्वारा जैसे पूर्वपक्षी घट में सत्त्व सिद्ध करता है ठीक उसी प्रकार व्यावहारिकसत्त्वविषयकबुद्धिविषयत्त्वरूप–व्यावहारिकसत्त्व को साधकता के लक्षण का घटक मानते हैं। अर्थात् ''व्यावहारिकसत्त्वं बिना साधकत्वमनुपपन्नम् '' इस प्रकार साधकता के द्वारा व्यावहारिकसत्त्व की ही कल्पना की जाती है न कि पारमार्थिक सत्त्व की। इसलिए व्यावहारिकसत्त्व विषयकज्ञान के अभिप्राय से कहा गया इष्टसिद्धिकार का यह कथन भी उचित ही है–''लोकप्रसिद्धिरपि तन्त्रम्''। इसी को आचार्यप्रवर श्रीहर्ष ने भी कहा है–''कथं पुनः असतः कारणत्वमवसेयं प्राक्सत्त्वनियमस्य विशेषस्यानभ्युपगमात्, असत्त्वस्य चाविशेषादिति चेन्न, ''इदमस्मान्नियतप्राक्सद्'' इति बुद्ध्या विशेषात्। भ्रान्तैवं बुद्धिगोचरेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न यादृश्या हि धिया त्रिचतुरकक्षाबाधऽनवबोधविश्रान्तया वस्तुसत्त्वनिश्चयस्ते, तादृश्यैव विषयीकृतस्य ममापि कारणता निश्चयः।'' अर्थात् तीन–चार कक्षाओं तक जो वादी–प्रतिवादी और मध्यस्थ की अबाधितार्थविषयक बुद्धि है तादृशबुद्धिविषयत्वरूपसत्त्व को ही साधकता का नियामक मानना युक्ति सङ्गत है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था, उसको निवारण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि गुञ्जाराशि में वह्नित्व, आत्मा में गौरता और नभ में नीलता की बुद्धि तीन–चार कक्षा तक रहती है यह तुम भी नहीं मानते हो। यदि स्वीकार करोगे तो वह्नित्वादि की गुञ्जा–पुञ्जादि में सत्त्वसिद्धि का प्रसङ्ग होगा।। २।।

सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि जैसी बुद्धि के द्वारा पूर्वपक्षी घटादि में सत्त्व सिद्ध करता है वैसी ही बुद्धि की विषयता को साधकता का नियामक हम मानते हैं। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि ''घटः सन्'' इत्यादि निर्दुष्टबुद्धि का विषय पारमार्थिक सत्त्व है। अतः पारमार्थिकसत्त्व को ही साधकता का नियामक मानना चाहिए। इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि अपौरुषेय होने के कारण एवं क्लप्त जो अर्थबाधादि दोषों से रहित होने के कारण श्रुतिवाक्यों में जैसी बुद्धि से सिद्धान्ती ब्रह्म में पारमार्थिकसत्त्व की सिद्धि करते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रत्यक्ष में क्लृप्त जो दूरत्वादि रूप दोष उन दोषों से रहित बुद्धि के द्वारा द्वैती को जगत् में पारमार्थिकसत्त्व की सिद्धि होती है। अतः ब्रह्म में सत्त्वसाधिका श्रुति और जगत्सत्त्वग्राहक प्रत्यक्ष तुल्य है, क्योंकि दोनों में निर्दोषत्व समान है। अतः निर्दुष्टबुद्धिविषयत्वरूपसत्त्व को साधकता का नियामक मानने पर भी साधकता का नियामक

प्रत्यक्षे क्लृप्तदोषरहितया मम जगति सत्त्वसिद्धिरस्तु साधकतुल्यत्वादिति चेन्न, ब्रह्मसत्त्वबुद्धिवद् जगत्सत्त्वबुद्धेरबाधितत्वाभावात्, त्रिकालाबाध्यत्वरूपस्य सत्त्वस्य प्रत्यक्षाविषयताया उक्तत्वाच्च॥ ३॥

न च—बुद्धिविषयत्वस्य तन्त्रत्वे वह्नित्वेनाज्ञातस्य वह्नेरदाहकत्वप्रसङ्गः, अमृतत्वेन ज्ञातस्य च विषस्य सञ्जीवकत्वप्रसङ्ग इतिवाच्यम्, वह्नौ तादृग्बुद्धिविषयत्वस्येश्वरादिसाधारणस्य सत्त्वात्, विषे सञ्जीवकत्वप्रसङ्गस्य नभोनैल्यादितुल्यत्वात्। वस्तुतस्तु—ज्ञाताज्ञातसाधारणं व्यावहारिकं सत्त्वमेव साधकत्वे तन्त्रम्, तच्च ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वमेव, तच्च न मिथ्यात्वघटितम्, अत्यन्ताबाध्ये ब्रह्मज्ञानबाध्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

पारमार्थिकसत्त्व ही सिद्ध होता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि ब्रह्म में अबाधित सत्त्व बुद्धि के समान प्रपञ्च में अबाधित सत्त्व बुद्धि नहीं होती है, क्योंकि त्रिकालाबाध्यत्वरूप पारमार्थिकसत्त्व वर्तमानमात्र ग्राही प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं होता है—यह पीछे प्रत्यक्षबाधोद्धार में कहा जा चुका है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म में त्रिकालाबाध्यत्वरूप पारमार्थिकसत्त्व प्रत्यक्षगम्य नहीं हैं किन्तु आगमैकवेद्य है। जब कि प्रपञ्चगत पारमार्थिकसत्त्व आगमवेद्य नहीं है, क्योंकि "नेह नानास्तिकिञ्चन" इत्यादि आगम के द्वारा प्रपञ्चगतसत्त्व का बाध हो जाता है। अतः घटः सन् इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा प्रपञ्च में व्यवहारकालाबाध्यत्वरूप व्यावहारिकसत्त्व का ही ग्रहण होता है। अतः श्रुति और प्रत्यक्ष में समानता दिखलाना उचित नहीं है।। ३ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यावहारिकसत्त्व विषयक बुद्धिविषयत्व को अर्थात् घटत्वेन ज्ञात घटादिबुद्धिविषयत्व को साधकता का नियामक मानने पर वह्नित्वेन अज्ञात वह्नि में दाह की साधकता सिद्ध नहीं हो पायेगी, एवं अमृतत्वेन ज्ञात विष में सञ्जीवकत्व की साधकता माननी पड़ेगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वह्नि में ईश्वरादि साधारण वह्नित्वेन बुद्धि विषयत्व के विद्यमान होने से अदाहकत्व का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। अर्थात् वह्नि में तत्पुरुषीय तादृशबुद्धि विषयत्व के न रहने पर भी ईश्वर के ज्ञान की विषयता और योगियों के ज्ञान की विषयता होने से वह्नि में दाह की साधकता की उपपत्ति हो जायेगी। ''नीलं नभः'' इस बुद्धि से जैसे नभ में नीलरूपता की सिद्धि नहीं होती है ठीक वैसे ही ''अमृतं विषम्'' इस बुद्धि से विष में अमृतत्त्व की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि साधकता की प्रयोजकता में प्रातिभासिक ज्ञान से भिन्न ज्ञान का ही ग्रहण होता है—यह पीछे कहा जा चुका हैं। अब समाधान के रहस्य को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि केवल बुद्धि विषयत्व को साधकता का नियामक नहीं माना जाता है किन्तु व्यावहारिकसत्त्व विषयक बुद्धिविषयत्व को साधकता का प्रयोजक माना जाता है। वह चाहे ज्ञात हो या अज्ञात हो। अर्थात् वह्निगत व्यावहारिकसत्त्व चाहे ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो वह्नि दाह के प्रति जनक होगी, क्योंकि वह्निगत व्यावहारिकसत्त्व के ज्ञात न होने पर भी वह्निगत व्यावहारिकसत्त्व विद्यमान है। नभगत प्रातिभासिक नीलतादि में व्यावहारिकसत्त्व के विद्यमान न होने से उसमें साधकत्व की आपत्ति नहीं होगी। व्यावहारिकसत्त्व का स्वरूप ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व है और वह मिथ्यात्व घटित नहीं है अर्थात् वह केवल मिथ्याप्रपञ्च में ही नहीं रहता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व अत्यन्ताबाध्य (ब्रह्म) और ब्रह्मज्ञान से बाध्य (व्यवहारिकप्रपञ्च) दोनों में रहता है। दोनों में रहने के कारण ही ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व परमार्थसत्त्व का व्याप्य नहीं होता है। अर्थात् ''यत्र—यत्र ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वं तत्र—तत्र परमार्थसत्त्वम्'' यह

च तुल्यत्वात्। अत एव नेदं परमार्थसत्त्वव्याप्यम्। एवञ्च परमार्थसत्त्वस्य साधकतायामतन्त्रत्वेन तदभावेऽपि न साधकतानुपपत्तिः। एतेन—व्यावहारिकत्वं ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वं वा? व्यावहारिक(व्यवहार)विषयत्वे सति सत्त्वं वा? सत्त्वेन व्यवहारमात्रं वा? नाद्यः, मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयात्। नापि द्वितीयः, तस्यास्माकं मिथ्यात्वविरोधित्वेनेष्टत्वात्। न तृतीयः, सत्त्वाभावे साधकत्वानुपपत्तेरिति— निरस्तम्, उक्तनिरुक्तेरदुष्टत्वात्।।४।।

न च—हेत्वादीनां व्यावहारिकसत्त्वे साध्यस्यापि व्यावहारिकसत्त्वमेव स्यादनुमितिविषय—

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याप्ति देहात्मैक्य में भङ्ग हो जाती है। इस प्रकार व्यावहारिकसत्त्व के साधकता का नियामक सिद्ध हो जाने पर और परमार्थसत्त्व के साधकता का नियामक सिद्ध न होने पर प्रपञ्च में परमार्थसत्त्व के न होने पर भी साधकत्व की अनुपपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि व्यावहारिकसत्त्व क्या ब्रह्मज्ञान बाध्यत्व है? अथवा व्यावहारिक—विषयत्त्व से विशिष्टसत्त्व ? या सत्त्वेन व्यवहारमात्र ? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रयदोष होगा। अन्योन्याश्रय—''प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वे सिद्धे व्यावहारिकसत्त्वसिद्धिः व्यावहारिकसत्त्वसिद्धौ च तस्य साधकत्वे तन्त्रत्वसिद्ध्या व्यावहारिकसत्त्ववता दृश्यत्वादिना मिथ्यात्वसिद्धिः।'' अर्थात् मिथ्यात्वसिद्ध होने पर ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व की सिद्धि होगी और व्यावहारिकत्व सिद्ध होने पर तदधीन साधकत्व सिद्ध होगा और साधकत्व सिद्ध हो तब साधकत्व विशिष्ट दृश्यत्वादि हेतुओं से मिथ्यात्व की सिद्धि होगी। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होगा। इसको संक्षेप से इस प्रकार भी कहा जा सकता है—''प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धे ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वरूप—व्यावहारिकत्वसिद्धिः ब्रह्मज्ञानबाध्यत्वसिद्धौ प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वसिद्धिः।'' द्वितीय पक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि व्यावहारिकविषयत्वविशिष्टसत्त्व को द्वैतवाद में अबाध्यत्वरूप माना है। अतः वह मिथ्यात्व का विरोधि होने के कारण द्वैतवाद में अभीष्ट ही है। इसी प्रकार सत्त्वेन व्यवहारमात्र पक्ष भी समीचीन नहीं है क्योंकि सत्त्व का अभाव होने पर साधकत्व की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् यदि प्रपञ्च में सत्त्व नहीं है अपितु उसमें सत्त्वेन व्यवहारमात्र होता है तब प्रपञ्च में साधकत्व की सिद्धि नहीं हो पायेगी। पूर्वपक्षी का उक्त सभी आक्षेप इसलिए निरस्त हो जाता है कि व्यावहारिकसत्त्व का ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप अर्थ करने पर पूर्वोक्त कोई भी दोष प्रसक्त नहीं होता है।। ४ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रातिभासिक हेतु व्याप्ति आदि के द्वारा व्यावहारिकसाध्य की सिद्धि न होने के कारण ही हेतु आदि की सत्ता अनुमिति के विषय की सत्ता के समान होती है—यह नियम माना जाता है। अतः दृश्यत्वादि हेतु का व्यावहारिक सत्त्व मानने पर साध्य का भी व्यावहारिकसत्त्व ही सिद्ध होगा, क्योंकि अनुमिति के विषयीभूत साध्य का और परामर्श के विषयीभूत हेतु के साथ समानसत्ताकत्व का नियम होता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हेतु अनुमिति आदि के समानसत्ताकत्व के नियम को यदि मान ले तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक दृश्यत्व हेतु के द्वारा व्यावहारिक मिथ्यात्व को सिद्ध करने पर भी कोई आपत्ति नहीं होती है। इस पर विशेष विचार मिथ्यात्वमिथ्यात्वनिरूपण के प्रसङ्ग पर किया जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी का उक्त कथन हमारे अनुकूल ही है। वस्तुतस्तु साध्य में हेतुसमानसत्ताकत्व का नियम नहीं है। क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रम से भी दैवगत्या वहां पर वह्नि के रहने से वह्नि की अनुमिति प्रमा होती हुयी देखी जाती है। इसके विपरीत ''गन्धप्रागभावावच्छिन्नो (उत्पत्तिकालावच्छिनो) घटः

साध्यस्य परामर्शविषयहेतुना समानसत्ताकत्वनियमादिति—वाच्यम्, दृश्यत्ववन्मिथ्यात्वस्यापि व्यावहारिकत्वेन समानसत्ताकत्वस्येष्टत्वात्, समानसत्ताकत्वनियमासिद्धेश्च, धूलीपटले धूमभ्रमादपि वह्न्यनुमितिप्रमादर्शनात्, गन्धव्याप्यपृथिवीत्वप्रमातोऽपि गन्धप्रागभावावच्छिन्ने घटे पक्षे बाधास्फूर्तिदशायामनुमितिभ्रमदर्शनाच्च। मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वेऽपि तत्त्वावेदकश्रुतिवेद्यत्वोपपत्तिः, सत्त्वेन सत इव मिथ्यात्वेन मिथ्याभूतस्यापि प्रमाणगम्यत्वाविरोधात्, एकांशे तत्त्वावेदकत्वा—भावेऽपि अपरांशे तत्त्वावेदकत्वोपपत्तेः।। ५।।

ननु—व्यावहारिकत्वं साधकतायामतन्त्रम्,अज्ञानादिसाधके परमार्थसति साक्षिणि

सत्यानन्दप्रबोधिका

गन्धवान्, पृथिवीत्वात्" इस स्थल पर गन्धव्याप्य जो पृथिवीत्व तादृश पृथिवीत्व विषयक प्रमात्मक ज्ञान से भी उत्पत्तिकालावच्छिन्न घटरूप पक्ष में बाध की स्फूर्ति न होने पर भ्रमात्मक गन्धप्रकारक अनुमिति हो जाती है। बाध की स्फूर्ति होने पर कोई अनुमान करेगा ही नहीं। अतः उक्त अनुमान स्थल पर अनुमिति का विषयीभूत गन्धरूप साध्य प्रातिभसिक है, जबकि परामर्श का विषयीभूत पृथिवीत्व हेतु व्यावहारिक है। अतः साध्य में हेतु समानसत्ताकत्व का नियम माना नहीं जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ''नेह नानास्ति. .....'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्याभूतमिथ्यात्व का प्रतिपादन करने पर उक्त श्रुतियों में अप्रामाण्य की प्रसक्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि मूलस्थ ''तत्त्वावेदक'' के घटक ''तत्त्व'' का अर्थ—''व्यवहारकालाबाध्य'' करते हैं तो ''तद्वति तत्प्रकारकज्ञानजनकम्" को व्यावहारिक प्रमाण कहा जाता है। अतः मिथ्यात्वेन मिथ्याभूत पदार्थों के प्रमाणगम्य अर्थात् तद्वति तत्प्रकारकज्ञानजनकीभूत प्रमाण के द्वारा वेद्य होने में किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण प्रपञ्चगत मिथ्यात्व मिथ्या होने पर भी तत्त्वावेदक श्रुति का वेद्य माना ही जा सकता है। जैसे सत्पदार्थ सत्त्वेन प्रमाणगम्य हैं। अर्थात् जैसे व्यावहारिकप्रमाण व्यावहारिकसत्त्वेन सत् को विषय करता है वैसे ही श्रुति व्यावहारिक मिथ्या को व्यावहारिक मिथ्यात्वेन भी बोधन कर सकती है। इस प्रकार से श्रुति में अप्रामाण्य नहीं आ सकता है। यदि मूलस्थ ''तत्त्वावेदक'' के घटक तत्त्व का अर्थ—त्रैकालिकाबाध्यत्व करते हैं तो मिथ्यात्वबोधकश्रुति के मिथ्याभूत मिथ्यात्व अंश में तत्त्वावेदकत्व का अभाव होने (त्रैकालिकाबाध्यबोधकत्व का अभाव होने) पर भी मिथ्यात्व घटक अत्यन्ताभाव अंश में तत्त्वावेदकत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् ''प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्'' यहां पर प्रतियोगित्व प्रपञ्च में जाने से प्रतियोगित्व का बाध हो जाता है। अतः प्रतियोगित्व अंश में तत्त्वावेदकश्रुति अबाधित अर्थ को बोधन नहीं कर रही है किन्तु निषेध —अत्यन्ताभाव—प्रपञ्चाभाव को जिस पक्ष में अधिकरण स्वरूप माना जाता है, उस पक्ष में वह अत्यन्ताभाव ब्रह्मस्वरूप होने के कारण तत्त्वावेदकश्रुति का विषय त्रैकालिकाबाधित होने के कारण श्रुति में त्रैकालिकाबाध्यबोधकत्व रूप तत्त्वावेदकत्व (प्रामाण्य) आ जायेगा। किन्तु जिस पक्ष में प्रपञ्चात्यन्ताभाव को व्यावहारिक माना जाता है, उस पक्ष में परमतात्पर्य विषयीभूत ब्रह्मावेदकत्वेन तत्त्वावेदकत्व श्रुति में आयेगा, क्योंकि सभी मिथ्यात्व बोधकश्रुतियों का भी अवान्तर तात्पर्य अन्य (मिथ्यात्व) के बोधन में होने पर भी परम तात्पर्य शुद्ध ब्रह्म का बोधन कराने में ही है ।। ५ ।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि व्यावहारिकसत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानना उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती स्वयं ही व्यावहारिकसत्त्व के अभाव वाले और परमार्थसत्त्व वाले

तदभावादित–चेन्न, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वस्यात्यन्ताबाध्येऽपि सत्त्वस्योक्तत्वात्। त्रैविध्यविभागे पारमार्थिकव्यावृत्तव्यावहारिकत्वनिरुक्तावपि जनकतायां तत्साधारण्येऽप्यदोषात्। वस्तुतस्तु– साक्ष्यप्यज्ञानोपहित एवाज्ञानादिसाधकः, स च व्यावहारिक एव, अनुपहितेन परमार्थसदाकारेण तस्यासाधकत्वात्, एवञ्च व्यवहारिकसत्त्वमेव सर्वत्र साधकतायां प्रयोजकमिति स्थितम्। यथा चाज्ञानोपहितस्य साक्षित्वेऽपि नात्माश्रयादिदोषः, तथोक्तं दृश्यत्वहेतूपपादने प्राक्, अग्रे च वक्ष्यते।। ६।।

यत्र च यत्साधकं व्यावहारिकम्, तत्र तद् व्यावहारिकम्, यत्र तु साधकं प्रातीतिकम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

साक्षी में अज्ञानादि की साधकता मानते हैं। साक्षी में जो अज्ञानादि साधकत्व कहा गया है, वह अज्ञानादि विषयक ज्ञानत्वेन अज्ञानादि विषयक इच्छा द्वेषादिरूपकार्यजनकत्वरूप है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन ठीक नहीं है क्योंकि व्यावहारिकसत्त्व का लक्षण ब्रह्मज्ञानेतराबा–ध्यत्व करने पर यह लक्षण परमार्थ सद्रूप साक्षी में भी जायेगा। अतः व्यावहारिकसत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानने पर पूर्वोक्त प्रकार से व्यभिचार नहीं दिखाया जा सकता है। यहां पर प्रश्न होता है कि जब सत्ता के तीन विभाग किये जाते हैं–पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक, तब व्यावहारिकसत्त्व की परिभाषा की जाती है–ब्रह्मज्ञानेतराबा–ध्यत्वे सति ब्रह्मभिन्नत्वम्। इस प्रकार ब्रह्मरूप पारमार्थिक वस्तु में व्यावहारिकसत्त्व की अवृत्ति कहा गया है, क्योंकि ब्रह्म में ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वांश के रहने पर भी ब्रह्मभिन्नत्वांश नहीं रहता है। अतः प्रकृत में पारमार्थिक साक्षी में व्यावहारिकसत्त्व मानने पर विरोध होगा। इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि सत्ता के त्रैविध्यविभाग में पारमार्थिक से व्यावृत्त व्यावहारिकत्व की निरुक्ति होने पर भी साधकता के विचार के समय साधकता का प्रयोजक पारमार्थिक व्यावहारिकोभयसाधारण ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व को मानने पर भी कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि पारमार्थिकसत्त्व, व्यावहारिकसत्त्व, उभयसाधारणसत्त्व ही ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व है। अतः पारमार्थिक साक्षी में बह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप प्रयोजक मानने पर कोई विरोध नहीं होगा। यहां तक साक्षी में पारमार्थिकत्व को स्वीकार करके समाधान कहा गया। आगे यह कहने जा रहे हैं कि साक्षी व्यावहारिक है पारमार्थिक नहीं। वस्तुतः अज्ञान से उपहित होकर ही साक्षी अज्ञानादि का साधक होता है न कि अनुपहित होकर, इसलिए साक्षी को व्यावहारिक ही माना जाता है। अज्ञान से अनुपहित होकर शुद्ध चैतन्य अज्ञानादि का साधक नहीं होता है। यह मोक्षदशा में स्पष्ट है। इस प्रकार व्यावहारिकसत्त्व ही साधकता का प्रयोजक होता है–यह सिद्धान्त स्थिर हो गया। प्रश्न होता है कि साक्षी अज्ञान से उपहित होकर के ही अज्ञान का साधक है–ऐसा मानने पर अज्ञान ही अज्ञान का साधक हो जाने से आत्माश्रयादि दोष होंगे। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अज्ञानोपहित साक्षी को अज्ञानादि का साधक मानने पर आत्माश्रयादि दोष नहीं होंगे, इसे दृश्यत्व हेतु के प्रतिपादन के अवसर पर प्रथम भाग में (पृष्ठ ६३ में) कहा जा चुका है और आगे भी कहा जायेगा।। ६ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि व्यावहारिकसत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रातीतिक विषय के सम्बन्ध से भी सुखविशेषरूप कार्य की उत्पत्ति देखी जाती है। अतः प्रातीतिक विषय में साधकता तो है, परन्तु साधकता का प्रयोजक व्यावहारिकसत्त्व नहीं है, अतः अव्याप्ति होगी। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मूल में "व्यावहारिकसत्त्वमेव" यहां जो एवकार है, वह असत् की व्यावृत्ति करता है, प्रातिभासिक की नहीं। इसलिए

तत्र फलमपि तथैव, न तु व्यावहारिकमिति सर्वविधिप्रतिषेधादिव्यवहारासङ्करः। अत एव लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य यादृच्छिकवाङ्मात्रत्वापत्तिरित्युदयनोक्तमपि निरस्तम्, व्यावहारिकसत्त्वेन लोकमर्यादानतिक्रमात्। भट्टाचार्यवचनानि विरुद्धत्वेन भासमानानि सत्त्वत्रैवि–

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रातिभासिक में साधकत्व इष्ट है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रातिभासिक में साधकत्व मानने पर स्वप्न में निष्पाद्य याग से भी व्यावहारिक स्वर्ग की प्राप्ति होनी चाहिए। इसका समाधान देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस स्थल में जिस साध्य का कारण (साधक) व्यवहार से सिद्ध है अर्थात् प्रामाणिक (व्यावहारिक) है, उस स्थल में वह कार्य (साध्य) व्यावहारिक अर्थात् व्यावहारिकप्रमाणसिद्धोत्पत्तिक है और जिस स्थल में कारण (साधक) अप्रामाणिक (प्रातिभासिक) है, उस स्थल में फल (साध्य) भी अप्रामाणिक (प्रातिभासिक)ही होगा। अतः प्रातीतिक साधक से व्यावहारिक फल (साध्य) के उत्पत्ति का प्रसङ्ग नहीं आयेगा, अपितु प्रातीतिक साधक से प्रातीतिक कार्य ही उत्पन्न होगा। कहने का आशय यह है कि जिसकी कारणता जिस कार्य के प्रति व्यवहारसिद्ध प्रामाणिक है उस कारण से उत्पन्न वह कार्य व्यवहारसिद्ध प्रामाणिक है और जिसकी कारणता जिस कार्य के प्रति व्यावहारिक प्रमाण से सिद्ध नहीं है। उससे उसकी उत्पत्ति भी अप्रामाणिक (व्यवहारसिद्ध प्रामाणिक नहीं) है। व्यावहारिक ही कारण होता है अथवा व्यावहारिक ही कार्य होता है। ऐसा नियम नहीं है। {यहां पर विशेष विचार यह है कि पहले मूलकार ने पारमार्थिक व्यावहारिक साधारण ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप व्यावहारिकत्व को साधकता का प्रयोजक कहा था। अब प्रातिभासिक में भी साधकता स्वीकार कर रहे हैं। अतः पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक में साधारण रूप से रहने वाले किसी को साधकता का प्रयोजक मानना पड़ेगा। वह असद्विलक्षणत्व, कालसम्बन्धित्व इत्यादि होगा। यद्यपि पूर्वपक्षी के मत में बाध्यत्व असत्त्व है और अबाध्यत्व सत्त्व है। तथापि सिद्धान्ती बाध्य जो व्यावहारिक और प्रातिभासिक है उनको असत् नहीं मानते हैं, क्योंकि उनकी सत्त्वेन प्रतीति होती है। जब कि असत् की सत्त्वेन प्रतीति कभी भी नहीं होती है। अतः सिद्धान्ती के मत से बाध्य व्यावहारिक और प्रातिभासिक पदार्थों में साधकता स्वीकार की गयी है, जो कि पूर्वपक्षी के मतानुसार बाध्य होने के कारण असत् है। अतः उसके मत में असत् में साधकता मानी गयी है। अतः इस प्रकरण का नाम भी ''असतः साधकत्वम्'' कहा गया।} इस प्रकार पूर्वोक्त व्यवस्था के अनुसार किसी प्रकार का विधि–प्रतिषेधादि व्यवहार का साङ्कर्य नहीं होगा। व्यावहारिकसत्त्व से लौकिक साधकत्त्व मर्यादा का अतिक्रमण न होने से उदयनाचार्य ने यह जो कहा है–''लोकस्यापि व्यतिक्रमे विचारस्य याद्दच्छिकबाधाद् भ्रान्ततापत्तिः'' (आत्मतत्त्वविवेके वाह्यार्थभङ्गबादे) अर्थात् सत् में साधकता है, असत् में साधकता नहीं है–इत्याकारक जो लोकव्यवहार होता है उसका अतिक्रमण करने पर दैवसम्पादित वनस्थ वांस से निकलने वाला यादृच्छिक शब्द के जैसे विचार के यादृच्छिकत्व की प्राप्ति होने से ज्ञान में अबाधितार्थावबोधकत्वाभाव की आपत्ति होगी, अर्थात् कोई भी व्यक्ति अपनी अनुकूलता के अनुसार जब जिस ज्ञान को चाहे बाधित या अबाधित कह सकता है। यह उदयनाचार्य का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि व्यावहारिकसत्त्व को सिद्धान्ती के द्वारा साधकता का प्रयोजक मानने से लोकमर्यादा का अतिक्रमण नहीं होता हैं। पूर्वपक्षी को आचार्य श्रीकुमारिलभट्ट के वाक्य जो विरुद्धत्वेन

ध्यनिरूपणायामविरोधेन व्याख्यास्यन्ते। तस्मात् पक्षादिसर्वमिथ्यात्वसाधनेऽपि न व्याहतिः।। ७।।

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

भासमान हो रहे हैं। उन वाक्यों की त्रिविधसत्ता निरूपण के अवसर पर अद्वैतसिद्धान्त सम्मत व्याख्या की जायेगी। अर्थात् बौद्धों का खण्डन करते हुए आचार्य भट्टपाद ने तर्कपाद में कहा है—

सत्यत्वं नहि सामान्यं मृषार्थपरमार्थयोः।
विरोधान्नहि वृक्षत्वं सामान्यं वृक्षसिंहयोः।।

इसका अर्थ यह है कि मृषार्थ और परमार्थ में सत्यत्वरूप एक सामान्य नहीं रह सकता है, क्योंकि दोनों अत्यन्त विरोधी हैं। जैसे वृक्ष और सिंह में वृक्षत्वरूप एक सामान्य नहीं रह सकता है। प्रकृत में सिद्धान्ती ने तुच्छ भिन्न पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभसिक साधारण एक सत्त्व मान लिया है। अतः भट्टपाद के वचनों से विरोध आ रहा है। इस पर सिद्धान्ती ने कहा कि त्रिविधसत्ता के निरूपण के अवसर पर श्रीसर्वज्ञात्ममुनि के इन वचनों से इसका समाधान किया गया है—

आकाशादौ सत्यता तावदेका प्रत्यङ्.मात्रे सत्यता काचिदन्या।
तत्सम्पर्कात् सत्यता तत्र चान्या व्युत्पन्नोऽयं सत्यशब्दस्तु तत्र।। सं. शा. १/१७८

अर्थात् आकाशादि में पहली व्यावहारिक सत्यता, चिदात्मा में दूसरी पारमार्थिक सत्यता, और उक्त उभयविध सत्यता वाले आकाशादि और आत्मा दोनों में तीसरी व्यावहारमात्र को आश्रय करने वाली ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूप सत्यता, वही अनुगत सत्यता ही सत्यशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है।

अतः पक्षादि सभी को मिथ्या मानकर उन पक्षादि के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की सिद्धि होने पर भी व्याघात आदि दोष नहीं होगा ।। ७ ।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामसतः साधकत्वोपपत्तिः n

9

असतः साधकत्वाभावे बाधकविचारः

ननु—सत्त्वापेक्षया तुच्छविलक्षणत्वादेर्गौरवतरत्वेन साधकत्वे कथं तन्त्रत्वमिति—चेन्न, त्रिकालबाधविरहरूपस्य सत्त्वस्य लघुत्वाभावात्, जात्यादिरूपस्य तस्य मिथ्यात्वाविरोधित्वात्, उभयसिद्धे सद्विविक्ते साधकत्वदर्शनेन पारमार्थिकसत्त्वस्य साधकत्वाप्रयोजकत्वाच्च। तथा हि—प्रतिबिम्बे बिम्बसाधकत्वं तावदस्ति। तस्य बिम्बात्मना सत्त्वेऽपि प्रतिबिम्बाकारेणासत्त्वात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती ने पूर्वप्रकरण में तुच्छविलक्षणत्वादि को साधकता का प्रयोजक कहा है। उसको स्वीकार न करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानना चाहिए, क्योंकि ''सत्त्व'' धर्म की अपेक्षा तुच्छविलक्षणत्वादि धर्म गुरुतरशरीर वाला होने के कारण साधकता का प्रयोजक नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी के मत में अबाध्यत्व को ही सत्त्व कहा गया है। उसकी अपेक्षा से तुच्छविलक्षणत्वादि गुरुतर है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रपञ्चसत्त्व ग्राहक प्रत्यक्ष के द्वारा जो सत्त्व गृहीत होता है, वह यदि जाति, अर्थक्रियाकारित्व आदिरूप है, तब उसके द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्व ग्राहक प्रमाण से विरोध नहीं होगा, क्योंकि सिद्धान्तमत में भी मिथ्याप्रपञ्च में जाति आदि स्वीकार की जाती है। प्रपञ्च में त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्व सिद्धान्तमत में स्वीकार नहीं किया जाता है। त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्व का ग्रहण प्रत्यक्ष से हो नहीं सकता है और त्रिकालाबाध्यत्वरूपसत्त्व तुच्छविलक्षणत्व की अपेक्षा से लघुतर भी नहीं है। पूर्वपक्षी के मतानुसार जो अबाध्यत्वरूपसत्त्व कहा गया है, वह त्रिकालाबाध्यत्वरूप ही है। केवल अबाध्यत्वरूपसत्त्व मानने पर ब्रह्मज्ञान से बाध्य होने पर भी व्यवहारकाल में अबाध्यप्रपञ्च और प्रतिभास काल में अबाध्य प्रातिभासिक पदार्थ में तादृश अबाध्यत्वरूपसत्त्व के होने से उक्त सत्त्व को साधकता का प्रयोजक मानना सिद्धान्ती को भी ईष्ट ही होगा। अतः पूर्वपक्षी को साधकता का प्रयोजकीभूत अबाध्यत्व शब्द से त्रिकालाबाध्यत्व लेना पड़ेगा। वह तुच्छविलक्षणत्वादि की अपेक्षा से लघु नहीं है। इसलिए तुच्छविलक्षणत्वादि को साधकता का प्रयोजक मानने पर गौरवादि दोष नहीं आयेगा। जब वादी प्रतिवादी उभय मत सम्मत पारमार्थिक सद्भिन्न प्रतिबिम्बादि पदार्थों में बिम्बादि की साधकता मानी गयी है तब कालत्रयाबाध्यरूप पारमार्थिकसत्त्व को साधकता का प्रयोजक माना नहीं जा सकता है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दर्पणादि में मुखादि के प्रतिबिम्ब से मुखादिरूपबिम्ब का ज्ञान होता है, तादृशज्ञान के प्रति प्रतिबिम्ब साधक है। इस पर प्रश्न होता है कि जो लोग प्रतिबिम्ब को बिम्ब से अभिन्न मानते हैं, उनके मतानुसार बिम्ब के जैसे ही प्रतिबिम्ब भी सत्य होगा। अतः सत् ही साधक सिद्ध होगा। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कह रह हैं कि बिम्बरूपेण प्रतिबिम्ब सत् होने पर भी स्वरूपेण प्रतिबिम्ब सत् नहीं होता है। प्रतिबिम्ब का लक्षण है— ''औपाधिकपरिच्छेदशून्यत्वे सति उपाध्यन्तर्गतत्वरूपेणारोपितधर्मेण विशिष्टत्वं प्रतिबिम्बत्वम्।" इस लक्षण में सत्यन्तभाग घटरूपोपाधिसमानपरिमाणवाले घटाकाश में अतिव्याप्तिवारण करने के लिए दिया गया है, अर्थात् घटाकाश में विशेष्यभाग के रहने पर भी विशेषण भाग के न रहने के कारण प्रतिबिम्ब का लक्षण नहीं जा रहा है, जो उचित भी है, क्योंकि घटाकाश को महाकाश का प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता है। आरोपित मिथ्याधर्मविशिष्टरूपेण प्रतिबिम्ब सत् नहीं होता है। इसलिए असत् प्रतिबिम्ब ही सन्निहित बिम्ब का साधक होने के कारण परमार्थसत्त्व को साधकता का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार

परमार्थसत्त्वं न साधकत्वे प्रयोजकम्। एवं स्व(स्वा)प्नार्थस्यासतोऽपि भाविशुभाशुभसूचकत्वम्। यद्यपि तत्रत्यदर्शनस्यैव सूचकत्वम्—'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति' इत्यादिश्रुतिबलात्, तथापि दर्शनमात्रस्यातिप्रसक्तत्वेन विषयोऽप्यवश्यमपेक्षणीय एव। एवं स्फटिकलौहित्यस्य उपाधिसन्निधानसाधकत्वञ्च॥ १॥

न च—लौहित्यं स्फटिके न मिथ्या, किन्तु धर्ममात्रप्रतिबिम्ब इति न पृथगुदाहरणमिति—वाच्यम्। धर्मिभूतमुखादिनैरपेक्ष्येण तद्धर्मभूतरूपादिप्रतिबिम्बादर्शनात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वाप्निक पदार्थ भी सत् नहीं होता है किन्तु भावी शुभाशुभ का सूचक माना जाता है।—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने॥ छा० उ०—५—२—९॥

यद्यपि ''पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति'' (ऐ०आ०३—२—४) इत्यादि श्रुतियों के आधार पर स्वप्न में होने वाले कल्पित पदार्थों में फलसूचकता न होकर उनके दर्शन में ही फलसूचकता मानी गयी है। दर्शन सत् ही होता है। अतः वहां पर भी साधकता का प्रयोजक सत्त्व को ही कहा गया है तथापि विषय से रहित ज्ञानमात्र को भावि शुभाशुभ के सूचन का साधक मानने पर घटपटादि के ज्ञान को भी सूचक मानना पड़ेगा। अथवा केवल ज्ञान को साधक मानने पर शब्दादि से जन्य वन्ध्यासुत आदि के ज्ञान में भी साधकता मानने की आपत्ति होगी। अतः विषयविशिष्टज्ञान को ही साधक मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर विशेषण विधया स्वाप्न पदार्थ में भी साधकता माननी पड़ती है। स्वाप्न पदार्थरूप विषय सत्य नहीं है, किन्तु मिथ्या है। अतः उक्त श्रुति के द्वारा मिथ्या में ही साधकता की सिद्धि होती है, न कि सत् में। अर्थात् भावि शुभाशुभ सूचन की कारणता स्वाप्न पदार्थ के ज्ञानरूपसत् में रहने पर भी उस ज्ञान का अवच्छेदक तो मिथ्या स्वाप्न पदार्थरूप विषय ही है और उस मिथ्या विषय में ज्ञानरूप कार्य के प्रति प्रयोजकत्व रूप साधकत्व है। अब तक स्वाप्नज्ञान को सत्य मानकर उक्त समाधान दिया गया है। अब कह रहे हैं कि वस्तुतः स्वाप्नकालीन ज्ञान भी रज्जूसर्पादि के ज्ञान के समान अविद्यावृत्तिमात्र होने के कारण मिथ्या ही होता है सत्य नहीं। इसी प्रकार स्फटिक में आरोपित लौहित्य भी सत् नहीं होता है किन्तु उपाधि (जपाकुसुम) के सन्निधान का साधक होता है। अतः परमार्थसत्त्व को साधकता का प्रयोजक कहना असङ्गत है ॥ १॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रतिबिम्ब सत्यबिम्ब स्वरूप होता है। अतः स्फटिक में लौहित्य मिथ्या नहीं है। इसलिए असत् की साधकता में इसे दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि स्फटिक में धर्मी (जपाकुसुम) निरपेक्ष लौहित्यरूप धर्ममात्र का प्रतिबिम्ब होता है। मूल में ''धर्ममात्र'' का घटक मात्र शब्द से धर्मी (जपाकुसुम) का व्यवच्छेद करके धर्म शब्द से जपाकुसुम का रूप लिया गया है। इस प्रकार स्फटिक लौहित्यरूप प्रतिबिम्ब भी अपने बिम्ब का साधक है—यही सिद्ध होता है, जो कि पहले ही बिम्ब—प्रतिबिम्ब के उदाहरण से कहा जा चुका है। अतः पुनः उसे कहने से पुनरुक्ति दोष होगा। सिद्धान्ती पञ्चपादिकाकार के इस कथन—''न हि रूपमात्रनिष्ठश्चाक्षुषः प्रत्ययो दृष्टपूर्वः, नापि स्वाश्रयमनाकर्षद्रूपमात्रं प्रतिबिम्बितं क्वचिदुपलब्धपूर्वम्'' का अनुसरण करके सर्व प्रथम ''धर्ममात्र का प्रतिबिम्ब होता है'' इसका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि मुखादिरूपधर्मी को छोड़कर मुख के गौरतादि धर्ममात्र का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता है। अतः स्फटिक में धर्मिनिरपेक्ष

प्रतिबिम्बस्याव्याप्यवृत्तित्वनियमेन लौहित्यस्य स्फटिके व्याप्यवृत्तिप्रतीत्ययोगाच्च। लौहित्ये स्फटिकस्य त्वारोपे तस्य प्रतिबिम्बत्वम्, स्फटिके लौहित्यारोपे तु तस्य मिथ्यात्वमिति विवेकः। स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमेति लोहितिम्नो मिथ्यात्वं दर्शितं प्रतिबिम्बसत्यत्वादिभिः पञ्चपादिकाकृद्भिः। एवं रेखातादात्म्येनारोपितानां वर्णानामर्थसाधकत्वम्।। २।।

न च—रेखास्मारिता वर्णा एवार्थसाधका इति—वाच्यम्, आशैशवमयं ककारोऽयं गकार

सत्यानन्दप्रबोधिका

लौहित्यरूप धर्ममात्र का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि बिम्ब–प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त से गतार्थ हो जाने के कारण स्फटिक लौहित्य में जपाकुसुमसन्निधान के साधकता की कल्पना करने पर पुनरुक्ति दोष होगा। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रतिबिम्ब दर्पण के एक देश में रहता है। अतः अव्याप्यवृत्ति है और लौहित्य स्फटिक में व्याप्त करके रहता है। अतः यह व्याप्यवृत्ति है। इसलिए स्फटिकगत लौहित्य को प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता है। यदि स्फटिकगत लौहित्य को प्रतिबिम्ब माना जाय तब लौहित्य की स्फटिक में व्याप्यवृत्तितया प्रतीति नहीं सिद्ध हो पायेगी, क्योंकि प्रतिबिम्ब अव्याप्यवृत्ति होता है। अतः बिम्ब–प्रतिबिम्ब के उदाहरण से गतार्थता न होने के कारण स्फटिक लौहित्य जो कि मिथ्या है, उसमें जपाकुसुम सन्निधान की साधकता की कल्पना करने पर पुनरुक्ति दोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि स्फटिकगत लौहित्य मिथ्या नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दर्पणादि में (न कि स्फटिकादि में) भासमान दर्पणगत लौहित्य में जब स्फटिक या स्फटिकस्थत्व का आरोप होता है तब दर्पणगतलौहित्य को प्रतिबिम्ब माना जाता है क्योंकि दर्पण में लौहित्य अव्याप्यवृत्तितया प्रतीत होता है और प्रतिबिम्ब होने के कारण उस लौहित्य को सत्य ही माना जाता है। जहां पर स्फटिक में लौहित्य का आरोप होता है वहां पर लौहित्य स्फटिक में व्याप्य वृत्तितया प्रतीत होता है। अतः लौहित्य को प्रतिबिम्ब न मानकर आभास माना जाता है और उसे मिथ्या स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार आभास और प्रतिबिम्ब में भेद कर के आभास को मिथ्या और प्रतिबिम्ब को सत्य स्वीकार किया जाता है। प्रतिबिम्ब को सत्य स्वीकार करनेवाले पञ्चपादिकाचार्य ने स्फटिकगतलौहित्य को मिथ्या कहा है— ''अन्तःकरणोपरागनिमित्तं मिथ्यैवाहंकर्तृत्वमात्मनः, स्फटिकमणेरिवोपधाननिमित्तो लोहितिमा।'' अर्थात् अन्तःकरण उपाधि के निमित्त से अहंकर्तृत्व आत्मा में मिथ्या है। जैसे जपाकुसुम उपाधि के निमित्त से स्फटिकमणि में लोहितिमा मिथ्या है। अतः स्फटिकगत लौहित्य को सत्य नहीं माना जा सकता है अपितु वह मिथ्यामात्र है फिर भी वह उपाधि सानिध्य का कल्पक है। इसी प्रकार बहुविध रेखाओं के साथ अभेदरूप से आरोपित वर्णों को अर्थ का साधक माना जाता है। भगवान भाष्यकार ने भी कहा है—'' अकारादिसत्याक्षरप्रतिपत्तिर्दृष्टा रेखानृताक्षरप्रतिपत्तेः'' (ब्र० सू० २–१–१४)। इस दृष्टान्त से भी यही सिद्ध होता है कि असत् में साधकता होती है।। २।।

रेखातादात्म्येन आरोपित वर्ण अर्थ के स्मारक होते हैं— इसको स्वीकार न करता हुआ पूर्वपक्षी कह रहा है कि रेखा को देखकर सत्य वर्णों का स्मरण होता है और उन स्मारित सत्यवर्णों से अर्थ का स्मरण होता है। अतः असत् की साधकता में रेखावर्ण की प्रस्तुति असङ्गत है। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रेखा को देखकर

इत्यनुभवात्, अभेदेनैव स्मरणात्, विवेके सत्यपि दृढतरसंस्कारवशाद् नारोपनिवृत्तिः। अत एव ककारं पठति लिखति चेति सार्वलौकिको व्यवहारः। वर्णारोपितदीर्घत्वह्रस्वत्वादीनां च नगो नाग इत्यादावर्थविशेषप्रत्यायकत्वम्। न च—वर्णेष्वनारोपितध्वनिसाहित्यं तदभिव्यक्तिरूपं वा दैर्घ्यं प्रत्यायकम्, एवं ह्रस्वत्वादिकमपीति—वाच्यम्; ध्वनीनामस्फुरणेऽपि दीर्घो वर्ण इत्यादिप्रत्ययात्।। ३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वर्ण की स्मृति होती है किन्तु शुद्ध वर्ण की स्मृति नहीं होती है अपितु रेखातादात्म्येन आरोपित वर्ण की स्मृति होती है, क्योंकि बचपन काल से ही मनुष्य को यह भ्रम होता आया है कि रेखा ही वर्ण है। अर्थात् यह रेखा ही ककार है, गकार है, इत्यादि। अतः रेखा से तादात्म्येन आरोपित वर्ण जो कि मिथ्या है, उस मिथ्या वर्ण में अर्थ की साधकता है, यही सिद्ध होता है। इस प्रकार असत् रेखात्मकवर्ण में सत् अर्थ बोधन की साधकता होती है। यद्यपि सामान्य लोगों को लिपि और वर्ण का भेद ज्ञान भी नहीं होता है तथापि विद्वान् यह अवश्य जानता है कि रेखा और वर्ण भिन्न–भिन्न पदार्थ हैं, फिर भी दृढतर संस्कार के कारण अभेदारोप की निवृत्ति नहीं होती है। इसलिए विद्वान् भी यही व्यवहार करता है—''अयं बालः ककारं लिखति पठति च''। इसी प्रकार यद्यपि वर्ण स्वरूपतः सत्य है किन्तु ध्वनि (वायु) के धर्मभूत दीर्घता—ह्रस्वता आदि का आरोप वर्ण में होने के कारण उन आरोपित धर्म से युक्त होकर वर्ण मिथ्या हो जाता है। अर्थात् आरोपित धर्मवाला होने के कारण मिथ्या हो जाता है। ऐसे मिथ्याभूत वर्णों से भी यथार्थ प्रतीति होती है। जैसे नग पद से पर्वतादि और नाग पद से हस्ति आदि का यथार्थ बोध होता है। इसी को स्पष्ट करते हुए भामतीकार ने अध्यासभाष्य के अवसर पर कहा है—''तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्मा अपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः। न हि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः''। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि वस्तुतः ह्रस्वत्वादि धर्म वर्ण के नहीं हैं किन्तु ध्वनि (नाद) के धर्म हैं। ध्वनि उस वायवीय तत्त्व को कहते हैं। जिससे वर्णात्मक शब्द की अभिव्यक्ति हुआ करती है। इसलिए दीर्घ ध्वनिसहित वर्ण हुआ। अतः वर्णगत दीर्घता का अर्थ होगा—दीर्घध्वनिसहितत्व। वह सत्य ही होता है। अथवा दीर्घ जो ध्वनि उससे व्यक्त होता है वर्ण। अतः दीर्घध्वनिव्यक्तत्व वर्ण में रहेगा। वह सत्य ही है। इसी प्रकार वर्ण में ह्रस्वतत्व को भी ह्रस्वध्वनिसहितत्व अथवा ह्रस्वध्वनि व्यक्तत्व कहा जायेगा। वह दीर्घादिध्वनिसहित वर्ण अथवा दीर्घादिध्वनिव्यक्त वर्ण सत्य ही है। अतः इसको असत् की साधकता में दृष्टान्त नहीं बनाया जा सकता है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सर्वलोक सिद्ध अनुभव से विरुद्ध पूर्वपक्षी की उक्त कल्पना होने के कारण असङ्गत है। दूसरी बात यह है कि यदि ग्रन्थाध्ययन के समय अनुभूयमान ह्रस्वत्वादि, वर्ण के धर्म न होकर ध्वनि के ही धर्म होते तब ध्वनिरूप धर्मी का स्फुरण न होने पर ''ह्रस्वो वर्णः,दीर्घो वर्णः''ऐसी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। जबकि ध्वनि का स्फुरण न होने पर ह्रस्वत्वादि का स्फुरण होता है। अतः यह सिद्ध होता है कि प्रतीतिकाल में ह्रस्वत्वादि ध्वनि के धर्म नहीं हैं किन्तु वर्ण के ही हैं। किन्तु वे वर्ण के वास्तविक धर्म न होने के कारण आरोपित है, क्योंकि गुणात्मक वर्णों में भासमान ह्रस्वत्वादि गुण नहीं रह सकता है। गुण में गुण रहता नहीं है। किन्तु उस वर्णगतत्वेन दीर्घत्वादि की प्रतीति हो रही है। अतः उस धर्म को असत् ही मानना पडेगा। उनसे अर्थविशेष का भान होता है। अतः असत् की साधकता में इसको दृष्टान्त बनाया जा सकता है।। ३।।

ननु—आरोपितेन वर्णदैर्घ्यादिना कथं तात्त्विकार्थसिद्धिः, न ह्यारोपितेन धूमेन तात्त्विकवह्निसिद्धिरिति—चेन्न, साधकतावच्छेदकरूपवत्त्वमेव साधकतायाः प्रयोजकम्, न त्वारोपितत्वमनारोपितत्वं वा, धूमाभासस्य त्वसाधकत्वम्, साधकतावच्छेदकरूपव्याप्त्यभावात्, नासत्त्वात्, अनाभासत्वग्रहश्च तत्र बहुलोर्ध्वतादिग्रहणवद्व्याप्तिग्रहणार्थमेवापेक्षितः। तदुक्तं वाचस्पतिमिश्रैः—''यथा सत्यत्वाविशेषेऽपि चक्षुषा रूपमेव ज्ञाप्यते न रसः, तथैवासत्त्वाविशेषेऽपि वर्णदैर्घ्यादिना सत्यं ज्ञाप्यते, न तु धूमाभासादिना''इति। दृष्टं हि मायाकल्पितहस्त्यादेः रज्जुसर्पादेश्च भयादिहेतुत्वं सवितृसुषिरस्य च मरणसूचकत्वं शङ्काविषस्य च मरणहेतुत्वम्।। ४।।

ननु तत्र शङ्कैव भयमुत्पाद्य धातुव्याकुलतामुत्पादयतीति सैव मरणहेतुः, न तु शङ्कितं

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कहना है कि अतात्त्विक साधक से तात्त्विक अर्थ की सिद्धि नहीं होती है अपितु तात्त्विक साधक से तात्त्विक अर्थ की सिद्धि होती है। अतः सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि वर्णगत आरोपित दीर्घता से तात्त्विक अर्थ की सिद्धि होती है, वह असङ्गत है, क्योंकि आरोपित धूम के द्वारा तात्त्विक वह्नि की सिद्धि नहीं होती है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''यत्र—यत्र साधकतावच्छेदकधर्मवत्त्वं तत्र तत्र साधकत्वम्'' ऐसी व्याप्ति सबको अभीष्ट है। अर्थात् साधकता का अवच्छेदकधर्म जिसमें रहेगा, वह चाहे आरोपित हो या अनारोपित हो वह साधक होगा। अनुमिति की साधकता (कारणता) परामर्श में है और साधकतावच्छेदक व्याप्ति है, क्योंकि व्याप्तिविशिष्टलिङ्गपरामर्श को ही अनुमिति का साधक माना जाता है। यह साधकतावच्छेदक (व्याप्ति) धूमाभास में नहीं है किन्तु धूम में है। अतः धूमाभास में साधकतावच्छेदक न होने के कारण धूमाभास के द्वारा वह्नि की सिद्धि नहीं होती है, न कि आरोपित होने के कारण धूमाभास में वह्नि की साधकता नहीं है। जैसे अविच्छिन्नमूल धूम रेखा, बहुलता, ऊर्ध्वतादि व्याप्तिज्ञान के लिए अपेक्षित है वैसे ही अनाभासत्वग्रह व्याप्तिज्ञान के लिए अपेक्षित है, न कि वह्नि की साधकता के लिए। भामतीकार आचार्य श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा है—जैसे रूप और रस में सत्यता के समान होने पर भी चक्षु से रूप ही ज्ञापित होता है, रस नहीं, वैसे ही वर्णनिष्ठदीर्घत्वादि और धूमाभास में असत्त्व के समान होने पर भी वर्णनिष्ठ दीर्घत्वादि के द्वारा सत्यार्थ ज्ञापित होता है, धूमाभासादि के द्वारा नहीं। इसी प्रकार माया द्वारा कल्पित असत् हस्त्यादि से सत्यभय की उत्पत्ति लोकव्यवहार में देखी जाती है और अविद्याकल्पित रज्जुसर्पादि असत् पदार्थ भी भय के जनक होते हैं। इसी प्रकार ऐतरेयारण्यक (३/२/४) में कहा गया है—''अथापि यत्र छिद्र इव आदित्यो दृश्यते रथनाभिरिवाभिरव्यायेत छिद्रां वा छायां पश्येत् तदप्येवमेव विद्यादिति।'' अर्थात् सूर्य में देखे गये मिथ्या छिद्र या काले धब्बे मरण के सूचक होते है। एवं भोजन में विष की शङ्का भी मरण का कारण बन जाती है। अतः असत् में साधकता मानने में कोई दोष नहीं है।। ४।।

पूर्वोक्त स्थलों पर पूर्वपक्षी यह दिखाने जा रहा है कि असद् विषयक सद्ज्ञान में ही साधकता है, असत् विषय में नहीं। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि शङ्का—विषहेतुक मरण स्थल पर शङ्कानिमित्तक भयजन्य चित्तव्याकुलता ही मरण का हेतु है। अर्थात् विष की शङ्का ही भय को उत्पन्न करके चित्त व्याकुलता को उत्पन्न करता है। अतः शङ्का ही मरण का कारण है न कि शङ्का विषयीभूत विष। इसी प्रकार सूर्य में दृष्ट

विषमपि, एवं सवितृसुषिरमायाकल्पितगजादीनामपि ज्ञानमेव तत्तदर्थक्रियाकारि, न त्वर्थोऽपि, तथा च सर्वत्रोदाहृतस्थलेषु ज्ञानमेव हेतुः, तच्च स्वरूपतः सत्यमेव, अन्वयव्यतिरेकावपि ज्ञानस्यैव कारणतां ग्राहयतः, न हि सन्निहितं सर्पमजानानो बिभेति। न च—अर्थानवच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽतिप्रसङ्गादर्थावच्छिन्नमेव ज्ञानं हेतुः, तथा चार्थोऽपि हेतुरेवेति वाच्यम्, अर्थावच्छिन्नस्य ज्ञानस्य हेतुत्वेऽपि अवच्छेदकस्यार्थस्य ताटस्थ्येनाहेतुत्वोपपत्तेः।। ५।।

(१) घटावच्छिन्नस्य तदत्यन्ताभावतद्ध्वंसादेर्घटदेशकालभिन्नदेशकालादित्वेऽप्यवच्छेदकस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

छिद्र, माया कल्पित हस्त्यादि, अज्ञानादि कल्पित सर्पादि का ज्ञान ही तत् तत् कार्य के साधक होते हैं, न कि सवितृगत छिद्रादि। फलतः सर्व उदाहृत स्थलों में ज्ञान ही हेतु है। वह ज्ञान स्वरूपतः सत्य ही है। अतः उक्त स्थलों पर सत्यज्ञान में ही साधकता सिद्ध होती है। अन्वय और व्यतिरेक जिसके आधार पर कार्य कारणभाव का निर्णय होता है, वह अन्वयव्यतिरेक प्रकृत में ज्ञाननिष्ठ कारणता को ही ग्रहण कराते हैं। "सर्पादिज्ञाने सति भयादिकार्यं भवति, सर्पादिज्ञानाभावे भयादिकार्यं न भवतिः" समीप में विद्यमान सर्प को नहीं जानता हुआ भयभीत नहीं होता है। यदि स्वरूपतः सर्प भय का हेतु होता तो अज्ञात अवस्था में भी भय उत्पन्न होता। अतः उक्त स्थल पर ज्ञान ही कारण है विषय नहीं। इस पर सिद्धान्ती के द्वारा यह जो युक्ति दी जाती है कि सर्पादि विषय से अनपेक्ष्य सर्पादि के ज्ञान को ही कारण मानने पर घटादिज्ञान भी सर्पादिज्ञान के समान भय का हेतु हो जायेगा, क्योंकि वह भी सर्पादिज्ञान के समान ज्ञान ही है। इसलिए इस अतिप्रसङ्ग को वारण करने के लिए विषय अवच्छिन्नज्ञान अर्थात् विषय विशिष्ट ज्ञान को ही भयकम्पादि का हेतु मानना चाहिए। विषयविशिष्टज्ञान में हेतुता रहने पर विशेषणीभूत सर्पादि विषय में भी हेतुता सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि विशेषण कार्यान्वयी होता है। प्रकृत में विशेषण=विषय और कार्य=हेतुता (साधकता) है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय अवच्छिन्नज्ञान में जहां कारणता मानी जाती है वहां पर विषय को विशेषण नहीं माना जाता है किन्तु उपलक्षण माना जाता है। अर्थात् विषयविशिष्टज्ञान कारण नहीं होता है किन्तु विषयोपलक्षित ज्ञान कारण होता है। उपलक्षण कार्यानन्वयी होने के कारण विषय में हेतुता नहीं सिद्ध होगी। जैसे—जहां सर्परूपविषय से अवच्छिन्न ज्ञान में साधकता है वहां पर सर्पावच्छिन्न ज्ञान उद्देश्य है और साधकता कार्य (विधेय) है। यहां सर्पावच्छिन्न ज्ञान में सर्प उपलक्षण है। उपलक्षण होने के कारण कार्य (साधकता) में सर्पादि विषय का अन्वय नहीं होगा। अतः सर्परूप विषय में साधकता नहीं मानी जायेगी अपितु विषय से उपलक्षितज्ञान में ही साधकता मानी जायेगी। वह ज्ञान स्वरूपतः सत्य है। अतः सत्य में ही साधकता सिद्ध होती है असत् में नहीं ।। ५।।

उपलक्षण स्थल पर सर्वत्र उपलक्षित वस्तु में ही साधकता रहती है। उपलक्षक पदार्थ में नहीं। यदि उपलक्षक पदार्थ में भी साधकता मानेगें तो अतिप्रसङ्ग होगा। अतिप्रसङ्गस्थल को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है—

१— घटोपलक्षित घटात्यन्ताभाव और घटध्वंसादि घटदेश (कपाल) एवं घटकाल से भिन्न देश कालादि से सम्बन्धित होने पर भी उपलक्षकीभूत घट में घट देश भिन्नदेश और घटकाल भिन्नकाल सम्बन्धित्व नहीं है। कहने का आशय यह है घटोपलक्षित जो घटात्यन्ताभाव है वह घट देश जो कपालादि है, उन कपलादिरूपदेशों से भिन्न देश में रहता है किन्तु

घटस्य तदभाववत्, (२) घटेच्छाब्रह्मज्ञानयोर्घटज्ञानवेदान्तसाध्यत्वेऽपि घटब्रह्मणोः तदभाववत्, (३) घटप्रागभावस्य घटं प्रति जकत्वेऽपि घटस्याजनकत्ववत्, (४) विशेषादर्शनस्य भ्रमं प्रति जनकत्वेऽपि विशेषदर्शनस्य तदभाववत्, (५) विहिताकरणस्य प्रत्यवायजनकत्वेऽपि विहितकरणस्य तदभाववत्, (६) स्वर्गकामनाया यागजनकत्वेऽपि स्वर्गस्य तदजनकत्ववत्, (७) अतीतादिस्मृत्यादेर्दुःखादिजनकत्वेऽप्यतीतादेस्तदजनकत्ववत्, (८) असद्विषयकपरोक्षज्ञानस्य तद्व्यवहारहेतुत्वेऽप्यसतस्तदभाववत्, (९) चिकीर्षितघटबुद्धेर्घटहेतुत्वेऽपि घटस्य तदहेतुत्ववत्, (१०) ब्रह्मज्ञानस्य तदज्ञाननिवर्तकत्वेऽप्युदासीनस्वभावस्य ब्रह्मणस्तदभाववत्, (११) ब्रह्माज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटात्यन्ताभाव का अवच्छेदकीभूत घट स्वदेशों से भिन्न देश में नहीं रहता है। इसी प्रकार घटोपलक्षित जो घट का ध्वंस वह घटकाल से भिन्नकाल में रहता है, किन्तु घटध्वंस का अवच्छेदकीभूत घट, घटकाल से भिन्न काल में नहीं रहता है। आदि पद से प्रागभावादि का ग्रहण कर लेना चाहिए। अतः दार्ष्टान्त में भी विषयोपलक्षित में साधकता होने पर भी विषय में साधकता का अभाव है।

२— घटोपलक्षित इच्छा में घटज्ञानजन्यत्व है किन्तु उपलक्षकीभूत घट में घटज्ञानजन्यत्व नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्मोपलक्षितज्ञान में वेदान्तजन्यत्व है किन्तु ब्रह्म में वेदान्तजन्यत्व नहीं है।

३— घटोपलक्षित प्रागभाव में घट के प्रति जनकत्व होने पर भी उपलक्षकीभूत घट में घट जनकत्व नहीं है।

४— विशेषदर्शनाभाव में अर्थात् विशेषदर्शनोपलक्षिताभाव में अर्थात् शुक्तित्वज्ञान के अभाव में अर्थात् शुक्तित्वज्ञानोपलक्षित अभाव में भ्रमजनकत्व है किन्तु विशेषदर्शन (शुक्तित्वज्ञान) में भ्रमजनकत्व नहीं है।

५— विहितकरणोपलक्षिताभाव में प्रत्यवायजनकत्व होने पर भी अवच्छेदकीभूत विहितकरण में प्रत्यवाय जनकत्व नहीं है।

६— स्वर्गोपलक्षितकामना में याग के प्रति हेतुता रहने पर भी अवच्छेदकीभूत स्वर्ग में यागहेतुत्व नहीं है।

७— अतीतादि से उपलक्षित स्मृति में दुःख की जनकता होने पर भी अतीतादि में दुःख की जनकता नहीं है।

८— वन्ध्यासुतादि असद् विषयक परोक्षज्ञान में असद्विषयक व्यवहार हेतुत्व होने पर भी असत् में असद् विषयक व्यवहार हेतुत्व नहीं है।

९— चिकीर्षित=सम्पादन करने की इच्छा, का विषयीभूत घट से उपलक्षित बुद्धि में घट हेतुत्व होने पर भी अवच्छेदकीभूत चिकीर्षित घट में घट हेतुत्व नहीं है।

१०—ब्रह्मोपलक्षितज्ञान में ब्रह्मविषयक अज्ञान की निवर्तकता होने पर भी उपलक्षकीभूत कर्तृत्व करणत्वादि से उदासीन स्वभाववाले ब्रह्म में अज्ञान की निवर्तकता नहीं है।

११—ब्रह्मोपलक्षित अज्ञान में ही प्रपञ्च की परिणामी उपादान कारणता होने पर भी उपलक्षणीभूत ब्रह्म में प्रपञ्च की परिणामी उपादान कारणता नहीं है।

अतः विषयोपलक्षितज्ञान में साधकता होने पर भी उपलक्षणीभूत विषय में साधकता

जगत्परिणामिकारणत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदभाववच्च।। ६।।

न च–तथापि मिथ्यार्थे ज्ञानव्यावर्तकताऽस्तीत्यसतोऽपि हेतुत्वमिति–वाच्यम्, न हि व्यावृत्तिधीहेतुत्वं व्यावर्तकत्वम्, किन्तु व्यावृत्तिधीहेतुधीविषयत्वमेव, सत्यपि दण्डे तदज्ञाने व्यावृत्त्यज्ञानात्। अथावच्छेदकस्य मिथ्यात्वे अवच्छिन्नस्यापि तन्नियमः, न, तुच्छज्ञाने तुच्छवैलक्षण्ये च तुच्छत्वस्य, प्रातिभासिकाद्वैलक्षण्ये प्रातिभासिकत्वस्य, पञ्चमप्रकारायामात्मस्वरूपभूतायां

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं मानी जा सकती है। अन्यथा पूर्वोक्त सभी स्थलों पर अतिप्रसङ्ग की आपत्ति होगी।। ६।।

यदि सिद्धान्ती शङ्का करें कि मिथ्या अर्थ से उपलक्षितज्ञान जहां भयादि का साधक है, वहां उपलक्षण कार्यानन्वयी होने के कारण मिथ्यार्थ (उपलक्षण) में साधकता नहीं आ सकती है इस प्रकार पूर्वपक्षी के कथनानुसार मिथ्यार्थ में साधकता भले ही न आती हो, परन्तु अन्य प्रकार से मिथ्यार्थ में साधकता आ सकती है, वह इस प्रकार से कि विषय ज्ञान का व्यावर्तक होता है–यह सर्वमान्य है, अर्थात् अन्यज्ञानों से घटज्ञान को भिन्नत्वेन बोधन घट कराता है। क्योंकि व्यावृत्तिबुद्धिजनकता ही व्यावर्तकता है। इस प्रकार से मिथ्यार्थ भी अन्य ज्ञानों से मिथ्यार्थज्ञान को भिन्नत्वेन बोधन कराता है, अत: मिथ्यार्थ में व्यावृत्तिबुद्धि की साधकता आ ही जाती है। इस शङ्का का समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि व्यावृत्तिज्ञान के जनकत्व को व्यावर्तक नहीं माना जाता है किन्तु व्यावृत्ति धी की हेतु भूत जो धी तादृश धी विषयत्व ही व्यावर्तकत्व है। अर्थात् व्यावृत्ति धी हुयी–''रजतज्ञानं घटज्ञानाद् भिन्नम्'' इत्याकारिका धी, तादृश धी की हेतु भूत धी हुयी–''इदं रजतम्'' इत्याकारक धी, तादृश धी विषयत्व रजत में गया। इसी व्यावृत्तिधी हेतु धी विषयत्व का नाम व्यावर्तकत्व है। कहने का आशय यह है कि रजतज्ञान में व्यावृत्ति धी की कारणता (साधकता) है, रजत में व्यावृत्तिधी हेतुभूतज्ञान की विषयता है न कि व्यावृत्तिधी की कारणता है। व्यावृत्तिधी की साधकता विषय के ज्ञान में है न कि विषय में, वह इसलिए कि दण्ड के विद्यमान होने पर भी दण्ड का ज्ञान न होने पर अदण्डि प्रतियोगिक दण्ड्यनुयोगिक व्यावृत्ति। अर्थात् दण्डी से अदण्डी की व्यावृत्ति का ज्ञान नहीं होता हैं किन्तु दण्ड का ज्ञान होने से व्यावृत्ति का ज्ञान होता है। अत: मानना पड़ेगा कि स्वरूपत: दण्ड में व्यावृत्ति ज्ञानजनकता नहीं है, किन्तु दण्डज्ञान में व्यावृत्तिज्ञानजनकता है। पुन: सिद्धान्ती की ओर से शङ्का की जा रही है कि अवच्छेदक (धर्म) के मिथ्या होने पर उससे अवच्छिन्न (धर्मी) भी मिथ्या होता है। अत: सर्पज्ञान का अवच्छेदक सर्प के मिथ्या होने पर अवच्छिन्न सर्पज्ञान भी मिथ्या होता है। अर्थात सर्प में मिथ्यात्व के रहने पर सर्पज्ञान में भी मिथ्यात्व रहता है। अत: मिथ्या विषय में साधकता न मानकर मिथ्या विषय के ज्ञान में साधकता जो पूर्वपक्षी मान रहा है, वैसा मानने पर भी तो मिथ्या विषय का ज्ञान भी मिथ्या होने के कारण मिथ्या में ही साधकता सिद्ध हो रही है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि अवच्छेदकवृत्ति धर्म अवच्छिन्न में रहता है–ऐसा नियम व्यभिचरित है। अत: उक्त नियम को मानकर मिथ्या विषय के ज्ञान को मिथ्या सिद्ध नहीं किया जा सकता है। व्यभिचार स्थल को दिखला रहे हैं–तुच्छज्ञान में अवच्छेदक तुच्छ है। उसमें रहने वाला तुच्छत्व धर्म तुच्छ के ज्ञान में नहीं रहता है। इसी प्रकार तुच्छभेद के अवच्छेदक तुच्छ में रहने वाला तुच्छत्व तुच्छभेद

वा अनिर्वचनीयाज्ञानस्य निवृत्तौ चतुर्थप्रकारानिर्वचनीयत्वस्य, पारमार्थिकात्म– स्वरूपे तद्भिन्ने वा अनृतद्वैतस्याभावेऽनृतत्वस्य चादर्शनात् तत्रावच्छेदकानामसदादीनां ताटस्थ्येऽत्रापि तथास्त्विति–चेत्।। ७।।

अत्रोच्यते– यदुक्तं ताटस्थ्यलक्षणमुपलक्षणत्वमेव सर्वत्रावच्छेदकस्येति, तन्न, विशेषणत्वे सम्भवत्युपलक्षत्वायोगात्। विशेषणबाधपूर्वकत्वादुपलक्षणत्वकल्पनायाः, अन्यथा 'दण्डी प्रैषानन्वाह', 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'इत्यादावपि वेदे दण्डलौहित्यादेरुपक्षणत्वात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में और प्रातिभासिक भेद का अवच्छेदक प्रातिभासिक, उसमें रहने वाला प्रतिभासिकत्व प्रतिभासिक भेद में नहीं रहता है। अज्ञान निवृत्ति को कुछ आचार्य पञ्चम प्रकार स्वरूप मानते है और कुछ आचार्य आत्मस्वरूप मानते हैं किन्तु अज्ञान निवृत्ति के अवच्छेदक अज्ञान में रहने वाला चतुर्थ प्रकार अनिर्वचनीयत्व को अज्ञान निवृत्ति में नहीं माना जाता है। इसी प्रकार मिथ्याद्वैत के अभाव को कुछ आचार्य पारमार्थिक आत्मस्वरूप मानते हैं और कुछ आचार्य (भावाद्वैत मानने वाले) पारमार्थिक आत्मस्वरूप से भिन्न मानते हैं। किन्तु अनृतरूपद्वैत के अभाव का अवच्छेदक अनृतरूपद्वैत में रहने वाला अनृतत्व को अनृतद्वैत के अभाव में नहीं मानते हैं। यदि कहें कि तुच्छादि अवच्छेदक–वृत्ति धर्म तुच्छत्वादि तुच्छज्ञानादि में इसलिए नहीं रहते हैं कि तुच्छादि उपलक्षण है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सर्पज्ञान में भी सर्प उपलक्षण है। अतः सर्पवृत्ति मिथ्यात्व सर्पज्ञान में नहीं रहेगा। अतः सिद्धान्ती के द्वारा पूर्वोक्त रज्जूसर्पादि असत् पदार्थ भयादि के जनक नहीं होते हैं अपितु उनका ज्ञान ही भयादि का जनक होता है और मिथ्यासर्पादि का ज्ञान स्वरूपतः सत्य ही है। अतः असत् में साधकता सिद्ध न होकर सत् में ही साधकता सिद्ध होती है।। ७।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि यदि विशिष्टज्ञान में साधकता है तब उसके विषय में भी साधकता अवश्य रहेगी। इसी अभिप्राय से स्पष्ट कर रहे हैं कि अवच्छेदकीभूत पदार्थ को सर्वत्र तटस्थ या उपलक्षण नहीं माना जाता है। किन्तु जहां पर अवच्छेदक को विशेषण माना जा सकता है वहां पर अवच्छेदक को उपलक्षण नहीं स्वीकार किया जाता है। यदि अवच्छेदक में विशेषणता का बाध हो जाता है तब उक्त स्थल पर अवच्छेदक को उपलक्षण के रूप से स्वीकार किया जाता है। अवच्छेदक में विशेषणत्व सम्भव होने पर भी अवच्छेदक को उपलक्षणरूप से स्वीकार करने पर वैदिक और लौकिक मर्यादा के उच्छेद का प्रसङ्ग होगा। सर्वप्रथम वैदिक मर्यादा के उच्छेद को दिखला रहे हैं–पूर्वमीमांसा दर्शन के तृतीय अध्याय के सप्तम पाद में विचार किया गया है कि ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशु–आलभन के प्रसङ्ग में जो यह पाठ है–''तस्मान् मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानु चाह''–इसलिए मैत्रावरुण प्रैष देता है और अनुवचन करता है। यहां पर सन्देह होता है कि क्या सभी अनुवचनों और सभी प्रैषों में मैत्रावरुण ऋत्विक् कर्ता होता है। अथवा जहां अनुवचन के विषय में प्रेष है वहीं मैत्रावरुण कर्ता होता है। सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के रूप से सूत्र लिखा–''प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात्'' (जै० सू० ३–७–४३)। प्रैष और अनुवचन दोनों मैत्रावरुण का कर्म होना चाहिए, सामान्य कथन होने के कारण। इसके पश्चात् सूत्रकार ने समाधान के रूप से सूत्र लिखा–''पूरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात्" (जै० सू० ३–७–४४) जहां प्रैष और अनुवाक्या साथ कही जाती है,

तदभावेऽपि अनुष्ठानप्रसङ्गः, 'सर्वादीनि सर्वनामानी'त्यत्र सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यत्र जन्मनो ब्रह्मलक्षणत्वं न स्यात्, विशेषणार्थत्वेन तद्गुणसंविज्ञान—बहुव्रीहिसम्भवेऽप्युपलक्षणार्थत्वेनातद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिस्वीकारप्रसङ्गात्। एवं 'असिपाणयः प्रवेश्यन्ताम्' इत्यादिलौकिकप्रयोगेऽपि। प्रतिबिम्बादिज्ञानानां जनकत्वे च विशेषणतया

सत्यानन्दप्रबोधिका

वहां मैत्रावरुण का अधिकार होता है। जहां केवल प्रैष अथवा केवल अनुवाक्या का कथन है, वहां मैत्रावरुण अधिकृत नहीं होता है। पूर्वोक्त विचारणीय वाक्य में दोनों का समुच्चय है, इसलिए यहां दोनों मैत्रावरुण के कर्म हैं। प्रैष और अनुवचन करते समय यह कहा गया है—''दण्डी प्रैषानन्वाह'' अर्थात् दण्ड के सहारे खडा होकर मैत्रावरुण प्रैष और अनुवचन करे। यदि यहां पर द्वैतवादी के अनुसार मैत्रावरुण का अवच्छेदकीभूत दण्ड को उपलक्षण माना जाता है। तब यह अर्थ होगा कि मैत्रावरुण दण्ड को धारण न करके भी प्रैष और अनुवचन कर सकता है, जो कि वैदिक प्रक्रिया से विरुद्ध है। इसी प्रकार ''लौहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति'' यहां पर भी ऋत्विजों का अवच्छेदकीभूत लौहितउष्णीष (लालपगड़ी) यदि उपलक्षण है तब उसके बिना भी ऋत्विजों का प्रचरण हो जायेगा। ऐसा होने पर अनुष्ठान भङ्ग हो जायेगा। इसी प्रकार ''सर्वादीनि सर्वनामानि'' (पा० सू० १—१—२७) इस सूत्र के घटक "सर्वादीनि" में सर्व को विशेषण मानकर ही ''सर्व आदिः येषां तानि सर्वादीनि'' ऐसा तद्गुण संविज्ञान बहुव्रीहि सम्भव होता है। तब सर्वादिगण में सर्व का प्रवेश होने से उसकी सर्वनाम संज्ञा होती है। यदि सर्व को उपलक्षण मानेंगे तब अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि मानना पड़ेगा। अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि स्थल पर समास घटक पदों के अर्थों का त्याग हो जाता है जैसे ''दृष्टसागरमानय'' स्थल पर देखा गया है। अतः सर्व पद उपलक्षण होने पर सर्व का सर्वादि गण में प्रवेश नहीं हो सकेगा। ऐसे ही ''जन्माद्यस्य यतः'' (ब्र० सू० १—१—२) यहां पर भी जन्म को उपलक्षण मानने पर जन्मकर्तृत्व, स्थितिकर्तृत्व, एवं लयकर्तृत्व जो तीन ब्रह्म के तटस्थ लक्षण माने गये हैं उनमें से जन्मकर्तृत्व रूप लक्षण का अभाव हो जायेगा। कहने का आशय यह है कि भगवान् भाष्यकार ने कहा है—''जन्मोत्पत्तिरादिरस्येति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः''। यहां पर तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि मान कर ही जन्मकर्तृत्व को ब्रह्म का तटस्थ लक्षण कहा गया है। यदि जन्म को उपलक्षण मानते हैं तब तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि न होकर अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होगा जो कि भाष्य विरुद्ध होगा और जन्मकर्तृत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी नहीं बन पायेगा। ऐसा होने पर ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति च'' (तै० उ० ३—१) इस श्रुति के द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म के लक्षण त्रय के साथ ''जन्माद्यस्य यतः'' इस सूत्र की सङ्गति भी नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार ''असिपाणयः प्रवेश्यन्ताम्'' इत्यादि लौकिक प्रयोगों में भी असि को विशेषण मानने पर ''असिः पाणौ येषाम्, ते असिपाणयः'' यहां पर तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होने से असियुक्त पुरुषों का प्रवेश सम्भव होगा। असि को उपलक्षण मानने पर अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि होने से असि रहित पुरुषों का भी प्रवेश प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ जहां अवच्छेदक को विशेषण मानने पर बाध दोष आता है, वहां अवच्छेदक को विशेषण न मानकर उपलक्षण ही माना जाता हैं। परन्तु प्रकृत में प्रतिबिम्बादि ज्ञानों में बिम्बसिद्धि आदि की जनकता रहने पर विशेषणरूप

प्रतिबिम्बादीनामपि जनकत्वे बाधाभावात् नोपलक्षणत्वपक्षो युज्यते, उदाहृतस्थलेषु सर्वत्र बाधकमस्त्येवेति विशेषः।। ८।।

तथा हि—प्रथमे घटदेशकालौ गृहीत्वा तद्भिन्नदेशकालत्वं तदत्यन्ताभावादौ ग्राह्यम्, घटस्यापि तत्सम्बन्धे तद्देशकालभिन्नदेशकालत्वमेव व्याहतं स्यात्। द्वितीये त्विष्टापत्तिः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

से विद्यमान मिथ्या प्रतिबिम्बादि में भी जनकता मानने पर किसी प्रकार का बाध दोष नहीं है। अतः बाध दोष न होने के कारण प्रतिबिम्बादि को विशेषण न मानकर उपलक्षण नहीं माना जा सकता है। मिथ्या प्रतिबिम्बादि में जनकता सिद्ध हो जाने पर असत् में साधकता सिद्ध हो जायेगी। पूर्वपक्षी ने पूर्वोक्त जो एकादश उदाहरण दिखलाए हैं, उन सभी स्थलों पर विशेषण मानने पर बाधदोष आ रहा है। अतः वहां पर विशेषण न मानकर उपलक्षण ही माना जाता है।। ८।।

पूर्वोक्तत स्थलों पर जो बाधक विद्यमान हैं उनको क्रमसः दिखला रहे हैं—

(१) घटात्यन्ताभावादि में घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व के ज्ञान से पहले घटदेशकाल का ज्ञान चाहिए। इसके पश्चात् घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व घटात्यन्ताभावादि में ग्राह्य होगा। घटात्यन्ताभावादि का विशेषण घट को मानने पर विशिष्ट में रहने वाला धर्म विशेषण में रहने के कारण घटविशिष्टात्यन्ताभावादि में रहने वाले घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व को विशेषण घट में भी मानना होगा। परन्तु ऊपर कही गई रीति से घटात्यन्ताभावादि में घटदेशकाल भिन्नदेशकालत्व के ज्ञान से पहले घटदेशकालत्व का ज्ञान हो जाता है। अतः घटदेशकालत्व के ज्ञान के पश्चात् घट में घटदेशकालभिन्नदेशकालत्व मानने पर व्याघात होगा।

(२) द्वितीय उदाहरण में इष्टापत्ति है, क्योंकि जैसे कहीं—कहीं घट को जानने के पश्चात् यदि घट किसी को इष्ट हो तो उस को घट प्राप्त करने की इच्छा होती है। अतः वहां घटज्ञान से जन्य घटेच्छा होती है वैसे ही घटज्ञान से घट भी कहीं पर जन्य होता है। जैसे सहकारिओं के सामञ्जस्य से घटज्ञानोत्पत्युत्तरक्षणावच्छेदेन जहां घट की उत्पत्ति होती है इसलिए वहां घटज्ञान में घट के प्रति जनकता मानी ही जाती है। अथवा घट निर्माण के पूर्व कुलाल को भावी घट का ज्ञान होता है। उसके पश्चात् ही घट की उत्पत्ति होती है। अतः घट में घटज्ञान जन्यत्व आ ही सकता है। ब्रह्मज्ञान में ब्रह्म को विशेषण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि विशेषण ब्रह्म में वेदान्तजन्यत्व की प्रसक्ति होगी, क्योंकि विशेषण कार्य (विधेय) अन्वयी होता है। यहां पर ब्रह्मज्ञान उद्देश्य और वेदान्तजन्यत्व विधेय है। ब्रह्म को विशेषण मानने पर विधेय के साथ सम्बन्धी ब्रह्म को मानना पड़ेगा। अर्थात् वेदान्तजन्यत्व ब्रह्म में मानना पड़ेगा जो कि नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म में बाधित है। अतः ब्रह्मज्ञान में ब्रह्म को उपलक्षण माना गया है।

(३) घटप्रागभाव उद्देश्य है घटजनकत्व विधेय है। घटप्रागभाव के अवच्छेदक घट को प्रागभाव का विशेषण मानने पर विशेषण घट भी विधेय से अन्वयी होगा। ऐसा होने पर जैसे घटप्रागभाव घट का जनक है वैसे ही घट भी घट का जनक होगा। कारण कार्य से अव्यवहितपूर्व में रहने के कारण घटप्रागभाव के काल में घट के रहने की आपत्ति होगी, क्योंकि घटप्रागभाव और घट दोनों में ही घट जनकत्व सिद्ध हो रहा है। तब तो घटप्रागभाव और घट दोनों का समानकाल मानना होगा। परन्तु जिस काल में घट का प्रागभाव रहता

क्वचिद् घटज्ञानस्य घटेच्छाजनकत्ववद् घटं प्रत्यपि जनकत्वाद्, ब्रह्मणो वेदान्तसाध्यत्वे तु नित्यत्वविरोधः। तृतीये प्रागभाववद् घटस्य स्वजनकत्वे प्रतियोगिप्रागभावयोः समानका- लीनत्वापत्तिः, स्वावधिकपूर्वत्वघटितजनकत्वस्य स्वस्मिन् व्याहतत्वं च। चतुर्थे पञ्चमे च प्रतियोगितदभावयोः सहावृत्त्या भ्रमप्रत्यवाययोरनुत्पत्तिप्रसङ्गः। षष्ठे कामनावत् कामनाविषयस्य यागजनकत्वे तस्य प्राक्सत्तया तत्कामनैव व्याहन्येत, सिद्धे इच्छाविरहात्। सप्तमे अतीतस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

है, उसी काल में घट का रहना सम्भव नहीं। दूसरी बात यह है कि स्व के प्रति स्व को कारण मानने पर स्वावधिपूर्वकत्व से घटित जनकता को स्व में मानने पर व्याहतत्व भी होगा, क्योंकि पौर्वापर्य भेद से घटित होता है। अतः स्वयं ही स्वयं से पूर्व रहता है, यह मानना सम्भव नहीं, इसलिए घटप्रागभाव के अवच्छेदक घट को उपलक्षण माना गया है।

(४) चतुर्थ उदाहरण में विशेषदर्शनाभाव उद्देश्य है भ्रमजनकत्व विधेय है। विशेष दर्शन को विशेषदर्शनाभाव का विशेषण मानने पर विधेय के साथ सम्बन्धी विशेषदर्शन को मानना पड़ेगा। जो कि असम्भव है, क्योंकि विशेष दर्शन होने पर विशेषदर्शनाभाव ही नहीं रहेगा, क्योंकि तदभाववत्ता बुद्धि के प्रति तद्वत्ता बुद्धि प्रतिबन्धक होती है। अतः भ्रमानुत्पत्ति प्रसङ्ग ही यहां पर विशेषण मानने में बाधक है। इसलिए विशेष दर्शन को विशेषदर्शनाभाव का उपलक्षण माना गया है।

(५) प्रञ्चम उदाहरण में विहितकरणाभाव उद्देश्य है प्रत्यवायजनकत्व विधेय है। विहितकरण को विहितकरणाभाव का विशेषण रूप से स्वीकार करने पर विधेय के साथ सम्बन्धी विहितकरण को मानना पड़ेगा। जो कि सम्भव नहीं है क्योंकि विहितकरण के रहने पर विहितकरणाभाव नहीं रहेगा। इसलिए विहितकरणाभावरूप करण के अभाव से प्रत्यवाय ही नहीं उत्पन्न होगा। अतः प्रत्यवायानुत्पत्ति प्रसङ्ग ही यहां बाधक है। इसलिए विहितकरण को यहां पर विहितकरणाभाव का उपलक्षण के रूप से स्वीकार किया गया है।

(६) स्वर्गकामना उद्देश्य है। यागजनकत्व विधेय है। स्वर्गकामना के अवच्छेदक स्वर्ग को स्वर्गकामना का विशेषण मानने पर स्वर्ग को विधेय के साथ अन्वयी मानना पड़ेगा। अर्थात् स्वर्गकामना के जैसे ही स्वर्गकामना के विशेषण स्वर्ग में भी याग की जनकता मानने पर याग से अव्यवहित पूर्व स्वर्गकामना काल में ही स्वर्ग की प्राप्ति माननी पड़ेगी। स्वर्गकामनाकाल में ही स्वर्ग की प्राप्ति हो जाने पर स्वर्गकामना ही नष्ट हो जायेगी, क्योंकि अप्राप्त वस्तु की ही कामना होती है सिद्ध वस्तु की नहीं। स्वर्गकामना के नष्ट हो जाने पर याग ही नहीं होगा। इस प्रकार याग की असिद्धि ही यहां पर बाधक है जिसके कारण स्वर्ग को उपलक्षण माना गया है।

(७) अतीतपदार्थस्मरण उद्देश्य है और दुःखादि जनकत्व विधेय है। अतीतपदार्थ को स्मरण का विशेषण मानने पर विधेय के साथ सम्बन्धी मानना पडेगा। जो कि सम्भव नहीं है। क्योंकि अतीत पदार्थो में वर्तमान दुःखादि की जनकता मानने पर वर्तमान दुःखादिरूप कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में अतीत पदार्थ अथवा अतीत पदार्थ का व्यापार रहना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। कार्य से पूर्व कहीं पर करण रहता है और कहीं पर करण का व्यापार रहता है। जैसे घटकार्य के अव्यवहितपूर्व दण्डकरण रहता है और स्वर्ग के प्रति याग करण का व्यापार अदृष्टादि स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में रहता है। इसलिए कहा गया

जनकत्वे कार्याव्यवहितपूर्वकाले स्वस्वव्यापारान्यतरसत्त्वापत्तिः। अष्टमे असतो जनकत्वे निःस्वरूपत्वव्याघातः। नवमे चिकीर्षितघटज्ञानवत् स्वस्य जनकत्वे पूर्ववद् व्याघातः। दशमे उदासीनस्य ब्रह्मणो न निवर्तकत्वम्, स्वरूपत उपहितस्यैव वृत्तिविषयत्वेन तस्याविषयत्वात्, उपहितस्य च निवर्तकत्वमस्त्येव। एकादशे ब्रह्माज्ञानस्य परिणामिकारणत्वेऽपि न ब्रह्मणो जगत्कारणत्वम्, कार्ये जडत्वोपलम्भात्। एवंविधबाधकबलेन तत्रोपलक्षणत्वस्वीकारात्।। ९।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि कार्य के अव्यवहित पूर्वकाल में करण या करण का व्यापार रहना चाहिए।

(८) अष्टम उदाहरण में असद्विषयक परोक्षज्ञान उद्देश्य है। व्यवहार जनकत्व विधेय है। असत् पदार्थ को परोक्षज्ञान का विशेषण मानने पर विधेय के साथ अन्वयी मानना पडेगा। अर्थात् व्यवहार जनकत्व असत् पदार्थ में मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि असद् पदार्थ को व्यवहार का जनक मानने पर उसे व्यवहार के पूर्व में सत् होना पडेगा। उसे सत् मानते ही उसका निःस्वरूपत्व का व्याघात हो जायेगा। इसलिए असद्विषयकपरोक्षज्ञान में असत् को उपलक्षण माना गया है।

(९) नवम उदारहरण में चिकीर्षित घटज्ञान उद्देश्य है और घटजनकत्व विधेय है। घट को घटज्ञान का विशेषण मानने पर विधेय के साथ सम्बन्धि मानना पड़ेगा, अर्थात् घट को घट का जनक मानना पड़ेगा जो कि असम्भव है, क्योंकि तृतीयकल्प के समान यहां पर भी स्वयं ही स्वयं से पूर्व में रहना रूप व्याघात दोष होगा।

(१०) दशम उदाहरण में ब्रह्मज्ञान उद्देश्य है और अज्ञान निवर्तकत्व विधेय है। ब्रह्म को ब्रह्मज्ञान का विशेषण मानने पर विधेय के साथ सम्बन्धी मानना पड़ेगा जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अज्ञान का साधक होता है। यदि ब्रह्म को अज्ञान का नाशक मानलिया गया तब अज्ञान के आश्रय की असिद्धि हो जायेगी और ब्रह्म की उदासीनता भी समाप्त हो जायेगी। अज्ञान का निवर्तक वृत्ति उपहित ब्रह्म होता है। अतः ब्रह्म को ज्ञान का विशेषण न मानकर उपलक्षण माना गया है। इसी को स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अनुपहित ब्रह्म वृत्ति का विषय न होने के कारण अज्ञान का निवर्तक नहीं होता है। स्वरूपतः वृत्ति उपहित ही वृत्ति का विषय होता है और अनुपहित वृत्ति का विषय होता नहीं है इसका निर्वचन दृश्यत्व हेतु के निरूपण के अवसर पर किया जा चुका है। इसलिए वृत्ति उपहित ही अज्ञान का निवर्तक होता है।

(११) एकादश उदाहरण में ब्रह्माज्ञान उद्देश्य है और परिणामिकारणत्व विधेय है। ब्रह्म को अज्ञान का विशेषण स्वीकार करने पर विधेय सम्बन्धी मानना पड़ेगा जो कि सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम मानने पर प्रपञ्च में स्पष्ट रूप से प्रतीयमान जड़ता की अनुपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् सुवर्ण के परिणाम में सुवर्णता जैसे होती है वैसे ही चेतन ब्रह्म के परिणाम प्रपञ्च में चैतन्यरूपता ही होनी चाहिए जड़रूपता नहीं।

इस प्रकार पूर्वोक्त बाधकों के बल पर पूर्वपक्षी के द्वारा उद्धृत उक्त उदाहरणों में उपलक्षणत्व को स्वीकार किया गया है। अतः यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि विशेषणता का बाध हो जाने पर ही उपलक्षणता मानी जाती है ।। ९।।

अब सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित स्थलों में यह दिखाया जा रहा है कि विशेषण मानने में बाधक नहीं है। अतः विशेषणता का त्याग नहीं किया जाता है। प्रातिभासिक

न च प्रकृते बाधकमस्ति, अव्यवहितदेशकालादिवृत्तित्वस्य प्रातिभासिकसाधारणत्वात्। इदानीमत्र सर्प इत्यादिप्रतीत्यविशेषात्। न हि क्वचिद् बाधकबलेन मुख्यपरित्यागः कृत इति सर्वत्र तथैव भविष्यति, उत्कर्षाद्यनुविधानाच्च। तथा हि–स्वप्ने जागरे चोत्कृष्टकलधौतदर्शनात् उत्कृष्टं सुखम् उत्कृष्टसर्पादिदर्शनाच्चोत्कृष्टं भयादि दृश्यते, विषयस्याकारणत्वे तदुत्कर्षानुवि–धानं कार्ये न स्यात्, न ह्यकारणोत्कर्षः कार्यमनुविधत्ते इति न्यायात्। न च ज्ञानप्रकर्षादेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

सर्पादि का ज्ञान जहां भय का कारण होता है। वहां प्रातिभासिक सर्पादि को ज्ञान का विशेषण मानकर उस सर्पादि में भयादि की कारणता मानने में कोई बाधक नहीं है। कारणता का घटक कार्याव्यवहित देशकालादिवृत्तित्व जैसे प्रातिभासिक सर्पादि के ज्ञान में है वैसे ही प्रातिभासिक सर्पादि पदार्थो में भी है। अतः प्रातिभासिक सर्पादि के ज्ञान में जैसे भयादि की कारणता पूर्वपक्षी मान रहा है वैसे ही प्रातिभासिक सपादि में भी भयादि की कारणता पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा। देशकालसम्बन्धित्व प्रातिभासिक पदार्थो में है। इसमें अनुभव प्रमाण दे रहे हैं–''इदानीमत्र सर्पः''। अर्थात् ''इस काल में यहां सर्प है'' इत्यादि प्रतीति देशकाल से अन्वित सर्पादि को विषय करती है। जैसे इस काल में यहां दण्ड है, घट है, इत्यादि प्रतीतियां देशकाल से अन्वित दण्डादि को विषय करती है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्गज्ञानमनुमितिकारणम्" अर्थात् ''प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्गज्ञान बिम्बानुमिति आदि का कारण है।'' यह कथन सिद्धान्ती का उचित नहीं है, क्योंकि अतीत–अनागत धूमादि में जैसे कारणता का त्याग किया जाता है वैसे ही प्रतिबिम्बादि में भी कारणता का त्याग किया जा सकता है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अतीतलिङ्गादिस्थल में बाधक के बल पर विषय निष्ठ कारणता का त्याग किया जाता है। इसके आधार पर यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि जहां पर कारणता प्रतीत हो रही है वहां पर भी उसका त्याग हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ''प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्गज्ञानमनुमिति कारणम्'' इत्याकारक जो प्रत्यक्षादि रूप कारणता ग्राहक ज्ञान है। इस प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्गज्ञान में प्रतिबिम्बादिरूप लिङ्ग में विशेषणता सम्भव होने से प्रतिबिम्बादिरूपलिङ्ग में भी कारणता मानना सम्भव है क्योंकि विशिष्ट में प्रवृत्त प्रमाण की विशेषण में भी प्रवृत्ति सामान्यतः सिद्ध होने से विशेषणांश में भी वह प्रवृत्ति मुख्य ही है। विषय में कारणता स्वीकार करने में केवल बाधक का अभाव है ऐसी बात नहीं किन्तु भयादिरूप कार्य में उत्कर्षादि का अनुविधान भी है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि स्वप्न और जाग्रत् में उत्कृष्ट रजत देखने पर उत्कृष्ट सुख देखा जाता है। इसी प्रकार उत्कृष्टसर्पादि के देखने से उत्कृष्ट भयादि देखे जाते हैं। यदि विषय में कारणता नहीं मानी जाती है तब उत्कृष्ट सर्पादिविषय के पश्चात् होने वाला उत्कृष्टभयादिरूप कार्य नहीं होगा, क्योंकि कारणगत उत्कृष्टता के बिना कार्यगत उत्कृष्टता का अनुविधान नहीं हो सकता है। यहां पर यह नियम बनाया गया है–''यस्योत्कर्षापकर्षौ यदुत्कर्षापकर्षमनुविधत्तः तत्तत् कारणम्''। अतः प्रातिभासिक सर्पादिविषयगत उत्कर्षादि के कारण भयादिगत उत्कर्षादि का अनुविधान होता है। इसलिए मिथ्या विषय में साधकता सिद्ध हो गयी। ज्ञानगत उत्कृष्टता का अनुविधान भयादिरूप कार्य में होता है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान में भी विषयगत उत्कृष्टता को छोड़कर अन्य कोई भी उत्कृष्टता सम्भव नहीं है। अर्थात्

तत्प्रकर्षः, ज्ञानेऽपि विषयगतप्रकर्षं विहायान्यस्य प्रकर्षस्याभावात्। अथ ज्ञानगता जातिरेव प्रकर्षः, न, चाक्षुषत्वादिना सङ्करप्रसङ्गाद्, विषयप्रकर्षेणैवोपपत्तौ चाक्षुषत्वादिव्याप्यनानाजात्यङ्गीकारे गौरवान्मानाभावाच्च।। १०।।

किञ्च ज्ञानस्य भयादिजनकत्वे सर्पाद्यवच्छिन्नत्वमेव कारणतावच्छेकमास्थेयम्। ज्ञानत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

यदि ज्ञान में आकार माना जाता तब एक ज्ञान लघु आकार का है दूसरा ज्ञान दीर्घ आकार का है। इस प्रकार ज्ञानगत उत्कृष्टत्व अपकृष्टत्व मानकर कार्यगत उत्कृष्टतादि का अनुविधान माना जाता, किन्तु ज्ञान का आकार होता नहीं, सभी ज्ञान ज्ञानत्वेन एक ही होता है। केवल विषय को ही लेकर एक ज्ञान में दूसरे ज्ञान से भिन्नता आती है और एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान में उत्कृष्टतादि आती है। अतः ज्ञान के विषय में भी साधकता होने से प्रातिभासिक सर्पादि भी भयादि के साधक होंगे। इसलिए असत् में साधकता सिद्ध हो गयी। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ज्ञानगत उत्कृष्टत्व—अनुकृष्टत्वरूप ज्ञानत्वव्याप्यजाति ही भयादिरूप कार्यगत उत्कृष्टत्वादि के अनुविधान का हेतु है। ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ज्ञान में उत्कृष्टत्वादि जाति मानने पर चाक्षुषत्वादि जातियों के साथ सङ्कर हो जायेगा। परस्पर विरोधी धर्मों का एकत्र समावेश को सङ्कर कहा गया है जो कि जाति का बाधक है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथानवस्थितिः।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधक सङ्ग्रहः।।

प्रकृत में सङ्कर दोष का समन्वय इस प्रकार से होगा—चाक्षुषत्व को छोड़कर उत्कृष्टत्व नामक जाति घ्राणजादिज्ञान में है और उत्कृष्टत्व को छोड़कर चाक्षुषत्व अनुत्कृष्ट चाक्षुषज्ञान में रहेगा। उत्कृष्टत्व और चाक्षुषत्व दोनों का ही समावेश उत्कृष्टचाक्षुषज्ञान में है। अतः सङ्कर दोष हो गया। सङ्कर दोष से बचने के लिए चाक्षुषत्वादि की व्याप्य नाना उत्कृष्टत्वादि जातियां नहीं मानी जा सकती हैं, क्योंकि जब विषयगत उत्कृष्टत्वादि से ही कार्यगत उत्कृष्टत्वादि की उपपत्ति हो जाती है तब चाक्षुषत्वादि की व्याप्य उत्कृष्टत्वादि नाना जातियां मानने पर गौरव दोष होगा और उन अनेक जातियों के मानने में कोई प्रमाण भी नहीं है ।। १०।।

दूसरी बात यह भी है कि भयादिनिष्ठकार्यता निरूपित सर्पज्ञानादिनिष्ठ कारणता का अवच्छेदक सर्पादिविषयकत्व को ही मानना चाहिए, क्योंकि ज्ञानत्वेन ज्ञाननिष्ठ अर्थात् ज्ञानत्वावच्छिन्न ज्ञाननिष्ठ भयादि जनकता स्वीकार करने पर अत्तिप्रसङ्ग होगा। अर्थात् घट पटादि के ज्ञान से भी भयादि की उत्पत्ति होने लगेगी, क्योंकि घटादि के ज्ञान में भी जनकतावच्छेदक ज्ञानत्व है ही। इसलिए ज्ञान स्वरूपेण सत् होने पर भी मिथ्यार्थावच्छिन्नत्वाकारेण ज्ञान मिथ्या है। अतः भ्रमस्थल पर ज्ञानमात्र में जनकता होने पर भी मिथ्या में अर्थात् सर्पादिविषयक मिथ्याज्ञान में जनकत्व सिद्ध ही हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी ज्ञान मात्र को भयादि का हेतु मान रहा है। सिद्धान्ती को असत् में साधकता सिद्ध करनी है। यदि भ्रमस्थल पर सर्पादिज्ञान को मिथ्या सिद्ध कर दिया जाता है। तब सिद्धान्ती का अभिमत सिद्ध हो जायेगा। इसलिए सिद्धान्ती ने सर्पादिज्ञान को मिथ्या सिद्ध किया। जनकतावच्छेदक सर्पादिविषयकत्वरूप से जब ज्ञान में मिथ्यात्व सिद्ध हो गया, तब ज्ञानत्वरूप से अर्थात् स्वरूपेण ज्ञान के सत् होने पर उसकी सत्यता असत्यता के तुल्य है, क्योंकि इस प्रकार की सत्यता का कार्योत्पत्ति में कोई उपयोग नहीं है। एक रोचक दृष्टान्त के माध्यम से

जनकत्वे अतिप्रसङ्गात्। तथा च मिथ्यार्थावच्छिन्नत्वाकारेण ज्ञानस्य मिथ्यात्वाद् भ्रमस्थले ज्ञानमात्रस्य जनकत्वेऽपि मिथ्याभूतस्य जनकत्वमागतमेव जनकतावच्छेदकरूपेण च मिथ्यात्वे रूपान्तरेण सत्त्वमप्यसत्त्वात् नातिरिच्यते; अनुपयोगात्। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—'अन्यदा सत्त्वं तु पाटच्चरलुण्ठितवेश्मनि यामिकजागरणवृत्तान्तमनुसरती'ति। स्वरूपेणापि तु भ्रमज्ञानस्य मिथ्यात्वमस्त्येव, स्वरूपतो बाधाभावे विषयतोऽप्यबाधप्रसङ्गात्॥ ११॥

न च गुणजन्यत्वमुपाधिः, तस्याप्यापाद्यत्वेन वह्न्यनुमाने वह्निसामग्र्या इव साधन—

सत्यानन्दप्रबोधिका

खण्डनकार ने इसे इस प्रकार से कहा है—अन्यकालीन सत्त्व चोर से लुटे गये गृह में पहरेदार के जागरण वृत्तान्त का अनुसरण करता है। अर्थात् जिस घर को चोरों ने लूट लिया, उसमें अन्य समय पहरेदार का जागना व्यर्थ होता है, क्योंकि उसका जागरण जिस चोरी रोकना रूप कार्य के लिए था वह कार्य उससे नहीं हो सका। इसी प्रकार सर्पादि विषयकज्ञान की सत्यता को मिथ्याभूत सर्पादि ने अपहरण कर लिया, तब कारण कोटि से बहिर्भूत ज्ञानगत अन्य कालीन सत्त्व के जागने से कोई लाभ सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् पूर्वपक्षी सर्पादि विषयकज्ञान से जन्य भयादि स्थल पर सत् में साधकता है यह सिद्ध नहीं कर सकता है। अत: ज्ञानत्वेन ज्ञान सत्य हो सकता है, परन्तु उस सत्यता की कोई उपयोगिता भयादि कार्यसाधकता के अवसर पर नहीं है, क्योंकि ज्ञानत्वेन ज्ञान में भयादि साधकता नहीं है। अत: सत्यज्ञान में साधकता सिद्ध नहीं, जिस मिथ्यार्थविषयकत्वेन ज्ञान में साधकता है उस रूप से ज्ञान तो सत्य नहीं, किन्तु मिथ्या है, अत: मिथ्या में ही साधकता की सिद्धि हुई। अब तक मिथ्याविषयकत्वेन सर्पादिज्ञान में मिथ्यात्व को दिखलाया गया। अब कह रहे हैं कि मिथ्याविषयकज्ञान स्वरूपत: भी मिथ्या ही होता है, क्योंकि यदि सर्पादि विषयकज्ञान को स्वरूपत: बाधित न माना जाय, तब उसके सर्पादि विषय का भी बाध नहीं हो पायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी के मत में सर्पादि को असत् और सर्पादि विषयकज्ञान को स्वरूपत: सत् माना जाता है, जब कि सिद्धान्ती के मत में मिथ्या विषयकज्ञान ज्ञानाभास होने के कारण अविद्यापरिणामरूप है। अत: सिद्धान्ती के मत में सर्पादि विषय और उनका ज्ञान दोनों ही मिथ्या है और उनका अधिष्ठान साक्षात्कार से बाध होता है। अत: यह अनुमान हुआ कि—भ्रमज्ञानं स्वरूपतो मिथ्या, बाध्यविषयत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा समीचीनज्ञानम्। पूर्वपक्षी के मत को निराकरण करने के लिए सिद्धान्ती के द्वारा यह तर्क दिया गया—''भ्रमो यदि स्वरूपतोऽबाधित: स्यात् तदा अबाधितविषयक: स्यात्।'' इस तर्क के द्वारा यह अनुमान प्रतिफलित होता है— विमतं रज्जु—सर्पादिविषयकं भ्रमात्मकं ज्ञानमबाधितविषयकम्, स्वरूपतोऽबाधितत्वात्, समीचीनज्ञानवत् ॥ ११॥

उक्त तर्क द्वारा प्रतिफलित अनुमान में पूर्वपक्षी के द्वारा ''गुणजन्यत्व'' उपाधि दी जा रही है। उपाधि घटक ''गुण'' का तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षी न्यायमत का अनुसरण करते हुए परत: प्रामाण्य को स्वीकार करता है। न्यायमत में प्रमामात्र को गुणजन्य माना गया है। जैसा कि तत्त्वचिन्तामणिकार ने कहा है—''भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्षविशेषदर्शनादिसम—वधाने प्रमा, तदभावे त्वप्रमेति प्रमायां गुणः, अप्रमायां तदभावो हेतु:''। दर्शनादि में आदि पद से सल्लिङ्गपरामर्श, योग्यता, सत्सादृश्य का ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् भूयोऽवयव इन्द्रियसन्निकर्षरूप गुण प्रत्यक्षज्ञान में प्रमात्व का प्रयोजक है और अनुमिति में सल्लिङ्ग परामर्श,

व्यापकत्वेनानुपाधित्वाद्, विषय इव मिथ्यात्वप्रयोजकदोषादिसमवहितसामग्र्या ज्ञानेऽपि अविशेषाच्च। तुच्छज्ञानतद्भेदसम्यादौ च तुच्छत्वादर्शनमबाधकम्, अवच्छेद्यावच्छेदकयोः सर्वत्र सारूप्यनियमानभ्युपगमात्, प्रकृते चावच्छेदक इवावच्छेद्येऽपि मिथ्यात्वप्रयोजकरूपतुल्यत्वेन सारूप्योपपत्तेः। सर्वसाधारणं चैकं कारणत्वमभ्युपगम्यैतदवोचाम। वस्तुतस्तु—दण्डतन्त्वादिसा—धारणमेकं कारणत्वं नास्त्येव, यत्र तव सत्त्वमवच्छेदकं, तत्र (न) मम तुच्छविलक्षणत्वादिकम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

शाब्दबोध में योग्यता तथा उपमिति में सत्सादृश्य गुण को प्रमात्व का प्रयोजक कहा गया है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार उपाधि का समन्वय इस प्रकार से होगा—दृष्टान्त में उपाधि है क्योंकि प्रमाज्ञान गुण से जन्य होता है। अतः उसमें गुणजन्यत्व है और दृष्टान्त में साध्य के रहने से साध्य का व्यापकत्व उपाधि में मिल गया। पक्षीभूत अप्रमाज्ञान गुण से जन्य नहीं होता है, अपितु दोषजन्य होता है। अतः पक्ष में उपाधि के न रहने और हेतु के रहने से साधन का अव्यापकत्व भी उपाधि में मिल गया। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे ''पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यथा महानसम्'' इस अनुमान में वह्नि सामग्री को उपाधि नहीं बनाया जा सकता है क्योंकि धूमहेतु के द्वारा उसी पर्वतरूप पक्ष पर ''पर्वतो वह्निसामग्रीवान्, धूमात्, महानसवत्'' इस अनुमान से वह्नि सामग्री की सिद्धि हो जाने पर वह्नि सामग्री में साधन का अव्यापकत्व नहीं मिलता है। अर्थात् जब पर्वत पर धूम है तब उसका कारण वह्नि भी पर्वत पर रहेगी। वह्नि के पर्वत पर रहने पर वह्नि की सामग्री भी पर्वत पर रहेगी। अतः पक्ष में वह्नि की सामग्री सिद्ध हो जाने पर साधन का अव्यापकत्व उपाधि में नहीं मिलने के कारण उपाधि खण्डित हो गयी। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में " भ्रमात्मकं ज्ञानं गुणजन्यं स्वरूपतोऽबाधितत्वात्, यथार्थज्ञानवत्" इस अनुमान के द्वारा पूर्वोक्त अनुमान के हेतु (स्वरूपतोऽबाधितत्व) के द्वारा ही उसी पक्ष में उपाधि की सिद्धि की जा सकती है। अर्थात् जब पक्ष में हेतु (स्वरूपतोऽबाधितत्त्व) है तब पक्ष में गुणजन्यत्व भी रहेगा क्योंकि जहां—जहां स्वरूपतः अबाधितत्त्व है वहां—वहां गुणजन्यत्व है यह व्याप्ति परतः प्रमाण्यवादी पूर्वपक्षी के मतानुसार यथार्थज्ञान में देखी गयी है। अतः साधन का व्यापक उपाधि के हो जाने से उपाधि भङ्ग हो गयी। दूसरी बात यह है कि जैसे विषय के मिथ्यात्व का प्रयोजक चाकचिक्यादि दोष एवं अविद्या से युक्त सामग्री है, वही सामग्री भ्रम ज्ञान में भी है। अतः यह अनुमान किया ही जा सकता है कि "सर्पादिज्ञानं मिथ्या, दुष्टसामग्रीजन्यत्वात्, सर्पादिविषयवत्।" अर्थात् जिस सामग्री से भ्रमज्ञान का विषयीभूत सर्पादि की उत्पत्ति होती है। उसी सामग्री से भ्रमज्ञान भी उत्पन्न होता है। अतः विषय के समान भ्रमज्ञान भी मिथ्या ही होगा। इसलिए सर्पादिभ्रमज्ञान के सर्पादि विषय रूप अवच्छेदक में रहने वाला मिथ्यात्व सर्पादिविषय से अवच्छिन्नभ्रमज्ञान में भी रहेगा। पीछे खण्ड संख्या सप्त में जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि तुच्छज्ञान में और तुच्छभेद में तुच्छत्व के, प्रातिभासिक से वैलक्षण्य में प्रातिभासिकत्व के, आत्मस्वरूपभूत जो अनिवर्चनीय अज्ञान की निवृत्ति है,उस में अनिवर्चनीयत्व के न रहने से सर्पादि विषयरूप अवच्छेदकवृत्ति मिथ्यात्व अवच्छिन्नरूपभ्रमज्ञान में नहीं रहेगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सर्वत्र अवच्छेदक और अवच्छिन्न पदार्थों में सारूप्य हम नहीं मानते हैं। किन्तु सिद्धान्त मत में यह माना जाता है कि जिन में सारूप्य का प्रयोजक धर्म उपलब्ध है उनमें हीं सारूप्य होता है। अतः किसी स्थल पर व्यभिचार का उद्भावन

किन्तु कार्यतावच्छेदकं घटत्वपटत्वादि, कारणतावच्छेदकं च दण्डत्वतन्तुत्वादि, तद्भेदाच्च कारणत्वं भिन्नम्। यथा गोगवयसादृश्यमन्यद् भ्रातृभगिन्यादिसादृश्यमन्यत्, तत्र नैकमवच्छेदकम्, किन्तु गवयत्वभगिनीत्वादिकमेव, तद्वदत्रापि दण्डत्वादिकमेव सत्त्वासत्त्वोदासीनमवच्छेदकं वाच्यम्। तथा च जनकत्वाजनकत्वानुसारेण न सत्त्वासत्त्वसिद्धिः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

'पूर्वसम्बन्धनियमे हेतुत्वे तुल्य एव नौ। हेतुसत्त्वबहिर्भूतसत्त्वासत्त्वकथा वृथा।।' इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने पर भी प्रकृत में दोष नहीं होगा, क्योंकि मिथ्यात्व का प्रयोजक धर्म दोष—अविद्या से युक्त सामग्री जन्यत्व अवच्छेदक (सर्पादिविषय) और अवच्छिन्न सर्पादिज्ञान में है। अतः अवच्छेदक और अवच्छिन्न में सारूप्य की उपपत्ति हो जाने से अवच्छेदक के जैसे अवच्छिन्न भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन था कि सत् में ही कारणता रहती है असत् में नहीं। अर्थात् सत्त्वावच्छिन्ना एक ही कारणता होती है। इसका निराकरण करते हुए सिद्धान्त पक्ष से कहा गया कि तुच्छविलक्षणत्वावच्छिन्ना एक ही कारणता होती है न कि सत्त्वावच्छिन्ना एक ही कारणता होती है क्योंकि सर्वदा सर्वत्र सभी के द्वारा अबाध्यत्वरूपसत्त्व का अवधारण नहीं किया जा सकता है। जबकि तुच्छविलक्षणत्व का अवधारण किया जा सकता है। अतः तुच्छविलक्षणत्वावच्छिन्ना एक कारणता मानकर समाधान पीछे दिया गया है। वस्तुतः सर्वत्र एक ही कारणता नहीं होती है—इसका प्रतिपादन आगे किया जा रहा है। दण्ड और तन्त्वादि में साधारण रूप से रहने वाली एक ही कारणता नहीं होती है। यदि एक ही कारणता होती तब पूर्वपक्षी के मत से सत्त्व, सिद्धान्ती के मत से तुच्छविलक्षणत्वादि कारणतावच्छेदक होता। (मूल में ''न'' इतना पाठान्तर के अनुसार यह अर्थ होगा कि यदि एक ही कारणता होती तब पूर्वपक्षी के मत से कारणतावच्छेदक सत्त्व सिद्ध हो जाता और सिद्धान्ती के मत से कारणतावच्छेदक तुच्छविलक्षणत्वादि सिद्ध नहीं होता) किन्तु घटत्वपटत्वादि विविध धर्मावच्छिन्न कार्यता से निरूपित कारणता कपालत्व दण्डत्व तन्तुत्वादि विविध धर्मावच्छिन्ना ही होती है। दण्डत्व, कपालत्व, तन्तुत्वादिरूप कारणतावच्छेदक के भेद से कारणता भी भिन्न—भिन्न होती है। जैसे गोप्रतियोगिक गवयानुयोगिक सादृश्य भिन्न होता है और भ्रातृप्रतियोगिक भगिन्यादि अनुयोगिक सादृश्य भिन्न होता है सादृश्य स्थल में सादृश्यीयानुयोगितावच्छेदक एक नहीं है अपितु गवयत्व भगिनीत्वादिक भिन्न—भिन्न ही है। उसी प्रकार प्रकृत में भी कारणता का अवच्छेदक सत्त्व और असत्त्व इन दोनों से उदासीन दण्डत्वादि ही है। फलतः जनकता या साधकता के माध्यम से प्रपञ्चगत सत्त्व नहीं सिद्ध किया जा सकता है। अर्थात् जिसमें कारणत्व होगा उसमें सत्त्व होगा और जिसमें कारणत्व नहीं होगा उसमें असत्त्व होगा ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस अर्थ को आचार्यप्रवर श्री श्रीहर्ष ने इस प्रकार से कहा है—''पूर्वसम्बन्ध नियमे.........'' इस पद्य की व्याख्या ''प्रत्यक्षस्योपजीव्यत्वेन प्राबल्यविचारः '' प्रकरण में प्रथम भाग के पृष्ठ १७५ पर की जा चुकी है। द्वितीय पद्य—''अन्तर्भाविसत्त्वं चेत् ....''इस पद्य का अर्थ इस प्रकार है—सत्ताविशिष्ट में कारणता है अथवा सत्तोपलक्षित में। प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर दोष दे रहे हैं सत्ताविशिष्ट में कारणता मानने पर कारण को सत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि जो सत्तविशिष्ट है वह सत् नहीं है। सत्ता विशिष्ट को सत् मानने पर सत्ताविशिष्ट में सत्ता माननी पड़ेगी और तब विशेषण सत्ता में भी सत्ता माननी पड़ेगी, जो आत्माश्रयादि

अन्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः। नान्तर्भावितसत्त्वं चेत् कारणं तदसत्ततः॥' इतिच। न चैवम्, अन्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः। नान्तर्भावितसत्त्वं चेदधिष्ठानमसत्ततः॥'इति तवापि समानमिति–वाच्यम्, ममाधिष्ठाने स्वरूपत एव सत्ताङ्गीकारः, तव तु कारणे

सत्यानन्दप्रबोधिका

दोष के भय से माना नहीं जा सकता है। अतः सत्ता में सत्ता न होने के कारण सत्ता को सत् नहीं कहा जा सकता है। अतः कारण को असत् स्वीकार करना होगा। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर दोष दे रहे हैं कि सत्तोपलक्षित को कारण मानने पर भी कारण को असत् मानना पड़ेगा, क्योंकि सत्ता रहित पदार्थ ही सत्तोपलक्षित होता है। अथवा इस पद्य का इस प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है–सत्ता में कारणता है या नहीं। प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर असत् में कारणता सिद्ध हो जायेगी क्योंकि आत्माश्रयादि के भय से सत्ता को सत् (अर्थात् सत्ताविशिष्ट) नहीं माना जा सकता है, अतः सत्ता असत् है। द्वितीयपक्ष को स्वीकार करने पर अर्थात् सत्ता में कारणता न मानने पर सत्ता के द्वारा सदाकार प्रत्यय भी उत्पन्न नहीं होगा। तब सदाकार प्रत्ययप्रमाणक सत्ता का विलोप होने पर सभी असत् ही सिद्ध हो जायेगा। अथवा इस प्रकार से भी इस पद्य का अर्थ हो सकता है– कारणत्व सत्ता का व्याप्य है या नहीं। प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर सत्ता में सत्ता के न रहने से तद् व्याप्यभूत कारणत्व की भी निवृत्ति हो जायेगी। अतः सत्ता में जब कारणता नहीं है तब सत्ता से जन्य सत्ताविषयक ज्ञान भी न होने से सत्ता का विलोप होगा और सत्ता के विलोप से सर्वकारण असत् सिद्ध हो जायेगें। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर सत्ता को छोडकर भी कारणत्व सिद्ध हुआ। ऐसे होने पर स्वमुख से ही असत् को कारण मान लिया। अतः जनकता और अजनकता के माध्यम से सत्त्व और असत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इस पर पूर्वपक्षी पूर्वोक्त खण्डन वाक्य का निराकरण करने के लिए आचार्यप्रवरश्रीश्रीहर्ष के न्याय का अनुसरण कर रहा है। अर्थात् खण्डनखण्डखाद्य के प्रथमपरिच्छेद में व्याप्तिलक्षण के खण्डन के अवसर पर खण्डनकार ने कहा है–

तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥

इसी खण्डनोक्ति का अनुसरण करते हुए पूर्वपक्षी पूर्वोक्त खण्डन के पद्य में कतिपय पदों का हेर–फेर कर के ''सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'' इत्यादि श्रुति वाक्यों के बल पर अद्वैतवेदान्त सम्मत सदधिष्ठान का निराकरण कर रहा है, जो कि सिद्धान्ती के लिए अनिष्टकारक होगा। इसी को मूल में कहा गया–''तवापि समानम्''। कारणत्व के स्थान पर अधिष्ठानत्व को रखकर कहा –''अर्न्तभावितसत्त्वम्..........'' अर्थात् आप के मत में अधिष्ठान सत्त्वविशिष्ट है अथवा सत्त्वोपलक्षित। प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अधिष्ठान असत् होगा क्योंकि सत्त्वविशिष्ट को सत् माना नहीं जा सकता, मानने पर विशेषणीभूत सत्त्व में सत्त्व मानना होगा। जब की सत्त्व–सत्त्व से विशिष्ट होता नहीं। अतः अधिष्ठान असत् हुआ। सत्त्वोपलक्षित को अधिष्ठान मानने पर अधिष्ठान को असत् मानना पड़ेगा क्योंकि सत्ता रहित पदार्थ ही सत्त्वोपलक्षित होगा। इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने सिद्धान्त रहस्य को न समझ कर ही बेशिर–पैर की शङ्का

स्वरूपातिरिक्तसत्ताङ्गीकार इति विशेषात्॥ १२॥

यत्तु अर्थो न ज्ञानस्य जनकतायामवच्छेदकोऽपि, मानाभावात्। न चातिप्रसङ्गः, विषयावच्छेदकमनपेक्ष्यैव सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्यावृत्तिसिद्धेः। तथा हि—सर्पज्ञानस्यासर्पज्ञानाद्व्या—वृत्तिर्व्यावर्तकाधीना। न च विषयस्तत्सम्बन्धो वा व्यावर्तकः, स्वरूपातिरिक्तद्विनिष्ठसम्बन्धाभावात्, असंबद्धस्य चाव्यावर्तकत्वात्। अथ संबन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टव्यवहारजननयोग्यं ज्ञानस्वरूपमेव वा ज्ञानमात्रनिष्ठः कश्चिद्धर्मो वा सम्बन्धः, तर्हि विषयमनन्तर्भाव्यैव ज्ञानात्तद्गतधर्माद्वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

की है, क्योंकि सिद्धान्त में अधिष्ठान को स्वरूपतः ही सत् माना जाता है न कि सत्ता वैशिष्ट्य से, जबकि पूर्वपक्षी के मत में सत्तावान् को सत् माना जाता है। इसलिए सिद्धान्त मत में अधिष्ठान सत्ता रहित होने पर भी सत् स्वरूप होगा। अतः खण्डनकार की रीति से पूर्वपक्षी के मत में ही दोष होगा, सिद्धान्ती के मत में नहीं॥ १२॥

विषय विशेषित ज्ञान में जनकता होने पर विषय में भी जनकतावच्छेदकत्व रहेगा। अतः जनकत्वरूपसाधकत्व विषय में भी है—ऐसा जो सिद्धान्ती के द्वारा पीछे कहा गया था, उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय को ज्ञाननिष्ठ जनकता का अवच्छेदक माना नहीं जा सकता हैं क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कहते है कि विषय को ज्ञान का अवच्छेदक न मानने पर फलांश में विप्लव होगा अर्थात् सर्पज्ञान के जैसे ही घटज्ञानादि से भी भय की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषयरूप अवच्छेदक की अपेक्षा न करके ही सर्पज्ञान की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति हो जायेगी। कहने का आशय यह है कि सिद्धान्ती ने कहा कि एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान भिन्न है, यह विषय के भेद के कारण होता है, जब कि पूर्वपक्षी का कहना है कि विषयरूप अवच्छेदक के बिना ही ज्ञान स्वयम् ही दूसरे ज्ञान से अपनी भिन्नता को सिद्ध कर देगा। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सर्पविषयक ज्ञान की असर्पविषयक ज्ञान से जो व्यावृत्ति है, वह व्यावर्तक के अधीन है किन्तु वह व्यावर्तक विषय अथवा विषय का ज्ञान से सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि विषय का ज्ञान के साथ स्वरूप सम्बन्ध ही माना जाता है। उससे भिन्न घट पट संयोग के समान कोई द्विष्ठ सम्बन्ध नहीं माना जाता है। इसलिए ज्ञान के साथ सम्बन्ध से शून्य अर्थात् ज्ञान से असम्बद्ध विषय व्यावर्तक नहीं हो सकता है। यदि स्वरूप सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध के बिना विशिष्ट व्यवहार के जनन योग्य ज्ञान का अपना स्वरूप अथवा ज्ञान मात्र निष्ठ कोई असाधारण धर्म (विषयिता) ही विषय ज्ञान का सम्बन्ध माना जाय तो ऐसा मानने पर ज्ञान से अथवा ज्ञानगत धर्म से ही ज्ञानान्तर से किसी ज्ञान की व्यावृत्ति की सिद्धि हो जायेगी। अतः व्यावृत्ति के लिए विषय या विषय के सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। पूर्वपक्षी के द्वारा ज्ञान की स्वतः व्यावृत्तता में अनुमान प्रमाण दिया जा रहा है—सर्पज्ञानं धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्यासर्पज्ञानाद् विलक्षणम्, तज्जनकविलक्षणजन्यत्वात्, यवाङ्कुरात् कलमाङ्कुरवत्, तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद् वा, यववीजात्कलमवीजवत्। साध्य घटक धर्मी का अर्थ है अनुयोगी। अतः धर्म्यन्तर का प्रतियोगी अर्थ होगा। इस प्रकार प्रतिज्ञा वाक्य का अर्थ होगा— सर्पज्ञान विषयप्रतियोगिक सम्बन्ध की अपेक्षा न कर के असर्पज्ञान से विलक्षण है। प्रथम दृष्टान्त में साध्य का समन्वय— धर्मी—कलमाङ्कुर, धर्म्यन्तर=कलम (एक प्रकार का धान)। कलमाङ्कुर अपने साथ कलम के सम्बन्ध के बिना

विशेषसिद्धिरित्यायातम्। किञ्च सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद्धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्, तज्जन-कविलक्षणजन्यत्वात्, यवाङ्कुरात् कलमाङ्कुरवत्, तज्जन्यविलक्षणजनकत्वाद्वा, यवबी-जात्कलमबीजवत्। न च विलक्षणविषयसम्बन्धेनैव हेत्वोरुपपत्तावप्रयोजकत्वम्, तथात्वे हि यवबीजतदङ्कुरविलक्षणजन्यजनके कलमाङ्कुरतद्बीजेऽपि यवाङ्कुरतद्बीजाभ्यां कलमाङ्कुर-तद्बीजत्वरूपस्वाभाविकवैलक्षण्यं विना कदाचिदुपलक्षणीभूतचैत्रादिसम्बन्धित्वमात्रेण विलक्षणे स्याताम्। साक्षात्कारोऽपि परोक्षज्ञानादन्यसम्बन्धितामात्रेण विलक्षणः स्यात्। एवं च यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही यवाङ्कुर से भिन्न है। अतः साध्य का दृष्टान्त में समन्वय हो गया। हेतु का दृष्टान्त में समन्वय—यवाङ्कुर जनक सामग्री—यवादि, उससे विलक्षण सामग्री कलमादि, उससे जन्य कलमाङ्कुर। अतः तज्जनकविलक्षणजन्यत्वरूपहेतु दृष्टान्त में चला गया। पक्ष में हेतु का समन्वय—असर्पज्ञान की जनक सामग्री से विलक्षण सामग्री से जन्य सर्पज्ञान है। अतः उक्त जन्यत्वरूपहेतु सर्पज्ञान रूप पक्ष में चला जायेगा। द्वितीय दृष्टान्त में द्वितीय हेतु का समन्वय—तत्पद से लिया यववीज, उससे जन्य यवाङ्कुर। यवाङ्कुर से विलक्षण कलमाङ्कुर है। उस कलमाङ्कुर का जनक कलम वीज है। अतः उक्त जनकत्व रूप हेतु दृष्टान्त में चला गया। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—कलमवीज अपने साथ कलम सम्बन्ध के बिना ही यववीज से भिन्न है। अतः कलमबीज में उक्त विलक्षणत्व रूपसाध्य गया। पक्ष में द्वितीय हेतु का समन्वय—तत् पद से असर्पज्ञान लिया। उससे जन्य निर्भयतादि। उससे विलक्षण भयादि उसका जनक सर्पज्ञान है। अतः उक्त जनकत्व रूप हेतु सर्पज्ञानरूप पक्ष में गया। इस प्रकार व्याप्ति विशिष्ट पक्षधर्मतारूप परामर्श ज्ञान होने पर पक्ष में साध्य की सिद्धि माननी चाहिए—यह पूर्वपक्षी का आशय है। इस पर यदि कोई कहता है कि भिन्न भिन्न ज्ञानों के भिन्न भिन्न जो विषय है उसके सम्बन्ध से ही ज्ञानों में भेद सिद्ध हो जाने से उक्त दोनों हेतुओं में अप्रयोजकत्व है—तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि यदि स्वाभाविक भेद के बिना ही धर्म्यन्तर सम्बन्ध से सर्वत्र भेद सिद्ध किया जाता है, तब यववीज और यवाङ्कुर इन दोनों से विलक्षण जो कलमवीज तथा कलमाङ्कुर उनसे जन्य और विलक्षण अर्थात् दूसरा जो कलमवीज तथा कलमाङ्कुर उनका जनक जो क्रमशः कलमाङ्कुर और कलमवीज है। ये दोनों भी यवाङ्कुर और यववीज इन दोनों से कलमाङ्कुरत्व और कलमवीजत्वरूप स्वाभाविक भेद के बिना कदाचित् कलमाङ्कुर और कलमवीज के उपलक्षणीभूत चैत्रादिसम्बन्धित्व मात्र से कलमाङ्कुर और कलमवीज क्रमशः यवाङ्कुर और यववीज से विलक्षण होंगे, अर्थात् कलमाङ्कुर यवाङ्कुर से इसलिए भिन्न है कि कलमाङ्कुर चैत्रसम्बन्धित है और यवाङ्कुर मैत्रसम्बन्धित है। इसी प्रकार कलमवीज यववीज से इसलिए भिन्न है कि कलमवीज चैत्रसम्बन्धित है और यववीज मैत्रसम्बन्धित है। इसी प्रकार यदि स्वाभाविक वैलक्षण्य मात्र भेदक नहीं होता तब साक्षात्कार भी परोक्षज्ञान से चैत्रादिसम्बन्धित्वमात्र से विलक्षण होगा। अर्थात् साक्षात्कार परोक्षज्ञान से इसलिए भिन्न है कि साक्षात्कार चैत्र को हुआ है और परोक्ष ज्ञान मैत्र को हुआ है। इसी प्रकार प्रतियोगी को अन्तर्भाव न करके अर्थात् प्रतियोगी की अपेक्षा के बिना ही घट का अत्यन्ताभाव घट के प्रागभाव से स्वभावतः विलक्षण होता है क्योंकि उनमें अत्यन्ताभावत्व और प्रागभावत्व रूप स्वाभाविक भेद है। वहां घटादि प्रतियोगी को भेदक इसलिए नहीं माना जा सकता कि प्रतियोगी तो उभयत्र एक ही है और शिलोद्धरण

प्रतियोगिनमनन्तर्भाव्यैव घटस्याभावोऽभावान्तरात्, यथा च विषयमनन्तर्भाव्यैव शिलोद्धरणकृति-र्माषोद्धरणकृतितः, यथा चातीतादिज्ञानमसद्विषयकपरोक्षज्ञानव्यवहारौ च ज्ञानान्तरादितः, {यथा च घटस्मृतिर्घटनुभवात्, यथा च घटस्य परोक्षज्ञानं तदपरोक्षज्ञानाद् विलक्षणम्।} अन्यथा तत्तत्कार्यसङ्करः स्यात्, एवं सर्पज्ञानमपि रज्जौ सर्पज्ञानस्य भ्रमत्वेनाधिकजन्यत्वेऽपि सर्पज्ञानत्वेन तद्धेतुजन्यत्वात् स्वत एव वा असर्पज्ञानाद्विलक्षणमिति न कोऽपि दोषः। न चाभावादावपि प्रतियोग्यादेरवच्छेकत्वं, ध्वंसादेः कृतेरतीतादिज्ञानस्य च सत्तासमये प्रतियोगिविषययोरसत्त्वादिति।। १३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

और माषोद्धरण रूप विषय को अर्न्तभाव न कर के ही एक गुरुशिला उठाने की कृति (प्रयत्न) एक माषा भर वस्तु के उठाने की कृति से स्वभावतः विलक्षण होती है अन्यथा एक कृति चैत्र सम्बन्धित और दूसरी कृति मैत्र सम्बन्धित है, इस प्रकार के भी दोनों कृतियों में भेद सिद्ध हो जायेगा। एवं अतीत अनागत विषयकज्ञान वर्तमान विषयकज्ञान से विषय की अपेक्षा किये बिना ही स्वभावतः विलक्षण होता है और असद् विषयक परोक्षज्ञान तथा व्यवहार, सद्विषयक अपरोक्षज्ञान तथा व्यवहार से विषय की अपेक्षा किये बिना ही स्वभावतः विलक्षण होता है। (''यथा च घटस्मृतिर्घटानुभवाद् यथा च घटस्य परोक्षज्ञानं तदपरोक्षज्ञानाद् विलक्षणम्'' इतना अधिक पाठ है। इसका अर्थ है—जैसे विषय की अपेक्षा किये बिना ही घट की स्मृति घट के अनुभव से स्वभावतः भिन्न है और घट का परोक्षज्ञान घट के अपरोक्षज्ञान से स्वभावतः भिन्न हैं।) यदि स्वरूपतः भेद नहीं मानेंगे तब घट का परोक्षज्ञान घट का अपरोक्षज्ञान घट की स्मृति घट का अनुभव आदि में साङ्कर्य होने से (भेद सिद्ध न होने से) ज्ञानों के फल में साङ्कर्य होगा और परोक्षापरोक्षादि असङ्कीर्ण व्यवहार भी नहीं होगा। इसी प्रकार अभाव का अभावान्तर से वैलक्षण्य न मानने पर अभावों का परस्पर साङ्कर्य होने से गुणाभाव और दोषाभाव के एक हो जाने से भ्रमप्रमा रूप कार्यों का साङ्कर्य हो जायेगा। प्रकृत में रज्जु में सर्पज्ञान भ्रमात्मक होने के कारण यथार्थ सर्पज्ञान की अपेक्षा से अधिक सामग्री (दोषादि) से जन्य है किन्तु भ्रमात्मक सर्पज्ञान सर्पज्ञानत्वेन सर्पज्ञान होने के कारण सर्पज्ञान के हेतु से भी जन्य है जबकि असर्पज्ञान सर्पज्ञान के हेतु से जन्य नहीं है। अतः "सर्पज्ञानमसर्पज्ञानाद् विलक्षणं सर्पज्ञानहेतुजन्यत्वात्" इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमान से विषय की अपेक्षा न करके सर्पज्ञान हेतु जन्यत्वेन असर्पज्ञान से सर्पज्ञान विलक्षण है अथवा सर्पज्ञान स्वतः सर्पज्ञानत्वेन ही असर्पज्ञान से विलक्षण है। अतः कोई दोष नहीं है अर्थात् "सर्पज्ञानं स्वतोऽसर्पज्ञानाद् विलक्षणम्, सर्पज्ञानत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथाऽसर्पज्ञानम्" इस अनुमान से विषय की अपेक्षा किए बिना ही सर्पज्ञान असर्पज्ञान से भिन्न सिद्ध हो जाएगा। इस पर यदि कोई कहता है कि अभाव—कृति—अतीतादि के ज्ञान में प्रतियोगी और विषय अवच्छेदक होते हैं, अर्थात् घटाभाव पटाभाव से, माषोद्धरणकृति शिलोद्धरणकृति से, अतीतादिज्ञान वर्तमानज्ञान से प्रतियोगी और विषय की अपेक्षा रखकर विलक्षण है, न कि प्रतियोगी या विषय की अपेक्षा न रख कर। अतः उनमें और उनके कार्यों में सङ्करापत्ति नहीं होगी—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ध्वसं और प्रागभाव के समय उनके प्रतियोगी विद्यमान नहीं होते हैं और शिलोद्धरण कृति काल में शिलोद्धरणरूप विषय नहीं होता है क्योंकि सिद्धवस्तु में कृति कर्मत्व नहीं होता है, अर्थात् शिलोद्धरण यदि सिद्ध है तो शिलोद्धरण के लिए कोई प्रयत्न नहीं हो

तत्र, सर्पज्ञानत्वावच्छिन्नस्यासर्पज्ञानाद् व्यावृत्तौ प्रयोजकं न तत्तत्स्वरूपमेव, सर्वज्ञानसाधारण्याभावात्, किन्त्वनुगतो धर्मः कश्चित्। सोऽपि सर्पज्ञानमात्रे न जातिरूपः, प्रत्यक्षत्वानुमानत्वादिना सङ्करप्रसङ्गात्, किन्तूपाधिरूपः। स च स्वरूपसम्बन्धेनाध्यासिकसम्बन्धेन वा सम्बन्धिभूतविषयादन्यो न भवति, मानाभावात्। अत एव धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणमित्युक्तानुमानं बाधितं द्रष्टव्यं व्यभिचारि च। तथा हि—घटसंयोगः, पटसंयोगान्न

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकता। अतीतादि ज्ञान के काल में विषय विद्यमान नहीं होता है। इसलिए प्रतियोगी और विषय को अवच्छेदक या व्यावर्तक नहीं माना जा सकता है।। १३।।

पूर्वपक्षी का पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि सकलसर्पज्ञानों की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति का प्रयोजक तत्—तत् सर्पज्ञान का स्वरूप अर्थात् तत्—तत् सर्पज्ञान व्यक्तित्व नहीं हो सकता है, क्योंकि संसार में जितने रज्जुसर्पज्ञान है उनका एक ही स्वरूप नहीं है। अर्थात् संसार में एक ही सर्पज्ञान नहीं होता है। किन्तु अनेक होते हैं और उनका स्वरूप भी भिन्न—भिन्न होता है। अतः कोई भी एक सर्पज्ञान का स्वरूप सकलसर्पज्ञानों में अनुस्यूत नहीं हो सकता है। इसलिए सकल सर्पज्ञान के असर्पज्ञान से भेद का अवच्छेदक भी सर्पज्ञान का स्वरूप नहीं हो सकता है। अर्थात् कोई एक सर्पज्ञान का इतर सर्पज्ञानों से विलक्षण जो स्वरूप वह सकल सर्पज्ञानों की असर्पज्ञान से भिन्नता को सिद्ध नहीं कर सकता है। इसलिए सकल सर्पज्ञानों में अनुगत कोई धर्म को ही सकल सर्पज्ञानों की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति का प्रयोजक मानना पड़ेगा। वह प्रयोजक धर्म सकलसर्पज्ञान मात्र वृत्ति सर्पज्ञानत्वरूप जाति हो नहीं सकता, क्योंकि प्रत्यक्षत्व—अनुमानत्वादि के साथ सङ्कर का प्रसङ्ग होगा। जैसे प्रत्यक्षत्व के अभाव वाली सर्पानुमिति में सर्पज्ञानत्व है और सर्पज्ञानत्व के अभाव वाले घटादि प्रत्यक्ष में प्रत्यक्षत्व है। प्रत्यक्षसर्पज्ञान में प्रत्यक्षत्व और सर्पज्ञानत्व दोनों है। इसी प्रकार अनुमानत्वादि के साथ भी सङ्कर दोष होगा। अतः सङ्कर के भय से सकलसर्पज्ञानानुगत सर्पज्ञानत्व को उपाधिरूप ही मानना पड़ेगा। वह उपाधि विषय से अन्य हो नहीं सकती, क्योंकि ज्ञान और विषय में स्वरूप सम्बन्ध मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में स्वरूप सम्बन्ध से ज्ञान से सम्बन्धित विषय और आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध मानने वाले सिद्धान्ती के मत में आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बन्धिभूत विषय ही उपाधि हो सकता है। विषय से अन्य किसी को ज्ञाननिष्ठव्यावृत्ति का प्रयोजकीभूत उपाधि मानने में प्रमाण नहीं है। इस प्रकार व्यावृत्ति का प्रयोजक विषय के सिद्ध हो जाने पर ''धर्म्यन्तरसम्बन्धमनपेक्ष्य विलक्षणम्'' यह पूर्वोक्त पूर्वपक्षीकृत अनुमान बाधित हो गया। क्योंकि धर्म्यन्तररूप विषय के सम्बन्ध से ही ज्ञान की व्यावृत्ति होती है—यह ऊपर में सिद्ध कर दिया गया। उक्त अनुमान व्यभिचारी भी है। जैसे घट संयोग पट संयोग से जाति के द्वारा भिन्न नहीं होता है, पट संयोग में न रहने वाली जाति का अधिकरण न होने से, जैसे विशेष। पक्ष में हेतु का समन्वय—पट संयोग में अवृत्ति जाति घटसंयोगत्व नहीं हो सकती, क्योंकि घटसंयोगत्वरूप जाति किसी को मान्य नहीं, अतः पटसंयोग में अवृत्ति जाति—द्रव्यत्व,घटत्व,रूपत्वादि ही होंगे। इन जातियों का अनधिकरण घट संयोग है। अतः घट संयोगरूप पक्ष में हेतु (पटसंयोगावृत्तिजात्यनधिकरणत्व) का समन्वय हो गया। दृष्टान्त में हेतु का समन्वय—पट संयोग में अवृत्ति जाति का अनधिकरण विशेष होता है क्योंकि विशेष में कोई भी विशेषत्वरूप जाति नहीं मानी जाती है। दृष्टान्त में साध्य का समन्वय—एक

जात्या भिद्यते, तदवृत्तिजात्यनधिकरणत्वात्, किन्तु घटरूपोपाधिनैवेति धर्म्यन्तरसम्बन्धमपेक्ष्यैव विलक्षणे घटसंयोगत्वावच्छिन्ने साध्याभाववति उक्तहेतुसत्त्वाद् व्यभिचारः, अप्रयोजकश्च। न च—उपलक्षणीभूतचैत्रसम्बन्धेनापि कलमाङ्कुरादेर्व्यावृत्ततापत्तिः, विपक्षबाधायामिष्टापत्तेः। न हि जातेर्व्यावर्तकत्वे उपाधिरव्यावर्तको भवति। एवं शिलोद्धरणमाषोद्धरणकृत्योः परस्परं जात्या व्यावृत्तावपि विषयरूपोपाधिनापि व्यावृत्तिरविरुद्धा। शिलोद्धरणे च जातिविशेषविशिष्टयाः कृतेर्जनकत्वेन तद्रहिताया माषोद्धरणकृतेस्तदनिष्पत्तिरविरुद्धा। व्यावृत्तेरन्यतोऽपि सिद्धिसम्भवे

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेष दूसरे विशेष से जाति के द्वारा भिन्न नहीं होता है। क्योंकि वह स्वतः ही व्यावर्तक होता है। यह विशेष पदार्थरूप दृष्टान्त पूर्वपक्षी के मतानुसार है। अतः व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मतारूपपरामर्श ज्ञान के बल पर पक्ष में साध्य की सिद्धि हो गयी। यद्यपि घटसंयोग पटसंयोग घटसंयोगत्व—पटसंयोगत्वरूप जाति के द्वारा भिन्न नहीं होता है तथापि भिन्न—भिन्न प्रतियोगियों के द्वारा घटसंयोग से पटसंयोग भिन्न सिद्ध होता है। प्रश्न होता है कि वह प्रतियोगी क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि घटादिरूप उपाधि है। घटादिरूप उपाधि के द्वारा ही घटसंयोग पटसंयोग से भिन्न सिद्ध होता है। इस प्रकार घटसंयोग में साध्याभाव—धर्म्यन्तर के सम्बन्ध की अपेक्षा करके विलक्षणत्व है और पूर्वोक्त दोनों हेतु भी घटसंयोग में है। जैसे घटसंयोग में तज्जनक विलक्षण जन्यत्व है, क्योंकि पटसंयोग जनक कर्मादि की अपेक्षा से भिन्न कर्मादि से घटसंयोग उत्पन्न होता है। इसी प्रकार घटसंयोग में तज्जन्य विलक्षण जनकत्व भी है क्योंकि पटसंयोग से उत्पन्न पटप्रत्यक्षादि की अपेक्षा से भिन्न घट प्रत्यक्षादिरूप कार्य का घटसंयोग जनक होता है। पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित अनुमान के हेतुओं में विपक्षवृत्तित्व—बाधक तर्क का अभाव होने से, वह अनुमान व्यभिचार शङ्का निवर्त्तक तर्क से शून्य अर्थात् अप्रयोजक भी है। पूर्वपक्षी ने पूर्व में विपक्षवृत्तित्वबाधक जो तर्क दिया था कि यदि धर्म्यन्तर सम्बन्ध से भी सर्वत्र भेद माना जायेगा तब उपलक्षणीभूत चैत्रादि सम्बन्ध के द्वारा यवाङ्कुरादि से कलमाङ्कुरादि का भेद सिद्ध हो जायेगा। ऐसा होने पर उनका जात्या स्वाभाविक भेद उच्छिन्न हो जायेगा। पूर्वपक्षी का यह तर्क व्यर्थ है क्योंकि उक्त आपत्ति में हमें इष्टापत्ति है। व्यावर्तक कहीं पर विशेषण, कहीं पर उपाधि और कहीं पर उपलक्षण भी होता है। विशेष बात यह है कि जहां उपलक्षण को व्यावर्तक मानने पर अतिप्रसङ्ग होता है वहां पर ही उपलक्षण को व्यावर्तक नहीं माना जाता है। प्रकृत में उपलक्षणीभूत चैत्रादि सम्बन्धित्व को व्यावर्तक मान लेने पर कोई भी अतिप्रसङ्ग नहीं है। यदि कहो कि जात्या स्वाभाविक भेद का उच्छेद हो जायेगा, यही अतिप्रसङ्ग है—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि कोई भी ऐसा नियम नहीं है कि वस्तु का व्यावर्तक एक ही धर्म होता है। अतः जाति के व्यावर्तक होने पर भी उपाधि (विशेषण और उपलक्षण) भी व्यावर्तक हो ही सकते हैं। अतः शिलोद्धरण कृति और माषोद्धरण कृति इन दोनों में परस्पर जाति से व्यावृत्ति होने पर भी विषयरूप उपाधि से भी व्यावृत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है। प्रश्न होता है कि जब शिलोद्धरण और माषोद्धरणरूप विषय के सम्बन्ध से उक्त दोनों कृतियों में भेद सिद्ध हो गया, तब वहां पर जाति विशेष को मानकर उसके द्वारा भी व्यावृत्ति मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि शिलोद्धरणकृतित्वरूप जाति विशेष से विशिष्ट जो कृति शिलोद्धरणरूप कार्य के प्रति हेतु है उस शिलोद्धरणकृतित्वरूप

कार्यकारणभावादिनिर्वाहाय जातिविशेषस्यापि कल्पनात्, अतीतासद्विषयकज्ञानव्यवहारादौ चातीतासतोरेव व्यावर्तकत्वम्। न हि व्यावृत्तिधीजनकत्वं तत्, येन सत्त्वाभावे प्राक्सत्त्वशरीरतया न स्यात्, किन्तु व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्वमित्युक्तम्। तच्चातीतादौ सुलभमेव। अत एवाभावादिनिदर्शनमपि निरस्तम्, उक्तरूपव्यावर्तकत्वस्यात्यन्तासत्यपि सम्भवेन कदाचित् सति सम्भवस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वात्।। १४।।

ननु—विषयस्य व्यावर्तकत्वेऽपि सर्वत्र विशेषणत्वासम्भवादुपलक्षणत्वमेव वाच्यम्, उपलक्षणेन चोपलक्ष्यगतस्वसम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चिद्धर्म एवोपस्थाप्यते, काकेनेव गृहसम्बन्धिना

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाति विशेष से रहित माषोद्धरण कृति है। अतः शिलोद्धरणकृतित्वरूप जाति विशेष से रहित माषोद्धरण कृति से शिलोद्धरणरूप कार्य नहीं होता है। अतः विषयरूप उपाधि से व्यावृत्ति की सिद्धि होने पर भी उक्त दोनों कृतियों का अपने—अपने उद्धरणरूप कार्य के साथ कार्यकारणभाव उपपन्न करने के लिए विभिन्न जातियों की कल्पना की गयी है। जैसे समवाय सम्बन्ध से गन्धत्वेन गन्ध के प्रति तादात्म्य— सम्बन्ध से पृथिवीत्वेन पृथिवी कारण है इस प्रकार गन्ध और पृथिवी में कार्यकारणभाव की सिद्धि के लिए पृथिवीत्व जाति को नैयायिकादि मानते हैं। अतीतविषयक ज्ञान और अतीतविषयक व्यवहार में अतीत विषय व्यावर्तक होता है। एवं असद् विषयकज्ञान और असद् विषयक व्यवहार में असद् विषय व्यावर्तक होता है, क्योंकि व्यावृत्तिधीजनकत्वरूप व्यावर्तकत्व नहीं होता है। यदि व्यावृत्तिधीजनकत्वरूप लक्षण व्यावर्तक का होता तब कारण कार्य से अव्यवहित पूर्व में रहता है इस नियम के अनुसार अतीत एवं असद् पदार्थ व्यावृत्तिरूप कार्य के पूर्व में विद्यमान न होने से अतीतादिपदार्थ को व्यावर्तक नहीं माना जाता, किन्तु व्यावृत्तिधीजनकत्व को व्यावर्तकत्व नहीं माना जाता है। अपितु व्यावृत्तिधीजनकधीविषयत्व को व्यावर्तकत्व माना जाता है। उक्त व्यावर्तकत्व अतीतादि में सुलभ है क्योंकि अतीतादि विषयकधी ही व्यावृत्तिधी की जनक है। उक्त अतीतादिधी की विषयता अतीतादि में रहती ही है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो शङ्का की गयी थी कि अभावादि में प्रतियोगी को अवच्छेदक नहीं माना जा सकता है क्योंकि ध्वंस और प्रागभाव के समय प्रतियोगी विद्यमान नहीं होता है— यह शङ्का भी निरस्त हो गयी क्योंकि व्यावर्तकत्व का लक्षण व्यावृत्ति धी जनकत्व नहीं है अपितु व्यावृत्तिधीजनक धीविषयत्व है। इस प्रकार का व्यावर्तकत्व जब अत्यन्त असत् वन्ध्यासुतादि में भी सम्भव है तब कदाचित् विद्यमान प्रतियोगादि में कैमुतिकन्याय से सिद्ध ही है।। १४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान के विषय में व्यावर्तकत्व होने पर भी उसमें विशेषणता सर्वत्र सम्भव नहीं है क्योंकि विशेषण वर्तमान में होता है जबकि अतीतादिविषयकज्ञान काल में विषय के न होने पर भी अतीतादि का ज्ञान होता है। अतः ज्ञान में विषय को उपलक्षण ही मानना पड़ेगा। उपलक्षण के द्वारा उपलक्ष्य वस्तु में स्वसम्बन्ध से व्यतिरिक्त कोई धर्म ही उपस्थापित किया जाता है। जैसे गृहसम्बन्धि काकरूप उपलक्षण के द्वारा गृहसम्बन्धि संस्थान विशेष अर्थात काकोपलक्षित गृहगत उत्तृणत्वादि विशेष चिह्न उपस्थापित किया जाता है। वह उपस्थापित उपलक्ष्यगत धर्मविशेष ही व्यावर्तक होता है। इसी प्रकार प्रकृत में सर्प उपलक्षितज्ञान में उपलक्षण सर्प और उपलक्ष्य—सर्पज्ञान है। अतः उपलक्षणीभूत सर्परूप विषय के द्वारा उपलक्ष्यभूत ज्ञान में विशेष धर्म का उपस्थापन किया जाता है। वह ज्ञानगत धर्म विशेष ही व्यावर्तक होता है न कि विषयीभूत सर्प। इसलिए विषय सम्बन्ध की अपेक्षा

तद्गतसंस्थानविशेषः, तथा च स एव व्यावर्तक इति विषयसम्बन्धमनपेक्ष्य स्वगतेनैव धर्मेण ज्ञानस्य व्यावृत्तिरिति—चेन्न, विषयस्य विशेषणत्ववदुपलक्षणत्वस्याप्यनभ्युपगमात्। येन हि स्वोपरागाद्विशेष्ये व्यावृत्तिबुद्धिर्जन्यते, तद्विशेषणं व्यावृत्तिबुद्धिकाले विशेष्योपरञ्जकमित्यर्थः, यथा गोत्वादि। येन च स्वोपरागमुदासीनं कुर्वता विशेष्यगतव्यावर्तकधर्मोपस्थापनेन व्यावृत्ति—बुद्धिर्जन्यते तदुपलक्षणम्, यथा काकादि। यत्तु—विशेष्ये नोपरञ्जकम्, न वा धर्मान्तरोपस्थापकम्, अथ च व्यावर्तकं तदुपाधिः, यथा पङ्कजशब्दप्रयोगे पद्मत्वम्, यथा वोद्भिदादिशब्दप्रयोगे यागत्वावान्तरजातिविशेषः। अत्र हि पद्मत्वयागत्वावान्तरधर्मौ पङ्कजनिकर्तरि फलोद्भेदनकर्तरि च न धर्मान्तरमुपस्थापयतः, अप्रतीतेः, न वा स्वोपरक्तां बुद्धिं जनयतः, समुदाये शक्त्यन्तरान—

सत्यानन्दप्रबोधिका

न कर के ज्ञानगत धर्म (सर्पज्ञानत्व) से ही सर्पज्ञान की असर्पज्ञान से व्यावृत्ति हुयी। वह ज्ञानगत धर्मविशेष विद्यमान होता हुआ व्यावर्तक होता है। अतः अविद्यमान अतीत एवं असत् पदार्थ तथा प्रतियोगी आदि व्यावर्तक नहीं हो सकते हैं। इस का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विषय में विशेषणत्व के जैसे ही उपलक्षणत्व भी नहीं माना जाता है किन्तु उपाधित्व माना जाता है। जो विशेष्यगत धर्म अपने सम्बन्ध के द्वारा व्यावृत्तिधी काल में विद्यमान रहकर विशेष्य की व्यावृत्ति बुद्धि को उत्पन्न करता है। वह विशेषण होता है। अर्थात् व्यावृत्ति बुद्धि काल में विशेषण को विशेष्य में वर्तमान होना चाहिए। जैसे गोत्व अपने सम्बन्ध से विशेष्य गो को अश्व से भिन्नत्वेन बोध कराता है। अतः गोत्व गो का विशेषण है। अर्थात् अश्व से भिन्न गो है—ऐसी बुद्धि के समय में गोत्व गो से सम्बन्धित है। अतः गोत्व को गो का विशेषण माना जाता है। जिसके द्वारा विशेष्यगत स्व सम्बन्ध को छिपाकर (गौणकर) विशेष्यगत उपस्थापित चिह्न विशेष के द्वारा व्यावृत्ति बुद्धि उत्पन्न की जाती है वह उपलक्षण होता है। जैसे काक के द्वारा काकगृह सम्बन्ध को गौणकर के गृहगत उत्तृणत्वादि धर्म विशेष के उपस्थापन द्वारा अन्य गृह से भिन्न करके प्रकृतगृह को बोध कराता है। अतः काक उपलक्षण है। जो व्यावृत्तिबुद्धिकाल में विशेष्य का उपरञ्जक नहीं होता है अर्थात् शब्दजन्य शब्दार्थज्ञान में भासता नहीं है और धर्मान्तर का उपस्थापक भी नहीं होता है किन्तु व्यावर्तक होता है उसे उपाधि कहते हैं। अर्थात् जो विशेषण और उपलक्षण से भिन्न होता हुआ व्यावर्तक हो वह उपाधि है। जैसे पङ्कजजन्य अनुभव में पद्मत्व अथवा उद्भिदादि शब्दों के प्रयोग में यागत्वव्याप्य उद्भित्त्व जाति। इन दोनों दृष्टान्तों में पद्मत्व और यागत्वव्याप्य उद्भित्त्व धर्म अपने—अपने विशेष्यभूत पङ्कजनि कर्ता में और पशुफल उत्पादन कर्ता उद्भिद् संज्ञक याग में धर्मान्तर के उपस्थापक नहीं माने जाते हैं, क्योंकि वैसा कोई उनमें धर्मान्तर प्रतीत नहीं होता है और स्वविशिष्ट बुद्धि को भी उत्पन्न नहीं करते हैं क्योंकि पङ्कज और उद्भिद् जैसे यौगिक शब्दों की स्व अवयव से लभ्य अर्थ में ही शक्ति मानी जाती है। उससे अतिरिक्त पद्मत्वादि से विशिष्ट अर्थ में शक्त्यन्तर नहीं मानी जाती है अर्थात् पङ्कजशब्दरूप वर्ण समुदाय कि शक्ति पङ्कजनि कर्ता पद्म में मानी जाती है पद्मत्व विशिष्ट पद्म में नहीं। ऐसे ही उद्भिद् शब्दरूप वर्ण समुदाय की शक्ति फलोद्भेदन कर्ता में (फल का प्रकाशन जिसके द्वारा होता है। उस याग विशेष में)मानी जाती है उद्भित्त्व विशिष्ट यागविशेष में नही। तथापि पङ्कज पद पद्म को कुमुदादिसे और उद्भिद् पद याग विशेष को ज्योतिष्टोमादि से व्यावृत्त करता है। अतः पद्मत्व और उद्भित्त्व

भ्युपगमात्, अथ च कुमुदज्योतिष्टोमादिभ्यो व्यावर्तकावित्युपाधी एव। इदं च प्राभाकराणां भाट्टानां च संमतमुदाहरणयुगलम्। तार्किकाणां त्वाकाशशब्दप्रयोगे शब्दाश्रयत्वमुदाहरणम्। अत एवाविद्यादिकं साक्षित्वादावुपाधिरिति सिद्धान्तो वेदान्तिनाम्। अतो यत्र विषयस्य विशेषणत्वं न सम्भवति, तत्कालासत्त्वात्, तत्रोपाधित्वाभ्युमगमान्नोपलक्षणत्वनिबन्धनदोषावकाशः, सन्देहे तु विशेषणत्वमेवाभ्यर्हितत्वादुपेयते। तस्माद्विषय एव सर्वत्र ज्ञाने व्यावर्तकः। एकविषयकस्मृत्य–नुभवयोः परोक्षापरोक्षयोश्च विषयमनपेक्ष्य जात्या परस्परव्यावृत्तिदर्शनात्। सर्वत्र विषयनिरपेक्षा जातिरेव व्यावर्तिकेति तु न युक्तम्, भिन्नविषयके समानजातीये तदसंभवात्॥ १५॥

न च–तत्रापि जातिरस्ति क्षीरादिमाधुर्यवदिति–वाच्यम्, चाक्षुषत्वादिना सङ्करस्योक्तत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ये दोनों धर्म उपाधि ही है। उपाधि के ये दानों उदाहरण प्राभाकर और भाट्ट मत के अनुसार दिये गये हैं। तार्किकों के मत में आकाश शब्द जन्य अनुभव में शब्दाश्रयत्व को उपाधि का दृष्टान्त माना जाता है। पूर्वोक्त प्रकार से उपाधि का लक्षण होने के कारण अद्वैत सिद्धान्त में अविद्यादि को साक्षी का उपाधि माना जाता है। साक्षी निरूपण के तत् तत् स्थलों पर इसे स्पष्ट किया जा चुका है। अतः जहां पर व्यावृत्तिबुद्धिकाल में विषय के विद्यमान न होने के कारण विषय को विशेषण नहीं माना जा सकता है और वहां विषय को उपलक्षण भी न मानकर उपाधि माना जाता है। इसलिए उपलक्षणत्व निबन्धन दोषों को अवकाश नहीं मिलता है। विशेषणत्व और उपाधित्व का सन्देह होने पर तो अभ्यर्हित (उपयुक्त) होने से विशेषणत्व ही स्वीकरणीय है। पूर्वोक्त प्रकार से इस विचार का यही निष्कर्ष निकलता है कि सर्वत्र ज्ञान में विषय ही व्यावर्तक है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जहां पर घट स्मृति और घट प्रत्यक्ष है वहां पर विषय को व्यावर्तक नहीं माना जा सकता है क्योंकि दोनों में घट ही विषय है। अतः स्मृतित्व और प्रत्यक्षत्व को ही व्यावर्तक मानना पड़ता है ऐसे ही जहां पर घट का परोक्ष ज्ञान और घट का अपरोक्ष ज्ञान है। वहां पर भी दोनों का घट ही विषय होने के कारण विषय को व्यावर्तक न मानकर परोक्षत्व, अपरोक्षत्व जाति को ही व्यावर्तक मानना पड़ता है। अतः इसके बल पर सर्वत्र विषय निरपेक्ष जाति मात्र को ही व्यावर्तक मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सर्वत्र जाति को व्यावर्तक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भिन्न विषयक समान जातीय दो ज्ञानों (घट अपरोक्ष ज्ञान और पट अपरोक्ष ज्ञान) की परस्पर व्यावृत्ति अपरोक्षत्वादि जाति के द्वारा नहीं हो सकती है। अतः विषय को भी व्यावर्तक मानना पड़ेगा॥ १५॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे दुग्ध में भी मिठास है और गुड में भी मिठास है किन्तु दोनों जगह मिठासत्व भिन्न–भिन्न है। अर्थात् दुग्ध के मिठास में गुड के मिठास में मिठासत्वव्याप्य भिन्न–भिन्न जातियाँ रहती है। ऐसे ही असमान विषयक घटप्रत्यक्ष और पट प्रत्यक्ष में भी प्रत्यक्षत्व व्याव्य घटप्रत्यक्षत्व, पटप्रत्यक्षत्वादि भिन्न–भिन्न जातियां है। अतः भिन्न–भिन्न जातियों के द्वारा ही ज्ञानों में भिन्नता सिद्ध होती है, विषय के द्वारा नहीं। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रत्यक्षत्व व्याप्यजातियों को मानने पर चाक्षुषत्वादि जातियों से सङ्कर हो जायेगा। जैसे घटप्रत्यक्षत्वाभाव वाले पट चाक्षुषप्रत्यक्ष में चाक्षुषत्व है और चाक्षुषत्वाभाव वाले घटत्वाच्प्रत्यक्ष में घटप्रत्यक्षत्व है, घटचाक्षुषप्रत्यक्ष में घटप्रत्यक्षत्व और चाक्षुषत्व दोनों ही है। अतः सङ्कर दोष हो गया। इसे पीछे भी स्पष्ट किया जा चुका है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जैसे सिद्धान्ती के मत में घटाकार वृत्ति पटाकार वृत्ति तत्तदाकारत्वरूप

न च—तव मते तत्तद्वृत्तेस्तत्तदाकारत्वेन चैतन्यस्य तत्प्रतिबिम्बितत्वेन (तदभिव्यक्तत्वेन) वा मम तु तत्तज्ज्ञानस्य तत्तदीयस्वभावत्वेन तत्तद्व्यवहारजननशक्तत्वेन वा स्वत एव वैलक्षण्यमिति—वाच्यम्, विषयस्यैवाकारसमर्पकत्वेन स्वभावव्यवहारयोः परिचायकत्वेन च तन्नैरपेक्ष्येण व्यावर्तकताया वक्तुमशक्यत्वात्। विशेषणत्वोपाधित्वयोः सम्भवे च नोपलक्षणत्वमित्युक्तम्। न च 'कथमसतः सज्जायेत'इति श्रुत्या 'नासतोऽदृष्टत्वात्'' इति सूत्रेण 'शशविषाणादिभ्यः सदुत्पत्त्यदर्शनात्'इत्यादिभाष्येण च विरोधः, तेषां तुच्छे जनकत्वनिषेधपरत्वात् अस्माभिश्च तुच्छे जनकत्वस्यानुक्तत्वात्। तस्मात् सद्विविक्तं साधकमिति सिद्धम्।। १६।।

इत्यद्वैतसिद्धौ असतः साधकत्वाभावे बाधकम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से वृत्ति ज्ञान में विषय से निरपेक्ष स्वतः ही वैलक्षण्य को सिद्ध कर देती है और वृत्ति के चिदुपरागार्थत्व पक्ष में घटावच्छिन्नचैतन्य पटावच्छिन्नचैतन्य घटाकार पटाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बतत्त्वेन चैतन्यरूप ज्ञान में स्वतः ही वैलक्षण्य को सिद्ध कर देता है, एवं वृत्ति के आवरणभङ्गार्थत्व पक्ष में चैतन्य तत्तदाकारवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तत्वेन चैतन्यरूप ज्ञान में स्वतः ही वैलक्षण्य को सिद्ध कर देता है। इसी प्रकार द्वैतवादी के मत में घटपटादिज्ञान में घटज्ञानीय पटज्ञानीय स्वभावत्वरूप अथवा घटपटादि व्यवहार जननशक्तत्वरूप से स्वतः ही वैलक्षण्य है। अर्थात् ज्ञानों में व्यावृत्ति के लिए विषयसम्बन्ध की अपेक्षा नहीं होती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वृत्तिरूप ज्ञान अथवा चैतन्यरूपज्ञान स्वगत जिस विशेषता के कारण व्यावृत्त होते हैं वह तत्तद्विषयाकारतारूप विशेषता विषय के कारण ही आती है। अर्थात् विषय ही वृत्ति को तत्–तद् आकार का बना देता है। इसलिए यह मानना पड़ेगा कि विषय के कारण ही वृत्तिज्ञान अथवा चैतन्यरूपज्ञान में व्यावृत्ति सम्भव है ज्ञान का भिन्न–भिन्न स्वभाव और ज्ञाननिष्ठ भिन्न–भिन्न व्यवहारजनकत्व ये दोनों का परिचायक (इतरव्यावर्तक) विषय ही होता है। अतः विषय निरपेक्षत्वेन ज्ञानों की परस्पर व्यावर्तकता नहीं कही जा सकती है। विषय को ज्ञानों का विशेषण मानकर अथवा उपाधि मानकर ज्ञानों की व्यावृत्ति सम्भव हो जाने पर विषय को उपलक्षण नहीं माना जाता है—यह पीछे कहा जा चुका है। अतः उपलक्षणपक्ष को लेकर पूर्वपक्षी के द्वारा जो दोष दिया गया वह हम पर लागू नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि यदि सिद्धान्ती असत् में साधकता मानते है तब ''कैसे असत् से सत् उत्पन्न होगा'' इस श्रुति से, ''असत् से कार्य की उत्पत्ति नहीं दिखायी देती है'' इस सूत्र से "शशविषाणदि असत् पदार्थों से सत्कार्य की उत्पत्ति नहीं दिखायी देती है " इस भाष्य से विरोध होगा, क्योंकि उक्त श्रुति–सूत्र और भाष्य के द्वारा असत्–गत जनकता का निराकरण किया गया है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त श्रुति–सूत्र और भाष्य के द्वारा तुच्छ में जनकता का निषेध किया गया है। तुच्छ में व्यावृत्तिधीजनकधीविषयतारूप व्यावर्तकता हमने माना है न कि तुच्छ में जनकता हमने मानी है अपितु व्यावहारिक एवं प्रतिभासिक पदार्थों में ही परमार्थसत् प्रतियोगिक भिन्नत्व रूप असत्त्व रहता है और उन पदार्थों में ही साधकता को हम मानते हैं। इसलिए उक्त श्रुति–सूत्र और भाष्य से विरोध नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि प्रपञ्चगत साधकता के अनुरोध पर प्रपञ्चगत पारमार्थिक सत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है।। १६।।

इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामसतः साधकत्वाभावे बाधकम्।।

दृग्दृश्यसम्बन्धविचारः

ननु—मिथ्यात्वानुमानमप्रयोजकम्, सत्यत्वेऽपि दृश्यत्वोपपत्तेरिति चेन्न, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः। नहि ज्ञानं ज्ञेयासम्बद्धमेव प्रकाशकम्, अतिप्रसङ्गात्। नापि सम्बद्धम्, आत्मस्वरूपस्य तद्गुणस्य वा ज्ञानस्य ज्ञेयेन संयोगसमवाययोरभावात्, अन्यस्य चानाध्यासिकस्य सम्बन्धस्याभावात्। न च विषयविषयिभावः सः, तस्य विषयत्वविषयित्वरूपस्य एकैकमात्रनिष्ठत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

''प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना यदि दृश्यत्वमनुपपन्नं स्यात् तदैव दृश्यत्वं मिथ्यात्वसाधकं भवेत्'' इसको अभिप्रेत्य कर के पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान विपक्षवृत्तित्वबाधकतर्क से रहित है, क्योंकि मिथ्यात्वानुमान का पक्षीभूत प्रपञ्च में सत्यत्व के होने पर भी उसमें दृश्यत्व रह ही सकता है। अतः दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। यहां पर विशेष बात यह भी है कि पूर्वपक्षी ने सिद्धान्ती के ऊपर यह व्यङ्ग किया है— ''अत्र केचिन्मायिभिक्षवः—

अन्यच्चेत्संविदो नीलं न तद् भासेत संविदि।
भासते चेत्कुतः सर्वो न भासेतैकसंविदि।।
नियामकं न सम्बन्धं पश्यामो नीलतद्धियोः।
इत्यादिवदद्भिरात्मख्यातिवादिभिरुक्तं ग्राह्यलक्षणाभावं तर्कं भिक्षित्वाहुः।।

इस व्यङ्ग का उचित उत्तर बालबोधिनीकार ने इस प्रकार से दिया है— ''अत्र केचिदल्पभाग्या भेदिनः सर्वश्रुतिनिःस्यन्दरूपेऽपि अद्वैतसिद्धान्ते बौद्धसिद्धान्तगन्धं जिघ्रन्तः सुगतविज्ञानवादसमानोऽयं वेदान्तवाद इति भास्करगोत्राद् भिक्षित्वा स्वयञ्च बौद्धच्छर्दितामसत्ख्यातिमालिहन्तः स्वकीयासामर्थ्यं सिद्धान्तिशिरसि निवेशयन्तः दुर्जनरमणीयां वाचं जल्पन्ति।।''

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रपञ्च को सत्य मान ने पर दृग्दृश्यसम्बन्ध की उपपत्ति न होने के कारण ही प्रपञ्च को मिथ्या मानना अनिवार्य हो जाता है। अर्थात् ''प्रपञ्चो यदि मिथ्या न स्यात् तर्हि दृश्यमपि न स्यात् सत्यस्य दृश्यत्वानुपपत्तेः।'' अतः अनुकूलतर्क के विद्यमान होने के कारण दृश्यत्वादि हेतुओं को अप्रयोजक नहीं कहा जा सकता है। यह निश्चित है कि विषय के साथ सम्बद्ध होकर ही ज्ञान अपने विषय का प्रकाशक होता है, क्योंकि विना सम्बन्ध से ही विषय का प्रकाशक ज्ञान को मानने पर घटज्ञान से ही सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान हो जाने की आपत्ति होगी। विषय और ज्ञान का सम्बन्ध क्या है? इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष से कहा जाता है कि ज्ञान और ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध है। आध्यासिक सम्बन्ध स्थल पर एक सम्बन्धि का मिथ्यात्व अनिवार्य है। उभयसम्मत दृक् को मिथ्या कहा नहीं जाता है। परिशेषतः विषयगत मिथ्यात्व ही मानना पड़ेगा। विषय और ज्ञान में आध्यासिक सम्बन्ध से अन्य सम्बन्ध का अभाव है— इसे आगे स्पष्ट किया जा रहा है। आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध के माध्यम से ज्ञान ज्ञेय से सम्बद्ध होकर ज्ञेय को प्रकाशित नहीं कर सकता है, क्योंकि कुछ लोगों के मत में ज्ञान को आत्मस्वरूप माना जाता है और कुछ लोगों के मत में ज्ञान को आत्मा का गुण माना जाता है। दोनों ही मतों में ज्ञान का ज्ञेय के साथ संयोग अथवा

द्विनिष्ठसम्बन्धात्मकत्वासम्भवात्, दुर्निरूपत्वाच्च। तथा हि—(१) विषयत्वं किं ज्ञानजन्यफलाधारत्वम्? किं वा (२) ज्ञानजन्यहानादिबुद्धिगोचरत्वम्? उत (३) ज्ञानकर्मत्वम्? (४) ज्ञानाकारार्पकत्वं वा? (५) दृश्यमानत्वे सति तत्त्वं वा? (६) ज्ञानजन्यव्यवहारयोग्यत्वं वा? (७) यत्सन्निकृष्टकरणेन यज्ज्ञानमुत्पाद्यते तत्त्वं वा?(८) यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः, तथा च संविदि भासमानत्वमिति वा? (९) सम्बन्धान्तरमन्तरा ज्ञानावच्छेदकत्वं वा?।। १।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

समवाय सम्बन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर संयोग सम्बन्ध बन नहीं सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध दो द्रव्यों में ही माना जाता है। यदि वेदान्त वाक्यों के आधार पर ज्ञान को आत्मस्वरूप माना जाय तब भी उस आत्मा में गुणवत्ता या क्रियावत्ता की सिद्धि वेदान्त वाक्यों से न होने के कारण उसे द्रव्य मानकर उसके साथ ज्ञेय के संयोगादि सम्बन्ध की सिद्धि नहीं की जा सकती है। दूसरी बात यह भी है कि जिन लोगों के मत में आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहा गया है। उनके मत में आत्मा को असङ्ग भी कहा गया है। अत: संयोगादि सम्बन्ध उसमें रह ही नहीं सकता है। जो लोग आत्मा का गुण मानकर ज्ञान के साथ आत्मा का समवाय सम्बन्ध मानते हैं, उनके मत में भी ज्ञान का घटादि विषय के साथ समवायादि सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अत: संयोग और समवाय से भिन्न कोई भी अनाध्यासिक सम्बन्ध पूर्वपक्षी ज्ञान और ज्ञेय में सिद्ध नहीं कर सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ज्ञान और ज्ञेय में विषयविषयिभाव सम्बन्ध है तो ऐसा नहीं कह सकता है, क्योंकि सम्बन्ध हमेशा दो में ही होता है। ''विषयविषयिभाव'' इस पद का विग्रहादि इस प्रकार से होगा—विषयश्च विषयी च इति विषयविषयिणी तयोर्भाव: विषयविषयिभाव:। द्वन्द्वान्त में श्रूयमाण होने से भाव शब्द का विषय और विषयि दोनों के साथ अन्वय होता है। इसलिए ''विषयभाव:, विषयिभाव:'' ऐसा समस्त पदार्थ का स्वरूप होगा। प्रकृति जन्य बोध में प्रकार का नाम भाव है। अत: विषय शब्द से विषयत्वप्रकारक विषयविशेष्यक बोध होगा और विषयिशब्द से विषयित्वप्रकारक विषयित्वविशेष्यक बोध होगा। इस प्रकार प्रकृतिजन्यबोध में क्रमश: विषयत्व और विषयित्व प्रकार हुए। इन्हीं को विषयभाव और विषयिभाव से ग्रहण किया जाता है। ऐसा विषयत्वरूपभाव विषय में और विषयित्वरूपभाव विषयी में ही रहता है। विषय और विषयी उभयनिष्ठ साधारण धर्म विषयत्व और विषयित्व इनमें से कोई भी नहीं है। जब कि सम्बन्ध द्विनिष्ठ स्वभावात्मक होता है। दूसरी बात यह है कि विषयतादि का निरूपण भी नहीं किया जा सकता है। नव प्रकार से विषयता के दुर्निरूपण को दिखला रहे हैं। १. विषयता क्या ज्ञानजन्य जो फल तादृशफल का आधारत्व रूप है? २. अथवा ज्ञान से जन्य जो हानोपादानादि बुद्धियां हैं। तादृशबुद्धिगोचरत्वरूप विषयत्व है? ३. अथवा ज्ञान के प्रति कर्मकारकत्वरूप विषयत्व है? ४. अथवा ज्ञाननिष्ठ आकार की समर्पकतारूप विषयत्व है? ५. अथवा दृश्यमानता सहित ज्ञाननिष्ठ आकार समर्पकतारूप विषयत्व है? ६. अथवा ज्ञान से जन्य जो व्यवहार तादृशव्यवहार योग्यत्वरूप विषयत्व है? ७. अथवा जिससे सन्निकृष्ट हो कर इन्द्रियादि करण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह उस ज्ञान का विषय है। ८. अथवा जिस ज्ञान में जो अर्थ भासित होता है वह उस ज्ञान का विषय है। अर्थात् ज्ञानावभासिततारूप विषयत्व है? ९. अथवा विषयत्वरूप सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध के बिना ज्ञान की अवच्छेदकता रूप विषयत्व है?।। १।।

आद्ये फलं न तावत् ज्ञातता, अनङ्गीकारात्, अतीतादावभावाच्च। नापि हानादिः गगनादौ तदभावात्, कलधौतमलादेरपि तज्ज्ञानविषयत्वप्रसङ्गाच्च। नाप्यभिज्ञाभिलपने, तयोर्ज्ञेयावृत्तित्वात्। न च—विषयविषयिभावेन ते तत्र स्त इति—वाच्यम्, तस्यैव विचार्यमाणत्वात्। अत एव न द्वितीयोऽपि। न तृतीयः, ईश्वरज्ञानस्यातीतादिज्ञानस्य च कर्मकारकाजन्यत्वेन निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। न चतुर्थः, ज्ञानतदाकारयोरभेदेन सर्वेषां ज्ञानहेतूनां विषयत्वापातात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

नव प्रकार से विकल्पित विषयता का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम पक्ष को अङ्गीकार करने पर फलपद से भाट्टसम्मत प्राकट्य का अपरपर्याय ज्ञाततारूप फल का ग्रहण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वादी—प्रतिवादी दोनों ही उक्त प्रकार की ज्ञातता को ज्ञान का फल नहीं मानते हैं। इसी प्रकार अतीत एवं भावि पदार्थों के ज्ञान से अतीत एवं भावि पदार्थों में ज्ञातता उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि अतीतादि पदार्थों का वर्तमान में अभाव है। यदि फल पद से हानोपादानादि का ग्रहण किया जाता है, तब सर्वव्यापक गगन, कालादि में विषयता के लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि व्यापक द्रव्यों का हानोपादानादि सम्भव नहीं होता है और रजतज्ञान से रजत के हानोपादानादि के साथ रजतवृत्ति राँगा—मिट्टी आदि का भी हानोपादानादि होने से उसमें रजतज्ञान की विषयता की अतिव्याप्ति भी होगी। यदि फल पद से प्रत्यभिज्ञा या शब्द प्रयोग का ग्रहण करते हैं। तब असम्भवदोष होगा, क्योंकि उक्त इन दोनों धर्मों का आधार ज्ञाता होता है ज्ञेय नहीं। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रत्यभिज्ञा और शब्द प्रयोग ज्ञातृनिष्ठ होने पर भी विषयता सम्बन्ध से विषयनिष्ठ भी होते हैं। अर्थात् जैसे ज्ञान विषय में स्वविषयत्व सम्बन्ध से रहता है वैसे ही विषय भी ज्ञान में स्वविषयित्वसम्बन्ध से रहता है। अतः प्रत्यभिज्ञादि का आधार विषय के हो जाने से असम्भवदोष नहीं होगा। पूर्वपक्षी का ऐसा कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञादि की विषयता सम्बन्ध से विषयगत आधारता सिद्ध करने पर आत्माश्रयादिदोष होंगे, क्योंकि विषयता के विचार में विषयता की अपेक्षा हो रही है। इसी प्रकार विषयता के निरुपण में ज्ञान से जन्य हानोपादानादि बुद्धिगोचरत्व को विषयता का लक्षण करने पर आत्माश्रयादिदोष से द्वितीय कल्प भी दूषित हो जाता है, क्योंकि गोचरता और विषयता एकार्थक हैं। तृतीय विकल्प को स्वीकार करने पर अव्याप्तिदोष होगा, क्योंकि ज्ञान का कर्म वही होगा जो ज्ञान को उत्पन्न करे, क्योंकि कर्म एक कारक है और कारक क्रिया का जनक होता है। प्रकृत में ईश्वरीयज्ञान नित्य होने के कारण किसी विषय से उत्पन्न नहीं होता और अतीतादिविषयकज्ञान भी अतीतादि के विषय से जन्य नहीं होता है, क्योंकि अतीतादिविषयकज्ञान वर्तमान काल में होते हैं, उनके अव्यवहित पूर्व में अतीतादि पदार्थ नहीं रहते हैं। अतः ईश्वरीय ज्ञान और अतीतादिज्ञान के विषय में विषयता के लक्षण की अव्याप्ति हो गयी। अर्थात् कर्मकारक को विषय मानने पर ईश्वरीयज्ञान और अतीतादि विषयकज्ञान को निर्विषयक मानना पड़ेगा, क्योंकि दोनों के विषय में कारकत्व नहीं है। चतुर्थपक्ष को स्वीकार करने पर ज्ञान का आकार मानने वाले विज्ञानवाद में ज्ञान का आकार और आकारीरूपज्ञानमें अभेद माना जाता है। इसलिए ज्ञानके आकार का जनक कहने से "ज्ञान का जनक" यह भी अर्थ होगा। अतः घट ज्ञान का जनक चक्षु, अदृष्टादि सामग्री है जो कि घट ज्ञान का विषय नहीं है किन्तु

अनुमित्यादिविषये तदभावाच्च। न पञ्चमः, दृश्यमानत्वस्य विषयत्वघटितत्वेनात्माश्रयात्। न षष्ठः, योग्यतायां योग्यतान्तराभावात्। न च—योग्यता योग्यतां विनैव योग्या, यथा दृश्यत्वं दृश्यत्वान्तरं विनैव दृश्यमिति—वाच्यम्, अवच्छेदकरूपापरिचये योग्यताया एव ग्रहीतुमशक्यत्वात्। न च ज्ञानविषयत्वं तदवच्छेदकम्, आत्माश्रयात्। न सप्तमः, नित्येश्वरज्ञानस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात्। नाष्टमः, संविदीति न तावदधिकरणसप्तमी, ज्ञानस्य ज्ञेयानधिकरणत्वात्। नापि विषयसप्तमी,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

उसमें घट ज्ञान के विषय का लक्षण जा रहा है। अतः अतिव्याप्तिदोष होगा। चतुर्थपक्ष में अव्याप्तिदोष भी है, क्योंकि अनुमित्यादिपरोक्षज्ञान में ज्ञानकाल के अव्यवहित पूर्व में अनुपस्थित विषय, ज्ञान के आकार का समर्पक न होने के कारण अनुमेय में विषय का लक्षण नहीं जाता है। पञ्चमपक्ष में दृश्यमानत्व का अर्थ दृग्विषयत्व होने के कारण विषयता के लक्षण में विषयता का प्रवेश हो गया। अतः आत्माश्रयादिदोष होगा। षष्ठ विकल्प स्वीकार करने पर जहां पर योग्यता का ज्ञान हो रहा है वहां पर योग्यतारूप विषय में विषय का लक्षण नहीं जायेगा, क्योंकि योग्यता ज्ञान के विषय योग्यता का योग्यताज्ञान से व्यवहार तो होता है, किन्तु उस योग्यता में व्यवहार योग्यता नहीं है, क्योंकि अनवस्था के भय से एक योग्यता में दूसरी योग्यता नहीं मानी जाती है और आत्माश्रय के भय से एक योग्यता में वही योग्यता नहीं मानी जाती है। यदि कहो कि योग्यता से भिन्न पदार्थ योग्यता के अधिकरण होने से योग्य होते हैं और योग्यता योग्यता का अनधिकरण हो कर के भी योग्य है। अर्थात् योग्यता को स्वरूपेण योग्य माना जाता है। जैसे दृश्यत्व जिसमें रहता है वह दृश्य होता है किन्तु दृश्यत्व को दृश्य बनाने के लिए दृश्यत्व में दृश्यत्वान्तर नहीं माना जाता है। अर्थात् वह स्वरूपेण ही दृश्य है— ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि कोई पदार्थ योग्यता के सम्बन्ध से योग्य होगा और कोई योग्यता के सम्बन्ध के बिना अर्थात् स्वरूपेण योग्य होगा, किन्तु ऐसी व्यवस्था में योग्यता का कोई अवच्छेदक अर्थात् चिह्न सुलभ न होने के कारण योग्यता का ग्रहण ही अशक्य हो जायगा। यदि कहो कि ज्ञानविषयत्व को योग्यता का अवच्छेदक कहेंगे। तब विषयता के स्वरूप निर्वचन में विषयता का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रयादिदोष होगा। सप्तम कल्प भी ठीक नहीं हैं, क्योंकि ईश्वरीयज्ञान को निर्विषयक मानना पड़ेगा। ईश्वर का ज्ञान विषय से सन्निकृष्ट किसी भी करण से उत्पन्न नहीं माना जाता है। अष्टम पक्ष स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि संवित् प्रातिपदिक के उत्तर में विद्यमान सप्तमी विभक्ति ''कटे आस्ते'' के समान औपश्लेषिक अधिकरणता में है? अथवा ''मोक्षे इच्छा अस्ति'' के जैसे विषय सप्तमी है? अथवा ''गोषु दुह्यमानासु गतः'' के समान सति सप्तमी है? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि अधिकरण सप्तमी लेने पर अर्थ होगा— जिस संविद्रूप अधिकरण में रहकर जो भासमान होता है वह उस संवित् का विषय है किन्तु ऐसा अर्थ बाधित है, क्योंकि संयोग अथवा समवाय सम्बन्ध से घटादि ज्ञेय पदार्थों का अधिकरण ज्ञान को नहीं माना जाता है। द्वितीय कल्प में विषय सप्तमी लेने पर आत्माश्रयदोष होगा, क्योंकि विषयता के स्वरूपनिर्वचन में ही विषयता का प्रवेश हो गया। दूसरी बात यह भी है कि विषय सप्तमी लेने पर यह अर्थ होगा कि जिस संविद् में विषयत्वेन जो अर्थ भासमान होता है वह उस संवित् का विषय होता है। उस स्थिति में सप्तम्यर्थ विषयत्व का प्रकृत्यर्थ

तस्यैव निरूप्यमाणत्वात्, संविदो विषयत्वं संवेद्यस्य च विषयित्वमिति वैपरीत्यापाताच्च। नापि सति सप्तमी, भासमानत्वस्य विषयताघटितत्वेनात्माश्रयात्। नापि नवमः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र रूपज्ञानसमवायस्य सम्बन्धान्तरं विनैव रूपज्ञानावच्छेदकस्य 'इदं रूपम्' इति ज्ञानेऽपि विषयत्वापातात्।। २।।

ननु—ज्ञानविषय इत्यभियुक्तप्रयोग एव ज्ञानविषययोः सम्बन्धः, यथा अभियुक्तस्य मन्त्र इति प्रयोगविषयत्वमेव मन्त्रलक्षणम्। न चान्योन्याश्रयः, पूर्वपूर्वप्रयोगमपेक्ष्योत्तरोत्तरप्रयोगादिति—चेन्न,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

संवित् के साथ अन्वय होने पर अर्थ होगा— संविद्विषयकोऽर्थः। अर्थात् संविद् में विषयत्व की आपत्ति होगी। जैसे मोक्षविषयिणी इच्छा में इच्छा का विषय मोक्ष होता है। इसी प्रकार संवेद्य में विषयित्व का अन्वय होने पर घटादि में ही विषयित्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार विषयविषयिभाव ही अव्यवस्थित हो जायेगा। तृतीयकल्प के अनुसार सति सप्तमी भी नहीं ले सकते हैं, क्योंकि सति सप्तमी लेने पर अर्थ होगा— ''यस्यां संविदि सत्यां सम्पद्यमानायां योऽर्थो भासते स तस्या विषयः।'' भासमानता और प्रकाशविषयता पर्यायवाची होने के कारण विषयता के निर्वचन में विषयता का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रयदोष होगा। नवम विकल्प भी ठीक नहीं है, क्योंकि ''मत्समवेतं रूपज्ञानम्'' अर्थात् मदनुयोगिकसमवायावच्छिन्नरूप ज्ञान, यहां पर सम्बन्धान्तर के बिना रूपज्ञानावच्छेदक जो रूपज्ञानप्रतियोगिक समवाय सम्बन्ध है। इस समवाय सम्बन्ध में ''इदं रूपम्'' इस ज्ञान की विषयता मानने की आपत्ति होगी। अर्थात् अनवस्था के भय से रूपज्ञान और समवाय के बीच में कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अतः सम्बन्धान्तर के बिना ही उक्त समवाय, रूपज्ञान का अवच्छेदक है। इसलिए रूप ज्ञान की विषयता समवाय में भी मानने की आपत्ति होगी। अतः प्रपञ्च को सत्य मानने पर दृग्दृश्यसम्बन्ध की अनुपपत्ति होने के कारण दृग्दृश्य में आध्यासिकसम्बन्ध ही मानना चाहिए।। २।।

पूर्वपक्षी दृग्दृश्य में अनाध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए पूर्वमीमांसादर्शन का आश्रय करके कह रहा है कि "अयं पदार्थः अस्य ज्ञानस्य विषयः" इत्याकारक जो आप्तवक्ता का प्रयोग है। वहीं ज्ञान और विषय इन दोनों का सम्बन्ध है। अर्थात् आप्तवक्ता जिसको यह कह दे कि यह इस ज्ञान का विषय है। वह उस ज्ञान का विषय माना जायेगा और उस ज्ञान तथा विषय में उक्त आप्तवक्ता के प्रयोग को ही सम्बन्ध माना जायेगा। जैसे पूर्वमीमांसादर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथमपाद के सप्तममन्त्रलक्षणाधिकरण में सूत्रकार ने कहा है— ''तत् चोदकेषु मन्त्राख्या'' (जै० सू० २—१—३२) अर्थात् ''मन्त्रोऽयम्'' ऐसा जो अभियुक्तों का समाख्यान है वहीं मन्त्र का लक्षण है। इसी को स्पष्ट करते हुए शावरभाष्य में कहा गया है— ''एवं जातीयकेषु अभियुक्ता उपदिशन्ति मन्त्रानधीमहे।'' अर्थात् अभियुक्तगण जिसे ''यह मन्त्र है'' ऐसा कह दें उसे मन्त्र समझना चाहिए। यदि कहा जाय कि प्रयोगरूपव्यवहार में प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान कारण होता है और लक्षण ही प्रवृत्ति का निमित्त है। अतः मन्त्र पद प्रयोग विषयतारूप प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान होने पर मन्त्र पद का प्रयोग होगा और मन्त्र पद प्रयोग होने पर मन्त्र घटित प्रवृत्तिनिमित्त का ज्ञान होगा। इस प्रकार का अन्योन्याश्रय जैसे दृष्टान्त में है। उसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी विषयता का ज्ञान होने पर ''अयमस्य विषयः'' ऐसा आप्तवक्तागण प्रयोग कर सकेंगे और उक्त प्रयोग के द्वारा विषयता का ज्ञान होगा। इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा। इस दोष का वारण

एतावता हि ज्ञेयत्वमात्रं सामान्यतः स्यात्, न त्वेतज्ज्ञानविषयत्वम्। न चास्मिन् सादौ पूर्वप्रयोगमपेक्ष्य उत्तरोत्तरप्रयोगो वक्तुं शक्यते, तस्यानादिमात्रविश्रान्तत्वात्। किञ्च प्रयोगोऽपि स्वविषये सम्ब(द्ध)न्ध इत्यात्माश्रयोऽपि। ननु—यज्ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः, करणपाटवाद्यभावेन व्यवहारानुदयेऽपि सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वरूपं कारणत्वमस्त्येव। न च निर्विकल्पकविषये अव्याप्तिः, तस्यानङ्गीकारात्। न च यत्तद्भ्यामननुगमो दोषः, कस्य को विषय इति अननुगतस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि दार्ष्टान्त में दृष्टान्त के जैसे अन्योन्याश्रयदोष नहीं है, क्योंकि पूर्व–पूर्व अभियुक्त प्रयोग के द्वारा विषयता का ज्ञान करके ही उत्तरोत्तर प्रयोग होता है। यदि जिस प्रयोगव्यक्ति से जो ज्ञानव्यक्ति होता है, उसी ज्ञानव्यक्ति से वही प्रयोगव्यक्ति होता तब अन्योन्याश्रयदोष होता, परन्तु प्रकृत में प्रयोगव्यक्ति और ज्ञानव्यक्ति के भिन्न भिन्न होने के कारण अन्योन्याश्रयदोष नहीं होगा। जैसे वीजव्यक्ति और अङ्कुर व्यक्ति के भिन्न–भिन्न होने के कारण अन्योन्याश्रयदोष नहीं होता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के कथनानुसार वीजत्वेन वीज वीजज्ञान का विषय है, अङ्कुरत्वेन अङ्कुर अङ्कुरज्ञान का विषय है। इस प्रकार से पूर्व–पूर्व आप्तवक्ता के प्रयोग के द्वारा सामान्यतः ज्ञेयत्व मात्र का ही ज्ञान हो सकता है, न कि "अयं वीजः अस्य वीजज्ञानस्य विषयः, अयमङ्कुरोऽस्याङ्कुरज्ञानस्य विषयः" इस प्रकार से एतद्ज्ञानविषयत्व का। अनादि पदार्थों में विषयता का ज्ञान पूर्व–पूर्व आप्त के द्वारा प्रयुक्त पूर्व–पूर्व प्रयोगों के द्वारा करके उत्तरोत्तर आप्तवक्ता उक्त प्रकार से प्रयोग कर सकता है किन्तु जो विषय सादि है अर्थात् अभी अभी उत्पन्न हुआ है उसके लिए पूर्व–पूर्व प्रयोग सम्भव नहीं हैं, क्योंकि वीजत्वेन वीज अनादि हो सकता है, किन्तु प्रत्येक वीज व्यक्ति तो अनादि नहीं हैं। अतः सादि विषयों में अन्योन्याश्रयदोष होने के कारण विषयता तथा ज्ञान और विषय के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रयोग को विषय और विषयी का सम्बन्ध मानने पर जहां प्रयोग के ज्ञान का विषय प्रयोग है। वहां भी प्रयोग को ही विषय और विषयविषयी का सम्बन्ध मानना होगा और विषय और विषयी का सम्बन्ध विषय और विषयी में रहता है। अतः प्रयोगरूपसम्बन्ध प्रयोगरूपविषय में रहने के कारण आत्माश्रयदोष होगा। पूर्वपक्षी पुनः विषयता का निरूपण करते हुए कह रहा है कि जो ज्ञान यत्पदार्थनिष्ठ अभिलपनरूप व्यवहार का कारण होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है। जैसे घटादिपदार्थ का ज्ञान होने पर घटादिपदार्थ बोधक घटादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। अतः घटादि ज्ञान का विषय घटादि होता है। इसलिए ''ज्ञानजन्यशब्दव्यवहारसम्बन्धित्वं विषयत्वम्'' ऐसा विषय का लक्षण पर्यवसित होता है। इस पर यदि कोई कहता है कि जहां पर गूंगे व्यक्ति को चक्षुरादि से घट का ज्ञान हुआ किन्तु वागिन्द्रिय में सामर्थ्य न होने के कारण वह शब्दात्मक व्यवहार नहीं कर पाता है। वहां पर घटादि ज्ञान में घटादिबोधक शब्दों के प्रयोगात्मक व्यवहार की कारणता नहीं है। इसलिए घटादिज्ञान के विषय घटादि में विषय का लक्षण न जाने से अव्याप्ति होगी। इस दोष को वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि कारणता दो प्रकार की होती है एक कार्यजनकता, दूसरा कार्यजननयोग्यता, दूसरे प्रकार की कारणता का स्वरूप यह है कि सहकारिकारण के अभाव में कार्य को उत्पन्न न कर पाना। गूंगे व्यक्ति को होने

प्रश्नविषयत्वेन तस्यादोषत्वात्। न च घटज्ञानानन्तरं प्रमादाद्यत्र पट इति व्यवहारस्तत्र घटज्ञानस्य पटाभिलपनरूपव्यवहारजनकत्वेन पटविषयत्वापत्तिः, समानविषयाभिलापं प्रत्येव ज्ञानस्य जनकतया (घटज्ञानस्य)भिन्नविषयतया तत्राजनकत्वादिति—चेन्न, अभिलपनरूपव्यवहारजननयोग्यत्वं न प्रातिस्विकरूपेण निर्णेयम्, अवच्छेदकस्य फलनिर्णेयत्वात्, प्रतिस्वं च फलादर्शनात्, अजनितफले

सत्यानन्दप्रबोधिका

वाले घटादिज्ञान के स्थल पर ज्ञान जन्य शब्द व्यवहार का सहकारिकारण है वागिन्द्रिय, उसके अभाव में गूंगे व्यक्ति को घटादि का ज्ञान होने पर भी उससे शब्द व्यवहार रूप कार्य नहीं हो पाता है। अतः गूंगे व्यक्ति को होने वाले घटादि के ज्ञान में घटादिशब्द व्यवहार को उत्पन्न करने की योग्यता होने से घटादि ज्ञान में घटादि बोधक शब्दों के प्रयोगात्मक व्यवहार की कारणता है। इसलिए घटादिज्ञान की विषयता घटादि में होने से अव्याप्ति दोष नहीं होगा। तार्किकमत में निर्विकल्पकज्ञान में किसी भी व्यवहार की जनकता नहीं मानी जाती है। अतः निर्विकल्पकज्ञान के विषय में विषय के उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि ऐसा हम निर्विकल्पक ज्ञान नहीं मानते हैं जो कभी भी व्यवहार का जनक न होता हो। इसलिए निर्विल्पकज्ञान के विषय में विषयता के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। सर्वविषयों का ग्रहण ''यत्'' अथवा ''तत्'' पद के द्वारा नहीं हो सकता है, क्योंकि यत् और तत् पद एक व्यक्ति के ही बोधक होते हैं, न कि सकल व्यक्ति के। इस विचार से यदि कोई कहे कि ''यज्ज्ञानं यदभिलपनरूपव्यवहारकारणं स तस्य विषयः'' इस लक्षण में यत्तदादि शब्दों के प्रयोग से अननुगमदोष होगा। अर्थात् विषयलक्षणस्थ यत् पद से और तत् पद से जिस पदार्थ व्यक्ति का ग्रहण होता है केवल उसी में लक्षण जायेगा। अन्य पदार्थों में लक्षण न जाने से अव्याप्ति होगी। ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ''यक्षानुरूपो वलिः'' इस न्याय के अनुसार ''कस्य ज्ञानस्य को विषयः'' इस प्रकार के अननुगतार्थक प्रश्न का उक्त प्रकार का अननुगतार्थक उत्तर उचित ही है। शङ्का होती है कि जहां पर घट ज्ञान के अनन्तर प्रमाद से पट बोधक शब्द का प्रयोग हो जाता है। वहां पर घटज्ञान में पटबोधक शब्द प्रयोग की जनकता है। अतः घटज्ञान की विषयता पट में प्रसक्त हो जायेगी। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्वसमानविषयक शब्द व्यवहार (स्व पद से ज्ञान लेना) के प्रति ही ज्ञान में जनकता मानी जाती है। इसलिए घट ज्ञान से जनित पट व्यवहार होता ही नहीं, किन्तु प्रमादादिदोष युक्त सामग्री ही उक्त प्रकार से पट व्यवहार को उत्पन्न करती है। इसलिए घटज्ञान की विषयता पट में प्रसक्त नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के मत में जहां कोई ज्ञान जिसके अभिलपन रूप व्यवहार को उत्पन्न करता हैं। वह उस ज्ञान का विषय होता है यहां तक तो ठीक है किन्तु जो ज्ञान अभिलपन रूप व्यवहार को उत्पन्न नहीं करता है, उस ज्ञान का कौन विषय है— इसका निर्णय कैसे हो? इसके समाधान में पूर्वपक्षी ने कहा था कि जिस ज्ञान में जिसके अभिलपनरूप व्यवहार के जनन की योग्यता है वह उस ज्ञान का विषय है, अतः उस ज्ञान के विषय का निर्णय हो जायेगा, किन्तु उक्त योग्यता का निर्णय प्रत्येक ज्ञान में नहीं हो सकता है, क्योंकि अभिलपनरूपव्यवहारजनकता का अवच्छेदक धर्म को ही उक्त योग्यता का निर्णायक मानना पड़ेगा और अभिलपन— रूपव्यवहारजननयोग्यता

प्रातिस्विकयोग्यतायां मानाभावात्, किन्तु तत्र तत्रानुगततत्तद्वृत्तिविषयत्वेन, तथा च आत्माश्रयः।। ३।।

अत एव–ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्, कर्मत्वञ्च न कारकविशेषः, येनातीतादौ तदभावो भवेत्, किन्तु क्रियाधीनव्यवहारयोग्यत्वरूपातिशयवत्त्वम्, अन्यथा घटं करोतीत्यादावसिद्धं घटादि न जनकम्, सिद्धञ्च न कृतिकर्मेति द्वितीयाविभक्तिरनर्थिका स्यादिति–निरस्तम्, व्यावहारयोग्यत्वं न व्यवहाररूपफलोपहितत्वम्, कुत्रचित् प्रतिरुद्धे व्यवहारे अव्याप्तेः। नापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

के अवच्छेदक को उसी ज्ञान में माना जा सकता है। जिस ज्ञान के अनन्तर अभिलपनरूपव्यवहार रूप फल उत्पन्न होता हो। परन्तु प्रत्येक ज्ञान के बाद अभिलपनरूपव्यवहार उत्पन्न नहीं होता है। अर्थात् जिन जिनको "अयं घटः" ऐसा ज्ञान होता है, वे सभी उस ज्ञान के बाद "अयं घटः" ऐसा शब्दव्यवहार करते हैं। ऐसा नहीं देखा जाता है और जिस ज्ञान ने अभिलपनरूपव्यवहार को उत्पन्न नहीं किया है उस प्रत्येक ज्ञान में अभिलपनरूपव्यवहार जनन की योग्यता है ऐसा मानने में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु घटपटादिरूपशब्द प्रयोगात्मकव्यवहार की जनकता का अवच्छेदक धर्म सभी ज्ञानों में अनुगत घटपटादिविषयकज्ञानत्व को मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर विषयता के निरूपण में विषयता की अपेक्षा हो जानेसे आत्माश्रयदोष होगा।। ३।।

सिद्धान्ती के द्वारा ''ज्ञानकर्मत्वं विषयत्वम्'' इस लक्षण के दूषित कर देने पर पूर्वपक्षी ने उक्त लक्षण के समर्थन में यह जो कहा है कि ज्ञानकर्मत्व को ही विषयता का लक्षण कहना चाहिए, किन्तु कर्मत्व का अर्थ क्रियाजनकत्वरूपकारकविशेषरूपत्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि अतीतादि विषय और ईश्वरीयज्ञान में अव्याप्ति होगी। इसका निरूपण पीछे किया जा चुका है। उस पर पूर्वपक्षी का कहना है कि कर्मत्व का अर्थ ऐसा करना चाहिए–कुलालादि की घटोत्पत्यनुकूला क्रिया के अधीन जो घट के आदानादि या शब्दप्रयोगादि व्यवहार होता है तादृश व्यवहारयोग्यत्वरूप जो अतिशय (कुलाल की क्रिया के पूर्व अनुपस्थितधर्म) तादृश अतिशयवत्त्वरूपकर्मत्व है। प्रकृत में घटज्ञान होने पर घट व्यवहार के योग्य हो जाता है। अतः घटज्ञान की विषयता घट में है। कर्म लक्षण का घटक ''योग्यत्व'' इसलिए कहा गया है कि जहां पर किसी प्रतिबन्धक के कारण ज्ञान होने पर भी व्यवहाररूप फल प्रतिरुद्ध हो जाता हैं वहां पर उक्त व्यवहार की योग्यता रहने से अव्याप्ति नहीं होगी। यदि ऐसा कर्मत्व का लक्षण न मानकर क्रियाजनकत्व अथवा कृतिजनकत्व को कर्म का लक्षण माना जाय तो प्रश्न होगा असिद्ध (भावि) घट को क्रियाजनक या कृतिजनक माना जाय, अथवा सिद्ध (उत्पन्न) घट को। प्रथम पक्ष में कर्म (क्रियाजनक) को क्रिया से अव्यवहित पूर्व में होना चाहिए। जबकि ''घटं करोति'' यहां पर भाविघट क्रिया के अव्यवहित पूर्व में नहीं है। अतः घट में कर्म का लक्षण नहीं जायेगा। इसी प्रकार ''घटं करोति'' में घट से यदि सिद्ध घट लेते हैं तब जैसे सिद्धघट को उत्पन्न करने की इच्छा नहीं होती है, वैसे ही सिद्धघट को उत्पन्न करने की कृति भी नहीं हो सकती है, क्योंकि सिद्धघट में घटोत्पत्ति के अनुकूल प्रयत्न होता ही नहीं है। अतः कर्मत्व के अभाव में ''घटम्'' में द्वितीया विभक्ति निष्फल हो जायेगी। पूर्वपक्षी का यह कथन इसलिए निरस्त हो जाता है कि उक्त व्यवहार योग्यता का अर्थ व्यवहाररूपफलविशिष्टत्व अर्थात् अव्यवहितोत्तरकालीन फलवत्त्व करते हैं तब जहां किसी प्रतिबन्धक के कारण घटज्ञान होने पर भी घटशब्दप्रयोगादिरूप व्यवहाररूपफल नहीं उत्पन्न

तत्स्वरूपयोग्यत्वम्। विषयत्वादन्यस्य तस्यासम्भवादिति पूर्वोक्तदोषात्। न च–अवच्छेदकाद् भिन्नं सहकारिविरहप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं तदिति–वाच्यम्, अनुगतावच्छेदकधर्मं विना तस्यापि ग्रहीतुमशक्यत्वात्। घटं करोतीत्यत्र सिद्धस्यैव कपालादेः कृतिकर्मता, व्यापार्यतया सिद्धस्यैव कृतिकर्मताङ्गीकारात्। अत एव निष्पादनावाचिधातुसमभिव्याहृतकर्मपदे शक्यावयवे निरूढलक्षणामाहुरसत्कार्यवादिनः। सत्कार्यवादिनां तु पूर्वं सतोऽप्यभिव्यञ्जनीयतया न कारकत्वकृतिकर्मत्वयोरनुपपत्तिः। एतेन–'यस्यां संविदि'इत्यादिपूर्वोक्तेऽपि न दोषः, संविदीति

सत्यानन्दप्रबोधिका

होता है वहां पर घट ज्ञान का विषय घट नहीं हो पाने से घट में विषय के लक्षण की अव्याप्ति होगी। यदि उक्त व्यवहारयोग्यता का अर्थ, व्यवहारस्वरूपयोग्यता करते हैं तब उक्त योग्यता का परिचायक कोई अवच्छेदक धर्म मानना पड़ेगा। वह अवच्छेदक धर्म ज्ञानकर्मगत ज्ञानविषयता ही है। अर्थात् जिसमें ज्ञानविषयता रहेगी उसी में क्रियाधीन व्यवहार योग्यता रहेगी और उसी में ज्ञानकर्मता रहेगी। इस प्रकार निर्वचन से भिन्न और किसी प्रकार से तादृश योग्यता किसमें रहती। यह निर्णय नहीं हो सकता। अतः विषयता के निर्वचन में विषयता की अपेक्षा होने से पूर्वोक्त आत्माश्रयदोष प्रसक्त होगा। विषयत्वरूप अवच्छेदक से भिन्न सहकारिविरहप्रयुक्त कार्याभाववत्त्वरूप स्वरूपयोग्यता नहीं कही जा सकती है, क्योंकि जब तक विषयत्वरूप अनुगत अवच्छेदक का ज्ञान नहीं होगा तब तक उक्त कार्याभाववत्वरूप स्वरूपयोग्यता का ग्रहण नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''घटं करोति'' यहां पर क्रियाजनकत्व रूप कर्मकारक के लक्षण का समन्वय घटादि में नहीं हो सकता है, क्योंकि असिद्ध घट (भाविघट) क्रिया के अव्यवहित पूर्व में नहीं है। यदि ''घटम्'' पद से सिद्ध घट लेते हैं तब सिद्ध घट में घटोत्पत्ति के अनुकूल प्रयत्न न होने से कृतिजनकत्व घट में न रहने से घट में कर्मकारक के लक्षण का समन्वय नहीं हो सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''घटं करोति'' का अर्थ होता है ''कपालं निष्पादयति''। इस प्रकार से सिद्ध कपाल में कर्मत्व माना जाता है न कि सिद्ध या असिद्ध घट में। अतः सिद्ध कपाल क्रिया के अव्यवहित पूर्व में होने से कपाल में क्रियाजनकत्वरूपकर्मकारक विशेष का लक्षण समन्वय हो जाता है। सिद्धकपाल में कृतिजनकत्वरूपकर्मकारक के भी लक्षण का समन्वय हो जायेगा, क्योंकि कृतिरूपव्यापार का जनक कपाल को माना जाता है। यदि कोई कहता है कि ''घटं करोति'' इस स्थल पर घट में ही कर्मता की प्रतीति होती है। अतः कपाल में कर्मता कैसे कह रहे हो? इसका समाधान करते हुए कह रहे हैं कि असत्कार्यवादितार्किक निष्पादनार्थक ''कृञ्'' आदि धातुओं के समभिव्याहृत जो "घटम्" यह कर्मपद, उस कर्म पद में स्वशक्यार्थ (घट के वाच्यार्थ) के सम्बन्धी अवयव अर्थ में लक्षणा मानते हैं। इस लक्षणा का नाम है– निरूढलक्षणा। अर्थात् ''घटं करोति'' यहां पर निष्पादनार्थक धातु कृञ् है। इसके साथ उच्चरित कर्मवाचक पद घट पद है। घट पद का शक्य हुआ कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ। उसका अवयव कपाल है। उस कपाल में घट पद की निरूढ लक्षणा की गयी है। अतः "घटं करोति" का अर्थ होता है– "कपालं घटवत् करोति।" अर्थात् कुलाल कपाल को घटरूप से निष्पादन करता है। सत्कार्यवादी सांख्यादि के मत में कपालों में घट पहले से ही अव्यक्तरूप से विद्यमान माना जाता है। पूर्व में अव्यक्त रूप से विद्यमान होता हुआ भी अभिव्यञ्जनीयत्वेन कारकत्व तथा कृतिकर्मत्व इन दोनों की अनुपपत्ति नहीं होती है। सत्कार्यवाद

सति सप्तमी, भासमानत्वञ्च व्यवहारयोग्यत्वम्, तच्च सति कारणान्तरे व्यवहारावश्यम्भाव इत्येतदपि—निरस्तम्।। ४।।

ननु—यः सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य यज्ज्ञानावच्छेदको यज्ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावश्च स तस्य विषयः, यद्यप्यात्मा स्वविषयज्ञानसमवायवान्, तथापि न तस्य ज्ञानावच्छेदे समवायापेक्षा, ज्ञानासमवायिनोऽपि घटादेस्तदवच्छेदकत्वदर्शनात्। यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतं ध्वस्तमिष्टमित्यादौ रूपज्ञानाविषया अप्यात्मसमवायेच्छाध्वंसादयः सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य ज्ञानावच्छेदकाः, तथापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

में "घटं करोति" इस वाक्य का अर्थ होगा कि कुलाल अनभिव्यक्त घट को अभिव्यक्त करता है। पूर्वपक्षी ने अष्टम लक्षण के समर्थन में यह जो कहा है कि "यस्यां संविदि योऽर्थो भासते सः विषयः'' इस लक्षण के घटक ''संविदि'' पद में सति सप्तमी है। भासमानत्व का अर्थ व्यवहार योग्यत्व है। वह व्यवहार योग्यत्व ज्ञान से अतिरिक्त सहकारिकारणान्तर के होने पर व्यवहार का अवश्यंभाव है। अर्थात् सहकारिवैकल्य प्रयुक्त कार्याभावरूप है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इसलिए निरस्त हो गया, क्योंकि उक्त योग्यता का अवच्छेदक (परिचायक) धर्म पूर्वोक्त प्रकार से विषयत्व ही होगा। अतः विषयता के निरूपण में विषयता का ही प्रवेश हो जाने से आत्माश्रयदोष होगा।। ४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा नवम पक्ष का परिष्कार किया जा रहा है। जो पदार्थ विषयत्वरूप सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध की अपेक्षा के बिना ही जिस ज्ञान का अवच्छेदक (विशेषण) होता है और ज्ञान से अनवच्छिन्न स्वभाव वाला होता है वह पदार्थ उस ज्ञान का विषय होता है। लक्षण घटक ''सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य'' इसलिए कहा गया कि उक्त भाग को लक्षण में प्रवेश न करने पर ''मैत्रस्य ज्ञानम्'' इत्यादि स्थल पर ज्ञान का अवच्छेदक ज्ञाता पुरुष भी होता है किन्तु ज्ञाता और ज्ञान के मध्य में विषयता रूप सम्बन्ध से भिन्न समवायरूप सम्बन्धान्तर की अपेक्षा होती है। अतः विषय के लक्षण की ज्ञाता में अतिव्याप्ति होगी। उसके वारण के लिए ''सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य कहा गया। ऐसा कहने पर अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त स्थल पर विषयतारूपसम्बन्ध से भिन्न समवाय रूप सम्बन्धान्तर की अपेक्षा है। ''ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावः'' इस पद की सार्थकता का निरूपण मूल में ही ''यद्यपि च रूपज्ञानं मत्समवेतम्....'' इत्यादि से किया जायेगा। यद्यपि आत्मा भी आत्मविषयकज्ञान स्थल पर ज्ञानप्रतियोगिकसमवाय वाला है। अर्थात् आत्मा भी स्वविषयकज्ञान का अवच्छेदक होने से विषय माना जाता है, किन्तु आत्मा और ज्ञान के मध्य में विषयतारूप सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध (समवाय) की अपेक्षा होती है। जबकि लक्षण में सम्बन्धान्तरमनपेक्ष्य कहा गया है। अतः आत्मज्ञान के विषय आत्मा में उक्त विषयता के लक्षण की अव्याप्ति होती है, तथापि आत्मविषयकज्ञान स्थल पर आत्मा को ज्ञान के अवच्छेदक होने में समवाय की अपेक्षा नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान के असमवायी जो घटादि है, उनमें भी ज्ञान की अवच्छेदकता रहती है। अर्थात् आत्मा में ज्ञान के समवाय सम्बन्ध से रहने पर भी आत्मवृत्ति उक्त अवच्छेदकता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं है। यदि ज्ञानीय अवच्छेदकता जिन जिन में है उन सबका ज्ञान के साथ समवाय सम्बन्ध रहता तब तो आत्मवृत्ति ज्ञानीय अवच्छेदकता भी समवायसम्बन्धावच्छिन्ना मानी जाती, किन्तु ऐसा तो नहीं है, क्योंकि ज्ञानीय अवच्छेदकता घटादि में भी है किन्तु घटादि में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान के न रहने से वह अवच्छेदकता समवायसम्बन्धावच्छिन्ना नहीं हो सकती है। अब "ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावः" इस पद की सार्थकता

समवेतेष्यमाणप्रतियोग्यात्मकरूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावा एव, सम्बन्धेच्छादीनां सम्बन्धीष्यमाणाद्यवच्छिन्नस्वभावत्वादिति नातिव्याप्तिः। ज्ञानविषयस्तु न ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः, ज्ञानस्य घटाद्यवच्छिन्नस्वभावत्ववद् घटादेर्ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वादर्शनात्। यद्यपि स्वग्राहकज्ञानविषयीभूतं ज्ञानविषयकानुमित्यनुव्यवसायादिकं (ज्ञानं) ज्ञानावच्छिन्नस्वभावम्, तथापि स्वयं यज्ज्ञानं प्रति विषयस्तदवच्छिन्नस्वभावं नेति नाव्याप्तिरिति–चेन्न, मत्समवेतं

सत्यानन्दप्रबोधिका

का निरूपण किया जा रहा है। यद्यपि आत्मसमवाय विशिष्टरूपज्ञान, ध्वंसविशिष्टरूपज्ञान और इच्छाविशिष्टरूपज्ञान इत्यादि स्थलों पर रूपज्ञान के अविषय आत्मसमवाय, ध्वंस इत्यादि सम्बन्धान्तर की अपेक्षा न कर के अवच्छेदक है, क्योंकि रूपज्ञान और आत्मसमवायादि के मध्य में विषयता से भिन्न और कोई सम्बन्धान्तर नहीं स्वीकार किया जाता है। अतः सम्बन्धान्तर की अपेक्षा न कर के रूप ज्ञान के अवच्छेदक होने के कारण रूपज्ञान के विषयता की आपत्ति आत्मसमवाय, इच्छा, ध्वंसादि में होगी तथापि आत्मसमवायादि में लक्षण घटक ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि समवेतात्मकरूपज्ञान, इष्यमाणात्मकरूपज्ञान तथा प्रतियोग्यात्मक रूपज्ञान से आत्मसमवायादि ये तीनों ही अवच्छिन्न स्वभाव वाले हैं, क्योंकि मत्समवाय यह एक सम्बन्ध है और मत्समवायरूपसम्बन्ध का सम्बन्धि है रूपज्ञान और सम्बन्ध सम्बन्धी से अवच्छिन्न स्वभाव वाला होता है, क्योंकि सम्बन्ध तो है परन्तु उसका सम्बन्धी कोई नहीं है। ऐसा हो नहीं सकता है, इसी प्रकार इच्छा इष्यमाण से अवच्छिन्न स्वभाव वाली होती है, क्योंकि इच्छा तो हो रही है परन्तु उस इच्छा का इष्यमाण कोई नहीं है। ऐसा हो नहीं सकता है। इसी प्रकार ध्वंस प्रतियोगी से अवच्छिन्न स्वभाव वाला होता है क्योंकि ध्वंस हो गया, परन्तु उस ध्वंस का कोई प्रतियोगी नहीं है। ऐसा हो नहीं सकता है। जैसे प्रकृत में "ज्ञानस्य समवायः, ज्ञानस्य ध्वंस, ज्ञानस्येच्छा।" ये तीनों ज्ञान से अनवच्छिन्न स्वभाव वाले न होने से इनमें अतिव्याप्ति नहीं होगी। घटादिज्ञान का घटादि विषय घटादिज्ञान से अवच्छिन्न स्वभाव वाला नहीं होता है, क्योंकि जैसे घटादिज्ञान के घटाद्यवच्छिन्नस्वभावत्व का दर्शन होता है। अर्थात् जैसे ''घटस्य ज्ञानम्'' ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही घटादि के घटादिज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्व का दर्शन नहीं होता है। अर्थात् कहीं पर भी ''ज्ञानस्य घटः'' ऐसा व्यवहार नहीं होता है। अतः घटादि ज्ञान के विषय में अव्याप्ति नहीं होगी। यद्यपि जहां पर प्रथम व्यवसाय ज्ञान हुआ उसके पश्चात् व्यवसायग्राहक अनुमितिरूप अथवा अनुव्यवसायात्मक ज्ञान हुआ। तदनन्तर व्यवसायग्राहक अनुव्यवसायविषयक अथवा व्यवसायग्राहक अनुमितिविषयक तृतीय ज्ञान हुआ। वहां पर तृतीयज्ञान का विषयीभूत जो द्वितीय ज्ञान है वह व्यवसायात्मक प्रथम ज्ञान से अवच्छिन्न स्वभाव वाला होनेसे तृतीय ज्ञान के विषय में विषय के लक्षण की अव्याप्ति होगी। मूलस्थ स्व से द्वितीय ज्ञान लेना है। स्वग्राहक ज्ञान से द्वितीय ज्ञान का ग्राहक तृतीय ज्ञान लेना है। स्वग्राहक ज्ञान विषयीभूत होगा– द्वितीय ज्ञान। ज्ञान विषयक............ में ज्ञान शब्द से द्वितीय ज्ञान लेना है। ''ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावम्'' में ज्ञान शब्द से प्रथम ज्ञान लेना है। पूर्वोक्त प्रकार से अव्याप्तिदोष के उपस्थित होने पर उसको वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि लक्षण घटक ''ज्ञानावच्छिन्नस्वभावः''पद से ''स्वविषयकज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता'' की विवक्षा करेंगे। ऐसा करने पर अव्याप्तिदोष नहीं होगा, क्योंकि स्वयं–द्वितीयज्ञान जिस तृतीयज्ञान का विषय

रूपज्ञानमित्याकारकज्ञानस्यात्मसमवायविषयकत्वाभावप्रसङ्गात्, आत्मसमवायस्य सम्बन्धत्वेन सम्बन्धिभूतस्वज्ञानावच्छिन्नत्वात्, घटस्य ज्ञानमिति प्रतीत्या घटावच्छिन्नस्वभावत्वं यथा ज्ञानस्य, तथा ज्ञातो घट इति प्रतीत्या घटस्यापि ज्ञानावच्छिन्नस्वभावत्वेनासम्भवाच्च। अथ—यज्ज्ञानं यदीयस्वभावम्, स तस्य विषयः, मत्समवेतं रूपज्ञानमित्यत्र तु समवाय एव रूपज्ञानावच्छिन्नस्वभावो, न तु रूपज्ञानं तदवच्छिन्नस्वभावम्। इदं च ज्ञानस्यैव विषयत्वमुक्तम्, न त्विच्छादिसाधारणमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

है वह द्वितीयज्ञान उस तृतीयज्ञान से अवच्छिन्न स्वभाव वाला नहीं है। अपितु प्रथम ज्ञान से अवच्छिन्नस्वभाव वाला है, क्योंकि प्रथमज्ञान ही द्वितीयज्ञान का अवच्छेदक है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब ''मत्समवायविशिष्टं रूपज्ञानम्'' इत्याकारक अनुव्यवसायज्ञान होता है तब उक्त ज्ञान मत्समवाय और रूप उभयावच्छिन्न होता है। अतः उक्त ज्ञान की विषयता रूप और मत्समवाय (आत्मानुयोगिकसमवाय) दोनों में है। किन्तु उक्त अनुव्यवसायज्ञान के विषय मत्समवाय में विषयता के लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि मत्समवाय यह एक सम्बन्ध होने से सम्बन्धिभूत स्वज्ञान से अवच्छिन्न होगा, जबकि विषयता के लक्षण में ज्ञानानवच्छिन्न स्वभावता कही गयी है। अतः ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता समवाय में न घटने से अव्याप्तिदोष है। दूसरी बात यह है कि ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता कहने पर असम्भवदोष होगा, क्योंकि ''घटस्य ज्ञानम्'' इस प्रतीति के आधार पर जैसे घटज्ञान में घटावच्छिन्नस्वभावता की प्रतीति को पूर्वपक्षी स्वीकार कर रहा है ठीक उसी प्रकार ज्ञानविषयीभूतघटः, ज्ञातो घटः, इस प्रतीति के आधार पर पूर्वपक्षी को घट में घटज्ञानावच्छिन्नस्वभावता भी माननी पड़ेगी। इसी प्रकार सभी विषय ज्ञेय होनेसे ज्ञेय ज्ञानावच्छिन्नस्वभावक ही होगा। इसलिए ज्ञानानवच्छिन्नस्वभावता को विषय के लक्षण में प्रवेश करने पर असम्भवदोष होगा। बौद्धाधिकारस्थ उदयनाचार्य का वाक्य है— ''प्रकाशस्य सतस्तदीयतामात्रनिबन्धनः स्वभाव विशेषोविषयता।'' अर्थात् विषय चाहे विद्यमान हो चाहे अविद्यमान हो, ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह विषय से अवच्छिन्न होता है और ज्ञान का वह स्वभाव ही ज्ञान की विषयता है। इसी के अनुसार पूर्वपक्षी पुनः विषय के लक्षण का निरूपण कर रहा है, जिस ज्ञान का स्वभाव जिससे अवच्छिन्न है वही उस ज्ञान का विषय है। जैसे घटज्ञानका स्वभाव घटावच्छिन्न है। अतः घटज्ञान का विषय घट होता है। यहां पर प्रश्न होता है कि ''मत्समवेतं रूपज्ञानम्'' यहां ''मत्समवेतम्'' का अर्थ है—मत्समवायावच्छिन्नम्। अतः रूपज्ञान का स्वभाव मत्समवाय से अवच्छिन्न होने के कारण मत्समवाय को रूपज्ञान का विषय मानना चाहिए। जबकि रूपज्ञान का विषय रूप होता है न कि मत्समवाय। इस प्रश्न के समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि समवाय का ही स्वभाव रूपज्ञान से अवच्छिन्न है न कि रूपज्ञान का स्वभाव समवाय से अवच्छिन्न है, क्योंकि रूपज्ञान को रूप से अवच्छिन्न मानना ही पड़ेगा। अतः वही रूपज्ञान समवाय से अवच्छिन्न और रूप से भी अवच्छिन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि रूप और मत्समवाय दोनों को रूपज्ञान का अवच्छेदक मानने में गौरव दोष है। अर्थात् रूपज्ञान रूपावच्छिन्न स्वभाव वाला है समवायावच्छिन्न स्वभाव वाला नहीं है। अतः ''मत्समवेतं रूपज्ञानम्'' इस स्थल पर रूपज्ञान का विषय समवाय नहीं हो सकता है। पुनः शङ्का होती है कि विषय के इस लक्षण की इच्छादि के विषय में अव्याप्ति होगी, क्योंकि घट की इच्छा

नाव्याप्तिरिति चेन्न, यदीयस्वभावमिति तद्धितस्य यद्विषयकत्वार्थकत्वे आत्माश्रयात्, अर्थान्तरस्य (च) निरूपयितुमशक्यत्वात्, रूपज्ञानाभावाभावस्य रूपज्ञानरूपत्वेन रूपज्ञानस्याप्यभावीयतया तद्विषयत्वापत्तेः।। ५।।

ननु—ज्ञानजनककरणसन्निकर्षाश्रयत्वं तद्विषयत्वम्। न च रूपज्ञानकरणमनस्सन्निकर्षाश्र—यस्यात्मनस्तद्विषयत्वापत्तिः, करणपदेनासाधारणज्ञानकरणस्यैव विवक्षितत्वात्। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट से अवच्छिन्न नहीं होती है, क्योंकि इच्छा के साथ विषय का कोई साक्षात् सम्बन्ध माना ही नहीं जाता है। इच्छा का जनकीभूत ज्ञान का जो विषय वहीं इच्छा का भी विषय होता है। अतः घट की इच्छा घट से अवच्छिन्न न होने के कारण घटेच्छा का विषयीभूत घट में विषय का लक्षण नहीं जा रहा है। इसके समाधान के रूप से पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय का उक्त लक्षण सर्वविषय— साधारण नहीं है, किन्तु ज्ञान के विषय का ही लक्षण है। अतः घटेच्छा के विषय घट में उक्त विषय का लक्षण न जाने से अव्याप्ति नहीं होगी। विषय के इस लक्षण का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि लक्षण घटक ''यदीयस्वभावम्'' में ''यद्'' इस शब्द की ''त्यदादीनि च'' (पा० सू० १—१—७४) इस सूत्र से वृद्ध संज्ञा और ''वृद्धाच्छः'' (पा० सू० ४—२—११४) इस सूत्र के द्वारा यद् शब्द से छ प्रत्यय हुआ है। इस तद्धित प्रत्ययान्त यदीय पद का अर्थ यदि यद्विषयकत्व किया जाय तब विषय के लक्षण में विषय का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रयदोष होगा। यदीय पद का यद्विषयकत्व से अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के अर्थ का निरूपण पूर्वपक्षी कर नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि रूपज्ञान रूपज्ञानाभावाभाव स्वरूप है। अतः रूपज्ञान का स्वभाव अभावीय होने से अभाव को भी रूपज्ञान का विषय पूर्वपक्षी को मानना पड़ेगा।। ५।।

पुनः पूर्वपक्षी विषय के लक्षणान्तर का निरूपण करते हुए कह रहा है कि जिस ज्ञान का जनक जो करण प्रतियोगिक सन्निकर्ष है उस सन्निकर्ष के आश्रय को विषय कहते हैं। जैसे घटज्ञान का जनकीभूत जो चक्षु करण है। उस चक्षु के साथ घट का जो संयोग सन्निकर्ष है। उस चक्षु प्रतियोगिक सन्निकर्ष का आश्रय घट है। अतः घट में उक्त विषय का लक्षण चला गया। प्रश्न होता है आत्ममनः सन्निकर्ष को सभी ज्ञानों के प्रति कारण माना जाता है। अतः रूपज्ञान का जनकीभूत मनरूपकरण के साथ आत्मा का सन्निकर्ष है। उस मन प्रतियोगिक सन्निकर्ष का आश्रय आत्मा के होनेसे रूपज्ञान का विषय आत्मा को भी मानना पड़ेगा। इसके समाधान के रूप से पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय के उक्त लक्षण का घटकीभूत करण पद से ज्ञान का असाधारण करण ही विवक्षित है। रूपज्ञान का असाधारणकरण चक्षु ही है मन तो सभी ज्ञानों का साधारण करण है। अतः साधारण करण को ग्रहण कर के पूर्वोक्तदोष नहीं होगा। पुनः शङ्का होती है कि रूपज्ञान का जनकीभूत असाधारण करण जो चक्षु उस चक्षु प्रतियोगिक मनःसन्निकर्ष का आश्रय मन भी है, क्योंकि ज्ञान के उत्पत्ति के पूर्व में मनके साथ बाह्य इन्द्रियों का सन्निकर्ष अवश्यम्भावी होता है, क्योंकि इन्द्रियों के साथ मन का सन्निकर्ष न होने पर ज्ञान होता ही नहीं है। अतः मन को भी रूपज्ञान का विषय मानना चाहिए। इस शङ्का का समाधान करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय के उक्त लक्षण का घटकीभूत सन्निकर्ष पद के द्वारा ज्ञान का जनकीभूत असाधारण सन्निकर्ष ही विवक्षित है। मनके साथ बाह्य इन्द्रियों का जो सन्निकर्ष

चासाधारणज्ञानकरणचक्षुस्सन्निकर्षाश्रयस्य मनसोऽपि रूपज्ञानविषयत्वापत्तिः, सन्निकर्षपदेनाप्य—साधारणज्ञानजनकसन्निकर्षस्यैवोक्तत्वादिति—चेन्न, चक्षुर्मनस्संयोगस्यापि चाक्षुषज्ञानासाधा—रणकारणत्वेन मनसोऽपि चाक्षुषज्ञानविषयत्वापत्तेः, परोक्षविषये अव्याप्तेश्च। न च—तत्र लिङ्गज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

है वह सभी इन्द्रिय जन्य ज्ञानों के प्रति हेतु होने के कारण साधारण सन्निकर्ष है। रूप ज्ञान का असाधारण सन्निकर्ष रूप के साथ चक्षु का सन्निकर्ष ही है। अतः साधारण सन्निकर्ष को ग्रहण कर उक्त दोष नहीं दिया जा सकता है। विषय के उक्त लक्षण का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि चक्षु के साथ मन का सन्निकर्ष भी चाक्षुषज्ञान के लिए असाधारण कारण ही है, क्योंकि श्रावण—रासनादि ज्ञानों के प्रति चक्षुमन सन्निकर्ष को कारण नहीं माना जाता है। अतः चक्षु प्रतियोगिक असाधारण सन्निकर्ष का आश्रय मन के भी होने से मन को भी चाक्षुषज्ञान का विषय मानना पड़ेगा। दूसरी बात यह भी है कि करण सन्निकर्ष को केवल प्रत्यक्ष के प्रति जनक माना जाता है। परोक्ष ज्ञान के प्रति नहीं। अतः परोक्षज्ञान के विषय में विषय के उक्त लक्षण की अव्याप्ति भी होगी। पूर्वपक्षी इस अव्याप्तिदोष का परिहार करते हुए कह रहा है कि अनुमित्यादि परोक्षज्ञानों के प्रति भले ही इन्द्रियरूप करण का सन्निकर्ष कारण न हो, किन्तु लिङ्गादिज्ञान को परोक्षज्ञान का करण माना जाता है। उस लिङ्गज्ञानरूप करण का स्व (लिङ्गज्ञान) विषयीभूत लिङ्ग व्यापकत्वरूपसन्निकर्ष की आश्रयता वह्नि आदि में होने से परोक्ष ज्ञान के विषय में भी विषय का उक्त लक्षण चले जाने से अव्याप्ति दोष नहीं होगा। मूलस्थ ''तद्व्याप्यत्व'' का अर्थ है— स्वविषयीभूतलिङ्गव्यापकत्व। स्व पद से लिङ्गज्ञान लेना चाहिए। उसका विषय हुआ—लिङ्ग। तादृश लिङ्गव्यापकत्व साध्य में है ही। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वह्नि आदि परोक्षज्ञान का जनक जो लिङ्गादि ज्ञान है उसका स्वविषयीभूतलिङ्गव्यापकत्वरूपसन्निकर्ष का आश्रय यद्यपि वह्नि आदि है, तथापि स्वज्ञान सम्बन्धित्व अर्थात् स्वावच्छेदकत्वरूप सन्निकर्ष का आश्रय लिङ्ग भी होगा, क्योंकि स्व—लिङ्ग ज्ञान, उसका अवच्छेदक (सम्बन्धी) लिङ्ग है। अतः अवच्छेदकताश्रयता लिङ्ग में चली गयी। इसलिए धूमादि लिङ्ग को भी वह्नि आदि के परोक्षज्ञान का विषय मानना पड़ेगा। इस दोष का परिहार करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि उक्त अवच्छेदकता रूप सम्बन्ध परोक्षज्ञान जनकीभूत करण (लिङ्ग) में है तथापि उक्त अवच्छेदकता सम्बन्ध को परोक्ष ज्ञानीय विषयता का नियामक सम्बन्ध नहीं माना जाता है किन्तु स्वविषयीभूत लिङ्ग व्यापकत्वरूपसम्बन्ध को ही परोक्षज्ञानीयविषयता का नियामक सम्बन्ध माना जाता है। सम्बन्ध घटक स्व पद से लिङ्गज्ञान लेना है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि यदि लिङ्गादिज्ञान को अनुमित्यादि परोक्षज्ञान का करण मानते हैं और स्वविषयीभूत लिङ्गादिव्यापकत्वरूप सन्निकर्ष को परोक्षज्ञानीय विषयता का नियामक सम्बन्ध मानते हैं। तब उक्त सन्निकर्ष का आश्रय वह्नि आदि ही होगें। जब कि अनुमिति का विषय वह्नि के साथ—साथ वह्नित्व और वह्नि के साथ पर्वत का संयोगसन्निकर्षादि भी होता है। अतः व्यापकतावच्छेदकीभूत वह्नित्व तथा व्यापकीभूत वह्नि और पर्वत के संयोगादि में विषय में लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि वह्नित्व और वह्निपर्वतसंयोग इन दोनों में से कोई भी स्वविषयीभूतलिङ्गव्याकत्वरूपसन्निकर्ष का आश्रय नहीं है। पुनः पूर्वपक्षी विषय के लक्षणान्तर

करणम्, तत्र च लिङ्गिनः तद्व्याप्तत्वं सम्बन्धोऽस्तीति–वाच्यम्, लिङ्गस्यापि स्वज्ञानसम्ब–न्धित्वेनानुमितिविषयत्वापत्तेः। न चानुमितौ तद्व्याप्ततारूपसम्बन्ध एव विषयतानियामकः, व्यापकतावच्छेदकव्यापकसम्बन्धादीनामविषयत्वापत्तेः। न च–ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरणो ज्ञानावच्छेदकत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मो विषयत्वम्, इदं च नित्यपरोक्षसाधारणमिति–वाच्यम्, वस्तुत्वादिकमेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

का निरूपण कर रहा है। इस लक्षण के दो भाग हैं। लक्षण का प्रथम भाग है–ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण। इसका अर्थ है–घट ज्ञान का करणीभूत जो घटेन्द्रियसन्निकर्ष वह घट में रहता है और उसी घट में घटत्व के रहने के कारण घटत्व हो गया–ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण। ऐसा घटत्व घट में रहने से घटज्ञान का विषय घट को माना जायेगा। लक्षण का द्वितीय भाग है– ज्ञानावच्छेदकत्व साक्षाद्व्याप्य धर्म। इसका अर्थ है– घटज्ञान का अवच्छेदक घट है। अतः घटज्ञानावच्छेदकत्व घट में रहेगा। ऐसे घट में साक्षाद् समवायसम्बन्ध से घटत्व रहता है। अतः घटज्ञानावच्छेदकत्व का साक्षाद् व्याप्य धर्म घटत्व हो गया, क्योंकि "यत्र–यत्र (घटे) घटत्वं तत्र तत्र (घटे) घटज्ञानावच्छेदकत्वम्" ऐसी व्याप्ति है। तादृश घटत्व के घट में रहने से घट को घट ज्ञान का विषय माना जायेगा। लक्षण के द्वितीय भाग में साक्षाद् पद इसलिए दिया गया है कि घटज्ञानावच्छेकत्व का जैसे साक्षाद् व्याप्य धर्म घटत्व है। उसी प्रकार परम्परासम्बन्ध से घटज्ञानावच्छेदकत्व का व्याप्य धर्म मनस्त्व भी है। यहां पर परम्परासम्बन्ध है–स्वाश्रयसंयुक्त संयोगसम्बन्ध। इसका समन्वय इस प्रकार से होगा– स्व–मनस्त्व। उसका आश्रय मन है। उससे संयुक्त चक्षुरादि इन्द्रिय है। उस इन्द्रिय का संयोग घट में है। अतः जिस घट में ज्ञानावच्छेदकत्व है उसी घट में उक्त परम्परा सम्बन्ध से मनस्त्व भी है। अतः मनस्त्व हो गया घटज्ञानावच्छेकत्व व्याप्य धर्म। इसलिए उस मनस्त्व के मन में रहने के कारण घटज्ञान का विषय मन को भी मानने की आपत्ति होगी। ऐसी आपत्ति के निवारणार्थ साक्षाद् पद दिया गया है। घट में साक्षाद् समवायसम्बन्ध से मनस्त्व के न रहने के कारण घटज्ञानावच्छेदकत्व का साक्षाद् व्याप्य धर्म मनस्त्व नहीं माना जायेगा। लक्षण में आद्यदल न देकर केवल द्वितीय दल देने पर ''मदीयं (मदवच्छिन्नम्) घटज्ञानम्'' यहां पर घटज्ञानावच्छेदकत्व आत्मा में हैं। अतः घटज्ञानावच्छेदकत्व साक्षाद् व्याप्य धर्म आत्मत्व हो जायेगा। तादृश आत्मत्व के आत्मा में रहने से आत्मा को भी घटज्ञान का विषय मानने की आपत्ति होगी। इस आपत्ति को निवारण करने के लिए प्रथम दल दिया गया है। प्रथम दल देने पर घट ज्ञान का जनकीभूत चक्षुरादि करण सन्निकर्ष का आश्रय घट है न कि आत्मा। अतः उक्त आपत्ति नहीं आयेगी। लक्षण में द्वितीयदल न देकर केवल प्रथम ही दल देते हैं। तब घटज्ञान जनकीभूत चक्षुरादि करण के साथ मन का जो सन्निकर्ष उसका आश्रय मन होने से और उस मन में मनस्त्व के भी रहने से मनस्त्व हो गया– घटज्ञानकरण– सन्निकर्षसमानाधिकरण। ऐसे मनस्त्व के मन में रहने से मन को भी घटज्ञान का विषय मानने की आपत्ति आती है। उस आपत्ति को निवारण करने के लिए द्वितीय दल दिया गया है। द्वितीय दल देने पर घटज्ञानावच्छेदकत्व का साक्षाद् व्याप्य धर्म घटत्व है न कि मनस्त्व। अतः उक्त आपत्ति नहीं होगी। यह लक्षण अनित्य घटादि ज्ञान के साथ नित्य ईश्वरीय ज्ञान और परोक्ष वह्न्यादि की अनुमित्यादि में भी समन्वय हो जायेगा, क्योंकि घट विषयक ईश्वरीय ज्ञान की अवच्छेदकता का साक्षाद्

विषयत्वमित्यापत्तेः, ज्ञानावच्छेदकत्वस्य रूपज्ञानाविषये समवायेऽपि सत्त्वेनातिव्याप्तेश्च।। ६।।। न च—ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपसम्बन्ध एव विषयत्वमिति—वाच्यम्, असिद्धेः। तथा हि—स्वरूपसम्बन्ध इत्यस्य स्वरूपं सम्बन्ध इत्यर्थत्वे संयोगादावतिव्याप्तिः। न च तदुभयान्यत्वं विशेषणम्, हिमवद्विन्ध्ययोरपि स्वरूपसम्बन्धापत्तेः, सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

व्याप्य धर्म घटत्व है। यद्यपि वह घटत्व नित्य ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण नहीं है, क्योंकि नित्यज्ञान का कोई कारण नहीं होता है। तथापि अनित्यघटज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण घटत्व में है। ऐसे घटत्व के ईश्वरीयज्ञान विषयीभूत घट में रहने के कारण घट भी ईश्वरीयज्ञान का विषय बन जायेगा। इसी प्रकार परोक्ष ज्ञान स्थल में ज्ञानकरण=लिङ्गज्ञान। उस लिङ्गज्ञान का विषयीभूतलिङ्ग का व्यापकत्व रूपसन्निकर्ष का अधिकरण वह्नि है। उस वह्नि में अनुमित्यवच्छेदकत्व का साक्षाद् व्याप्यधर्म वह्नित्व के रहने से वह्नि को वह्नि के परोक्षज्ञान का विषय माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि लक्षण घटक ज्ञान पद से सकल ज्ञान लेने पर उक्त लक्षण सभी वस्तु मात्र में चले जाने के कारण लाघव होने से वस्तुत्वादि को ही विषय का लक्षण मानना चाहिए क्योंकि ज्ञानकरणसन्निकर्ष का अधिकरण जो भी हो, वह वस्तु अवश्य होगा। अतः ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण हो गया वस्तुत्व और ज्ञानावच्छेदक जो भी हो वह वस्तु अवश्य होगा। अतः ज्ञानावच्छेदक का साक्षात् व्याप्यधर्म भी वस्तुत्व हो जायेगा। यदि लक्षण घटक ज्ञान पद से सकल ज्ञान न लेकर तत्—तत् ज्ञान व्यक्ति लेते हैं तो प्रत्यक्षानुमित्यादि सर्वज्ञान साधारण करण सन्निकर्ष न मिलने से लक्षण का समन्वय नहीं होगा। दूसरा दोष यह होगा कि रूपज्ञान का विषय समवाय को मानने की आपत्ति आयेगी, क्योंकि रूपज्ञान का करण है चक्षु, उसका रूप के साथ सन्निकर्ष है संयुक्तसमवाय, उसका अधिकरण है रूप, उसमें रूपत्व का समवाय है। अतः समवायत्व ज्ञानकरणसन्निकर्षसमानाधिकरण धर्म हो गया। ऐसा समवायत्व ज्ञानावच्छेदकत्व का साक्षाद् व्याप्य धर्म भी है, क्योंकि "मत्समवेतं रूपज्ञानम्" यहां रूपज्ञानावच्छेदक है मत् समवाय, अतः ज्ञानावच्छेदकत्व समवाय में है और उसी में समवायत्व रहता है। अतः रूपज्ञान का विषय समवाय को मानने की आपत्ति होगी।। ६।।

ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप सम्बन्ध ही विषयत्व है। इस पक्ष को न्यायामृतकार ने नहीं उठाया है। किन्तु विषय का यह लक्षण नैयायिक सम्मत है। इसको भी खण्डन करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप से अद्वैतसिद्धिकार उपस्थापित कर रहे हैं कि ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूपसम्बन्ध ही विषय का लक्षण है। ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप ज्ञानज्ञेय का सम्बन्ध है। अर्थात् जिसका सम्बन्ध ज्ञानज्ञेयस्वरूप है। उसको विषय कहा जाता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त लक्षण का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि स्वरूप सम्बन्ध का अर्थ यदि स्वरूप ही सम्बन्ध है। तब संयोग और समवाय में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि संयोग समवायादि सम्बन्ध का भी अपना स्वरूप होता ही है। अतः संयोग और समवाय को भी स्वरूपसम्बन्ध मानना चाहिए। यदि ''संयोगसमवायभिन्नत्वे सति स्वरूपत्वम्'' ऐसा स्वरूपसम्बन्ध का अर्थ किया जाता है। तब जिन दोनों के स्वरूप संयोगसमवाय से भिन्न है, उन दोनों के स्वरूप को ही उन दोनों का सम्बन्ध माना जायेगा। तब "हिमालय में विन्ध्य रहता है।" इस ज्ञान को भी प्रमा मानना पडेगा, क्योंकि हिमालय के साथ विन्ध्य

स्वरूपसम्बन्ध इति चेन्न, आत्मानं जानामीत्यत्राव्याप्तेः, तत्र सम्बन्धान्तरस्य समवायस्यैव सत्त्वात्, अतीन्द्रियाभावादावव्याप्तेश्च, न हि तस्य विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वे मानमस्ति, अन्यथा तेन विशिष्टप्रत्ययजननापत्तेः।किञ्च विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं धर्मो वा सम्बन्धः, तादृशस्वरूपद्वयमेव वा? आद्ये स्वरूपस्य सम्बन्धत्वव्याघातः, प्रतीतिघटितस्य चाक्षुषादिज्ञानागोचरत्वप्रसङ्गश्च। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

का कोई संयोग या समवाय सन्निकर्ष नहीं है और हिमालय और विन्ध्य का अपना—अपना स्वरूप होता ही है। जबकि इस ज्ञान को भ्रमज्ञान माना जाता है, क्योंकि दोनों दूर—दूर स्थित हैं। उन दोनों में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध माना नहीं जाता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि हिमालय और विन्ध्य के सम्बन्ध का बाध हो जाने से उक्त दोनों के स्वरूप को सम्बन्ध नहीं माना जाता है, तब तो इसी प्रकार ज्ञान में भी विषय का सम्बन्ध बाधित होने के कारण घट और घटज्ञान के स्वरूप को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''स्वं न स्वस्मिन्'' ''स्वं न स्वीयम्'' इस प्रकार का अबाधित अनुभव होता है। यदि कहा जाय कि जिन दोनों के स्वरूप से अतिरिक्त उनमें संयोगादि सम्बन्ध नहीं है और ''दोनों परस्पर विशिष्ट है'' इस प्रकार से प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता यदि उन दोनों में है तब उक्त प्रकार की योग्यता को स्वरूपसम्बन्ध कहा जायेगा। हिमालय और विन्ध्य में संयोग या समवाय यद्यपि नहीं है तथापि हिमालय और विन्ध्य परस्पर सम्बद्ध है, ऐसी प्रतीति न होने के कारण, वैसी प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता हिमालय और विन्ध्य में नहीं मानी जायेगी। अतः हिमालय और विन्ध्य में स्वरूपसम्बन्ध भी नहीं माना जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि स्वरूप सम्बन्ध का उक्त लक्षण मानने पर ''आत्मानं जानामि'' इस स्थल पर आत्मा और आत्मज्ञान में स्वरूप सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ऐसे स्थल पर ज्ञान के साथ आत्मा का समवाय सम्बन्ध पूर्वपक्षी मानता ही है। अतः उक्त ज्ञान के विषय आत्मा में विषय का लक्षण न जाने से अव्याप्ति होगी। उक्त विषय के लक्षण में दूसरा दोष यह होगा कि आकाश का अतीन्द्रिय अत्यन्ताभावादि सर्वत्र रहता है। ऐसे आकाश के अत्यन्ताभावादि के ज्ञान के विषय आकाशात्यन्ताभाव में विषय के लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि ''सर्वं आकाशात्यन्ताभावविशिष्टम्'' ऐसी विशिष्ट प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता उस अतीन्द्रिय अभाव में नहीं मानी जा सकती है। यदि उक्त प्रकार की विशिष्ट प्रतीति को उत्पन्न करने की योग्यता आकाश के अत्यन्ताभाव में मानेंगे तब वैसी प्रतीति उत्पन्न होनी चाहिए। जब कि किसी को भी ''भूतलादिकमाकाशात्यन्ताभावविशिष्टम्'' ऐसी प्रतीति होती नहीं है। स्वरूपसम्बन्ध के उक्त लक्षण में सिद्धान्ती पुनः दोष देते हुए कह रहे हैं कि विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतारूप धर्म को स्वरूपसम्बन्ध मानते हो अथवा विशिष्टप्रतीतिजननयोग्य जो ज्ञान और घटादि के स्वरूप द्वय, उनको स्वरूपसम्बन्ध मानते हो। प्रथमपक्ष में यह दोष होगा कि स्वरूपद्वय से अतिरिक्त धर्म को ही सम्बन्ध मानने के कारण अर्थात् तादृश स्वरूप को सम्बन्ध न मानने के कारण उस सम्बन्ध का नाम स्वरूप सम्बन्ध नहीं रख सकते हो। इस प्रथमपक्ष में दूसरा दोष यह भी होगा कि जैसे ''घटवत् भूतलम्'' इस चाक्षुष ज्ञान स्थल पर चाक्षुषज्ञान में घट, भूतल और संयोग सम्बन्ध तीनों भासित होते हैं। ऐसे ही चाक्षुषघटज्ञान स्थल पर ज्ञान और घट में यदि उक्त प्रकार का स्वरूप सम्बन्ध माना जाता है तब तो उस चाक्षुषज्ञान में उक्त प्रकार के स्वरूपसम्बन्ध को भी भासना चाहिए, जब कि विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यतारूपस्वरूपसम्बन्ध

द्वितीयः, अननुगमात्। किञ्चैवमभावभ्रमानुपपत्तिः, तत्रापि विशिष्टप्रतीतिसम्भवे स्वरूपसम्बन्धस्य सत्त्वात्। न च प्रमात्वघटितं तल्लक्षणम्, वास्तवसम्बन्धसत्वे प्रमात्वस्याप्यापाद्यत्वात्। अन्यथा तत्र तस्याप्रमात्वे सम्बन्धाभावः, तस्मिंश्च तस्याप्रमात्वमित्यन्योन्याश्रयात्।। ७।।

ननु—सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्वरूपस्य सम्बन्धत्वं संयोगत्वावच्छिन्नस्य दण्डीत्यादौ सम्बन्धत्ववत्, विशिष्टबुद्धिश्चावच्छेदकाविषयिण्ये—

सत्यानन्दप्रबोधिका

ा प्रतीति घटित होने के कारण चाक्षुषज्ञान का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतीति चक्षुग्राह्य नहीं होती है। द्वितीयपक्ष में यह दोष होगा कि विषय का सर्वानुगत कोई एक लक्षण नहीं बन पायेगा, क्योंकि इस पक्ष में स्वरूपद्वय को ही स्वरूप सम्बन्ध माना गया है। स्वरूप तो प्रतिव्यक्ति भिन्न—भिन्न होता ही है। इस दूसरे पक्ष में यह भी दोष है कि जहां भूतल में घट है वहां यदि किसी को "घटाभाववद् भूतलम्" ऐसा ज्ञान होता है तब उस ज्ञान को भ्रम न मानकर प्रमा मानना चाहिए, क्योंकि जब ''घटाभाववद् भूतलम्'' इस प्रकार विशिष्ट प्रतीति हो रही है तब विशिष्टप्रतीतिजननयोग्य— स्वरूपद्वय के रहने के कारण स्वरूप सम्बन्ध है— यह भी मानना पडेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि स्वरूप सम्बन्ध के उक्त लक्षण में विशिष्टप्रतीति के स्थान पर विशिष्टप्रमा का प्रवेश करने पर उक्त दोष नहीं आयेगा, क्योंकि उक्त स्थल पर ''घटाभाववद् भूतलम्'' इस प्रकार की विशिष्टभ्रमात्मकप्रतीतिजननयोग्यस्वरूपद्वय होने पर भी विशिष्ट प्रमात्मकप्रतीतिजननयोग्य स्वरूपद्वय नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त स्वरूपद्वय रूप वास्तविक स्वरूपसम्बन्ध के रहने पर उक्त ज्ञान में प्रमात्व का भी आपादान किया जा सकता है। यहां पर अनुमान का आकार होगा—घटवति भूतले घटाभाववद्भूतलमितिज्ञानं—प्रमा—ज्ञेयेन वास्तवसम्बन्धवत्त्वात्, घटाभाववति भूतले घटाभाववद् भूतलमिति ज्ञानवत्। यदि कहा जाय कि उक्त प्रतीति के भ्रमात्मक होने के कारण उक्त सम्बन्ध को भी वास्तविक नहीं माना जा सकता है तब तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। अन्योन्याश्रय का आकार यह होगा—उक्त अभाव ज्ञान में भ्रमत्व के सिद्ध होने पर वास्तविक सम्बन्धाभाव की सिद्धि होगी और वास्तविक सम्बन्धाभाव की सिद्धि होने पर उक्त अभावज्ञान में भ्रमत्व की सिद्धि हो पायेगी। मूलस्थ "तत्र" पद का अर्थ है "घटवति भूतले घटाभाववद् भूतलमिति ज्ञानस्थले।" "तस्य" पद का अर्थ है—"उक्त—अभावाज्ञानस्य"।। ७।।

सिद्धान्ती ने पीछे पूर्वपक्षी से पूछा था कि विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वरूपधर्म को स्वरूप सम्बन्ध मानते हो अथवा तादृश योग्यस्वरूप को। पूर्वपक्षी द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हुए कह रहा है कि सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता के अवच्छेदक से अवच्छिन्न स्वरूप को ही सम्बन्ध मानते हैं न कि उक्त योग्यत्व धर्म को। सिद्धान्ती ने इस पक्ष में जो अननुगम दोष दिया था उसको वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सम्बन्धान्तर के बिना विशिष्टप्रतीतिजननयोग्य जितने स्वरूप हैं। उन सभी में विशिष्ट प्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक रहता है। अतः तादृश अवच्छेदक से अवच्छिन्नत्वेन सभी स्वरूप एक होने से अननुगम दोष नहीं होगा। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे दण्ड का संयोग, घट का संयोगादि का स्वरूप पृथक—पृथक होने पर भी उक्त योग्यता का अवच्छेदक संयोगत्व से अवच्छिन्न संयोग है। अतः "दण्डी पुरुषः"

वावच्छेद्यविषया, अतो न स्वरूपसम्बन्धगोचरविशिष्टबुद्धेश्चाक्षुषत्वविरोधः। न च—तर्ह्यभावप्रमाभ्रमयोः स्वरूपद्वयमात्रविषयत्वाविशेषात् प्रमाभ्रमव्यवस्थानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, घटाभाववति घटाभावज्ञानत्वेन तद्भिन्नज्ञानत्वेन च व्यवस्थोपपत्तेः। ननु—अतिरिक्ताविषयत्वे तस्यैवानुपपत्तिः, न हि भवद्रीत्या तस्योभयात्मकत्वेन तदुभयसत्त्वेन व्यधिकरणप्रकारकत्वरूपभ्रमत्वस्यैवाभावे भ्रमतदन्यत्वाभ्यां व्यवस्था

सत्यानन्दप्रबोधिका

इत्यादि स्थल पर समवाय के बिना भी विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यसम्बन्ध को संयोग ही कहा जाता है। अर्थात् वहां योग्यता का अवच्छेदक जो संयोगत्व उस संयोगत्व से अवच्छिन्न सकल संयोग (दण्डादि संयोग) को एक ही सम्बन्ध माना जाता है। ऐसे ही प्रकृत में विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक जो विशिष्टप्रतीतिजनकत्व उससे अवच्छिन्नत्वेन तादृशसकल स्वरूप को एक ही सम्बन्ध माना जा सकता है। सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के ऊपर जो दूसरा दोष दिया था कि स्वरूपसम्बन्ध का लक्षण प्रतीति घटित होने के कारण उसका चाक्षुषज्ञान में भान नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रतीति चाक्षुषज्ञान का विषय नहीं होती है। इस का समाधान देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के कहने का तात्पर्य यही है कि विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक विशिष्टप्रतीतिजनकत्व प्रतीति घटित होने के कारण उसका जब चाक्षुष नहीं हो सकता तब अवच्छेद्य जो स्वरूपसम्बध वह भी चाक्षुष नहीं हो सकता है। परन्तु सिद्धान्ती की यह शङ्का इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि अवच्छेदक कहीं पर भी विशिष्ट प्रतीति का विषय नहीं होता है। विशिष्टप्रतीति का विषय अवच्छेदक को न मानने पर भी अवच्छेद्य को विशिष्ट प्रतीति का विषय माना ही जाता है। जैसे जिस मत में साध्य के सन्देह से विशिष्ट को पक्ष कहते हैं। उस मत के अनुसार ''पर्वतो वह्निमान्'' इस विशिष्ट प्रतीति में पक्षतावच्छेदक जो सन्देह उसको "पर्वतो वह्निमान्" इस विशिष्ट प्रतीति का विषय कोई भी नहीं मानता है फिर भी उस अवच्छेदक (सन्देह) से विशिष्ट अवच्छेद्य पर्वत को उक्त विशिष्ट प्रतीति का विषय माना ही जाता है। अतः यह नियम माना जायेगा कि अवच्छेदक विशिष्टबुद्धि का विषय कहीं भी नहीं होता है किन्तु अवच्छेद्य विशिष्टबुद्धि का विषय होता है। ठीक इसी प्रकार प्रतीतिघटित अवच्छेदक के चाक्षुष न होने पर भी अवच्छेद्य जो स्वरूप उसको चाक्षुषज्ञान का विषय मानने में कोई विरोध नहीं है। तादृश स्वरूपद्वय को स्वरूप सम्बन्ध मानने पर दोषान्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''घटाभाववद् भूतलम्'' इस अभाव ज्ञान का विषय घटाभाव, भूतल और उन दोनों का स्वरूप सम्बन्ध है। वह स्वरूप सम्बन्ध घटाभाव और भूतल स्वरूप ही है। अतः उक्त अभावज्ञान का विषय भूतल और घटाभाव दो ही रह गये। ऐसी परिस्थिति में अभावप्रमा और अभावभ्रम उभय स्थल पर भी विषय पूर्वोक्त दो ही होंगे। तब एक ज्ञान को प्रमा और दूसरे ज्ञान को भ्रम मानने की व्यवस्था के प्रति कोई युक्ति नहीं दी जा सकती है, क्योंकि विषय की भिन्नता से ही ज्ञान की भिन्नता मानी जाती है। सिद्धान्ती की इस शङ्का का निराकरण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि अभावप्रमा और अभावभ्रम उभयत्र विषय समान होने के कारण विषय की भिन्नता की दृष्टि से उक्त ज्ञानद्वय में भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकती है। किन्तु ज्ञानद्वय के स्वरूपों में भिन्नता के द्वारा ज्ञानद्वय की भिन्नता की व्यवस्था की जा सकती है, क्योंकि अभावप्रमा स्थल पर घटाभाववद्भूतल में घटाभावप्रकारकत्व होने से वह ज्ञान प्रमा होगा और अभावभ्रम स्थल पर घटवद्भूतल में घटाभावप्रकारकत्व होने

सम्भवतीति—चेन्न, घटाभावाभावस्य घटत्वेन तद्वति घटाभावज्ञानस्य व्यधिकरणप्रकारकत्वसम्भवात्। किञ्च भ्रमस्य वस्तुगत्या यद् घटवत्, स विषयः, न तु प्रमाया इत्यतिरिक्तविषयत्वमस्त्येव। न चातीन्द्रियाभावे अव्याप्तिः, अत्यन्ताभावे प्रतियोगिदेशान्यदेशत्वम्, प्रागभावादौ प्रतियोगिदेशत्वे सति प्रतियोगिकालान्यकालत्वम्; अन्योन्याभावे प्रतियोगितावच्छेदकदेशान्यदेशत्वम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

से भ्रम ज्ञान होगा। इस प्रकार से दोनों ज्ञानों में भिन्नता सिद्ध हो जायेगी। इस पर पुनः सिद्धान्ती शङ्का करते हुए कह रहे हैं कि उक्त अभावभ्रम और अभावप्रमा के विषय में जब भिन्नता नहीं है तब एक ज्ञान में ''तद्वति तद्प्रकारकत्व'' और दूसरे ज्ञान में ''तदभाववति तद्प्रकारकत्व'' मानने में कोई युक्ति नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त कथनानुसार स्वरूप सम्बन्ध उक्त स्थल पर घटाभाव और भूतल स्वरूपद्वय ही है। अतः उक्त अभावप्रमा और अभावभ्रम में उक्त दोनों ही स्वरूप हैं। ऐसी परिस्थिति में भ्रमज्ञान को व्यधिकरणप्रकारक (तदभाववति तत्प्रकारक) नहीं माना जा सकता है। अपितु तद्वतिप्रकारक ही मानना चाहिए। ऐसा होने पर भ्रम और प्रमा की व्यवस्था नहीं बन पायेगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जहां घटाभाव का भ्रम होता है वहां निश्चित ही घट रहता है। घट घटाभावाभावरूप माना जाता है। इसलिए भ्रमस्थल पर ज्ञान में ''घटाभावाभाववति भूतले घटाभावप्रकारकत्वम्'' ऐसा है अतः उस भ्रमज्ञान में व्यधिकरणप्रकारकत्व रहना सम्भव है, क्योंकि विशेष्यावृत्तिप्रकारकत्व ही व्यधिकरणप्रकारत्व है। प्रकृत में घटाभावाभाव वाले विशेष्य में घटाभावप्रकारकत्व अविद्यमान है। पीछे सिद्धान्ती ने यह जो कहा था कि भ्रम प्रमा उभय स्थल पर घटाभाव और भूतलरूपविषयद्वय समान ही है। उसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि उभय स्थल पर घटाभाव समान ही है, किन्तु भूतल समान नहीं है, क्योंकि भ्रमस्थल पर वस्तुतः जो भूतल घटवत् है, वही विषय (विशेष्य) है और प्रमा स्थल पर वस्तुतः जो भूतल घटाभाववत् है वही विषय (विशेष्य) है। अतः विषय (विशेष्य) की भिन्नता से ज्ञान में भिन्नता सिद्ध हो जायेगी। पिछे जो अतीन्द्रिय अभाव में अव्याप्तिदोष दिया गया था उसको वारण करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती ने विशिष्ट प्रतीति जनकत्व को योग्यता का अवच्छेदक मानकर के दोष दिया था। विशिष्टप्रतीतिजनकत्वरूप अवच्छेदक के अतीन्द्रियाभाव में न रहने के कारण अतीन्द्रियाभाव में विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता नहीं मानी जा सकती। परन्तु योग्यता का अवच्छेदक विशिष्टप्रतीतिजनकत्व नहीं है अपितु भिन्न—भिन्न अभाव में भिन्न—भिन्न अवच्छेदक है। वह इस प्रकार से है— अत्यन्ताभाव स्थल पर प्रतियोगी देश से भिन्न देश वृत्तित्व को विशिष्ट प्रतीति जनन योग्यता का अवच्छेदक माना जाता है। जैसे वायु में रूप का अत्यन्ताभाव लिया। यहां पर प्रतियोगी का देश=रूप का देश=घटादि है। उससे भिन्न देश वायु है, क्योंकि वायु रूप वाला नहीं है। अतः रूप के अत्यन्ताभाव में प्रतियोगी देश भिन्नदेश वृत्तित्वरूप योग्यता का अवच्छेदक चला गया। इसी प्रकार प्रागभाव स्थल पर प्रतियोगी देश में रहता हुआ प्रतियोगीकाल से भिन्न काल में रहना ही विशिष्टप्रतीतिजनन— योग्यता का अवच्छेदक है। जैसे कपाल में घट का जो प्रागभाव रहता है वह कपाल घटरूप प्रतियोगी का देश भी है और वह प्रागभाव घटरूपप्रतियोगी के काल से भिन्न काल (घटोत्पत्ति से पूर्वकाल) में रहता है। इस प्रकार से उक्त योग्यता का अवच्छेदक

विशिष्टप्रत्ययजननयोग्यतावच्छेदकम्। तदवच्छिन्नत्वञ्च विशिष्टप्रतीत्यजनकेऽप्यतीन्द्रियाभावे सुलभम्, न ह्यरण्यस्थो दण्डो न घटजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्न इति–चेत्।। ८।।

मैवम्, नित्यस्यातीन्द्रियस्याकाशात्यन्ताभावादेर्विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वे अवश्यं विशिष्टप्रत्ययजनकत्वप्रसङ्गात्, नित्यस्य स्वरूपयोग्यस्य सहकारिसमवधाननियमात्। किञ्च विशिष्टस्य प्रत्यय इत्यत्र स्वरूपसम्बन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वे आत्माश्रयः, सम्बन्धमात्रस्य तदर्थत्वे आत्मत्वादिविशिष्टात्मसम्बन्धिसमूहालम्बनविषये घटपटादावतिव्याप्तिः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रागभाव में भी है। इसी प्रकार अन्योन्याभाव स्थल पर प्रतियोगिता का अवच्छेदक का देश से भिन्न देश में रहना ही विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता का अवच्छेदक है। जैसे घटभेद स्थल पर प्रतियोगिता का अवच्छेदक घटत्व है। उसका देश घट है। इससे अन्य देश पटदेश है। उसमें घट का अन्योन्याभाव रहता है। उक्त सभी अवच्छेदको से उक्त सभी अभाव अवच्छिन्न ही हैं। अत: अतीन्द्रिय अभाव (आकाशात्यन्ताभाव) में यदि विशिष्टप्रतीति का जनकत्व न भी होता है तब भी उक्त योग्यतावच्छेदक (प्रतियोगिदेशान्यदेशवृत्तित्व) से अवच्छिन्न होने के कारण अतीन्द्रिय अभाव में तादृशयोग्यता के रहने से विषय के लक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी। इसको दृष्टान्त से पूर्वपक्षी स्पष्ट करते हुए कह रहा है कि जैसे घटोत्पत्तिरूप कार्य में लगे हुए दण्ड में घट जनन योग्यतावच्छेदक दण्डत्व होता है। वैसे ही घटोत्पत्तिरूप कार्य में न लगे हुए अरण्यस्थ दण्ड में भी घटजननयोग्यतावच्छेदक दण्डत्व रहता ही है। ऐसे ही विशिष्टप्रतीतिजनक "घटाभाववद्भूतलम्" इस स्थल पर अत्यन्ताभाव में योग्यतावच्छेदक प्रतियोगिदेशान्यदेशवृत्तित्व रहता है वैसे ही विशिष्टप्रतीति का अजनक आकाशाभाव में भी योग्यता का अवच्छेदक प्रतियोगिदेशान्यदेशवृत्तित्व रहेगा ही। अत: अतीन्द्रियाभाव में विषयलक्षण की अव्याप्ति नहीं होगी।। ८।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विशिष्टप्रतीतिजनन योग्यता का अवच्छेदक किसी को भी माना जाये तब भी उस अवच्छेदक से अवच्छिन्न तादृशयोग्यता आकशात्यन्ताभावादि में नहीं मानी जा सकती है। यदि मानी जाती है तब उस योग्यतासम्पन्न आकाशात्यन्ताभाव को ''आकाशात्यन्ताभाववद्भूतलम्'' इस प्रकार से विशिष्टप्रतीति को अवश्य उत्पन्न करना चाहिए। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त अतीन्द्रिय अभाव में विशिष्टप्रतीतिजनन योग्यता का अवच्छेदक रहता है किन्तु सहकारी कारणों के मिलन न होने से विशिष्टप्रतीति की उत्पत्ति नहीं होती है। इस प्रकार के पूर्वपक्षी के कथन का उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जो अनित्य पदार्थ है वह सहकारी कारण के मिलन से पहले नष्ट हो सकते हैं। जैसे कोई व्यक्ति दश रोटी खाने की योग्यता रखता है, किन्तु दश रोटी (सहकारी साधन) आने के पहले ही मर गया। तब उसमें दश रोटी खाने की योग्यता रहने पर भी विशिष्टप्रतीति नहीं हो सकती है किन्तु जो आकाशात्यन्ताभावादि नित्य पदार्थ है उसमें यदि विशिष्ट प्रतीतिजनन की स्वरूप योग्यता है तब कभी न कभी सहकारी साधन का मिलन अवश्य होना चाहिए और विशिष्ट प्रतीति की उत्पत्ति भी होनी चाहिए। जब कि विशिष्टप्रतीति होती नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी के द्वारा स्वरूपसम्बन्ध का जो लक्षण (सम्बन्धान्तरमन्तरेण विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वम्) बनाया गया है। उसमे यह भी दोष है कि उक्त लक्षण का

तयोरपि विशिष्टसम्बन्ध्यविशिष्टविषयज्ञानजनकत्वात्। ज्ञानस्याभावः ज्ञातोऽभाव इति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यं न स्यात्, ज्ञानाभावयोरुभयोरेवोभयत्र स्वरूपसम्बन्धत्वे विषयकृतविशेषाभावात्। अत एव–विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वं ज्ञानज्ञेयादिस्थले अतिरक्तमेव सम्बन्ध इति–निरस्तम्, अतीन्द्रिये नित्याभावेऽव्याप्तेः। न हि तत्र विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यता, फलोपधानापत्तेः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटक जो विशिष्टप्रतीति है। उसमें ''विशिष्टस्य प्रतीतिः'' ऐसा षष्ठी तत्पुरुषसमास यदि स्वीकार किया जाता है। तब ''विशिष्टस्य'' में लगी हुयी षष्ठी का अर्थ स्वरूप–सम्वन्ध करने पर स्वरूपसम्बन्ध के लक्षण में स्वरूपसम्बन्ध का प्रवेश हो जाने से आत्माश्रय दोष होगा। यदि उक्त षष्ठी का अर्थ केवल सम्बन्ध मात्र ही किया जाता है तब ''विशिष्टस्य प्रत्ययः'' का अर्थ होगा– विशिष्टसम्बन्धी प्रत्यय। ऐसा अर्थ होने पर जहां ''इमौ घटपटौ'' यह समूहालम्बनज्ञान आत्मा में हो रहा है। वहां ज्ञान का समवायेन सम्बन्धी आत्मा है और वह आत्मा आत्मत्व–द्रव्यत्व–प्रमेयत्व इत्यादि से विशिष्ट भी है। अतः उस ज्ञान के विषय जो घट–पट, वह भी आत्मत्वादि से विशिष्ट आत्मा से सम्बन्धित समूहालम्बनात्मकज्ञान का जनक होने से घटपट में भी स्वरूपसम्बन्ध का लक्षण चला गया। जब कि घट और पट दूर–दूर होने के कारण उसमें कोई भी सम्बन्ध माना नहीं जाता है। इस प्रकार से उक्त समूहालम्बनज्ञान के विषय घटपटादि में अतिव्याप्ति हो गयी। दूसरा दोष यह भी होगा कि ''ज्ञानस्याभावः'' और ''ज्ञातः (ज्ञानविषयीभूतः) अभावः'' (अभाव का ज्ञान)। इन दोनों प्रतीतियों में भेद माना जाता है। जैसे देवदत्त से पूछा गया कि भूतल में घटाभाव है यह ज्ञान तुमको है अथवा नहीं? तब देवदत्त ने उत्तर दिया कि ऐसा ज्ञान मुझे नहीं है। अर्थात् ऐसा ज्ञान का अभाव मुझे है। यह ''ज्ञानस्याभावः'' का अभिप्राय है। पूर्वोक्त प्रश्न यज्ञदत्त से पूछने पर वह कहता है कि उक्त प्रकार के अभाव का ज्ञान मुझे है। यह ''ज्ञातोऽभाव'' का अभिप्राय है। अतः दोनों ज्ञानों में भिन्नता स्पष्ट है। वह भिन्नता पूर्वपक्षी के मत से सिद्ध नहीं हो पायेगी, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत से ''ज्ञानस्याभावः'' इस प्रतीति के विषय हैं ज्ञान, अभाव और उन दोनों का सम्बन्ध। ज्ञान के साथ अभाव का स्वरूप सम्बन्ध पूर्वपक्षी ने माना है, जो ज्ञान और अभाव स्वरूप ही है। 'ज्ञातोऽभावः''यहां पर भी अभाव का ज्ञान के साथ स्वरूप सम्बन्ध है। जो कि ज्ञान और अभाव के स्वरूप द्वय ही है और तब तो दोनों प्रतीतियों के विषय ज्ञान और अभाव ये दो ही हुए। अतः उक्त दोनों स्थलों पर विषय की दृष्टि से भिन्नता न होने के कारण उक्त दोनों ज्ञानों में भी भिन्नता नहीं हो पायेगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ज्ञानज्ञेयादि स्थल में ज्ञानज्ञेयस्वरूपद्वय को सम्बन्ध नहीं माना जाता है किन्तु ज्ञानज्ञेय से अतिरिक्त विशिष्ट प्रतीतिजनन योग्यत्व रूप धर्म को ही ज्ञान ज्ञेय का सम्बन्ध माना जाता है– ऐसा पूर्वपक्षी का कथन इसलिए निरस्त हो जाता है, क्योंकि "आकाशात्यन्ताभाववद् भूतलम्" इस प्रतीति के विषय के साथ उक्त प्रतीति के सम्बन्ध में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञानज्ञेय में यदि विशिष्ट प्रतीतियोग्यत्व माना जाय तब कभी भी विशिष्ट प्रतीति की उत्पत्ति होनी चाहिए। जब कि अतीन्द्रिय अभावादि स्थल पर "भूतलम् आकाशात्यन्ताभाववत्" ऐसी विशिष्ट प्रतीति की उत्पत्ति नहीं होती है। अतः अतीन्द्रिय अभाव में अव्याप्ति होगी। मूलस्थ फलोपधान का अर्थ है कि ''आकाशाभाववद् भूतलम्'' ऐसा विशिष्ट प्रत्यक्षज्ञानरूप

प्रतीतिघटितस्य चाक्षुषादिप्रतीतावविषयत्वप्रसङ्गाच्च। तस्मात्सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेराध्यासिक एव दृग्दृश्ययोः सम्बन्ध इति।। ९।।

—: इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गः :—

सत्यानन्दप्रबोधिका

फल होना चाहिए। दूसरी बात यह है कि विशिष्टप्रतीतिजननयोग्यत्वरूपसम्बन्ध प्रतीति से घटित होने के कारण चाक्षुषज्ञान में उसका भान नहीं हो पायेगा। जब कि ज्ञान में विषय का सम्बन्ध भी भासित होता है। इसलिए विषय को सत्य मानने पर ज्ञान और विषय के साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध न होने के कारण ज्ञान और विषय में आध्यासिक सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा। अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में सभी विषय अध्यस्त (मिथ्या) है— यही सिद्ध होगा।। ९।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रपञ्चसत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गः।। n

9

अनुकूलतर्कविचारः

स्यादेतत्—सर्वस्यापि दृश्यस्य ब्रह्मात्मकदृगध्यस्तत्वेऽपि कस्यचित् कदाचित् कञ्चित् प्रति प्रकाशाय त्वयाऽपि तत्तत्सन्निकृष्टेन्द्रियजन्यतत्तदाकारवृत्तिद्वारक एवानावृतदृक्सम्बन्धः स्वीकृतः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृश्य पदार्थ के सत्य होने पर दृक् के साथ दृश्य का कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है, अतः दृक् और दृश्य में साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध है ऐसे सिद्धान्ती के पक्ष को स्वीकार करने पर फलित यह होगा कि सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्मात्मक ज्ञान में अध्यस्त है और एक ही काल में एक व्यक्ति को सम्पूर्ण विषयों का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान (ब्रह्म) में साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध से सभी विषय सम्बन्धित हैं, जबकि यह उचित नहीं है। सभी दर्शनकारों को यह व्यवस्था बनाना अनिवार्य है कि एक समय में एक व्यक्ति को जब कोई एक ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के द्वारा केवल उसी के ही विषय का प्रकाशन होता है और उस ज्ञान के द्वारा अन्य विषयों का प्रकाशन नहीं होता है। यह प्रतिकर्म व्यवस्था पूर्वपक्ष में उक्त पूर्वोक्त परम्परा सम्बन्ध को मानने से ही हो सकती है। साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध मानने से नहीं। इसी आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च के ब्रह्मात्मक ज्ञान में अध्यस्त होने पर भी घटादिरूप किसी पदार्थ का किसी काल में किसी पुरुष के प्रति भान होने के लिए प्रपञ्चमिथ्यात्ववादी अद्वैतवेदान्ती को भी घट पटादि से सम्बद्ध जो इन्द्रिय तादृश इन्द्रियजन्ये घटपटाद्याकार वृत्ति के माध्यम से अनावृत्त ब्रह्म के साथ विषय का अध्यस्तत्त्व रूप सम्बन्ध को मानना पड़ता है। अर्थात् किसी व्यक्ति को किसी समय एक विषय (घट) का प्रकाशन होता है। उसका घटावच्छेदेन अनावृत्त ब्रह्म में अध्यस्तत्व रूप सम्बन्ध है। उस समय अन्य विषयों का आवृत्त ब्रह्म में अध्यस्तत्व रूप सम्बन्ध रहने पर भी अनावृत्त ब्रह्म में अन्य विषयों का अध्यस्तत्त्वरूपसम्बन्ध (विषय के प्रकाश का नियामक सम्बन्ध) उस समय न रहने के कारण अन्य विषय का प्रकाशन नहीं होता है। वृत्ति के उदय से पूर्व आवृत्त ब्रह्म के साथ विषय का साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध रह सकता है परन्तु उस आवृत ब्रह्म के द्वारा विषय का प्रकाशन होता है— यह तो किसी को मान्य नहीं हो सकता है जैसे आवृत दीपक के द्वारा विषय का प्रकाशन किसी को मान्य नहीं है। विषयाकारवृत्ति के द्वारा अज्ञानावरण के भङ्ग हो जाने से वृत्ति घटित परम्परा सम्बन्ध से अनावृत चैतन्य के द्वारा विषय का प्रकाशन सम्भव है। दूसरी बात यह है कि उक्त वृत्ति रूप माध्यम (द्वार) से अनावृत ब्रह्म के द्वारा विषय का प्रकाशन होता है ऐसा न मानकर विषय का ब्रह्म के साथ साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध से विषय का प्रकाशन होता है— ऐसा मानने पर अनावृत ब्रह्म सभी प्रमाताओं के प्रति समान होने के कारण और वह आध्यासिकसम्बन्ध सदा विद्यमान रहने के कारण सभी प्रमाताओं को सभी काल में सभी विषयों का एक साथ प्रकाशन होता है, यह मानना पड़ेगा जो कि अनुभव विरुद्ध है। इस प्रकार सिद्धान्ती के द्वारा भी दृग्दृश्य में साक्षात् सम्बन्ध न मानकर परम्परा सम्बन्ध मानना पड़ता है। अतः घटादिप्रपञ्च को सत्य मान कर के भी तत्—तत् विषय के साथ सन्निकृष्ट इन्द्रिय से जन्य तत्—तत् विषयाकारवृत्ति के माध्यम से सत्य दृक् का सत्य दृश्य के साथ जब सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है, तब दृक् के साथ दृश्य का साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध है— ऐसा

तथा च सत्यत्वेऽपि तद्द्वारक एव सम्बन्धोऽस्तु किमाध्यासिकसम्बन्धदुर्व्यसनेन? न हि भवतां विज्ञानवादिनामिव तत्तज्ज्ञाने तत्तदर्थाध्यासस्वीकारः, शुद्धदृशःस्वतोभेदाभावादुपाधिविशिष्टाया भेदेऽपि घटादिवत्तस्या मिथ्यात्वेनाधिष्ठानत्वायोगादिति चेत्।। १।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानने का दुराग्रह सिद्धान्ती के द्वारा करना अनुचित है। यद्यपि दृष्टिसृष्टि पक्ष में सिद्धान्ती के द्वारा भी विषय का प्रकाश वृत्ति के द्वारा नहीं माना जाता है, अपितु मन जो कि अनेक है उन तत् तत् मन के परिणामभूत घटादियों का तत् तत् मन के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य में अध्यास होने से वृत्ति की अपेक्षा के बिना ही साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध के बल पर तत्तत्पुरुषीय तत्तन्मनोऽवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा घटादि विषयों का प्रकाशन हो जायेगा। तथापि सृष्टिदृष्टि पक्ष में तत्तन्मनोऽवच्छिन्न चित् में घटादि का अध्यास न मानकर एक ही शुद्धचित् में विषय का अध्यास माना जाता है। ऊपर बताये गये रीति से विषय के प्रकाशन की व्यवस्था अर्थात् प्रतिकर्म व्यवस्था उपपन्न नहीं हो पायेगी। अतः मूलस्थ ''भवताम्'' इस पद से यह विवक्षित है कि घटादि का अध्यास शुद्ध चैतन्य में मानकर सृष्टिदृष्टि पक्ष को स्वीकार करने वाले सिद्धान्ती को अर्थात् ऐसे सिद्धान्ती के मत में, विज्ञानवादियों के द्वारा जैसे ज्ञान अनेक और क्षणिक माना जाता है और तत् तत् ज्ञान में तत् तत् विषय का साक्षात् अध्यस्तत्वरूप सम्बन्ध मानकर प्रतिकर्मव्यवस्था का उपपादन किया जाता है ठीक वैसा ही सृष्टिदृष्टि को मानने वाले सिद्धान्ती के द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि ऐसे सिद्धान्ती के मत में ज्ञान (ब्रह्म) नित्य और एक है। उसी में सम्पूर्ण प्रपञ्च अध्यस्त है। अतः वृत्ति की अपेक्षा के बिना साक्षात् अध्यस्तत्त्व सम्बन्ध मानकर प्रतिकर्मव्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि विज्ञानवादी के मत के जैसे ही सृष्टि दृष्टि पक्ष में भी तत्–तत् अधिष्ठान चैतन्य में तत्–तत् विषय का अध्यास है। अतः वृत्ति के बिना ही साक्षात् अध्यस्तत्वसम्बन्ध से प्रतिकर्म की व्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती अनेक अधिष्ठान नहीं मान सकते हैं, क्योंकि अध्यास के अनेक अधिष्ठान चेतन क्या ब्रह्म के समान सत्य है? अथवा घटादि उपाधि से विशिष्ट चेतन मिथ्याभूत है? अथवा घटादि से उपलक्षित चेतन है। प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''एकमेवाद्वितीयम्'' इत्यादि श्रुतियों से विरोध होने के कारण शुद्ध चेतन का स्वभाव से भेद न होने के कारण सिद्धान्ती ब्रह्म के समान अनेक सत्य अधिष्ठान चेतन मान नहीं सकते हैं। उपाधि विशिष्ट चित् का भेद होने पर भी घटादि के समान उपाधिविशिष्ट चित् के भी मिथ्या होने के कारण उसको अधिष्ठान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अध्यस्त की अपेक्षा अधिक सत्तावाले पदार्थ को ही अधिष्ठान माना जाता है। घटादि उपलक्षित चेतन सत्य होने पर भी एक ही है। अतः उसमें अनेकत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। अतः सिद्धान्ती को प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति के लिए वृत्ति की अपेक्षा करनी ही पड़ेगी। अर्थात् दृग्दृश्य में परम्परासम्बन्ध मानना ही पड़ेगा। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के मत से भी प्रपञ्च के सत्य होने पर भी इन्द्रियसन्निकर्ष जन्य तत्तदर्थाकार वृत्ति द्वारक दृग्दृश्य सम्बन्ध के द्वारा दृश्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः दृक् और दृश्य में साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध मानना व्यर्थ है।। १।।

न, प्रकाशस्य साक्षात् स्वसंसृष्टप्रकाशकत्वनियमेन चैतन्यस्य परम्परासम्बन्धेन विषय–प्रकाशकत्वायोगात्। न हि प्रदीपः परम्परासम्बद्धं प्रकाशयति, अतो विषयाधिष्ठानचैतन्य–मनावृतमेव प्रकाशकम्, आवरणभङ्गश्च वृत्त्या, अतो वृत्तेः पूर्वमाध्यासिकसम्बन्धे विद्यमानेऽपि दृश्याऽप्रतीतिरुपपन्ना। अत एव–वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आध्यासिकसम्ब–

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हमारी जो कल्पना है वह दृष्टानुसारिणी है, क्योंकि ज्ञान तथा आलोक रूप प्रकाश का यह स्वभाव होता है कि वह साक्षात् स्व के साथ सम्बद्ध का ही प्रकाशक होता है। अतः चैतन्य अपने परम्परया सम्बन्धी विषय का प्रकाशक नहीं हो सकता है। इसे लौकिक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे प्रदीप परम्परासम्बन्ध के सम्बन्धी का प्रकाश नहीं करता है। अतः विषयाधिष्ठान चैतन्य अनावृत हुआ ही साक्षात् आध्यासिक सम्बन्ध से विषय का प्रकाशक है और विषयावरण का भङ्ग विषयाकारवृत्ति के द्वारा ही होता है। इसलिए वृत्ति की उत्पत्ति से पूर्व दृग्दृश्य में आध्यासिक सम्बन्ध की विद्यमानता होने पर भी दृश्य की अप्रतीति उपपन्न हो जाती है। पूर्वपक्षी के द्वारा ज्ञान के साथ सत्य विषय का कोई साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध नहीं किया जा सका है– यह पूर्व में दिखाया गया है। अतः पूर्वपक्षी के मत में ज्ञान के द्वारा विषय का प्रकाशन सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार फलित अर्थ यह हुआ कि सिद्धान्त मत में अनावृत चैतन्य के साथ विषय का अध्यस्तत्व रूप साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध हो गया। पूर्वपक्षी के मत में परम्परा सम्बन्ध ही सिद्ध होगा। यहां पर विशेषता यह है कि पूर्वपक्षी जैसे अपने यहां परम्परा सम्बन्ध सिद्ध करते समय मध्य में इन्द्रिय को रखता है। वैसे ही सिद्धान्ती साक्षात् सम्बन्ध सिद्ध करते समय मध्य में वृत्ति को नहीं रखते हैं। अर्थात् परम्परा सम्बन्ध की सिद्धि में इन्द्रिय सहायक होती है, लेकिन सिद्धान्ती के यहां साक्षात् सम्बन्ध में वृत्ति सहायक नहीं होती है। वृत्ति केवल आवरण भङ्ग करती है न कि ज्ञान को विषय के साथ सम्बन्ध करवाती है। जैसे एक व्यक्ति रिक्सा में बैठकर आया और कारखाने में काम करता है। यहां पर कारखाने के कार्य और व्यक्ति के मध्य में रिक्शा का कोई भी उपयोग नहीं है। अर्थात् रिक्शा के माध्यम से उस व्यक्ति ने कारखाने के कार्य का सम्पादन करता है– यह नहीं माना जाता है। ठीक इसी प्रकार वृत्ति केवल आवरण भङ्ग करती है सम्बन्ध तो साक्षात् विषय के साथ चित् का होता है। सम्बन्ध कराने में वृत्ति का कोई उपयोग नहीं होता है। पूर्वपक्षी ने जो यह शङ्का किया था कि ज्ञान में सभी अध्यस्त है। अतः सबका एक साथ प्रकाश होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि वृत्ति के द्वारा आवरण भङ्ग होने से पहले सभी पदार्थ आवृत ब्रह्म में अध्यस्त थे। अतः उनका प्रकाशन नहीं होगा किन्तु जो विषय वृत्ति से पूर्व ही आवृत ब्रह्म में अध्यस्त था, उसका वृत्ति के द्वारा आवरण भङ्ग होने पर अनावृत ब्रह्म के द्वारा ही प्रकाशन होगा। इस प्रकार से साक्षात् अध्यस्तत्त्वरूप सम्बन्ध मानने पर भी प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि विषय के प्रकाश का नियामक आध्यासिकसम्बन्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य का प्रतिबिम्ब वृत्ति में है। उस वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही घट प्रकाशित हो जायेगा। अतः प्रकाशक (वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य) के साथ प्रकाश्य (घटादि) का

न्धस्यातन्त्रतापातः, घटाभिव्यक्तचैतन्यस्य घटप्रकाशकत्वे आवश्यकेन वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्येनैव घटप्रकाशोपपत्तौ तदधिष्ठानचिदभिव्यक्तिकल्पनाऽयोग इति—निरस्तम्, परोक्षविलक्षणस्फुटतरव्यवहारार्थं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तिकल्पनाया युक्तत्वात्।। २।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

आध्यासिक सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि घटादि विषय शुद्ध चैतन्य में अध्यस्त है न कि मिथ्याभूत वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य में। पीछे सिद्धान्ती ने यह जो कहा था कि वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त घटावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य ही प्रकाशक है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि शुद्ध चैतन्य के अभिव्यक्त होने में वृत्ति की आवश्यकता है। जब वृत्ति बनेगी तब उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब अवश्य ही पड़ेगा। इस प्रकार वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य मानना ही पड़ेगा तब उसी से ही घट का प्रकाशन भी मान लेना चाहिए। अतः सिद्धान्ती की यह कल्पना कि घट के अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति वृत्ति के द्वारा होती है और अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य के द्वारा ही घट का प्रकाशन होता है— यह व्यर्थ कल्पना है, क्योंकि इसमें गौरव है। अर्थात् अभिव्यक्त ब्रह्म के द्वारा विषय का प्रकाशन होता है ऐसा मानने पर भी वृत्ति की उपयोगिता का अपलाप तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वृत्ति के द्वारा ही अभिव्यक्ति हो सकती है। अतः जब वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही घट का प्रकाश होना सम्भव है। तब उसके आगे वृत्ति के द्वारा आवरणभङ्ग कर घटावच्छिन्न शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति की कल्पना करना और उससे घट का प्रकाश मानना व्यर्थ है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आवरण दो प्रकार का होता है। प्रथम—असत्त्वापादक आवरण जैसे ''घटो नास्ति''। द्वितीय—अभानापादक आवरण जैसे ''घटो न भाति''। परोक्ष वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य केवल असत्त्वापादक आवरण का नाशक है। उससे घट प्रत्यक्षस्थल पर और वह्नि के अनुमिति स्थल पर असत्त्वापादक आवरण भङ्ग होता है, क्योंकि यह आवरण अन्तःकरण में रहता है। अतः अन्तःकरण देशस्थ परोक्षवृत्तिस्थल पर विषय प्रकाशक चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि उस स्थल पर अभानापादकावरण भङ्ग नहीं होता है, क्योंकि अभानापादकावरण विषय देश पर रहता है। अतः प्रत्यक्षवृति जो कि विषय देश पर बनती है, उसे दोनों आवरण के भङ्ग हो जाने पर ही विषयप्रकाशक चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है और तब विषय का स्फुटतर व्यवहार होता है। यदि परोक्ष वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य को घटादि का प्रकाशक मानोगे तब परोक्षवृत्ति में भी चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ने के कारण प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों स्थलों पर एक जैसा व्यवहार होना चाहिए। जब कि एक जैसा व्यवहार होता नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षस्थल पर ''घटोऽस्ति'' ''घटो भाति'' ऐसा स्फुटतर व्यवहार होता है और परोक्ष स्थल पर "वह्निः अस्ति" ''वह्निः न भाति'' ऐसा व्यवहार होता है। यह जो व्यवहार में विलक्षणता दिखाई दे रही है, उसके लिए घटावच्छेदेन अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य को जब घट का प्रकाशक मानेगे तब प्रत्यक्षस्थल पर अभिव्यक्त होकर शुद्ध चैतन्य दोनों प्रकार के आवरणों को भङ्ग करता है और प्रत्यक्ष में दोनों प्रकार का स्फुटतर व्यवहार हो जाता है। परोक्षस्थल पर शुद्ध चैतन्य की अभिव्यक्ति न होने के कारण वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा ''वह्निः अस्ति'' केवल यही व्यवहार हो पाता है। अतः विषयाधिष्ठान चैतन्य के अभिव्यक्ति की कल्पना उचित ही है।। २।।

न च—शुद्धचैतन्यस्य चरमसाक्षात्कारात्पूर्वं नाभिव्यक्तिः, अभिव्यक्तस्य च घटाद्यवच्छिन्नचैतन्यस्य न तदधिष्ठानत्वम्, आत्माश्रयादिति—वाच्यम्, चरमसाक्षात्कारात् पूर्वमपि शुद्धचैतन्यस्याविद्यावशादधिष्ठानभूतस्य मूलाज्ञाननिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्यभावेऽपि तदवस्थाविशेषादिनिवृत्तिलक्षणाभिव्यक्त्या विषयप्रकाशकत्वोपपत्तेः। न च—घटप्रकाशिकायाः दृशो मिथ्यात्वे नाधिष्ठानत्वं सत्यत्वे दोषाजन्यत्वेन प्रमात्वात्, सत्यं स्वविषयं प्रति नाधिष्ठानत्वमित्युभयतःपाशारज्जुरिति—वाच्यम्, यतो दोषाजन्यत्वं न प्रमात्वप्रयोजकम्, चैतन्यस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती स्वयं ही यह मानते हैं कि वेदान्त विचार जन्य अन्तःकरण की वृत्ति रूप चरम साक्षात्कार से पूर्व शुद्ध चैतन्य (घटाद्यनुपहित चैतन्य) की अभिव्यक्ति नहीं होती है। घटाकार वृत्ति से जिस घटावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उसे घटादि का अधिष्ठान नहीं माना जाता है, क्योंकि आत्माश्रय दोष होगा। अर्थात् घटावच्छिन्न चैतन्य में घट का अधिष्ठानत्व सिद्ध होने पर अधिष्ठान घटकत्वेन घट की भी घट के प्रति अधिष्ठानता माननी पड़ेगी। अतः घटादि विषय के प्रकाश के लिए घटाद्याकारवृत्ति के द्वारा विषय अधिष्ठान चैतन्य के अभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि वेदान्त विचारजन्य अन्तःकरण की वृत्तिरूप चरमसाक्षात्कार से पूर्व अविद्या के रहने के कारण अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य निष्ठ मूलाज्ञान की निवृत्ति रूप अभिव्यक्ति नहीं होती है तथापि तत्तत्पदार्थावच्छिन्नत्वेन शुद्ध चैतन्य के आच्छादक अज्ञान का नाम अवस्थाज्ञान है। इसी को तूलाज्ञान, कार्याविद्या एवं पल्लवाविद्या भी कहते हैं। घटाद्याकार प्रत्यक्षवृत्ति के द्वारा इस तूलाविद्या की निवृत्तिरूप अभिव्यक्ति होने से जो घटादिरूपविषयावच्छेदेन किञ्चित् अभिव्यक्त शुद्ध चैतन्य है। उस को ही विषय का प्रकाशक माना जाता है। अतः विषय प्रकाशकत्व की उपपत्ति हो जाने से अधिष्ठान चैतन्य के अभिव्यक्ति की कल्पना व्यर्थ नहीं है। पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहा है कि क्या घटप्रकाशक चैतन्य मिथ्या है ? अथवा सत्य ? यदि घटप्रकाशक चैतन्य मिथ्या है। तब वह घट का अधिष्ठान नहीं हो सकता है, क्योंकि सिद्धान्ती स्वयं ही पूर्व में कह चुके हैं कि अधिष्ठान सत्य ही होता है। जब मिथ्या पक्ष में घटप्रकाशक चैतन्य अधिष्ठान नहीं हो सकता है तब घट प्रकाशक चैतन्य में विषय अध्यस्त नहीं हो सकता है। अतः प्रकाशक प्रकाश्य का नियामक अध्यस्तत्त्व सम्बन्ध को भी नहीं माना जा सकता है। यदि घट प्रकाशक चैतन्य सत्य है तब दोष से जन्य नहीं होगा। जो ज्ञान दोष से जन्य नहीं होगा वह प्रमा होगा और जो ज्ञान प्रमा होगा उसका विषय सत्य होगा। अर्थात् यहां पर पूर्वपक्षी का अनुमान है— घटः सत्यः, प्रमाविषयत्वात्। विषय जब सत्य है तब ज्ञान (चैतन्य) में विषय अध्यस्त नहीं हो सकता है। अर्थात् सत्य विषय का अधिष्ठान सत्य चेतन नहीं हो सकता है। इस प्रकार सत्य पक्ष में भी प्रकाशक प्रकाश्य का नियामक अध्यस्तत्त्वसम्बन्ध ा सिद्ध नहीं होगा। ''उभयतः पाशा रज्जुः'' का तात्पर्य यह है कि प्रकाशक ज्ञान को चाहे सत्य मानो चाहे मिथ्या, उभयतः प्रकाशक प्रकाश्य का नियामक अध्यस्तत्त्व सम्बन्ध नहीं बन सकता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में दोषाजन्यत्व को प्रमात्व का प्रयोजक नहीं माना जाता है, क्योंकि सिद्धान्तमत में ज्ञान नित्य होने के कारण दोषादि किसी से भी जन्य ही नहीं है। अतः दुनिया के सभी ज्ञान

सर्वत्र दोषाजन्यत्वात्, किन्तु दोषाजन्यवृत्त्यवच्छिन्नत्वम्, प्रकृते च तदभावात् न विषयस्य सत्यत्वम्, अतो मिथ्याभूतविषयं प्रत्यधिष्ठानत्वं सत्याया दृशो युक्तम्।। ३।।

ननु—तात्त्विकसम्बन्धासम्भवे आध्यासिकसम्बन्धकल्पनम्? स एव तु कुतः? क्लृप्तसंयोगबाधे गुणगुणिनोः समवायवत्तदुभयबाधे तृतीयस्य सम्भवात्। न च तत्र मानाभावः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमा ही हो जायेंगे। कोई भी भ्रम ज्ञान होगा ही नहीं। प्रश्न होता है कि सिद्धान्त मत में प्रमात्व का प्रयोजक क्या है? इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जहां पर वृत्ति दोष से जन्य नहीं होगी वहां पर तद्वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य को प्रमा कहेंगे और जहां पर वृत्ति दोष से जन्य होगी वहां पर तद्वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य को अप्रमा कहेंगे। प्रकृत में घट ज्ञान स्थल पर दोषाजन्यवृत्यवच्छिन्नत्व नहीं है, क्योंकि अन्तःकरण की घटाद्याकार वृत्ति अविद्यारूप दोष से जन्य है। अतः घट ज्ञान को प्रमात्मक ज्ञान नहीं माना जा सकता है। इसलिए घटज्ञान प्रमात्मक ज्ञान न होने से उसका विषय घट भी सत्य नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षीकृत पूर्वोक्त अनुमान (घटः सत्यः प्रमाविषयत्वात्) में स्वरूपासिद्धिदोष दे दिया गया। अतः मिथ्याभूत घटादि पदार्थों की अधिष्ठानता सत्य चैतन्य में मानने पर उभयतः पाशा रज्जु दोष नहीं दिया जा सकता है।। ३।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृक् और दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध असम्भव होने पर आध्यासिक सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है किन्तु तात्त्विक सम्बन्ध का प्रतिपादन किया जा सकता है। जैसे गुण और गुणी इन दोनों में सर्वमान्य संयोग सम्बन्ध के असम्भव होने पर भी गुण गुणी के सम्बन्ध को मिथ्या (आध्यासिक) नहीं माना जाता है। अपितु संयोग से अतिरिक्त समवाय नामक वास्तविक सम्बन्ध गुण गुणी में माना जाता है, वैसे ही दृक् और दृश्य में पूर्वपक्षी के द्वारा वास्तविक रूप से मान्य संयोग और समवाय के असम्भव होने मात्र से दृक् और दृश्य के सम्बन्ध को आध्यासिक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है, क्योंकि दृक् और दृश्य में संयोग और समवाय सम्बन्ध न होने पर भी इन दोनों से अतिरिक्त तृतीय कोई वास्तविक सम्बन्ध होना सम्भव है। उस तृतीय सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है— ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जैसे संयोग से अतिरिक्त समवाय की सिद्धि अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाण से होती है वैसे ही संयोग समवाय से अतिरिक्त वास्तविक तृतीय सम्बन्ध की भी अनुमान और प्रत्यक्ष से सिद्धि होती है। कहने का आशय यह है कि पूर्वपक्षी ''रूपवान् घटः'' इस प्रत्यक्ष ज्ञान की विषयता रूप, घट और संयोगसम्बन्ध से अतिरिक्त समवाय सम्बन्ध में मानता है। समवाय सम्बन्ध की सिद्धि में अनुमान प्रमाण इस प्रकार से देता है— परस्परासंयुक्तगुणगुणिविषयक विशिष्टधीः, सम्बन्धविषयिका, विशिष्टधीत्वात्, दण्डी इति विशिष्टधीवत्। इस अनुमान के पक्ष का अर्थ इस प्रकार से है— ''रक्तो घटः'' इस स्थल पर रक्तरूप और घट दोनों संयोग सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं है। अर्थात् परस्पर असंयुक्त है और गुण (रक्तरूप) गुणी (घट) विषयक विशिष्टधीः (रक्तरूपविशिष्टो घटः इत्याकारिका धीः)। इस अनुमान से जैसे संयोग से अतिरिक्त समवाय की सिद्धि होती है वैसे ही अनुमान प्रमाण से संयोग और समवाय से अतिरिक्त तृतीय सम्बन्ध की सिद्धि हो जायेगी। उसी को दिखला रहे हैं— परस्पर असंयुक्त और असमवेत जो विशेषण विशेष्य तादृश विशेषण विशेष्य विषयक जो ''घटस्य ज्ञानम्'' अथवा

समवायवदनुमाध्यक्षयोः सत्त्वात्। तथा हि–परस्परासंयुक्तासमवेतविशेषणविशेष्यकविशिष्ट–धीर्विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टधीत्वात्, दण्डीति विशिष्टधीवत्; उक्ता जन्यप्रमा, विशेषणविशेष्यसम्बन्धनिमित्तिका, अबाधितजन्यविशिष्टधीत्वात्, सम्मतवत्; विमता धीः, अबाधितविशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, अबाधितविशिष्टधीत्वाद्दण्डीति विशिष्टधीवत्। गोमांश्चैत्र इत्यादे(इत्यादिबुद्धे)रपि पक्षकुक्षिनिक्षेप एवेति न तत्र व्यभिचारशङ्का। तथा च संयोगसमवायातिरिक्तसम्बन्धसिद्धिरिति–चेन्न, प्रथमे–द्वितीये चार्थान्तरम्, आध्यासिकसम्बन्धस्यैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

''ज्ञातो घटः'' इत्यादि रूप विशिष्ट धी वह विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करने वाली है, सप्रकारिका धी होने से। जो–जो सप्रकारिका धी होती है वह–वह विशेषण विशेष्य के सम्बन्ध को विषय करने वाली होती है, जैसे दण्डी इत्याकारक विशिष्ट धी है। इस अनुमान के पक्ष में परस्परासंयुक्त इसलिए कहा कि "दण्डी देवदत्तः" यह विशिष्ट धी भी पक्ष में प्रविष्ट हो जाती और तादृश धी संयोग सम्बन्धविषयिका सिद्ध होने के कारण सिद्धसाधनदोष होता। असमवेत इसलिए कहा कि "घटवत् कपालम्" यह विशिष्ट धी भी पक्ष में प्रविष्ट हो जाती और तादृश धी समवाय– सम्बन्धविषयिका सिद्ध होने के कारण सिद्धसाधनदोष होता। अतः संयोग और समवाय इन दोनों से भिन्न घट और ज्ञान में तृतीय कोई वास्तविक सम्बन्ध इस अनुमान से सिद्ध होगा। संयोग समवाय से अतिरिक्त तृतीय सम्बन्ध की सिद्धि में दूसरा अनुमान दे रहा है। परस्पर असंयुक्त और असमवेत जो विशेषण विशेष्य तादृश विशेषण विशेष्य विषयक जो '' अभाववद् भूतलम्'' ''ज्ञातो घटः'' इत्यादि रूप विशिष्टजन्यप्रमा विशेषण और विशेष्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होती है। अबाधितजन्यविशिष्ट धी होने से। जैसे दण्डी इत्याकारक विशिष्ट धी। पक्ष घटक जन्य पद, ईश्वर प्रमा को लेकर बाधदोष आ रहा था, क्योंकि ईश्वरप्रमा किसी से उत्पन्न नहीं होती है, उसको वारण करने के लिए दिया गया है। ''रजतत्त्वविशिष्टमिदम्'' इसप्रकार के शुक्तिरजत भ्रम स्थल पर व्यभिचार होता, क्योंकि रजतत्व और इदं (शुक्ति) में कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता, अतः उस व्यभिचारदोष को वारण करने के लिए हेतु घटक अबाधित पद दिया गया है। ईश्वर ज्ञान में व्यभिचार वारण करने के लिए हेतु घटक जन्य पद दिया गया है। हेतु घटक अबाधित और जन्य पद धी के विशेषण है। संयोग समवाय से अतिरिक्त तृतीय सम्बन्ध की सिद्धि में तृतीय अनुमान दे रहा है– विवादास्पदीभूत ''ज्ञातो घटः'' ''अभाववद् भूतलम्'' इत्यादि रूप धी विशेषण और विशेष्य के अबाधित सम्बन्ध को विषय करती है, क्योंकि अबाधित विशिष्ट धी होने से। ''दण्डी'' इत्याकारक विशिष्टधीवत्। यदि कोई कहता है कि ''गोमांश्चैत्रः इसमें विशिष्टधीत्व है किन्तु विशेषण विशेष्य सम्बन्ध विषयत्व नहीं है, क्योंकि गोष्ठस्थ गौओं के साथ गृहस्थ चैत्र का कोई भी अबाधित सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अतः व्यभिचारदोष होगा। पूर्वपक्षी उक्त दोष का निवारण करते हुए कह रहा है कि ''गोमाश्चैत्रः'' इत्यादि बुद्धियों को भी पक्ष के अर्न्तगत ही माना जाता है। इसलिए उक्त बुद्धियों में व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है, जैसा कि दीधितीकार ने कहा है– ''नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचारः''। फलतः पूर्वोक्त अनुमानों से ज्ञानज्ञेय में संयोग तथा समवाय इन दोनों से अतिरिक्त तृतीय सम्बन्ध की सिद्धि हो गई। पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रथम और

विषयत्वेन निमित्तत्वेन चोपपत्तेः। द्वितीये परोक्षधीषु व्यभिचारश्च। तृतीये ब्रह्मज्ञानपर्यन्ताबाधितत्वेन सिद्धसाधनमेव। सर्वथा अबाधितधीविषयत्वे साध्ये साध्यवैकल्यम्।। ४।।

न च—तात्त्विकसम्बन्धबाधे आध्यासिकसम्बन्धसिद्धिः, तथा च संयोगसमवायातिरिक्तता— त्विकसम्बन्धबाधपर्यन्तं नाध्यासिकसम्बन्धसम्भावना, तथा च कथमर्थान्तरसिद्धसाधनसाध्य—

सत्यानन्दप्रबोधिका

द्वितीय अनुमान प्रयोग में अर्थान्तर दोष (प्रकृतादर्थादन्योऽर्थः अर्थान्तरम्) है, क्योंकि सिद्धान्ती सम्मत आध्यासिक सम्बन्ध को ही प्रथम साध्य घटक विशिष्ट बुद्धि का विषय और द्वितीय साध्य घटक विशिष्ट बुद्धि का निमित्त स्वीकार किया जाता है। द्वितीय अनुमान का हेतु परोक्षधियों में व्यभिचारी भी है, क्योंकि परोक्षधियों में हेतु—अबाधित जन्य विशिष्टधीत्व है किन्तु विशेषण विशेष्य सम्बन्ध निमित्तकत्वरूप साध्य नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का ही विषय ज्ञान का जनक या निमित्त माना जाता है। परोक्ष ज्ञान का नहीं। तृतीय अनुमान के साध्य घटक ''अबाधित'' पद से क्या विवक्षित है? ब्रह्मज्ञान पर्यन्त अबाधितत्व? अथवा सर्वथा अबाधितत्व?। ब्रह्मज्ञान पर्यन्त अबाधितत्व पक्ष को स्वीकार करने पर आध्यासिकसम्बन्ध को लेकर सिद्धसाधनदोष होगा क्योंकि ब्रह्म ज्ञान पर्यन्त प्रपञ्च और प्रपञ्च का आध्यासिकसम्बन्ध अबाधित माना ही जाता है। सर्वथा अबाधितत्व पक्ष को स्वीकार करने पर दृष्टान्त में साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म से भिन्न कोई भी पदार्थ सर्वथा अबाधितत्त्वेन हमको सम्प्रतिपन्न नहीं है। इसी प्रकार सर्वथा अबाधितत्त्व पक्ष को स्वीकार करने पर पक्ष में हेतु का समन्वय भी न हो पाने से स्वरूपासिद्धिदोष भी होगा, क्योंकि किसी भी विशिष्टधी को सर्वथा अबाधित नहीं माना जा सकता है ।। ४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि तात्त्विक सम्बन्ध का बाध हो जाने पर ही आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि हो सकती है। अभी तक ज्ञानज्ञेयादि में संयोग समवाय से अतिरिक्त जो तात्त्विक सम्बन्ध उसका बाध सिद्धान्ती के द्वारा किया नहीं गया है। अतः सिद्धान्ती आध्यासिक सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। इसलिए आध्यासिक सम्बन्ध को लेकर पूर्वोक्त अर्थान्तर, सिद्धसाधन और साध्यवैकल्यादिदोष नहीं दे सकते हैं। अर्थात् पूर्वपक्षी के उक्त अनुमानों में अर्थान्तरादि दोष देने से पूर्व पृथक् किसी प्रमाण के द्वारा संयोगादि से अतिरिक्त ज्ञानज्ञेयादिनिष्ठ तात्त्विक सम्बन्ध का बाध करना होगा, तभी उसके पश्चात् उक्त अनुमानों में अर्थान्तरादि दोष दिया जा सकता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त अनुमानों में अन्य प्रमाण से तात्त्विक सम्बन्ध का बाधदोष दिया जा सकता है। उसी को दिखला रहे हैं। ''यत्र यत्र तात्त्विक सम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः''। इस व्याप्ति के अनुसार तात्त्विक सम्बन्ध उन्हीं दो पदार्थों में हो सकता है जिनमें दैशिक और कालिक विप्रकर्ष (दूरी) का अभाव हो। किन्तु प्रकृत में तात्त्विक सम्बन्ध के व्यापक देशविप्रकर्षाभाव तथा कालविप्रकर्षाभाव का अभाव होने से तात्त्विक सम्बन्ध का बाध हो जायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उक्त विप्रकर्षाभाव अतीतादिविषयकज्ञानों में नहीं है। अपितु कालिकविप्रकर्ष ही है, क्योंकि अतीतादिपदार्थों का काल है अतीतादि, जबकि ज्ञान का काल है वर्तमान। अतः अतीतादि विषयकज्ञानों का स्वविषय के साथ तात्त्विक सम्बन्ध कैसे होगा? अर्थात् अतीतानागतविषयविषयकज्ञान स्थल पर ज्ञान और विषय भिन्न कालिक होते हैं। अर्थात्

वैकल्यानीति—वाच्यम्, तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या बाधात्। तथा हि—तात्त्विकसम्बन्धस्य व्यापको देशकालविप्रकर्षाभावः। स चातीतादिविषयकज्ञानादीनां नास्त्येवेति कथं तात्त्विकस्तेषां सम्बन्ध? न च—समवायवत् सम्बन्ध्यभावविप्रकर्षाद्यविरुद्धत्वेनैव तत्सिद्धिरिति— वाच्यम्, समवायस्यापि देशकालविप्रकृष्टयोः सम्बन्धव्यवहाराप्रयोजकत्वात्। न हि सम्बन्ध्यभावेऽपि सन् समवायोऽद्य नष्टं घटं श्वस्तनेन रूपेण विशिनष्टि। न चाध्यासिकत्वे सम्बन्धस्य साध्ये

सत्यानन्दप्रबोधिका

नियम से कालकृत विप्रकर्ष है। अतः इनमें तात्त्विक सम्बन्ध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है की घट के साथ कपाल का समवाय सम्बन्ध माना जाता है, किन्तु उस समवाय का एक सम्बन्धी जो घट उसके नाश हो जाने पर भी समवाय सम्बन्ध नित्य (तात्त्विक) होने के कारण नष्ट नहीं होता है। इस प्रकार तात्त्विक सम्बन्ध जो व्याप्य है वह विद्यमान है किन्तु कपाल और घट में दैशिक और कालिक विप्रकर्ष है। अतः सम्बन्धी का अभाव और देशकाल विप्रकर्ष के साथ तात्त्विक सम्बन्ध का कोई विरोध नहीं होता है। अतः देशकाल के विप्रकर्ष रहने पर भी ज्ञानज्ञेय में तात्त्विकसम्बन्ध की सिद्धि हो जायेगी। उक्त प्रकार से व्यभिचारदोष रहने के कारण सिद्धान्ती ने जो उक्त व्याप्ति दिखलायी है वह सभी तात्त्विक सम्बन्ध के विषय में नहीं है किन्तु संयोग सम्बन्ध के विषय में चरितार्थ होती है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जहां सम्बद्ध व्यवहार होता है वहीं पर ही सम्बद्ध शब्द का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् जहां सम्बद्ध व्यवहार नहीं हो रहा है वहां पर समवायादि कोई भी सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। प्रकृत में देशतः तथा कालतः विप्रकृष्ट जो दो पदार्थ तादृशपदार्थ धर्मिक सम्बद्ध व्यवहार होता ही नहीं है। अतः तादृश पदार्थ धर्मिक सम्बद्ध व्यवहार के प्रति समवाय को हेतु नहीं माना जाता है। वहां यदि समवाय रहता भी हो तो भी उस समवाय को सम्बन्ध शब्द से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सम्बद्ध व्यवहार के हेतु को ही सम्बन्ध शब्द से कहा जाता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अभी श्याम घट है। उस घट में ही विजातीय पाक से रक्तरूप उत्पन्न होने वाला है। वह भावी रक्त रूप जो उत्पन्न होगा वह घट में समवाय सम्बन्ध से ही उत्पन्न होगा किन्तु वह समवाय सम्बन्ध नित्य होने के कारण अभी से ही विद्यमान है किन्तु भावी रक्तरूप के साथ वर्तमान घट का समवाय सम्बन्ध विद्यमान रहने पर भी यदि वह घट भावी रक्तरूप की उत्पत्ति से पहले ही नष्ट हो जाय तब वह विद्यमान समवाय सम्बन्ध इस भावी रूप के साथ विनष्ट घट के सम्बद्ध व्यवहार को उत्पन्न नहीं कर सकता है। अर्थात् "नष्टो घटो भाविरक्तसम्बद्धः" ऐसा व्यवहार नहीं होता है। अतः उस समवाय को सम्बन्ध शब्द से नहीं कहा जा सकता है। अतः देशतः कालतः विप्रकृष्ट पदार्थों में तात्त्विक सम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता है। सिद्धान्ती ने पहले व्याप्ति बनायी थी— ''यत्र यत्र तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः।'' इसकी व्यतिरेकव्याप्ति होगी ''यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षः तत्र तत्र तात्त्विक सम्बन्धाभावः (आध्यासिक सम्बन्धः)।'' इस व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर सिद्धान्ती के अनुमान का आकार यह होगा— (दृक्दृश्ययोः) सम्बन्धः, आध्यासिकः, देशकालविप्रकर्षात्, शुक्तिरजतसंसर्गवत्। इस पर पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहा है कि जिस सम्बन्ध रूपपक्ष में आध्यासिकत्व रूप साध्य सिद्ध किया जा रहा है वह पक्ष (धर्मी) प्रमाण सिद्ध है? अथवा नहीं? यदि धर्मी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तब उसमें आध्यासिकत्व रूप धर्म (साध्य)

धर्मिग्राहकमानबाधः, विशिष्टबुद्धित्वेन प्रथमतात्त्विकातात्विकसाधारणसम्बन्धस्यैव सिद्धेः ॥ ५॥

किञ्च सम्बन्धग्राहक एव तात्त्विकसम्बन्धव्यापकानुपलब्धिरूपबाधसहकृत आध्यासिक–सम्बन्धे पर्यवस्यति। अतो न धर्मिग्राहकबाधशङ्कापि। न चैवं–युतसिद्धयोरेव संयोगरूप–सम्बन्धदर्शनादयुतसिद्धिरपि समवायस्य बाधिका स्यादिति–वाच्यम्, युतसिद्धयोरपि क्वचित्स–

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्ध नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रमाण से सिद्ध वस्तु को तात्त्विक माना जाता है। यदि धर्मी प्रमाण से सिद्ध है तब वह तात्त्विक ही होगा। उसमें आध्यासिकत्व रूप साध्य की सिद्धि धर्मी के प्रमापक प्रमाण (पूर्वपक्षीकृत पूर्वोक्त अनुमानत्रय) से बाधित हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सर्वप्रथम विशिष्टबुद्धित्व हेतु के द्वारा तात्त्विका– तात्त्विक साधारण सम्बन्ध मात्र की सिद्धि करेंगे। यहां पर अनुमान का आकार होगा– ज्ञानज्ञेययोर्विशिष्टबुद्धिः विशेषणविशेष्यसम्बन्धविषया, विशिष्टबुद्धित्वात्, दण्डीति विशिष्टबुद्धिवत्। इस प्रकार सम्बन्ध मात्र सिद्ध कर के उसमें पूर्वोक्त अनुमान के द्वारा आध्यासिकत्व रूप साध्य सिद्ध करने पर कोई भी दोष नहीं होगा।। ५।।

पीछे कहा गया कि सामान्यानुमान के द्वारा तात्त्विकातात्त्विकसाधारण सम्बन्धसामान्य सिद्ध होता है। पुनः इस सम्बन्धसामान्य को पक्ष बनाकर आध्यासिकत्व रूप साध्य को सिद्ध करने के लिए दूसरा अनुमान किया गया। सिद्धान्ती के द्वारा अब कहा जा रहा है कि एक अनुकूल तर्क की सहायता से पूर्वपक्षीकृत अनुमान के द्वारा ही आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् पहले सम्बन्धसामान्य सिद्ध करे। इसके पश्चात् सम्बन्धसामान्य को पक्ष बना कर आध्यासिकत्व सिद्ध करे, इसकी आवश्यकता नहीं है। प्रश्न होता है कि वह अनुकूल तर्क क्या है? इसके उत्तर में कह रहे हैं कि ज्ञानज्ञेय में तात्त्विक सम्बन्ध के व्यापक (देशकालविप्रकर्षाभाव) की जो अनुपलब्धि तद्रूप जो बाध तादृश बाध रूप अनुकूल तर्क है। इस बाध रूप अनुकूल तर्क के बल पर पूर्वपक्षीकृत अनुमान के धर्मी (सम्बन्ध) में आध्यासिकत्व की सिद्धि हो जायेगी। अतः पूर्वोक्त प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा बाध की शङ्का का अवसर ही प्राप्त नहीं होता है। पूर्वोक्त प्रकार से आध्यासिक सम्बन्ध को सिद्ध करने पर समवाय सम्बन्ध की भी सिद्धि नहीं हो सकती है– इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि युतसिद्ध (पृथक्सिद्ध) जो दो पदार्थ होते हैं उनमें ही संयोग सम्बन्ध देखा जाता है। अर्थात् युतसिद्ध पदार्थ उसे कहते हैं जो सम्बन्ध के बिना भी रहते हैं। यदि उनमें सम्बन्ध हो जाता है और पश्चात् सम्बन्ध का नाश हो जाता है तब भी वे दोनों पदार्थ रहते हैं। जैसे घट पट का संयोग। पूर्वपक्षी के अनुसार यहां पर व्याप्ति वह बनेगी ''यत्र यत्र सम्बन्धः तत्र तत्र युतसिद्धिः''। यह व्याप्ति पूर्वपक्षी इसलिए बना रहा है कि पूर्व में सिद्धान्ती ने–''यत्र यत्र तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः'' यह व्याप्ति बनायी थी। इसी व्याप्ति के बल पर व्यापक (देशकालविप्रकर्षाभावः) के अभाव (अनुप–लब्धी) से सम्बन्ध के तात्त्विकत्व का बाध किया था। ठीक उसी प्रकार पूर्वपक्षी ने उक्त व्याप्ति को बनाया और उक्त व्याप्ति के आधार पर यह दिखाया कि घट और कपाल में व्यापक (युतसिद्धि) का अभाव है। अर्थात् घट और कपाल में अयुतसिद्धि है, क्योंकि घट के विद्यमान रहते कपाल से घट को पृथक् किया नहीं जा सकता है। अतः व्यापक के अभाव से घट और कपाल में व्याप्य जो सम्बन्ध (समवाय) है। उसका बाध हो जाना

म्बन्धादर्शनेन युतसिद्धत्वस्य सम्बन्धाप्रयोजकत्वात्, यस्मिन सत्यवश्यं सम्बन्धः, स एव सम्बन्धस्य प्रयोजक इति समव्याप्तत्वाभावेन युतसिद्ध्यनुपलब्धेरबाधकत्वात्, यत्र सम्बन्धस्तत्रावश्यं युतसिद्धिरिति विषमव्याप्तिकल्पनेऽपि मानाभावात्, अनुकूलतर्कादर्शनात्, देशकालविप्रकर्षाभाववतां तु सर्वेषां सम्बन्धदर्शनेन विप्रकर्षे तददर्शनेन च समव्याप्ततया प्रयोजकस्य देशकालविप्रकर्षाभावस्यानुपलब्धेः सम्बन्धबाधकत्वस्यावश्यमङ्गीकरणीयत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती यह कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने सम्बन्ध का प्रयोजक जो युतसिद्धत्व को माना है। वह उचित नहीं है, क्योंकि प्रयोजक और प्रयोज्य में समव्याप्ति मानी जाती है, अतः पूर्वपक्षी ने जो व्याप्ति मानी है कि "यत्र यत्र सम्बन्धः तत्र तत्र युतसिद्धिः " केवल इस व्याप्ति के बल पर युतसिद्धत्व को सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है किन्तु "यत्र यत्र युतसिद्धिः तत्र तत्र सम्बन्धः" यह भी व्याप्ति यदि पूर्वपक्षी सिद्ध कर सके तभी युतसिद्धि (युतसिद्धत्व) को सम्बन्ध का प्रयोजक माना जा सकता है, किन्तु युतसिद्धों के भी कहीं पर सम्बन्ध न देखने से युतसिद्धत्व को सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है। अर्थात् युतसिद्ध मेरू विन्ध्यादि के सम्बन्ध को कभी किसी के द्वारा भी न देखने से युतसिद्धत्व सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं हो सकता है। अतः केवल "यत्र यत्र सम्बन्धः तत्र तत्र युतसिद्धिः" ऐसी व्याप्ति मानकर घट कपाल स्थल पर युतसिद्धि के अभाव को सम्बन्ध का बाधक नहीं माना जा सकता है। प्रश्न होगा कि सिद्धान्ती के मत से सम्बन्ध का प्रयोजक क्या है? इसका उत्तर देते हुए कह रहे हैं कि जिसके होने पर अवश्य सम्बन्ध हो, वही सम्बन्ध का प्रयोजक है। अर्थात् देशकाल विप्रकर्षाभाव के साथ सम्बन्ध की समव्याप्ति है। जैसे "यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षाभावः तत्र तत्र सम्बन्धः, यत्र यत्र सम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः"। इस प्रकार के समव्याप्ति में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं है। अतः युतसिद्धि को सम्बन्ध का प्रयोजक नहीं मान सकते हैं। यदि युतसिद्धि प्रयोजक होता तब सम्बन्ध का व्यापक होता और तब व्यापक की अनुपलब्धि से घट और कपाल में सम्बन्ध का बाध होता है किन्तु ऐसा नहीं है। अतः बाध भी नहीं है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि हम समव्याप्ति नहीं मानेंगे। केवल विषम व्याप्ति (अन्वयव्याप्ति) ही मानेंगे, अर्थात् "यत्र यत्र सम्बन्धः तत्र तत्र युतसिद्धिः" केवल यही व्याप्ति मानेंगे "यत्र यत्र युतसिद्धिः तत्र तत्र सम्बन्धः" यह व्याप्ति नहीं मानेंगे। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार की विषम व्याप्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है और कोई अनुकूल तर्क भी नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध हो किन्तु युतसिद्धि न हो इस विपक्ष में (अर्थात् जिन दोनों में एक बार सम्बन्ध हो गया, वे दोनों आगे चलकर भी एक दूसरे से पृथक् नहीं होंगे, ऐसा मानने में) कोई बाधक तर्क पूर्वपक्षी के पास नहीं है। जैसे दो पर्वत यदि परस्पर संयुक्त हों तो, हो सकता है उनके नाश तक परस्पर संयुक्त ही रहे, पृथक न हों और पृथक् भी हो सकते हैं। जिन पदार्थों में देशकालविप्रकर्षाभाव है उन सभी पदार्थों में सम्बन्ध देखा जाता है और जिन पदार्थों में सम्बन्ध है उन सभी पदार्थों में देशकालविप्रकर्षाभाव देखा जाता है। इसलिए सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित अन्वयव्यतिरेक में किसी प्रकार का व्यभिचार न होने से देशकालविप्रकर्षाभाव में सम्बन्ध की प्रयोजकता निश्चित है। इसलिए देशकालविप्रकर्षाभाव की अनुपलब्धि होने पर सम्बन्ध का बाध अनिवार्य रूप से सिद्ध

न हि प्रयोजकाभावे प्रयोज्यसम्भवः।। ६।।

नन्वेवं—ध्वंसादेरतीतादिना, मिथ्यात्वलक्षणान्तर्गतस्यात्यन्ताभावस्य प्रतियोगिना, शक्तेः शक्येन, अज्ञानस्याज्ञेयेन, इच्छाया इष्यमाणेन, व्यवहारस्य व्यवहर्तव्येन, वाक्यस्यार्थेन, वृत्तिरूपज्ञानस्य ज्ञेयेन, सम्बन्धो नेति त्वद्वाक्योक्तसम्बन्धाभावस्य ज्ञानेनासम्बन्धात्

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो जाता है, क्योंकि प्रयोजक का अभाव होने पर प्रयोज्य की सिद्धि नहीं होती है। अर्थात् तात्त्विक सम्बन्ध का बाध होकर आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है।। ६।।

सिद्धान्ती की जो व्याप्ति है— ''यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षः तत्र तत्र तात्त्विक सम्बन्धाभावः (आध्यासिकसम्बन्धः)''। इस व्याप्ति में व्यभिचार दिखलाते हुए पूर्वपक्षी देशकालविप्रकर्षाभाव को तात्त्विकसम्बन्ध का प्रयोजक मानने पर अष्ट स्थलों पर स्वन्यायविरोधादि की आपत्ति दे रहा है। प्रथम— अतीत काल में जो घटादि पदार्थो का ध्वंस हुआ था उसके प्रतियोगी अतीत घटादि है किन्तु न्यायमतानुसार ध्वंस अनन्त होने के कारण ध्वंस आज भी वर्तमान काल में है। इस प्रकार अतीत घटादि और वर्तमान ध्वंस में देशकालविप्रकर्ष है किन्तु ध्वंसऔर ध्वंस के प्रतियोगी अतीत घटादि में आध्यासिक—सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि अधिष्ठान में ही पदार्थ अध्यस्त होते हैं। ध्वंस को अतीतघटादि का अधिष्ठान सिद्धान्ती मानते नहीं हैं, क्योंकि सिद्धान्त मत में सभी का अधिष्ठान केवल ब्रह्म ही माना जाता है। ब्रह्म से पृथक् किसी को अधिष्ठान मानने पर स्वसिद्धान्त विरोध और ध्वंसादि अधिष्ठान सत्य होने के कारण द्वैतापत्ति होगी। द्वितीयमिथ्यात्व लक्षण घटक अत्यन्ताभाव है। वह अत्यन्ताभाव जहां होगा उसी देश काल में उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी नहीं रह सकता है, क्योंकि अभाव के साथ प्रतियोगी का विरोध होता है। अतः अत्यन्ताभाव और प्रतियोगी में देशकालविप्रकर्ष है किन्तु उनमें आध्यासिकसम्बन्ध नहीं माना जाता है, क्योंकि प्रथम पक्ष के जैसे ही इस द्वितीय पक्ष में भी स्वसिद्धान्त विरोधादि दोष होगा। तृतीय—मिट्टी में घट बनाने की शक्ति है। किन्तु मिट्टी से घट जब नहीं बन रहा है किन्तु भविष्य में घट बनेगा तब इस समय घटरूप शक्य के न रहने पर भी मिट्टी में घटोत्पादिका शक्ति विद्यमान है। अतः शक्य और शक्ति में देशकाल विप्रकर्ष है किन्तु आध्यासिकसम्बन्ध नहीं है क्योंकि आध्यासिकसम्बन्ध स्वीकार करने पर स्वसिद्धान्त विरोधादिदोष होगा। चतुर्थ—भाविपदार्थ पुत्रादि का अज्ञान इस समय है और अज्ञेय जो भावि पुत्र इस समय नहीं है। इस प्रकार अज्ञान और अज्ञेय में देशकाल विप्रकर्ष है, किन्तु आध्यासिकसम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आध्यासिकसम्बन्ध मानने पर स्वसिद्धान्त विरोधादि दोष होगा। पञ्चम—भाविपुत्रादि की इच्छा वर्तमान में है और इष्यमाण पदार्थ भाविपुत्र इस समय नहीं है। अतः इच्छा का इष्यमाण के साथ देशकालविप्रकर्ष है किन्तु उनमें आध्यासिकसम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आध्यासिकसम्बन्ध को स्वीकार करने पर पूर्वोक्त पक्षों के दोष इस पञ्चम पक्ष में भी होंगे। षष्ठ—"पुत्रो भविष्यति" ऐसा व्यवहार वर्तमान काल में ही हो रहा है किन्तु व्यवहर्तव्य भावि पुत्र इस समय नहीं है। अतः व्यवहार का व्यवहर्तव्य के साथ देशकाल विप्रकर्ष है। किन्तु पूर्वोक्त दोषों के कारण उनमें आध्यासिकसम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। सप्तम—धर्मादि प्रतिपादक वाक्य वर्तमान में है किन्तु वाक्यार्थ धर्मादि इस समय नहीं है। अतः देशकाल का विप्रकर्ष है किन्तु आध्यासिकसम्बन्ध नहीं है, क्योंकि आध्यासिकसम्बन्ध

स्वन्यायस्वक्रियास्ववचनविरोधाः स्युः, नहि ज्ञाने ज्ञेयमिव प्रतियोग्यादिकमभावादावध्यस्त– मिति–चेन्न, यद्यप्युक्तन्यायसाम्येन ध्वंसादीनां स्वप्रतियोग्यादिभिस्तात्त्विकः सम्बन्धो नास्त्येव, अध्यासोऽपि न ज्ञानज्ञेयन्यायेन, उभयोरपि मिथ्यात्वात्। तथापि प्रतीयमानं प्रतियोग्यनुयोगिभावादिकं सर्वथा न निराकुर्मः, किन्तु तात्त्विकाध्यासाभ्यां भिन्नमेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानने पर पूर्वोक्त दोष आयेंगे। अष्टम–''पुत्रो भविष्यति'' ऐसा वृत्तिज्ञान वर्तमान में है किन्तु पुत्ररूपज्ञेय वर्तमान में नहीं है। अतः देशकाल विप्रकर्ष है किन्तु पूर्वोक्त दोषों के कारण आध्यासिकसम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अष्ट स्थलों पर सिद्धान्ती के व्याप्ति में व्यभिचारदोष दिखाया गया। आगे स्वविरोधादि दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि ज्ञानज्ञेय में वास्तविक सम्बन्ध नहीं हैं तब सिद्धान्ती यह जो कह रहे हैं कि ज्ञान और ज्ञेय में कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है। इस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादक जो सिद्धान्ती का वाक्य ''ज्ञानज्ञेययोः वास्तविकसम्बन्धो नास्ति''। इस वाक्य से उक्त अर्थ सम्बन्धाभाव का वाक्यजन्य ज्ञान के साथ सम्बन्ध न होने से स्वन्याय के साथ और स्वक्रिया के साथ तथा स्ववचन के साथ विरोध होगा। अर्थात् पूर्वोक्त सप्त स्थलों तक स्वन्याय विरोध के उदाहरण हैं, क्योंकि उक्त सभी सात स्थलों पर तात्त्विक सम्बन्ध माना जाता है, जबकि सिद्धान्ती का न्याय है, ''तात्त्विक सम्बन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या बाधात्'' अष्टम स्थल पर स्वक्रिया और स्ववचन विरोध का उदाहरण है। अर्थात् ज्ञान का ज्ञेय के साथ वास्तविक सम्बन्ध नहीं है– इस अर्थ को समझाने के लिए ''ज्ञानस्य ज्ञेयेन वास्तविकसम्बन्धो नास्ति'' इत्याकारक वाक्य प्रयोगरूप क्रिया जब सिद्धान्ती करते हैं। तब वाक्य से प्रतिपाद्य जो सम्बन्धाभाव तथा वाक्यजन्य ज्ञान इन दोनों का सम्बन्ध है– यह सिद्धान्ती स्वीकार करेंगे अन्यथा ''ज्ञानस्य ज्ञेयेन सम्बन्धो नास्ति।'' यह वाक्य प्रयोग करना ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः सिद्धान्ती के उक्त वाक्य प्रयोग से ही सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। अतः स्वक्रिया विरोध है। अर्थात् सम्बन्ध न मानने वाले से शब्द प्रयोग रूप क्रिया नहीं हो सकती है एवं ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्धाभावरूप जो अर्थ है उस अर्थ का ''ज्ञानज्ञेययोः सम्बन्धो नास्ति'' इत्याकारक वाक्यजन्यज्ञान के साथ सम्बन्ध बोधन करने के लिए उक्त वाक्य का प्रयोग करते हो और पुनः कहते हो कि ज्ञान का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध नहीं है। अतः ''मम माता बन्ध्या'' इस वचन के जैसे ही प्रकृत में स्ववचन विरोध भी है। सिद्धान्ती के मत में जैसे ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त है वैसे ही प्रतियोग्यादि अभावादि में अध्यस्त नहीं है। अतः पूर्वोक्त स्थलों पर आध्यासिकसम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि अतीतादि पदार्थ और अतीतादि पदार्थ के ज्ञान में उक्त जो न्याय (यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षः तत्र तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावः) है उस न्याय का साम्य होने से ध्वंसादि का स्वप्रतियोग्यादि के साथ तात्त्विकसम्बन्ध नहीं होगा, क्योंकि ध्वंस और प्रतियोगी में देशकाल विप्रकर्ष है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि ज्ञान और ज्ञेय में सिद्धान्ती ने जिस पूर्वोक्त न्याय से आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध किया था। उसी न्याय के आधार पर ध्वंसादि और स्वप्रतियोग्यादि में आध्यासिकसम्बन्ध भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ध्वंसादि और स्वप्रतियोग्यादि दोनों ही मिथ्या है। अर्थात् यदि ध्वंसादि और स्वप्रतियोग्यादि इन दोनों में से कोई एक सत्य होता तब उसमें दूसरे का अध्यास माना जा सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। तथापि ध्वंसप्रतियोग्यादि में प्रतीयमान प्रतियोग्यनुयोगिभावसम्बन्धों का सर्वथा निराकरण

ज्ञेयकुक्षिनिक्षिप्तत्वान्मिथ्याभूतमङ्गीकुर्मः। स च संयोगादिवदतिरिक्तो वा स्वरूपं वा पराङ्गीकृतपदार्थान्तर्गतो वा तदतिरिक्तो वेत्यस्यां काकदन्तपरीक्षायां न नो निर्बन्धः।। ७।।

न च मिथ्यात्वसिद्धेः प्राक् तदसिद्ध्या अन्योन्याश्रयः, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्त्या ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वे सिद्धे तन्मध्यपतितस्य प्रतियोग्यभावादिसम्बन्धस्यापि मिथ्यात्वम्, न तु प्रतियोग्यभावादिसम्बन्धमिथ्यात्वसिद्ध्यनन्तरं दृश्यमिथ्यात्वसिद्धिरिति व्यवहारोपयुक्तसम्बन्धसा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

हम विशुद्ध ब्रह्मवादी लोग नहीं करते किन्तु प्रतियोग्यनुयोगिभावादिरूप सम्बन्ध दृश्य कोटि में प्रविष्ट होने के कारण तात्त्विक और आध्यासिक से विलक्षण मिथ्याभूत व्यवहारकाल पर्यन्त अबाधित सम्बन्ध माना जाता है। जैसे ''घटवद् भूतलम्'' इस स्थल पर संयोग सम्बन्ध घट और भूतल से भिन्न माना जाता है। उसी प्रकार प्रतियोग्यनुयोगिभावादि सम्बन्ध प्रतियोग्यनुयोगी से अतिरिक्त अथवा प्रतियोग्यनुयोगी का स्वरूप ही है अथवा तार्किकादि द्वारा अङ्गीकृत जो पदार्थ है उनके अर्न्तगत है अथवा तार्किकादि द्वारा अङ्गीकृत पदार्थों के अतिरिक्त है, इस प्रकार काकदन्त परीक्षा के समान निष्फल विचार में हम तात्त्विक ब्रह्मवादिओं का आग्रह नहीं है। जैसा की खण्डनकार ने कहा है– ''वस्तुतस्तु वयं प्रपञ्चसत्त्वव्यवस्थापनविनिवृत्ताः स्वतः सिद्धे चिदात्मनि ब्रह्मतत्त्वे केवले भरमवलम्व्य चरितार्थाः सुखमास्महे''।। ७।।

पूर्वपक्षी अन्योन्याश्रयदोष देते हुए कहा रहा है कि प्रपञ्च मिथ्यात्वसिद्धि से पहले प्रतियोग्यनुयोगिभावरूप सम्बन्ध में मिथ्यात्वसिद्ध नहीं होता है किन्तु प्रपञ्च मिथ्यात्वसिद्धि के पश्चात् उक्त सम्बन्ध में मिथ्यात्वसिद्ध होता है। अतः प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होने पर उक्त सम्बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध होगा और उक्त सम्बन्ध में मिथ्यात्व सिद्ध होने पर प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होगा– इस प्रकार से अन्योन्याश्रयदोष होगा। इसका निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृग्दृश्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति "ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वं विना दृग्दृश्यसम्बन्धसिद्धिरनुपपन्ना" इस अनुकूल तर्क की सहायता से "प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्" इस अनुमान से ज्ञेयमात्रनिष्ठ आध्यासिकत्व (मिथ्यात्व) के सिद्ध हो जाने पर ज्ञेय कोटि में प्रविष्ट प्रतियोग्यादि और अभावादि के सम्बन्ध भी मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। प्रतियोग्यादि के साथ जो अभावादि का सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के मिथ्यात्व सिद्धि के अनन्तर दृश्य के मिथ्यात्व की सिद्धि हम नहीं मानते हैं। अर्थात् दृश्यमिथ्यात्व और दृग्दृश्यसम्बन्धमिथ्यात्व ये दोनों एक साथ ही सिद्ध होते हैं। कोई किसी के अनन्तर सिद्ध नहीं होते हैं– यही हमारी मान्यता है। अतः अन्योन्याश्रयदोष नहीं है। इस प्रकार व्यवहारोपयुक्त सम्बन्ध सामान्य का सिद्धान्ती के द्वारा निरास नहीं होने से सिद्धान्ती के ऊपर स्ववचनविरोधादिदोष नहीं दिया जा सकता है। सिद्धान्ती के द्वारा ध्वंसादि और प्रतियोग्यादि में व्यावहारिक सम्बन्ध माना गया है। व्यावहारिक सम्बन्ध मिथ्या होता है, तात्त्विक नहीं होता है। इस प्रकार से सिद्धान्ती के द्वारा व्यापकानुपलब्धिरूप तर्क के द्वारा ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध के बाध का आपादन किया गया है। इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए खण्डनकार ने कहा है कि उक्त व्यापकानुपलब्धिरूप बाध यदि अदृढ़ है अर्थात् अनुकूल तर्क का मूलभूत व्याप्त्यादि से रहित होने के कारण आभास मात्र है तब ''ज्ञान ज्ञेय, तात्त्विकसम्बन्ध से युक्त है, विशिष्ट प्रमा का विषय होने से, प्रतियोग्यभावादिवत्'' इत्याकारक जो अन्य साम्य से घटित सत्प्रतिपक्षरूपप्रयोग है। उससे क्या फल है? अर्थात् कोई भी फल नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित उक्त

मान्यस्याप्रतिक्षेपान्न स्ववचनादिविरोधः। तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात् किं? दृढे तदपि बाध्यताम्।
क्व ममत्वं मुमुक्षूणामनिर्वचनवादिनाम्'।। इति।।

न चादृढत्वं बाधस्य (न्यायस्य), व्यापकानुपलब्धिरूपतर्कस्योक्तत्वात्, स्वक्रियादिविरोधरूपप्रतिकूलतर्कस्य परिहृतत्वाच्च। अत एव न जातिवादिसाम्यम्, तेन हि नियमसापेक्षानित्य—

सत्यानन्दप्रबोधिका

तर्क रूप बाध की मूलीभूतव्याप्त्यादि यदि अदृढ़=प्रशिथिल है तभी प्रशिथिलमूलत्व को आश्रय करके अन्य साम्य का उद्भावन किया जा सकता है। अर्थात् यदि सिद्धान्ती का बाध बाधाभास है तब उसी बाधाभासरूपदोष को स्पष्ट करो और उस बाधाभासरूपदोष के स्पष्ट होने पर आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध न होकर तात्त्विक सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। अतः उसके लिए अन्य के साथ साम्य का प्रदर्शन करना अर्थात् सत्प्रतिपक्ष अनुमान करना व्यर्थ है और यदि सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित अनुकूल तर्क रूप बाध की मूलीभूत व्याप्त्यादि दृढ़ है। अर्थात् निर्दुष्ट है, पूर्वपक्षी के द्वारा कोई दोष दिखाया नहीं जा सका है। तब साम्य का प्रतियोगी जो प्रतियोग्यादि के साथ अभावादि का प्रतियोग्यनुयोगिभाव सम्बन्ध उसका भी देशकालविप्रकर्षरूप प्रयोजक से प्रतियोग्यादि के साथ अभावादि के तात्त्विक सम्बन्ध का अभाव उक्त अनुकूल तर्क की सहायता से ही अनुमित हो जायेगा। अर्थात् सिद्धान्ती के अनुकूल तर्क की सामग्री निर्दुष्ट व्याप्त्यादि से सुसम्पन्न होने से प्रबल है और पूर्वपक्षी के सत्प्रतिपक्ष अनुमान की सामग्री तर्क शून्य होने से दुर्बल है। अतः सत्प्रतिपक्षता नहीं बन सकती है, क्योंकि प्रबल से दुर्बल का बाध हो जाता है। इस प्रकार प्रतियोग्यादि और अभावादि में पूर्वपक्षी सम्मत जो प्रतियोग्यनुयोगिभावरूप तात्त्विक सम्बन्ध है उसका भी बाध हो जाने पर हमारे पक्ष में कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि माया तथा माया के अधीन स्थितिक अनात्ममात्र को अनिवर्चनीय कहने वाले ब्रह्मविचारक्षपितकल्मषराशिमुमुक्षुओं को ममत्व कहां हो सकता है? अर्थात् कहीं नहीं। न्यायामृतकार ने अज्ञानता के कारण ''न्यायेऽदृढेऽन्यसाम्यात्.......'' ऐसा पाठ उद्धृत किया है, जबकि आचार्यप्रवर ने ''बाधेऽदृढेऽन्यसाम्यात्....'' जो खण्डनखण्डखाद्य में मूल पाठ है। उसे ही उद्धृत किया है। ज्ञान ज्ञेय के तात्त्विक सम्बन्ध का बाधक तर्क अदृढ़ (व्याप्त्यादि रहित) नहीं है, क्योंकि देशकालविप्रकर्षाभाव सम्बन्ध का प्रयोजक निर्दुष्ट है। ज्ञान ज्ञेय में भी सम्बन्ध के प्रयोजक की अनुपलब्धि होने से सम्बन्धाभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार व्यापकानुपलब्धिरूप तर्क मूलीभूत व्याप्त्यादि से सुसम्पन्न होने के कारण तात्त्विक सम्बन्ध का बाधक दृढ़ है। प्रतियोग्यादि और अभावादि में सम्बन्ध का सर्वथा निराकरण हम नहीं करते है किन्तु तात्त्विक और आध्यासिक से भिन्न मिथ्याभूत व्यवहार काल पर्यन्त अबाधित सम्बन्ध को मानते हैं। इसलिए पूर्व में स्वक्रिया विरोधादि प्रतिकूल तर्क का परिहार भी दिखलाया जा चुका है। इस प्रकार बाध के दृढ़ होने से और सामान्यतः प्रतीयमान व्यावहारिक सम्बन्ध का निराकरण न करने से जात्युत्तरवादी (असदुत्तरवादी) से हमारी समता नहीं की जा सकती है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने ज्ञान ज्ञेय में तात्त्विक सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए खण्ड ४ में तीन अनुमान किया था। उसके उत्तर में सिद्धान्ती ने खण्ड ५ में कहा—"तात्विकसम्बन्धस्य व्यापकानुपलब्ध्या बाधात्" इस कथन पर न्यायामृत में कहा गया है कि सिद्धान्ती का उक्त उत्तर असदुत्तर (जात्युत्तर) है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती

त्वसाधककृतकत्वादौ नियमानपेक्षदर्शनमात्रेण रूपवत्त्वादिकमापाद्यते, न त्वस्माभिस्तथानियम–निरपेक्षेण साहचर्यमात्रेण किञ्चिदापाद्यते।। ८।।

न चैवं–ज्ञानज्ञेययोरपि प्रतियोग्यभावादिसमकक्ष्य एव सम्बन्धोऽस्त्विति–वाच्यम्, परस्पराध्यासात्मकसम्बन्धासम्भवेनैव सम्बन्धान्तरकल्पनात्, तत्सम्भवे तस्यैव सम्बन्धत्वात्। न च–अज्ञानविषयस्य ब्रह्मणो विषयिण्यज्ञानेऽनध्यासेन विषयस्य विषयिण्यध्यासनियमो न सिद्ध इति–वाच्यम्, एवं नियमानभ्युपगमात्, किन्तु ज्ञानाज्ञानयोरध्यास एव विषयेण सम्बन्धः। स

सत्यानन्दप्रबोधिका

कह रहे हैं कि हमारा उत्तर असदुत्तर नहीं है, क्योंकि ''शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्, घटवत्'' नैयायिक के इस स्थापनानुमान में नैयायिक के द्वारा नियम (यत्र यत्र कृतकत्त्वं तत्र तत्र अनित्यत्वम्) की अपेक्षा रखकर कृतकत्त्वरूप हेतु के द्वारा अनित्यत्व को सिद्ध किये जाने पर जात्युत्तरवादी के द्वारा यह कहा जा रहा है कि ''शब्दो यदि घटसाधर्म्येण कृतकत्वेन अनित्यः स्यात्, तर्हि घटवदेव शब्दोऽपि रूपादिमान् स्यात्।" यहां पर जात्युत्तरवादी का अनुमान है–''शब्दः रूपवान्, कृतकत्वात्, घटवत्''। यहां पर जात्युत्तरवादी ''यत्र यत्र कृतकत्वं तत्र तत्र रूपवत्त्वम्''– ऐसी व्याप्ति निर्दुष्ट है– इस बात को न सोचकर केवल नैयायिक कृत अनुमान के दृष्टान्त घट में रूपवत्ता के दर्शन मात्र से पक्ष (शब्द) में रूपवत्ता का आपादन कर रहा है किन्तु सिद्धान्त मत में हम लोगों के द्वारा जातिवादी की तरह नियम निरपेक्ष केवल दृष्टान्त को ही देखकर कुछ भी (तात्त्विकसम्बन्धाभावादि का) आपादन नहीं किया गया है अपितु सदैव व्याप्त्यादि (यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षः तत्र तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावः) के आधार पर सदुत्तर का ही प्रतिपादन किया गया है। अतः जातिवादी के साथ हमारी समानता नहीं की जा सकती है।। ८।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती जैसे प्रतियोग्यादि और अभावादि में अधिष्ठान आरोप्य में जो सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध मान रहे हैं। उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय में भी अधिष्ठान आरोप्य में जो सम्बन्ध होता है उससे भिन्न प्रकार का सम्बन्ध मानना चाहिए। मूलस्थ समकक्ष्य का अर्थ है– ''अधिष्ठानारोप्ययोर्यः सम्ब–न्धस्तदन्यः।'' इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रतियोग्यादि और अभावादि दोनों में यदि आध्यासिकसम्बन्ध मानना सम्भव होता तो आध्यासिकसम्बन्ध माना जाता किन्तु उक्त दोनों ही दृश्य कोटि में प्रविष्ट है। अतः दृश्यत्वरूपेण मिथ्या होने के कारण उन दोनों में से कोई भी अधिष्ठान नहीं बन सकता है, क्योंकि अधिष्ठान सत्य पदार्थ ही होता है। अतः उन दोनों में अन्योन्याध्यास सम्भव न होने के कारण आध्यासिक सम्बन्ध नहीं माना जाता है। अपितु आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न मिथ्याभूत व्यावहारिक सम्बन्ध माना जाता है। किन्तु ज्ञान और ज्ञेय में से ज्ञान शुद्ध रूप से सत्य पदार्थ है। अतः उसमें ज्ञेय का अध्यास सम्भव होने से ज्ञान ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध माना जाता है। जहां आध्यासिक सम्बन्ध मानना सम्भव है, वहां आध्यासिक सम्बन्ध ही माना जाता है– यही हमारा सिद्धान्त है। पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि सिद्धान्ती का यह जो नियम है कि विषय विषयी में अध्यस्त होता है। अतः उनमें आध्यासिक सम्बन्ध माना जाता है– ऐसा सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म के अज्ञान स्थल पर उक्त नियम का व्यभिचार हो रहा है। जैसे ब्रह्माज्ञान स्थल पर उक्त विषयी–ब्रह्माज्ञान है और विषय–ब्रह्म है। यहां पर विषयी अज्ञान में विषय ब्रह्म का अध्यास नहीं माना

च ज्ञाने ज्ञेयस्याज्ञेये चाज्ञानस्याध्यासादुपपद्यते। अत एवाध्यासिकसम्बन्धव्यतिरेकप्रदर्शनेऽज्ञा–नस्याज्ञेयेनेत्यनुदाहरणम्।। ९।।

ननु–श्रवणादीनां चरमसाक्षात्कारान्तानां स्वविषयेण ब्रह्मणा सम्बन्धानुपपत्तिः, न हि श्रवणादौ साक्षात्कारे वा ब्रह्माऽध्यस्तमिति–चेन्न, साक्षात्कारो हि वृत्तिर्वा? तदभिव्यक्तचैतन्यं वा? आद्ये तस्या ब्रह्मण्यध्यस्तत्वेनाज्ञानाज्ञेययोरिव सम्बन्धोपपत्तेः। अत एव श्रवणादिनापि मानसक्रियारूपेण न सम्बन्धानुपपत्तिः, द्वितीये त्वभेदेन सम्बन्धानुपयोगात्तत्सम्बन्धानुपपत्तिर्न दोषाय।

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है किन्तु विषय में ही विषयी का अध्यास माना गया है। अतः उक्त नियम के आधार पर ज्ञान ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है, इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विषय का विषयी में अध्यास होता है। हम इस नियम को नहीं मानते हैं किन्तु ज्ञान और अज्ञान इन दोनों का स्वविषय के साथ आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध होता है, यही नियम हम मानते हैं। वह आध्यासिक तादात्म्य सम्बन्ध ज्ञान में ज्ञेय के और अज्ञेय में अज्ञान के अध्यास होने से सुसम्पन्न हो जाता है। इसलिए आध्यासिक सम्बन्ध का अभाव दिखलाने में ब्रह्माज्ञान और अज्ञेय (ब्रह्म) को उदाहरण नहीं बनाया जा सकता है।। ९।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि ''ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त होता है''– ऐसा जो सिद्धान्ती का नियम है। वह व्यभिचरित है। अतः उक्त नियम को मानकर ज्ञान और ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं की जा सकती है। पूर्वपक्षी व्यभिचार स्थल को स्पष्ट करते हुए कह रहा है कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन और चरमसाक्षात्कार ये सभी ज्ञान हैं। उन सभी ज्ञानों का ज्ञेय ब्रह्म होगा, किन्तु श्रवणादि रूपज्ञान और चरम साक्षात्कार का स्वविषय ब्रह्म के साथ आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि श्रवणादिरूपज्ञान और ब्रह्म साक्षात्कारात्मक ज्ञान में ज्ञेय ब्रह्म अध्यस्त नहीं है। जब अध्यस्त ही नहीं है तब उनमें आध्यासिक सम्बन्ध हो नहीं सकता है। आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध सिद्धान्ती मानते नहीं हैं। पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म के श्रवणादिरूपज्ञान से और ब्रह्मज्ञान से अर्थात् चरमसाक्षात्कार से अन्तःकरण की वृत्ति विवक्षित है? अथवा वृत्ति में अभिव्यक्त चैतन्य? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने अन्तःकरण की वृत्ति ब्रह्म में अध्यस्त होती ही है। अतः ब्रह्म विषयक अज्ञान जैसे ब्रह्म में अध्यस्त होता है उसी प्रकार ब्रह्म विषयिणी अन्तःकरण की वृत्ति भी ब्रह्म में अध्यस्त होने से ब्रह्म और ब्रह्म विषयक वृत्ति ज्ञान में आध्यासिक सम्बन्ध की उपपत्ति हो जायेगी। श्रवणादि में विधि अङ्गीकार करने वाले श्री विवरणाचार्य के मत में श्रवणादि को वृत्ति ज्ञानरूप न मानकर मानसी क्रिया रूप माना गया है। ऐसा मानने पर भी कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि श्रवणादि रूप मानसी क्रिया ब्रह्म में अध्यस्त होती है। अतः उनमें आध्यासिक सम्बन्ध की उपपत्ति हो जायेगी। यदि ब्रह्म के श्रवणादिरूपज्ञान और ब्रह्म साक्षात्कार रूप ज्ञान से वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य का ग्रहण किया जाय तो ब्रह्म का उसके साथ अभेद हो जाने से सम्बन्धाभाव में इष्टापत्ति है, क्योंकि अभेद में कहीं पर भी सम्बन्ध माना नहीं जाता है। अर्थात् इस प्रकार की सम्बन्धानुपपत्ति दोषप्रद नहीं हो सकती है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि यदि सिद्धान्ती चरमसाक्षात्कार का ब्रह्म में अध्यास होने के कारण चरमसाक्षात्कार को ब्रह्म विषयक मानते हैं। अर्थात् जो साक्षात्कार

अत एव—चरमसाक्षात्कारस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वाद् यदि तद्विषयत्वम्, तदा घटसाक्षात्कारस्यापि ब्रह्मण्यध्यस्तत्वात्तद्विषयत्वापत्तिरिति—निरस्तम्, घटसाक्षात्कारस्य घटाभिव्यक्तचैतन्यरूपत्वे ब्रह्मण्यनध्यासात्, वृत्तिरूपत्वे तस्या ब्रह्मण्यध्यासेऽपि नाधिष्ठानभूतब्रह्मणो विषयत्वम्, ब्रह्मविष—यताप्रयोजकस्याध्यासविशेषस्य तत्राभावात्, तस्य च फलबलकल्प्यत्वात्, न हि चरमवृत्तौ ब्रह्माका—

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म में अध्यस्त है वह साक्षात्कार ब्रह्म विषयक होता है—ऐसा मानते हैं, तब घटसाक्षात्कार भी ब्रह्म में अध्यस्त है। अतः घटसाक्षात्कार को भी ब्रह्म विषयक मानना पड़ेगा घटविषयक नहीं। इस प्रकार का पूर्वपक्षी का आक्षेप भी निरस्त हो गया, क्योंकि घटसाक्षात्कार को घटावच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्यरूप मानने पर घटसाक्षात्कार ब्रह्म में अध्यस्त नहीं माना जाता है क्योंकि अभी पीछे ही कहा गया है कि अभेद में सम्बन्ध का कोई उपयोग नहीं होता है। यदि घटसाक्षात्कार से घटाकार अन्तःकरण की वृत्ति विवक्षित है तब वह वृत्ति ब्रह्म में अध्यस्त होने पर भी उसका विषय अधिष्ठानभूत ब्रह्म नहीं माना जाता है। वृत्तिनिष्ठ ब्रह्मविषयकता का प्रयोजक अध्यास विशेष है। अर्थात् "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य घटित सामग्री जन्य जो ब्रह्माकार वृत्ति, जिसमें ब्रह्म का तादात्म्यरूप अध्यास विशेष है, वह वृत्ति ब्रह्म विषयक कहलायेगी। प्रकृत में घटाकार वृत्ति "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादि वाक्य घटित सामग्री से जन्य न होने के कारण उस घटाकार वृत्ति में घटावच्छिन्नचैतन्य का तादात्म्य रूप अध्यास विशेष है, ब्रह्म का तादात्म्यरूप अध्यास विशेष नहीं है। अर्थात् घटसाक्षात्कार ब्रह्म में अध्यस्त होने पर भी घटसाक्षात्कार को घटाकारवृत्ति ही माना जायेगा, न कि ब्रह्माकारवृत्ति और घटसाक्षात्कार का विषय ब्रह्म नहीं माना जायेगा। इस पर प्रश्न होता है कि आपने यह नियम बनाया कि जिस वृत्ति में जिस पदार्थ का तादत्म्य होगा, वह वृत्ति तद्पदार्थ विषयिका होगी। अर्थात् जो महावाक्य से जन्य होने के कारण जो वृत्ति ब्रह्माकार है उसी वृत्ति का विषय ब्रह्म माना जायेगा किन्तु किस वृत्ति में किस पदार्थ का तादात्म्य है— इसका निर्धारण कैसे होगा? अर्थात् कौन वृत्ति ब्रह्माकार है? कौन वृत्ति ब्रह्माकार नहीं है? इसका समाधान कैसे होगा? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि किसी वृत्ति में किस विषय का तादात्म्य है, यह फल—अनुभव के बल पर मानना होगा। अर्थात् जैसी वृत्ति बनेगी वैसा अनुभव होगा, उसी अनुभव के आधार पर उस वृत्ति के विषय का निर्धारण होगा। चरमवृत्ति में जैसी ब्रह्माकारता अनुभूत होती है वैसी ब्रह्माकारता घटाकार वृत्ति में अनुभूत नहीं होती है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि "यत्र यत्र देशकालविप्रकर्षः तत्र तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावः" ऐसी व्याप्ति मानने पर इच्छा के साथ अपने भावी इष्यमाण विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए, क्योंकि उन दोनों में देशकाल विप्रकर्ष है किन्तु इच्छा और इष्यमाण विषय के साथ विषयविषयिभावरूप तात्त्विक सम्बन्ध माना जाता है। अतः देशकाल विप्रकर्ष होने पर भी जैसे इच्छा और इष्यमाण पदार्थ में तात्त्विक सम्बन्ध माना जाता है ठीक उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में भी देश काल विप्रकर्ष के रहने पर भी तात्त्विक सम्बन्ध मानना चाहिए। यद्यपि इस का समाधान खण्ड सप्तम में दिया जा चुका है। तथापि प्रकारान्तर से सिद्धान्ती पुनः समाधान दे रहे है। सिद्धान्ती का कथन है कि इच्छा का विषय वही होता है जो ज्ञान का विषय होता है। अर्थात् इच्छा का विषय ज्ञान के अधीन है। जैसे घट ज्ञान से घट की इच्छा होती है न कि मठ ही इच्छा होती है। इसलिए ज्ञान का ज्ञेय के साथ जो सम्बन्ध है

रतावदत्राऽपि साऽनुभूयते, इच्छेष्यमाणयोस्तु ज्ञानद्वारक एव सम्बन्ध इति न पृथक्सम्बन्धापेक्षा।। १०।।

न च ज्ञाने सन्निकर्षाधीनस्येव स्मृतावनुभवाधीनस्येवेच्छायां ज्ञानाधीनस्य विषयसम्बन्धस्यानुभवात् सन्निकर्षादिभ्यो भिन्न इव ज्ञानाद् भिन्न एव सम्बन्धो वक्तव्य इति वाच्यम्। सम्बन्धानुभवस्य ज्ञानद्वारकसम्बन्धेनाप्युपपत्तेरतिरिक्तसम्बन्धकल्पने मानाभावात्, ज्ञानाधीनसम्बन्धान्तरस्याननुभवात्। ज्ञाने त्विन्द्रियसन्निकर्षादिना न सम्बन्धानुभवोपपत्तिः, इन्द्रियसन्निकर्षादीना–

सत्यानन्दप्रबोधिका

वही सम्बन्ध इच्छा और इष्यमाण पदार्थ में भी होता है। अतः इच्छा और इष्यमाण पदार्थ में पृथक सम्बन्ध मानने की आवश्यकता नहीं है।। १०।।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का उठा रहा है कि जिस विषय के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होता है, उसी विषय के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का अनुभव होता है। अतः ज्ञान के साथ विषय का सम्बन्ध सन्निकर्षाधीन है– ऐसा अनुभव होता है (''घटस्य ज्ञानम्'' अथवा ''अयं पटः'' इत्यादि जो अनुभव है, यही घटादि के साथ ज्ञान के सम्बन्ध का अनुभव है।) ऐसा होने पर भी इन्द्रिय का विषय के साथ जो संयोगादि सन्किर्ष है वही सम्बन्ध ज्ञान के साथ विषय का है– ऐसा सिद्धान्ती नहीं मानते हैं किन्तु संयोगादि सम्बन्ध से भिन्न ही आध्यासिक सम्बन्ध ज्ञान ज्ञेय में मानते हैं। इसको दृष्टान्त बनाकर पूर्वपक्षी कह रहा है कि इसी प्रकार इच्छा के साथ विषय का जो सम्बन्ध ज्ञानाधीन होने पर भी इच्छा के साथ विषय के ज्ञानाधीन सम्बन्ध (आध्यासिक सम्बन्ध) से भिन्न ही विषयविषयिभावरूप वास्तविक सम्बन्ध ा मानना चाहिए। इसमें दूसरा दृष्टान्त देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्मृति के साथ विषय का सम्बन्ध अनुभवाधीन है। अर्थात् पहले अनुभव का विषय के साथ सम्बन्ध होता है। इसके पश्चात् उसी विषय के साथ स्मृति का सम्बन्ध होता है। स्मृति का विषय के साथ सम्बन्ध है– स्वजनकानुभवविषयत्वम्। यह सम्बन्ध अनुभव और विषय के सम्बन्ध से भिन्न है। ठीक इसी प्रकार ज्ञान और विषय के आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न इच्छा और विषय का विषयविषयिभावरूप तात्त्विक सम्बन्ध होगा। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जैसे सन्निकर्षादि से उत्पन्न होने वाले ज्ञानादि का स्वविषयों के साथ सन्निकर्षादिं से अतिरिक्त आध्यासिक सम्बन्ध सिद्धान्ती मानते हैं। उसी प्रकार ज्ञानाधीन होने वाली इच्छा के साथ भी विषय का ज्ञानज्ञेय सम्बन्ध (आध्यासिक सम्बन्ध) से भिन्न विषयविषयिभावरूप तात्त्विक सम्बन्ध मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''अहं घटमिच्छामि'' इस प्रकार इच्छा और इष्यमाण के जिस सम्बन्ध का अनुभव हो रहा है, उस सम्बन्ध की सिद्धि घटविषयकज्ञानजन्यत्वरूपज्ञानद्वारकसम्बन्ध को मानकर जब हो जाती है तब इच्छा और इष्यामाण के साथ ज्ञान ज्ञेय के सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध (विषयविषयिभावरूप वास्तविक सम्बन्ध) की कल्पना करने में कोई भी प्रमाण नहीं है। एवं इच्छा और इष्यमाण में ज्ञानाधीनसम्बन्ध (आध्यासिक सम्बन्ध) से भिन्न सम्बन्ध (विषयविषयिभावरूपसम्बन्ध) भी नहीं होता है, क्योंकि इच्छा और इष्यमाण में ज्ञानाधीन सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध का अनुभव ही नहीं होता है। ज्ञान में इन्द्रिय सन्निकर्षादि के द्वारा ज्ञान ज्ञेय के सम्बन्ध की अनुभूति उपपन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि इन्द्रिय सन्निकर्ष अतीन्द्रिय होता है। इसलिए उसकी उपस्थिति प्रत्यक्ष से न होकर अनुमित्यादि से होती है, ऐसा मानना होगा। जबकि अनुमित्यादि के द्वारा इन्द्रिय सन्निकर्षोपस्थिति के बिना ही ''घट ज्ञानम्'' इस प्रकार से ज्ञान में विषय का सम्बन्ध अनुभूत होता है। इसलिए ज्ञानज्ञेय के सम्बन्ध को इन्द्रिय सन्निकर्षादि से भिन्न

मतीन्द्रियत्वेन तेषामनुमित्यादिनोपस्थितिं विनैव घटज्ञानमित्यादि सम्बन्धानुभवात्। स्मृत्तौ त्वनुभवाधीनसम्बन्धस्य शङ्कैव नास्ति, अनुभवस्य तदानीमसत्त्वात्, उभयोरपि ज्ञानत्वेन तुल्यवदेव सम्बन्धसम्भवाच्च।। ११।।

न च—समूहालम्बनजन्यैकविषयेच्छायामुभयविषयत्वापत्तिः, जनकज्ञानस्योभयविषय—त्वादिति वाच्यम्, अतिरिक्तसम्बन्धपक्षेऽपि तुल्यत्वात्। अथैकविषयावच्छेदेनैव ज्ञानस्य जनकत्वा

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानना पड़ता है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि स्मृति के साथ स्मर्यमाण के सम्बन्ध का जो अनुभव (घटं स्मरामि) होता है। वह अनुभवाधीन सम्बन्ध का अनुभव है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''घटं स्मरामि'' ऐसा जो अनुभव है। वह अनुभवाधीन सम्बन्ध का अनुभव नहीं हो सकता है, क्योंकि ''घटं स्मरामि'' इस काल में अथवा उसके अव्यवहितपूर्वकाल में अनुभव (घट का अनुभव) विद्यमान नहीं है। अर्थात् जो अनुभव स्मृति काल में विद्यमान ही नहीं है, वह अनुभव स्मृति और स्मर्यमाण के सम्बन्ध के रूप से भासित नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन था कि स्मृति और स्मर्यमाण में जो सम्बन्ध है वह ज्ञान ज्ञेय के सम्बन्ध से भिन्न है— पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि स्मृति और अनुभव दोनों ज्ञानत्वेन समान हैं। अतः दोनों का विषय के साथ एक ही प्रकार का सम्बन्ध (आध्यासिक सम्बन्ध) होगा।। ११।।

सिद्धान्ती ने ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध को ही इच्छा और इष्यमाण का सम्बन्ध माना था। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ''घट इष्टसाधनं पटो मेयः'' इत्याकारक समूहालम्बन ज्ञान के पश्चात् होने वाली केवल घट की इच्छा (घटो मे भूयात्) में घट और पट—उभयविषयकत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि इच्छा का जनकीभूत समूहालम्बन ज्ञान उभय विषयक है। अर्थात् समूहालम्बन ज्ञान का विषय घट पट के साथ सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध इच्छा का भी होगा जबकि केवल घट की इच्छा हो रही है। अतः ज्ञान ज्ञेय का सम्बन्ध ही इच्छा और इष्यमाण का सम्बन्ध होने से घट इच्छा के साथ घट पट दोनों का ही सम्बन्ध होगा। अर्थात् घटेच्छा का विषय घट और पट दोनों को ही मानना पड़ेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ज्ञान ज्ञेय के आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न इच्छा और इष्यमाण में विषयविषयिभाव सम्बन्ध को मानने वाले पूर्वपक्षी के मत में भी इच्छा और इष्यमाण के सम्बन्ध को ज्ञानाधीन मानते हैं। अर्थात् इच्छाजनक ज्ञानीय विषयता जिसमें रहती है उसी में इच्छा विषयता रहती है— ऐसा पूर्वपक्षी भी मानता है। इसलिए दोनों पक्षों में समानरूप से यह दोष विद्यमान होने के कारण एक ही पक्ष को दोष से दूषित नहीं किया जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि समूहालम्बनज्ञान घट पट उभयविषयक है किन्तु उभयविषयावच्छिन्नत्वेन समूहालम्बन ज्ञान में घट इच्छा के प्रति जनकता नहीं है। अपितु एक (घट) विषयावच्छेदेन समूहालम्बनज्ञान में इच्छा के प्रति जनकता है। अतः इच्छा का विषय वही होगा जो ज्ञानीयजनकता का अवच्छेदकीभूत विषय होगा और उक्त ज्ञान का विषय के साथ जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध इच्छा और इष्यमाण में होगा। इस प्रकार से इच्छा में उभयविषयकत्वापत्ति द्वैतमत से नहीं होगी। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से हम भी समाधान दे देंगे, क्योंकि स्वजनकतावच्छेदक विषयत्वरूप सम्बन्ध से उक्त ज्ञान में इच्छा के प्रति जनकता है। अतः उक्त जनक ज्ञान स्थल पर इच्छा का इष्यमाण के साथ स्वजनकतावच्छेदक विषयत्वरूप ही सम्बन्ध होता है। अर्थात्

न्नोभयविषयत्वं, समं ममाऽपि, जनकज्ञाने जनकतावच्छेदकविषयत्वस्यैव सम्बन्धत्वात्। न च नित्येश्वरेच्छाया विषयसम्बन्धानुपपत्तिः, तस्या अस्माभिरनङ्गीकारात्, तार्किकाणामपि तत्सा–धकमानबलेन विलक्षणसम्बन्धकल्पनेऽपि जन्यज्ञानजन्येच्छयोरुक्तप्रकारणैव विषयताभ्युपगमात्। न च–पुत्रादिधीजन्यसुखादेः पुत्रादिविषयत्वापत्तिः, इच्छान्यायादिति–वाच्यम्, वैषम्यात्। ज्ञानस्य समानत्वेऽपि इच्छादावेव सविषयत्वप्रतीतिः, न तु सुखादौ। वस्तुस्वाभाव्यात् त्वयाप्यस्यैवार्थस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

इच्छा का स्वविषय के साथ स्वजनक ज्ञान विषयत्व को सम्बन्ध न मानकर स्वजनकतावच्छेदक विषयत्व को सम्बन्ध के रूप से स्वीकार किया जाता है। ऐसा स्वीकार करने पर घटेच्छा स्थल पर घटेच्छा की ज्ञाननिष्ठ जनकता का अवच्छेदक घट विषयकत्व है, पट विषयकत्व नहीं। इसलिए उक्त इच्छा में पट विषयकत्वापत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि इच्छा और इष्यमाण में जन्य–जनक भाव से घटित सम्बन्ध (स्वजनकतावच्छेदकविषयत्व) को मानने पर ईश्वर की नित्य इच्छा के साथ विषय का सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि जब सम्बन्ध घटक स्वपद से ईश्वर की नित्य इच्छा लेंगे तब उसका जनक कोई मिलेगा ही नहीं। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि सिद्धान्त मत में ब्रह्म को छोड़कर किसी को भी नित्य नहीं माना जाता है। अतः ईश्वरीय इच्छा को नित्य मान कर सिद्धान्त पक्ष में दोष नहीं दिया जा सकता है। प्रश्न होता है कि आप ईश्वर इच्छा को नित्य नहीं मानते हैं किन्तु जो लोग ईश्वर इच्छा को नित्य मानते हैं उनके मत में नित्य इच्छा के साथ विषय के सम्बन्ध की व्यवस्था कैसे बनेगी? उनके मत में तो नित्य इच्छा और इष्यमाण का सम्बन्ध इच्छाजनक ज्ञानघटित सम्बन्ध से भिन्न विषयविषयिभाव सम्बन्ध ही मानना पड़ेगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ईश्वरीय इच्छा को नित्य मानने वाले तार्किक गण ईश्वरीय नित्य इच्छा साधक प्रमाण के बल पर स्वजनकज्ञानविषयत्वरूप सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध को नित्य इच्छा और इष्यमाण में यद्यपि मान सकते हैं। परन्तु जन्यज्ञान से जन्य इच्छा का तो इष्यमाण के साथ स्वजनकज्ञानविषयत्व रूप सम्बन्ध ही तार्किकगण भी स्वीकार करते हैं। स्वपद से जन्य इच्छा और ज्ञानपद से जन्य ज्ञान लेना है। प्रश्न होगा कि ईश्वर की नित्य इच्छा और इष्यमाण में क्या सम्बन्ध होगा? इसका समाधान यह है कि नित्य इच्छा और इष्यमाण में सम्बन्ध होगा तत्समानाधिकरणज्ञानीयं सर्वविषयत्वम्''। सम्बन्ध घटक तत् पद से नित्य–इच्छा का ग्रहण किया गया है। इस प्रकार जन्य इच्छा और नित्य–इच्छा सभी का इष्यमाण के साथ ज्ञान द्वारक सम्बन्ध मानने से ही जब काम चल जाता है तब उस सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्ध इच्छा और इष्यमाण में मानना अनुचित होगा। पूर्वपक्षी पुनः अतिप्रसङ्ग देते हुए कह रहा है कि ज्ञान से जन्य जैसे इच्छा है वैसे ही ज्ञान से जन्य सुख भी है। अतः सिद्धान्ती के मतानुसार जैसे इच्छा का विषय वही होता है जो इच्छा के जनक ज्ञान का विषय होता है। इसी न्याय के आधार पर ज्ञान से जन्य सुख का विषय वही होना चाहिए जो सुख के जनक ज्ञान का विषय है। जैसे पुत्र ज्ञान से जन्य सुख है। अतः सुख का विषय पुत्र होना चाहिए। जबकि सुख निर्विषयक माना जाता है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि इच्छा और सुख में विषमता है, क्योंकि इच्छा और सुख दोनों ही ज्ञान से जन्य होने पर भी इच्छादि में सविषयत्व की प्रतीति होती है और सुखादि में नहीं। अतः इच्छा का न्याय सुख के ऊपर नहीं लगाया जा सकता है।

वक्तव्यत्वात्। अन्यथा स्फटिके जपाकुसुमसन्निधानाल्लौहित्यवल्लोष्टेऽप्यापद्येत। अथ धर्मे तात्पर्यस्यानध्यासात्तात्पर्यसम्बन्धो न स्यात्, न, तात्पर्यं हि तत्प्रतीत्युद्देश्यकत्वम्, प्रतीतेश्च ज्ञेयान्तरेणेव धर्मेणाऽपि सम्बन्धोऽध्यास एव, प्रतीतिद्वारा च धर्मतात्पर्ययोः सम्बन्ध इत्यनुपपत्त्यभावात्।। १२।।

न च ज्ञानस्य प्रकाशत्वेन प्रदीपसाम्येऽपि आन्तरत्वेन तद्वैलक्षण्यमङ्गीकर्तव्यम्, अत इच्छादिवद्विप्रकृष्टेनापि सम्बन्धः स्यात्, अन्यथा प्रदीपवदेवाध्यासिकसम्बन्धोऽपि न स्यात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

वस्तुस्वभाव के आधार पर यह जो व्यवस्था सिद्धान्ती के द्वारा प्रस्तुत की गयी है उस व्यवस्था को पूर्वपक्षी को भी अवश्य मानना चाहिए। अन्यथा जपाकुसुम के सम्पर्क से स्फटिक में जैसे लौहित्य की प्रतीति होती है ठीक वैसे ही जपाकुसुम के सम्पर्क से लोष्ठ में भी लौहित्य की प्रतीति की आपत्ति होगी। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि वैदिक धर्म में तात्पर्य का अध्यास नहीं होता है, क्योंकि सिद्धन्तमत में ब्रह्म में ही सभी व्यावहारिकादि पदार्थों का अध्यास माना जाता है। अतः धर्म के साथ तात्पर्य का आध्यासिक सम्बन्ध नहीं होगा। आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्धान्ती मानते नहीं है। अतः धर्म के साथ तात्पर्य का कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पायेगा। ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि तात्पर्य का अर्थ होता है—तत्प्रतीति उद्देश्यकत्व अर्थात् धर्मविषयक प्रतीति जनकत्व । कहने का आशय यह है कि वेद का धर्म में तात्पर्य है—इसका अर्थ यह है कि धर्म विषयक प्रतीति का जनक वेद है। अतः वेदतात्पर्य के साथ धर्म का प्रतीतिघटित सम्बन्ध है और प्रतीति (ज्ञान) में जैसे घट का आध्यासिक सम्बन्ध होता है उसी प्रकार ज्ञान में धर्म का भी आध्यासिक सम्बन्ध होने से तात्पर्य के साथ धर्म का भी ज्ञानद्वारक आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। इसलिए किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।। १२।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि ज्ञान का प्रकाशत्वेन प्रदीप के साथ साम्य होने पर भी ज्ञान में आन्तरत्व है और प्रदीप में बाह्यत्व है। इसलिए दोनों के भेद को भी अङ्गीकार करना चाहिए। दोनों में भेद स्वीकार कर लेने पर इच्छादि के जैसे ज्ञान का भी विप्रकृष्ट पदार्थ के साथ तात्त्विकसम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् पूर्वपक्षी का आशय यह है कि ''यत्र यत्र तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः'' सिद्धान्ती की इस व्याप्ति को बाह्यप्रकाश के साथ सम्बन्ध और आन्तर प्रकाश के साथ सम्बन्ध दोनों में समन्वय नहीं किया जाता है। अपितु ''यत्र यत्र बाह्यप्रकाशेन तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः'' ऐसी ही व्याप्ति माननी चाहिए। इसलिए आन्तर तात्त्विक सम्बन्ध (ज्ञान—इच्छादि का विषय के साथ सम्बन्ध) का व्यापक देशकालविप्रकर्ष भी हो सकता है। प्रदीप के जैसे ज्ञान का विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध मानने पर प्रदीप का जैसे स्वविषय के साथ आध्यासिक सम्बन्ध नहीं होता है वैसे ही ज्ञान का भी स्वविषय के साथ आध्यासिक सम्बन्ध नहीं होगा। अतः पूर्वपक्षी के मतानुसार यह व्याप्ति होगी—"यत्र यत्र आन्तरप्रकाशेन तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षः"। इस व्याप्ति में पूर्वपक्षी दृष्टान्त देते हुए कह रहा है कि परोक्षवृत्ति (अतीतादि पदार्थों की अनुमिति) में देशकालविप्रकर्ष भी है और अतीतपदार्थ तथा अनुमितिज्ञान में तात्त्विक सम्बन्ध भी है। अर्थात् पूर्वपक्षी यह अनुमान

परोक्षवृत्तौ विप्रकृष्टसम्बन्धदर्शनाच्चेति—वाच्यम्, देशकालविप्रकर्षाभावस्य सम्बन्धसामान्यप्रयोजकत्वे सम्भवत्यान्तरप्रतियोगिकसम्बन्धभिन्नसम्बन्ध एवास्य प्रयोजकत्वमिति कल्पनाबीजाभावात्। इच्छायास्तु नेष्यमाणेन साक्षात्सम्बन्धः, किन्तु ज्ञानद्वारकः परम्परासम्बन्ध एवेत्युक्तम्। परोक्षस्थले तु यद्यप्यधिष्ठानचैतन्येन साक्षादेव सम्बन्धः, तथापि विषयाकारवृत्त्या साक्षात्सम्बन्धाभावाद् वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन विषयस्य परम्परासम्बन्ध एव।। १३।।

ननु—तवापि मते ज्ञेयस्य न स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वनियमः, अनध्यस्तस्य तुच्छस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

करना चाहता है कि "ज्ञानं प्रकाश्यप्रतियोगिकाध्यासिकसम्बन्धाभाववत्, प्रकाशत्वात्, प्रदीपवत्।" इसलिए ज्ञान का अपने सन्निहितासन्निहित विषय के साथ तात्त्विक विषयविषयिभाव सम्बन्ध मानना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जब आन्तरप्रतियोगिक और बाह्यप्रतियोगिक उभयसाधारण सम्बन्ध का प्रयोजक देशकालविप्रकर्षाभाव को मानना सम्भव है तब आन्तरप्रतियोगिकसम्बन्ध से भिन्न बाह्य प्रतियोगिक सम्बन्ध में ही देशकालविप्रकर्षाभाव को प्रयोजक मानना उचित नहीं है। अर्थात् बाह्यान्तरसम्बन्धभेद से प्रयोजक के भेद की कल्पना करने पर गौरव होगा और इस कल्पना में कोई प्रमाण भी नहीं है। इच्छा का इष्यमाण के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है किन्तु ज्ञान द्वारक परम्परा सम्बन्ध होता है। यह कहा जा चुका है। परोक्ष स्थल मे यद्यपि अधिष्ठान चैतन्य के साथ विषय का साक्षात् सम्बन्ध है तथापि बाह्य विषयाकार अन्तःस्थपरोक्षवृत्ति के साथ बाह्य विषय का साक्षात् सम्बन्ध न होने से वृत्यावच्छिन्न चैतन्य के साथ विषय का परम्परा ही सम्बन्ध है। अर्थात् सभी विषय अधिष्ठान चैतन्य में अध्यस्त है किन्तु अधिष्ठान चैतन्य को परोक्ष ज्ञान नहीं कहते हैं। इसलिए परोक्षज्ञान से विषय का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परोक्षवृत्ति विषय देश पर जाकर बनती नहीं है। अपितु अन्तःकरण में बनती है जबकि विषय बाहर है। इसलिए परोक्षवृत्ति और विषय में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है किन्तु परोक्षवृत्यवच्छिन्न चैतन्य को परोक्षज्ञान कहते हैं। उस परोक्ष ज्ञान का विषय के साथ परम्परासम्बन्ध है। यहां पर परम्परासम्बन्ध है— स्वावच्छेदकवृत्तिविषयत्व। स्व—वृत्यवच्छिन्नचैतन्य, उसका अवच्छेदक—वृत्ति, उसका विषयत्व वह्नि आदि विषय में है ।। १३।।

''यत्र यत्र ज्ञेयत्वं तत्र तत्र स्वज्ञानेऽध्यस्तत्त्वम्'' यह जो व्याप्ति सिद्धान्ती की है। इसमें पूर्वपक्षी व्यभिचारदोष दे रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में भी ज्ञेय पदार्थ स्वज्ञान में अध्यस्त ही होता है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि बन्ध्यासुतादि तुच्छ पदार्थों का उनके शब्द जन्य ज्ञान में अध्यास सिद्धान्ती भी नहीं मानते हैं, क्योंकि तुच्छपदार्थ मिथ्या नहीं है। अतः तुच्छ का ज्ञान होने पर भी उस ज्ञान में तुच्छ अध्यस्त नहीं होगा, क्योंकि मिथ्यापदार्थ ही अध्यस्त होता है। इसी प्रकार पञ्चम प्रकार अविद्यानिवृत्ति अर्थात् सत् या असत् या सदसत् उभय या सदसत् उभय से भिन्न (मिथ्या) इन चार कोटियों से भिन्न पञ्चम प्रकार अविद्यानिवृत्ति मिथ्या न होने से, वह अपने ज्ञान में अध्यस्त नहीं हो सकती है। इसी प्रकार भावाद्वैत मत में प्रपञ्चाभाव भी एक पदार्थ है। वह पारमार्थिक है किन्तु अदृक् रूप है। अर्थात् ब्रह्मरूप नहीं माना जाता है। इस मत में अभाव पदार्थ को लेकर द्वैतापत्ति इसलिए नहीं होती है, क्योंकि इस मत में भाव पदार्थ में ही अद्वैत माना जाता है। इस प्रकार प्रपञ्चाभाव पारमार्थिक होने के कारण मिथ्या नहीं है। इसलिए वह अपने ज्ञान में अध्यस्त नहीं होगा। अपरोक्ष एक रस जो ब्रह्म उस

पञ्चमप्रकारत्वपक्षेऽविद्यानिवृत्तेर्भावाद्वैतपक्षेऽभावस्य चाऽद्यग्रूपत्वेऽपि स्वज्ञानेऽनध्यासात्, अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्य व्यावहारिकस्यातीतादेर्नित्यातीन्द्रियस्य च परोक्षानुभवरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, स्मर्यमाणस्य च स्मृतिरूपे स्वज्ञानेऽनध्यासात्, प्रातिभासिकस्य च प्रातिभाकसिके स्वज्ञानेऽनध्यासात्, त्वन्मते भ्रमरूपज्ञानस्यापि कल्पितत्वादिति—चेत्, मैवम्, तुच्छस्याज्ञेयत्वेन ज्ञानेऽध्यासाभावात्, ज्ञेयस्य हि ज्ञानेऽध्यासः, तुच्छस्य तु न ज्ञेयतेत्यग्रे वक्ष्यते। पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तेरपि प्रतियोग्यधिकरणे ध्वंसस्यापि तत्र वृत्तेरवश्यम्भावादध्यास एव सम्बन्धः। वस्तुतस्त्वविद्यानिवृत्तेः पञ्चमप्रकारत्वञ्च भावाद्वैतञ्चानभ्युपगमपराहतम्। यथा चाविद्यानिवृत्तेर्ब्रह्मरूपत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

ब्रह्म में अध्यस्त समस्त प्रपञ्चान्तर्गत जो व्यावहारिक अतीतादि पदार्थ और नित्यातीतिन्द्रिय धर्मादि पदार्थ उसका परोक्षानुभवरूपस्वज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता है, क्योंकि नित्यातीन्द्रिय धर्मादि पदार्थ ब्रह्म में अध्यस्त है। ऐसा स्वीकार करने पर धर्मादि के प्रत्यक्ष ज्ञान के होने की आपत्ति होगी क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्षज्ञानस्वरूप है, न कि परोक्षज्ञानस्वरूप। इसी प्रकार स्मर्यमाण पदार्थ का अपने स्मृतिरूपज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता है, क्योंकि सभी पदार्थ ब्रह्म में अध्यस्त हैं। इसी प्रकार प्रातिभासिक पदार्थ का प्रातिभासिकरूप स्वज्ञान में अध्यास नहीं माना जाता है, क्योंकि सिद्धान्त मत में भ्रम रूप ज्ञान को कल्पित (मिथ्या) माना जाता है। अत: वह प्रातिभासिक पदार्थ के अध्यास का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्थलों पर सिद्धान्ती के उक्त नियम का व्यभिचार होने से ज्ञान का अपने विषय के साथ आध्यासिकसम्बन्ध अव्यभिचरित सिद्ध नहीं होता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्य प्रवर कह रहे हैं कि तुच्छ शशश्रृङ्गादि ज्ञेय ही नहीं है। अत: ज्ञेय न होने के कारण उसका ज्ञान में अध्यास होता ही नहीं है। हम ज्ञेय का ज्ञान के साथ नियमत: आध्यासिक सम्बन्ध मानते हैं। तुच्छ में ज्ञयेता नहीं है— यह खण्ड २० में ''दृक्सम्बन्धरूपस्य दृश्यत्वरूप तुच्छत्वविरोधिनस्तत्राभावात्.....'' इत्यादि रूप से कहा गया है। इसी प्रकार ''अनिर्वचनीयत्वेऽर्थापत्तिप्रमाणविचार:'' के प्रसङ्ग में भी कहा गया है— ''प्रतीत्यभावेऽपि असन्नृश्रृङ्गमिति विकल्पमात्रेणैव सर्वोपपत्ते:।'' पञ्चम प्रकार अविद्या निवृत्ति (ध्वंस) भी उक्त अविद्या ध्वंस के प्रतियोगी अविद्या के अधिकरण ब्रह्म में ही रहता है, क्योंकि सभी ध्वंस नियमत: प्रतियोगी के अधिकरण में ही रहते हैं। इस प्रकार अविद्या निवृत्तिरूप ध्वंस भी अविद्या के आश्रयीभूत शुद्धचेतन में रह जाने से अविद्या निवृत्ति का शुद्ध चैतन्य के साथ आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् असङ्ग होने के कारण शुद्ध चैतन्य के साथ किसी का भी पारमार्थिक सम्बन्ध हो नहीं सकता। वस्तुत: अविद्या की निवृत्ति का पञ्चम प्रकारत्व और भावाद्वैत पक्ष के अनभ्युपगम (अस्वीकार) मात्र से पूर्वपक्षी के द्वारा अविद्या निवृत्ति के पञ्चम प्रकारत्व और भावाद्वैत मत से दिये गये दोष खण्डित हो गये। अविद्या निवृत्ति ब्रह्म स्वरूप है और सर्वाद्वैत है—यह सभी आगे चतुर्थ परिच्छेद के प्रारम्भ में कहा जायेगा। इष्टसिद्धिकारादि के द्वारा प्रतिपादित अज्ञान निवृत्ति के जो पञ्चम प्रकारादि पक्ष है, वे केवल मन्द अधिकारियों के लिए ही है— यह चतुर्थ परिच्छेद के अविद्या निवृत्ति के निरूपण के समाप्ति के अवसर पर स्वयं ही आचार्यप्रवर कहेंगे—''ये तु पञ्चम प्रकारादिपक्षा:, ते तु मन्दबुद्धिव्युत्पादनार्था इति न तत्समर्थनमर्थयाम:।'' अपरोक्ष तथा एक रस जो ब्रह्म है, उस ब्रह्म में अध्यस्त अतीतादि पदार्थ अपने अनुमित्यादिरूपज्ञान में अध्यस्त न होने पर भी जिस ब्रह्म चैतन्य में अतीतादि

सर्वाद्वैतञ्च तथोपरिष्टाद्वक्ष्यते। अपरोक्षैकरसे ब्रह्मण्यध्यस्तस्यातीतादेरनुमित्यादिरूपज्ञानेऽनध्यासेऽपि यस्मिंश्चैतन्ये तदध्यस्तं तदेव चैतन्यमनुमित्यादिरूपवृत्त्यवच्छिन्नमिति नाध्यासानुपपत्तिः। अतिप्रसङ्गपरिहारार्थं चैतन्यस्य विषयसम्बन्धे वृत्त्युपरागापेक्षायामपि नाधिष्ठानत्वे तदपेक्षा। एवमेव नित्यपरोक्षस्थले स्मृतिस्थलेऽपि प्रातिभासिकस्य प्रातिभासिक्यां वृत्तावनध्यासेऽप्य- धिष्ठानविषयकवृत्त्यभिव्यक्तचैतन्य एवाध्यास इति न काप्यनुपपत्तिः।। १४।।

न च—रूप्यादिकमिदमंशावच्छिन्नचैतन्येऽध्यस्तम्, भासते चाविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित-

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

पदार्थ अध्यस्त है वही चैतन्य अनुमित्यादिरूपवृत्ति से अवच्छिन्न होता है। इस प्रकार से चैतन्य में ही अतीतादि पदार्थ के अध्यस्त होने से अध्यास और आध्यासिक सम्बन्ध की अनुपपत्ति नहीं होगी। सभी विषय का चैतन्य में अध्यास मात्र से प्रकाश मानने पर सभी विषयों का सभी पुरुषों को सर्वदा भान होने लगेगा, इस अतिप्रसङ्ग के परिहार के लिए और सभी पुरुषों को कभी कोई ही विषय ज्ञान का कर्म बने इस व्यवस्था के लिए चैतन्य के द्वारा विषय के प्रकाश के लिए विषयाकारवृत्ति की अपेक्षा होती है किन्तु चैतन्य को अधिष्ठान बनने के लिए वृत्ति की अपेक्षा नहीं होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि चैतन्य में दो उपाधियां रहती हैं— विषयप्रकाशकत्व और विषयाधिष्ठानत्व। विषयप्रकाशकत्व में वृत्ति की अपेक्षा होने पर भी विषयाधिष्ठानत्व में नहीं है, क्योंकि वृत्ति के उदय के पहले से ही चैतन्य में विषय का अध्यास है। इसी प्रकार नित्य परोक्ष स्थल पर नित्यपरोक्ष धर्मादिपदार्थ नित्य परोक्ष विषयक अनुमित्यादिरूपज्ञान में अध्यस्त न होने पर भी जिस ब्रह्मचैतन्य में वे अध्यस्त है वहीं चैतन्य अनुमित्यादिरूपवृत्ति से अवच्छिन्न होने के कारण उनमें अध्यास और आध्यासिक सम्बन्ध की उपपत्ति हो जाती है। इसी प्रकार स्मृतिज्ञान में स्मृति ज्ञान के विषय अध्यस्त न होने पर भी उनका स्मृत्यादिरूपवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त चैतन्य में अध्यास होता है। एवं शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक पदार्थ रजताद्याकाराविद्यावृत्ति में अध्यस्त न होने पर भी अधिष्ठान विषयकवृत्ति में अर्थात् इदमाकाराधिष्ठान विषयक अन्तःकरण की वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त चैतन्य में प्रातिभासिक पदार्थ अध्यस्त है। अतः किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति न होने से सिद्धान्ती के द्वारा प्रदर्शित ज्ञानज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध है, इस पूर्वोक्त नियम में व्यभिचार नहीं है।। १४।।

पूर्वपक्षी दोषान्तर का उद्भावन करते हुए कह रहा है कि शुक्तिरजतादि प्रातिभासिक पदार्थ इदमंशावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त है और अविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होते हैं। अतः विषयिज्ञान में विषय अध्यस्त है, यह नहीं माना जा सकता है। अर्थात् जिस चैतन्य के द्वारा विषय का भान (प्रकाशन) होता है उसी को विषयी या ज्ञान शब्द से कहा जाता है। अतः रजतज्ञान शब्द से रजताकाराविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ही लिया जायेगा, किन्तु रजत जो है वह रजताकाराविद्यावृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य में अध्यस्त नहीं है। अपितु इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त है। अतः रजतज्ञान में रजत विषय का अध्यास सिद्ध न होने से ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त होता है, ऐसा जो सिद्धान्ती का नियम है— वह भङ्ग हो गया। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दो उपाधियां एक ही देश में होने पर ये उपाधियां चैतन्य के भेद का कारण नहीं बनती हैं। अपितु भिन्न भिन्न देशस्थ उपाधियां ही चैतन्य के भेद का कारण होती है। जैसे मठावच्छिन्न आकाश और मठान्तर्गत घटावच्छिन्न आकाश इन दोनों की मठ और

चैतन्येनेति विषयिणि ज्ञाने विषयस्याध्यासः कथमिति—वाच्यम्; एकावच्छिन्न एवापरावच्छेदेन निरपेक्षोपाधेरिवात्र भेदकत्वाभावात्। अत एव अभियुक्तैः फलैक्यादैक्यं ज्ञानस्योच्यते। न च—रूप्यादेः स्वज्ञानेऽध्यस्तत्वे रूप्यज्ञानस्याज्ञाने भ्रमोत्पत्तिस्तज्ज्ञानेन तन्निवृत्तिरिति च स्यात्, अधिष्ठानाज्ञानज्ञानाभ्यामध्यासस्य जन्मनिवृत्त्योर्नियतत्वात्, ज्ञानं रजतमिति प्रतीतिप्रसङ्गाच्चेति—वाच्यम्; रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यस्य रजतभ्रमाधिष्ठानत्वानभ्युपगमात्, इदमंशावच्छिन्नचै—

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट उपाधियां एक देशस्थ होने के कारण आकाश के भेद का कारण नहीं बनती है। इसको व्यतिरेक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं—''निरपेक्षोपाधेरिव'' अर्थात् भिन्न देशस्थ घटावच्छिन्न आकाश का मठावच्छिन्न आकश से भेद होता है, क्योंकि दोनों उपाधियां भिन्न भिन्न देश में स्थित हैं। प्रकृत में एक (शुक्ति का इदमंशरूप उपाधि) के द्वारा अवच्छिन्न (उपहित) चैतन्य अर्थात् इदमवच्छिन्नचैतन्य ही, अपरावच्छेदेन—अविद्या वृत्ति रूप उपाधि के द्वारा उपहित होने से, वे दो उपाधियां चैतन्य का भेदक नहीं होती है। अर्थात् प्रातिभासिक रजत जिस इदमवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त है। उस चैतन्य की उपाधि इदम् है और प्रातिभासिक रजत जिस अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य (अविद्यावृत्त्युपहित चैतन्य) के द्वारा भासित होता है। उस चैतन्य की उपाधि रजताकाराविद्यावृत्ति है। यह रजताकाराविद्यावृत्ति शुक्ति देश में ही जाकर बनती है। अतः शुक्ति का इदमंशरूप उपाधि और रजताकाराविद्यावृत्तिरूप उपाधि दोनों एक ही देश में होने के कारण इन दोनों उपाधियों के द्वारा उपहित चैतन्य में भेद न होकर अभेद ही होता है। अतः इदमंशावच्छिन्न चैतन्य (अधिष्ठानचैतन्य) से अभिन्न अविद्यावृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूपी विषयि में (भासक चैतन्य में) रजतादि विषय का अध्यास होने में कोई भी बाधा नहीं है। अतएव=पूर्वोक्त प्रकार से एकदेशस्थ उपाधियां स्वोपहित का भेदक न होने से पञ्चपादिका—विवरणकारादि आचार्यों ने कहा है—यहां फल शब्द से अभिव्यक्त चैतन्य लेना है। अर्थात् दो उपाधियों के द्वारा एक ही चैतन्य के अभिव्यक्त होने पर ज्ञान को एक ही कहा जायेगा। अर्थात् जहां अभिव्यक्त चैतन्य भिन्न—भिन्न है वहां पर ज्ञान भी भिन्न—भिन्न कहा जायेगा। प्रकृत में विशेष बात यह है कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य रूप सत्य ज्ञान और अविद्या वृत्यवच्छिन्न चैतन्य रूप मिथ्या ज्ञान दोनों में एकता का उपचार होता है। इस पर विशेष विचारों को विवरणादि में देखना चाहिए। ज्ञान में ज्ञेय को अध्यस्त मानने पर पूर्वपक्षी पुनः दोष दे रहा है कि ज्ञान में विषय अध्यस्त है— ऐसा स्वीकार करने पर सिद्धान्ती को रजतज्ञान में रजत अध्यस्त है—यह भी स्वीकार करना पड़ेगा। ऐसा स्वीकार करने पर रूप्यादिविषयक जो ज्ञान उस ज्ञान का अज्ञान होने पर भ्रम की उत्पत्ति होगी और रूप्यादि विषयक जो ज्ञान उस ज्ञान का ज्ञान होने पर अर्थात् रजत ज्ञान के ज्ञान का अर्थ है— रजत ज्ञान का अनुव्यवसायज्ञान। ''रजतमहं जानामि'' ऐसा अनुव्यवसाय ज्ञान होने पर रूप्यादि की निवृत्ति माननी पड़ेगी, क्योंकि अधिष्ठान के अज्ञान से अध्यास का जन्म होता है और अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होती है— ऐसा सिद्धान्ती का नियम है। इस पर इष्टापत्ति मानने पर अनुभवविरोध होगा। दूसरा दोष यह होगा कि सिद्धान्ती का यह नियम है कि जो वस्तु जहां अध्यस्त है उसी अधिष्ठान से तादात्म्यापन्न होकर उस अध्यस्त पदार्थ की प्रतीति होती है। अतः रजत जब रजत ज्ञान में अध्यस्त है। तब रजत ज्ञान के साथ तादात्म्यापन्न होकर रजत की प्रतीति होनी चाहिए। अर्थात् ''इदं रजतम्'' ऐसी प्रतीति न होकर ''ज्ञानं रजतम्''

तन्यमेव तु रजतभ्रमाधिष्ठानम्। तच्च दैवाद्रजताकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यमपि, नैतावता भ्रमा–धिष्ठानत्वे तदपेक्षा। तस्य च भ्रमविरोधिशुक्तित्वाद्याकारेणाज्ञानं भ्रमकारणम्। तेनाकारेण ज्ञानं भ्रमनिवर्तकम्। अत एव न ज्ञानं रजतमिति भ्रमाकारापत्तिः, वृत्यवच्छिन्नस्यैव ज्ञानत्वात्तस्य चाधिष्ठानत्वाभावात्। अधिष्ठानतादात्म्येन चारोप्यप्रतीतिरिति इदं रजतमित्येव भ्रमाकारः।। १५।।

ननु—घटादेः स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं सत्त्वेन तत्राध्यासो न युक्तः। न च—या घटेन्द्रियसन्निकर्षजा वृत्तिस्तया घटो न प्रकाश्यः, येन च प्रकाश्यो घटाधिष्ठानचैतन्येन

सत्यानन्दप्रबोधिका

ऐसी प्रतीति होनी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि रजताकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य (रजत ज्ञान) को रजत भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जाता है किन्तु इदमंशावच्छिन्न चैतन्य को ही रजत भ्रम का अधिष्ठान माना जाता है। रजताकार वृत्ति इदम् (शुक्ति) देश में जाकर बनने से दैववशात् इदमंशावच्छिन्न चैतन्य ही रजताकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य हो जाने पर भी इदमंशावच्छिन्न चैतन्य को रजत भ्रम का अधिष्ठान होने में रजतकारवृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न होने की आवश्यकता नहीं है, दूसरी बात यह है कि अधिष्ठान अध्यस्त पदार्थ से पूर्व में विद्यमान होता है। रजताकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य रजताध्यास से पूर्व सिद्ध नहीं है, जबकि रजताध्यास से पूर्व इदमंशावच्छिन्न चैतन्य सिद्ध होता है, क्योंकि प्रारम्भ में इदम् के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर इदमाकार मनोवृत्ति बनती है। उस वृत्ति के द्वारा इदमवच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है। उसके बाद ही उस अभिव्यक्त इदमवच्छिन्न चैतन्य में रहने वाली शुक्ति के अज्ञान के द्वारा रजत और रजताकार अविद्यावृत्ति बनती है, और तब वही इदमवच्छिन्न चैतन्य रजताकारवृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न भी हो जाता है। अतः इदमंशावच्छिन्न चैतन्य को ही रजत भ्रम का अधिष्ठान माना जाता है। भ्रमविरोधि जो शुक्तित्वाद्याकार उस शुक्तित्वाद्याकारेण अधिष्ठान का अज्ञान रजतभ्रम का कारण होता है और शुक्तित्वाकारेण अधिष्ठान का ज्ञान (इयं शुक्तिः) रजतभ्रम का निवर्तक होता है। रजत विषयक मिथ्याज्ञान को रजतभ्रम का अधिष्ठान न मानने से ही ''ज्ञानं रजतम्''— ऐसी प्रतीति की आपत्ति नहीं होगी। रजताकार वृत्यावच्छिन्न चैतन्य को रजत ज्ञान कहते हैं किन्तु वह अधिष्ठान नहीं है अपितु इदमंशावच्छिन्न चैतन्य ही अधिष्ठान है। अधिष्ठान से तादात्म्यापन्न होकर अध्यस्त की प्रतीति होती है। इस नियम के अनुसार इदमंशावच्छिन्न चैतन्य के साथ तादात्म्यापन्न होकर रजत की प्रतीति होने से ''इदं रजतम्'' इस प्रकार ही रजत की प्रतीति होगी, जो कि अनुभव सिद्ध है।। १५।।

अध्यस्त पदार्थ के पूर्व से ही अधिष्ठान विद्यमान होता है न कि अधिष्ठान से पूर्व अध्यस्तपदार्थ। इस नियम का आलम्बन करके पूर्वपक्षी ''ज्ञान में ज्ञेय अध्यस्त होता है'' इस नियम में दोष दे रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि घटादि सन्निकृष्ट चक्षुरादि इन्द्रिय से जन्य घटादि ज्ञान से पहले ही घटादि विद्यमान होते हैं। अतः घटादि के ज्ञान में घटादि का अध्यास नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थ अधिष्ठान के पूर्व में विद्यमान नहीं होता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जो वृत्ति घट और चक्षुरादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से उत्पन्न होती है, उस जड़वृत्ति के द्वारा घट का प्रकाशन नहीं होता है। अतः उस वृत्ति को घट ज्ञान शब्द से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि जिसके द्वारा विषय का प्रकाशन होता है उसे ज्ञान कहते हैं। जिस अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा घटादि प्रकाश्य है वह अधिष्ठान चैतन्य को घटज्ञान शब्द से कहा जायेगा और

न तत्सन्निकर्षजमिति—वाच्यम्, वृत्त्यतिरिक्तज्ञाने मानाभावात्। अज्ञाननिवृत्तेरपि तत एव भावादिति—चेन्न, वृत्युदयात् प्रागज्ञातार्थसिद्ध्यर्थं वृत्त्यतिरिक्तज्ञानस्यावश्यमभ्युपेयत्वात्। अन्यथा तस्य साधकाभावेन शशशृङ्गतुल्यतया सन्निकर्षतज्जन्यज्ञानहेतुत्वेन प्राक् सत्त्वकल्पना निष्प्रामाणिकी स्यात्। तस्माद्याद्यशस्य घटादेरिन्द्रियसन्निकर्षाश्रयत्वेन ज्ञानकारणत्वम्, तादृशस्य साधकं किञ्चिन्मानमवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथाऽन्वयव्यतिरेकयोरग्रहेण कार्यकारणभावाग्रहात् सर्वमानमेयादिव्यवस्थोच्छिद्येत। तच्च मानं न वृत्तिरूपम्; तदानीं वृत्तिकारणाप्रवृत्तेरिति तद्विलक्षणं

सत्यानन्दप्रबोधिका

उस अधिष्ठान चैतन्य से पूर्व घटादि पदार्थ विद्यमान नहीं होते हैं, क्योंकि घटादि पदार्थ सादि है और चैतन्य अनादि एवं नित्य है। वह अधिष्ठान चैतन्य चक्षुरादि इन्द्रियों के सन्निकर्ष से जन्य भी नही है। अतः घटज्ञान में घट का अध्यास मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि वृत्तिरूप ज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान के मानने में कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि जो अज्ञान का निर्वतक होता है उसे ही ज्ञान कहा जाता है। इस नियमानुसार वृत्ति को ही ज्ञान शब्द से कहा जायेगा, क्योंकि वृत्ति से ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि घटाद्याकार वृत्ति के उत्पत्ति से पूर्व अज्ञात विषय के प्रकाशन के लिए वृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान को अवश्य स्वीकार करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि ''घटमहं न जानामि'' इस व्यवहार काल में अज्ञात घट का प्रकाशन हो रहा है। उस समय निश्चित रूप से घटाकारवृत्ति नहीं है, क्योंकि वृत्ति के उदय से पूर्व अज्ञात रूप से घट का विद्यमान रहना अनिवार्य है, तभी तो उस अज्ञात घट के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने के पश्चात् वृत्ति का उदय हो पायेगा। अतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अज्ञात घट का जो प्रकाशन उक्त व्यवहार काल में हो रहा है वह वृत्ति के द्वारा नहीं हो रहा है। इसलिए उक्त व्यवहार काल में एक ऐसा कोई ज्ञान मानना पड़ेगा जिसके द्वारा अज्ञात घट का प्रकाशन हो रहा है। तभी उस ज्ञान रूप प्रमाण के द्वारा उक्त व्यवहार काल में अज्ञात घट की सिद्धि हो पायेगी। उसी ज्ञान को साक्षिरूप ज्ञान शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार से वृत्ति से अतिरिक्त ज्ञान के अस्तित्व में अज्ञातार्थ सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति ही प्रमाण है। वृत्ति बनने से पहले साक्षी के द्वारा अज्ञात घट की सिद्धि होती है— यह स्वीकार न करने पर साधक प्रमाण के अभाव से अज्ञात घटादि पदार्थ शशशृङ्ग के तुल्य हो जायेगा, क्योंकि अज्ञात घट का साधक प्रमाण वृत्ति भी नहीं है और साक्षी भी नहीं मान रहे हो। अतः अज्ञात घट का साधक प्रमाण के न होने से अज्ञात घट भी तुच्छ हो जायेगा। ऐसा होने पर सन्निकर्ष और सन्निकर्षजन्यज्ञान एतदुभयहेतुत्वेन जो पूर्व में घटादि विषय के सत्त्व की कल्पना है वह निष्प्रमाणिकी हो जायेगी। इसलिए इन्द्रियप्रतियोगिक सन्निकर्षानुयोगित्वेन जो अज्ञात घट, घटज्ञान के प्रति कारण माना जाता है, उस अज्ञात घट का साधक कोई प्रमाण अवश्य मानना चाहिए। अज्ञातार्थ साधक प्रमाण के न मानने पर अज्ञातार्थ की सिद्धि न होने से ''ज्ञेयसत्त्वे ज्ञानसत्त्वं, ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः।'' ऐसा ज्ञानरूपकार्य का अन्वयव्यतिरेक ज्ञेयरूपकारण के अभाव के कारण गृहीत नहीं हो पायेगा। कार्यकारणभाव का ग्रहण न होने से सर्व मान–मेय व्यवस्था भङ्ग हो जायेगी। अर्थात् अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रामाण्य है। अतः अज्ञातविषय का कोई साधक न मानने पर प्रमाण की व्यवस्था नहीं बन पायेगी और प्रमाण की व्यवस्था न होने पर प्रमेय की व्यवस्था

नित्यं स्वप्रकाशमेकमेव लाघवात्, वृत्तिगतोत्पत्तिविनाशजड़त्वादिभिस्तदसंस्पर्शात्। तदेव च नानाविधोपाधिसम्बन्धान्नानाविधव्यवहारभाक् भवति नभ इव घटमणिकमल्लिकाद्युपाधिभेदेन; तच्चाज्ञानसाधकत्वात्स्वरूपतो नाज्ञाननिवर्तकम्, वृत्त्युपरक्तं त्वज्ञाननिवर्तकमिति न वृत्तेरनुपयोगः। तथा च सर्वाज्ञानसाधके साक्षिचैतन्ये तस्मिन् घटादेरध्यास इति काऽनुपपत्ति? ॥ १६॥

तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

सर्वतीर्थदृशां सिद्धिः स्वाभिप्रेतस्य वस्तुनः।
यदभ्युपगमादेव तत्सिद्धिर्वार्यते कुतः॥ इति॥ १॥
सर्वतीर्थदृशां तावत्सामान्यं मानलक्षणम्।
अज्ञातार्थावगमनं त्वदुक्ते तन्न युज्यते॥२॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी नहीं बन पायेगी, क्योंकि प्रमाण के द्वारा ही प्रमेय की सिद्धि होती है। वह अज्ञातार्थ साधक मान (ज्ञान) वृत्तिरूप नहीं हो सकता है, क्योंकि घट जिस समय अज्ञात था उस समय विषय इन्द्रियसन्निकर्ष जो कि वृत्ति का कारण है उसके न होने से सन्निकर्षजन्यवृत्ति विद्यमान नहीं हो सकती है। इसलिए वृत्ति से विलक्षण नित्य स्वप्रकाश साक्षिरूपज्ञान लाघव से एक मानना चाहिए। वृत्तिगत जो उत्पत्ति विनाश जड़त्वादि धर्म है उन धर्मों से साक्षीरूपज्ञान का कोई संस्पर्श नहीं है। वही अज्ञातार्थ साधक नित्य चैतन्य रूप ज्ञान घटपटादि नानाविध उपाधियों के सम्बन्ध से घटज्ञान पटज्ञानादि नानाविध व्यवहार का विषय बन जाता है। जैसे एक ही आकाश घट, मणिका और मल्लिका से उपहित होकर घटाकाश, मणिकाकाश और मल्लिकाकाशादि बहुविध रूपों में व्यवहृत होता है। वह अज्ञातार्थ साधक साक्षिज्ञान अज्ञात घट, घट का अज्ञान और अज्ञान तथा घट के सम्बन्ध को ''घटमहं न जानामि'' इस व्यवहार काल में प्रकाशित करता है। अतः अज्ञान का साधक होने के कारण साक्षिज्ञान स्वरूपतः अज्ञान का नाशक नहीं होता है किन्तु वृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर वही साक्षिज्ञान अज्ञान का निवर्तक होता है। इसको स्पष्ट करते हुए श्री सुरेश्वराचार्य जी ने कहा है— ''तृणादेर्भासिकाप्येषा सूर्यदीप्तिस्तृणं दहेत्। सूर्यकान्तमुपारूह्य न्यायोऽयं योज्यतां धिया॥ इसलिए विषयाकार वृत्ति की उपयोगिता भी सिद्ध हो जाती है। उसी सर्वाज्ञान के साधकीभूत चैतन्य में घटादि का अध्यास मानने पर किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है॥ १६॥

वृत्ति के अतिरिक्त साक्षिज्ञान में प्रमाण है इसका प्रतिपादन पीछे किया गया। अब उसी को श्री सुरेश्वराचार्य के वचन के द्वारा दृढ़ करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि हमारा जो कथन है वह पूर्वाचार्यों से सम्मत है। उसको दिखला रहे हैं।

सभी दर्शनकारों को स्वाभिप्रेत वस्तु की सिद्धि जिस सर्वसाक्षी स्वप्रकाश तत्त्व को स्वीकार करने से होती है, उस साक्षी चैतन्य की सिद्धि का वारण क्यों कर होगा? अर्थात् उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है॥ १॥

प्रायः सभी दार्शनिकों ने प्रमाण का सामान्य लक्षण यह स्वीकार किया है— ''अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्''। चार्वाकादि पूर्वपक्षियों के कथनानुसार साक्षिज्ञान न माानने पर इस लक्षण की सिद्धि नहीं हो पायेगी। (क्योंकि प्रकृत में वृत्ति के द्वारा अज्ञातार्थ का बोध नहीं होता है। इस पर विशेष विचार खण्ड १६ में किया गया है।)॥ २॥

पूर्वोक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चार्वाकादि यदि देहादि को स्वतः सिद्ध मानता हो? अथवा स्वतः असिद्ध? दोनों ही पक्षों में प्रमाणों का प्रमाणत्व

स्वतः सिद्धोऽथवासिद्धो देहादिस्ते भवन् भवेत्।
प्रमाणानां प्रमाणत्वं नोभयत्रापि लभ्यते।।३।।
प्रमाणान्यन्तरेणापि देहादिश्चेत् प्रसिध्यति।
वद प्रमाणैः कोऽन्वर्थो न हि सिद्धस्य साधनम्।। ४।।
स्वतोऽसिद्धे प्रमेये तु नासतो व्यञ्जिका प्रमा।।
नाभिव्यनक्ति सविता शशशृङ्गं स्फुरन्नपि।। इति।। ५।।
न च–'घटोऽयमित्यसावुक्तिराभासस्य प्रसादतः।
विज्ञातो घट इत्युक्तिर्ब्रह्मानुभवतो भवेत्।।'।।

इति वदता वृत्तिप्रतिबिम्बितस्य घटानधिष्ठानचैतन्यस्य घटानुभवत्वोक्तिविरोध इति–वाच्यम्। वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य घटाधिष्ठानचैतन्येन सह भेदाभावात्, चैतन्यस्यैकत्वात्। यथा चैकस्यैव चैतन्यस्य सर्वभासकत्वं तथा विस्तरेणोपपादितं 'नाभाव उपलब्धेः'इत्यस्मिन्न–धिकरणे भाष्यकृद्भिः।। १७।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्ध नहीं होगा। इसका स्पष्टीकरण अग्रिमश्लोक में है।। ३।।

यदि प्रमाणों के बिना भी देहादि सिद्ध है, तब प्रमाणों का प्रयोजन ही क्या है? सिद्ध का साधन होता नहीं है। अर्थात् स्वतः सिद्ध देहादि के बोधक प्रमाण ज्ञात ज्ञापक होने से अपनी प्रमाणता ही खो देंगे।। ४।।

देहादि प्रमेय यदि वन्ध्यासुत के समान स्वतः असिद्ध है तब जैसे प्रकाशमान हुआ भी सविता कभी भी शशश्रृङ्गादि अलीक पदर्थों का प्रकाशन नहीं करता है,उसी प्रकार प्रमाण कभी भी अलीक पदार्थ के प्रकाशक न होने के कारण व्यर्थ हैं।। ५।।।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि घटाकार वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य को घटज्ञान न मान कर घटाधिष्ठानचैतन्य घट ज्ञान है– ऐसा यदि मानोगे तब अद्वैत वेदान्त के पूर्वाचार्य (पञ्चदशीकार) के कथन से विरोध होगा। इस आशय से पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''अयं घटः'' ऐसा जो घट का व्यवहार होता है उस व्यवहार के प्रति कारण आभास (घटाकार वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य) और ''विज्ञातो घटः'' इस प्रकार के घटज्ञान के व्यवहार के प्रति कारण–ब्रह्मानुभव (घटाकार वृत्तिका ज्ञान अर्थात् साक्षी चैतन्य) है। अर्थात् साक्षी चैतन्य वृत्ति को प्रकाशित करता है और वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य (आभास) घट को प्रकाशित करता है। विषय के प्रकाशक को ही ज्ञान शब्द से कहने के कारण घट का अनधिष्ठान जो वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य है वही घट का ज्ञान है न कि घटाधिष्ठान चैतन्य (साक्षी ज्ञान)। इस प्रकार से कहने वाले पूर्वाचार्यों के कथन से आपके कथन का विरोध होगा, यदि आप घटाधिष्ठान चैतन्य (साक्षी) को घटज्ञान मानेंगे। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्य का घटाधिष्ठान चैतन्य के साथ भेद नहीं होता है, क्योंकि शुद्ध चैतन्य और वृत्युपहित चैतन्य का तादात्म्य होता है। अर्थात् बिम्ब चैतन्य स्वयं वृत्ति को प्रकाशित कर के पुनः वृत्ति में प्रतिबिम्बित होकर के घट को प्रकाशित करता है। इस प्रकार से घट और घटाकार वृत्ति दोनों का प्रकाशक एक ही है। एक ही चैतन्य सर्व अनात्म पदार्थों का अवभासक है– इस सिद्धान्त का प्रतिपादन स्वयं भगवान् भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य जी ने ''नाभाव उपलब्धेः'' (ब्र० सू० २–२–२८) इस सूत्र की व्याख्या में विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। भगवान् भाष्यकार ने उस सूत्र के भाष्य में यह कहा है कि सर्व दृश्य पदार्थों में अनुस्यूत होने के कारण और स्वप्रकाशचिद्रूप

ननु—दृश्यत्वान्यथानुपपत्त्या मिथ्यात्वमित्यर्थापत्तिर्विवक्षिता? किं वा सत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यादित्यनुकूलतर्कमात्रम्? नाद्यः, तत्सामग्र्यभावात्। तथा हि—आक्षेप्यस्योपपादकत्वम्, प्रमाणाविरुद्धत्वम्, आक्षेपकस्यानुपपद्यमानत्वम्, प्रमितत्वञ्चेत्यर्थापत्तिसामग्री। प्रकृते चाक्षेप्यसम्बन्धिनो मिथ्यात्वं नाक्षेपकस्य सम्बन्धस्योपपादकम्, प्रत्युत प्रतिकूलमेव। न चाध्यस्तत्वरूपसम्बन्धस्य न तत्प्रतिकूलत्वम्, तस्याद्याप्यसिद्धेरनाक्षेपकत्वात्। प्रत्यक्षादिविरुद्धं चेदमाक्षेप्यम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने के कारण आत्मा अपने से इतर सर्व पदार्थ का अवभासक है।। १७।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृश्यत्व की अन्यथानुपपत्ति से पक्ष में मिथ्यात्व है—इत्याकारिका अर्थापत्ति क्या सिद्धान्ती को विवक्षित है? अर्थात् सिद्धान्ती ने अष्टम खण्ड में कहा था— ''ज्ञेयमात्रस्याध्यासिकत्वं बिना दृग्दृश्यसम्बन्धोऽनुपपन्नः।'' उसमें दृग्दृश्यसम्बन्ध शब्द से जो कहा गया था उसको यहां पर दृश्यत्व शब्द से कहा जा रहा है और उसमें जो आध्यासिकत्व शब्द से कहा गया था, उसको यहां पर मिथ्यात्व शब्द से कहा गया है। यहां पर अर्थापत्ति का आकार होगा—''ज्ञेयमात्रस्य मिथ्यात्वं विना दृश्यत्वमनुपपन्नम्।'' इसमें उपपादक (आक्षेप्य) है— ज्ञेयमात्रस्य मिथ्यात्वम् और उपपाद्य (आक्षेपक) है— दृश्यत्व (दृग्दृश्यसम्बन्ध)। अर्थात् क्या सिद्धान्ती प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के सहायक के रूप से यही अर्थापत्ति प्रस्तुत करना चाहते हैं। अथवा सत्यत्वे=प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं यदि न स्यात् तर्हि, दृश्यत्वं न स्यात्=दृग्दृश्यसम्बन्धो न स्यात्। ऐसा अनुकूल तर्क प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान में दे रहे हो? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि अर्थापत्ति की सामग्री का अभाव है। अर्थापत्ति की सामग्री क्या है? इसको स्पष्ट करता हुआ पूर्वपक्षी कह रहा है कि आक्षेप्य (उपपादक) में दो गुण होने चाहिए, प्रथम गुण यह है कि उसकी कल्पना के द्वारा आक्षेपक (उपपाद्य) का उपपादन हो जाना चाहिए और दूसरा गुण यह है कि आक्षेप्य का प्रमाणान्तर से विरोध नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार आक्षेपक (उपपाद्य) में भी दो गुण होनें चाहिए। प्रथम—आक्षेप्य से अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा आक्षेपक का उपपादन नहीं होना चाहिए। द्वितीय—आक्षेपक को प्रमित होना चाहिए न कि भ्रमित। जैसे आक्षेप्य रूप रात्रिभोजन में पीनत्व की उपपादकता है और ऐसा मानने पर किसी प्रमाण का विरोध भी नहीं है। आक्षेपक जो पीनत्व है उसका रात्रि भोजन के बिना अन्य प्रकार से उपपादन नहीं हो सकता तथा पीनत्व प्रमित भी है। प्रकृत में प्रपञ्चरूप सम्बन्धी का मिथ्यात्व आक्षेप्य है। दृश्यत्व (दृग्दृश्यसम्बन्ध) आक्षेपक है, किन्तु आक्षेप्यरूपमिथ्यात्व आक्षेपकरूपदृश्यत्व का उपपादक नहीं है, क्योंकि दृश्य यदि मिथ्या होता है तब दृक् के साथ उसके सम्बन्ध का उपपादन सम्भव नहीं होता, क्योंकि दो सत्य वस्तुओं में ही सम्बन्ध होता है। अतः दृश्य के मिथ्यात्व की कल्पना करने से सम्बन्ध (किसी भी प्रकार के सम्बन्ध) की सिद्धि ही नहीं हो पायेगी। (यहां पर पूर्वपक्षी ने मिथ्या पदार्थ का अर्थ अलीक समझ कर सम्बन्धाभाव को कहा है, क्योंकि तुच्छ का किसी से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है।) इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दृश्यगत मिथ्यात्व दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध (दृश्यत्व) के प्रतिकूल नहीं है किन्तु अनुकूल ही है, क्योंकि दृश्यगत मिथ्यात्व दृग्दृश्य के सत्य सम्बन्ध का प्रतिकूल हो सकता है किन्तु आध्यासिक सम्बन्ध का नहीं। अतः मिथ्यात्व को दृश्यत्व का उपपादक माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अध्यस्तत्वरूप सम्बन्ध अभी तक सिद्ध नहीं है। अतः दृग्दृश्यसम्बन्ध (आध्यासिक सम्बन्ध) को मिथ्यात्वरूप

नाप्येकस्य दृश्यत्वस्योपपत्तये प्रमितानेकस्य त्यागो युक्तः। आक्षेपकञ्च न दृगध्यस्तत्वम्, तस्यैव फलत आक्षेप्यत्वात्। नापि दृग्विषयत्वरूपो दृग्सम्बन्धः, तवासिद्धेः। न दृगधीनसिद्धिकत्वम्, दृग्विषयत्वातिरिक्तस्य तस्यासिद्धेः। नान्त्यः, सत्त्वेऽप्युक्तरीत्या सम्बन्धान्तरेणैव दृश्यत्वस्योपपन्नत–याऽनुपपत्तेरेवाभावादिति–चेत्॥ १८॥

न, अनुकूलतर्कस्यैव [illegible]

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपपादक का आक्षेपक नहीं माना जा सकता है, कहने का आशय यह है कि आक्षेपक के दो गुणों में से एक गुण था कि उसको प्रमित होना चाहिए। जबकि अध्यस्तत्वरूप दृग्दृश्य– सम्बन्ध अभी प्रमित नहीं है अर्थात् अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। अतः प्रमित न होने के कारण अध्यस्तत्वरूपसम्बन्ध आक्षेपक नहीं हो सकता है। इस प्रकार यहां तक आक्षेप्य में जो प्रथम गुण (उपपादकत्व) होना चाहिए, वह प्रकृत आक्षेप्य (दृश्यगतमिथ्यात्व) में नहीं है– यह पूर्वपक्षी के द्वारा दिखलाया गया। इसके आगे आक्षेप्य में जो द्वितीय गुण (प्रमाणाविरुद्धत्व) होना चाहिए, वह भी प्रकृत आक्षेप्य (दृश्यगतमिथ्यात्व) में नहीं है– इसको पूर्वपक्षी दिखला रहा है। यह आक्षेप्य ''घटः सन्'' इत्यादि प्रत्यक्ष एवं प्रपञ्चसत्त्वसा–धकानुमानादि से विरुद्ध है। एक दृश्यत्व (दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध) की उपपत्ति के लिए प्रत्यक्षादि से प्रमित जो प्रपञ्च नामक अनेक वस्तुओं का मिथ्यात्वकल्पनारूपत्याग बहुबाधान्याय–न्याय के अनुसार उचित नहीं है। अपितु त्यजेदेकं कुलस्यार्थे.....'' इस न्याय के अनुसार एक दृश्यत्व का ही त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह दिखलाया है कि दृश्यगतमिथ्यात्वरूप आक्षेप्य में आक्षेप्य के दोनों गुण (आक्षेप्यस्योपवादकत्वम्, प्रमाणाविरुद्धत्वम्) नहीं हैं। दृश्यगतमिथ्यात्व का आक्षेपक दृग्दृश्य का आध्यासिक सम्बन्ध भी नहीं हो सकता है, क्योंकि उक्त आध्यासिक सम्बन्ध फलतः आक्षेप्य अर्थात् मिथ्यात्वरूप ही है। अतः आक्षेप्य और आक्षेपक दोनों ही मिथ्यात्वेन अभिन्न हो गये जबकि आक्षेप्य और आक्षेपक भिन्न–भिन्न होते हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दृश्यगत मिथ्यात्व का आक्षेपक दृग्दृश्य का विषयविषयीभावरूप वास्तिवक सम्बन्ध है। ऐसा मानने पर आक्षेप्य और आक्षेपक दोनों भिन्न–भिन्न हो जाने से पूर्वोक्त अभेद पक्ष का दोष नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के मत में दृग्दृश्य का विषय विषयिभावरूप वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध ही नहीं है। अतः उसको आप नहीं मान सकते हैं। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ज्ञान के अधीन ज्ञेय की सिद्धि होती है अतः ज्ञान का ज्ञेय के साथ सम्बन्ध होगा– ज्ञानाधीनसिद्धिकत्व। अतः दृश्यगत मिथ्यात्व का आक्षेपक दृग्दृश्य का ज्ञानाधीनसिद्धिकत्वरूपसम्बन्ध होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि दृगविषयत्व से अतिरिक्त उक्त प्रकार का सम्बन्ध हमारे मत में सिद्ध नहीं है। अतः उसको आक्षेपक नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार प्रथम पक्ष का खण्डन करके द्वितीय पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि द्वितीय (अनुकूल तर्क) पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च में सत्त्व होने पर भी पूर्वपक्षी के द्वारा दृग्दृश्यसम्बन्धविचार के प्रकरण में बतलायी गयी रीति से आध्यासिक सम्बन्ध से भिन्न वास्तविक सम्बन्ध के द्वारा दृश्यत्व (दृग्दृश्यसम्बन्ध) की उपपत्ति हो जाने से अनुपपत्ति रूप तर्क का अभाव है॥ १८॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि मिथ्यात्वानुमान का प्रसङ्ग चल रहा है। अनुमान के प्रसङ्ग में अनुमान के पोषक अनुकूल तर्क का ही उद्भावन

हि—सत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः। मिथ्यात्वञ्च तदुपपादकम्। न च तत्सम्बन्धप्रतिकूलम्, मिथ्यात्वेऽपि शुक्तिरूप्यस्येदमंशेऽध्यस्तत्वरूपसम्बन्धदर्शनेन सम्बन्धसामान्ये प्रतिकूलत्वाभावात्। आक्षेपकोऽपि दृग्विषयत्वरूपो दृक्सम्बन्ध एव अध्यासरूपस्य दृग्विषयत्वस्य ममाऽपि संप्रतिपत्तेः, तात्त्विकस्यैव तस्य निषेधात्। न चाध्यस्तत्वस्याद्याप्यसिद्धिः, दृक्सम्बन्धसामान्यस्याक्षेपकस्य प्रसक्तविशेषनिषेधेऽप्यध्यस्तत्वरूपविशेषपर्यवसानेनासिद्ध्यभावात्। न ह्यध्यस्तसम्बन्धत्वेनाक्षेपकता, किन्तु सम्बन्ध

सत्यानन्दप्रबोधिका

किया जाता है। अतः प्रकरणानुसार यहां पर जब अनुकूल तर्क हमारे द्वारा उपस्थापित किया गया है तब तुम्हारे द्वारा यह प्रश्न उठाना व्यर्थ है कि अर्थापत्ति मानते हो। अथवा अनुकूल तर्क। दूसरी बात यह है कि अनुकूल तर्क और अर्थापत्ति इन दोनों की विवक्षा होने पर भी कोई दोष नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रपञ्चगत सत्यत्व को स्वीकार करने पर दृश्यत्व (दृग्दृश्यसम्बन्ध) की अनुपपत्ति होगी। अर्थात् ''ज्ञेयमात्रस्य मिथ्यात्वं बिना दृश्यत्वमनुपपन्नम्।'' यहां पर प्रपञ्चगतमिथ्यात्व दृश्यत्व (दृग्दृश्यसम्बन्ध) का उपपादक है। पीछे पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि मिथ्यात्व दृग्दृश्य सम्बन्ध का उपपादक नहीं हो सकता, क्योंकि दो सत्य पदार्थों में ही सम्बन्ध होता है। अतः मिथ्यात्व दृग्दृश्य सम्बन्ध का अनुकूल न होकर प्रतिकूल है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मिथ्यात्व भी सम्बन्ध का उपपादक होता है। जैसे शुक्तिरजत मिथ्या है, परन्तु उसका इदमंश के साथ आध्यासिक सम्बन्ध देखा जाता है। अतः सम्बन्ध सामान्य (अध्यस्तत्त्वा—नध्यस्तत्त्व साधारण) का प्रतिकूलत्व मिथ्यात्व में अभाव है। तात्पर्य यह है कि आक्षेप्य (मिथ्यात्व) का आक्षेपक सम्बन्ध सामान्य को बनाया गया है। न कि आध्यासिक—सम्बन्धरूप सम्बन्ध विशेष को। आगे चलकर सम्बन्ध विशेष (आध्यासिक सम्बन्ध) को सिद्ध करेंगे। इस प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा आक्षेप्य के ऊपर जो जो दोष दिये गये थे उसका वारण कर दिया गया है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि दृग्दृश्य में आध्यासिक सम्बन्ध मानने पर वह सम्बन्ध मिथ्या होगा। अतः आक्षेप्य और आक्षेपक दोनों ही मिथ्यात्व हो जाने के कारण अभिन्न हो जाने से, दृग्दृश्यसम्बन्ध को आक्षेपक नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृग्दृश्यसम्बन्ध साधारण रूप दृश्यत्व को हम आक्षेपक मान रहे हैं न कि दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध विशेष को। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त दोष नहीं दिया जा सकता है। दृग्दृश्यसम्बन्ध साधारण में से अध्यासरूप दृग्विषयत्व हमें अभीष्ट है और तात्त्विक रूप दृग्विषयत्व (दृग्दृश्य के तात्त्विक सम्बन्ध) का हम निषेध करते हैं। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि दृग्दृश्य सम्बन्ध में अध्यस्तत्व अभी तक सिद्ध नहीं हुआ है। अतः असिद्ध पदार्थ को आक्षेपक नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृग्दृश्यसम्बन्धसाधारण रूपआक्षेपक में पूर्वपक्षी के द्वारा प्रसक्त जो अनध्यस्तत्त्व (वास्तविकत्व) विशेष का निषेध दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्ग प्रकरण में कर दिये जाने पर अपर विशेष अध्यस्तत्त्व में ही दृग्दृश्यसम्बन्ध सामान्य का पर्यवसान हो जाने से अध्यस्तत्त्व की असिद्धि नहीं है। अर्थात् दृग्दृश्यसम्बन्धसाधारण में दो ही विशेष थे। एक अनध्यस्तत्त्व और दूसरा अध्यस्तत्व। उनमें से एक विशेष अनध्यस्तत्त्व का दृग्दृश्यसम्बन्धभङ्गप्रकरण में निषेध कर दिये जाने पर अपरविशेष अध्यस्तत्त्व ही परिशेषन्याय से सिद्ध हो जायेगा। हम अध्यस्तत्त्वरूपसम्बन्ध

त्वेन। स चाध्यस्तत्वसम्बन्धसम्भावनयाप्यबाधित एवेति। न च—घटस्य ज्ञानमिति धीसिद्धसम्बन्धसामान्यस्याध्यस्तत्वं न विशेषः, न हि रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीतिरस्तीति—वाच्यम्, रूप्यस्य शुक्तिरिति प्रतीत्यभावेऽपि रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानमिति प्रतीत्याऽध्यस्तत्वस्य सम्बन्धविशेषत्वसिद्धेः, चैत्रस्य मैत्र इति प्रतीत्यभावेऽपि "चैत्रस्य पिता मैत्रः" इति प्रतीतिवत् आक्षेप्यमत्र प्रमाणाविरुद्धमेव, अध्यक्षादि विरोधस्य प्रागेवपरिहृतत्त्वात्। आक्षेपके च प्रमितत्वमनपेक्षितमेव, अप्रमितेनापि प्रतिबिम्बेन बिम्बाक्षेपदर्शनात्॥ १९॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेष को आक्षेपक नहीं बना रहे हैं, किन्तु सम्बन्ध सामान्य को आक्षेपक बना रहे हैं, क्योंकि हमारे अर्थापत्ति का आकार है—ज्ञेयस्यमिथ्यात्वं बिना दृग्दृश्यसम्बन्धोनुपपन्नः (न कि दृग्दृश्याध्यासिकसम्बन्धोनुपपन्नः)। उस सम्बन्ध सामान्य का बाध तभी हो सकता है यदि किसी भी सम्बन्ध विशेष में उस सम्बन्ध सामान्य के पर्यवसान होने की सम्भावना नहीं रहती किन्तु अध्यस्तत्त्व रूप सम्बन्ध विशेष में उक्त सम्बन्ध सामान्य के पर्यवसान होने की जब सम्भावना है तब सम्बन्धसामान्य को बाधित नहीं माना जा सकता है। परिशेषन्याय से दृग्दृश्य में अध्यस्तत्त्व सम्बन्ध होता है—इसको सहन न करता हुआ पूर्वपक्षी कह रहा है कि सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति आती है। अतः जब ''घटस्य ज्ञानम्'' इत्याकारिका धी होती है तब ''घटस्य'' में जो षष्ठी विभक्ति है उसके द्वारा सिद्ध सम्बन्ध सामान्य का अध्यस्तत्त्वरूप विशेष सम्बन्ध में पर्यवसान नहीं हो सकता है। अपितु अनध्यस्तत्त्वरूप वास्तविक सम्बन्ध विशेष में ही पर्यवसान होगा, क्योंकि षष्ठी विभक्ति के द्वारा अनध्यस्तत्त्वरूप वास्तविक सम्बन्ध को ही बतलाया जाता है न कि अध्यस्तत्त्व रूप सम्बन्ध को। जैसे जहां शुक्ति में रजत अध्यस्त होती है वहां पर ''रूप्यस्य शुक्तिः'' ऐसी प्रतीति नहीं होती है, जबकि सिद्धान्ती के अनुसार अध्यस्तत्त्व सम्बन्ध की बोधिका षष्ठी विभक्ति रजत के साथ होने से वैसी प्रतीति होनी चाहिए थी, किन्तु होती नहीं है। जबकि ''घटस्य ज्ञानम्'' ऐसी प्रतीति होती है। अतः ज्ञान में ज्ञेय घट का सम्बन्ध अध्यस्तत्त्व रूप नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "रजतस्य शुक्तिः" इत्याकारिका प्रतीति के न होने पर भी "रजतस्य शुक्तिरधिष्ठानम्" इत्याकारिका प्रतीति होती है। इस प्रकार की प्रतीति के आधार पर रजत और शुक्ति में अध्यस्तत्त्वरूप सम्बन्ध विशेष की सिद्धि हो जाती है। जैसे ''चैत्रस्य मैत्रः'' इत्याकारिका प्रतीति के न होने पर भी ''चैत्रस्य पिता मैत्रः'' इत्याकारिका प्रतीति के द्वारा चैत्र और मैत्र में पितृपुत्रभावरूपसम्बन्धा विशेष की सिद्धि होती है। सिद्धान्ती के कहने का आशय यह है कि ''रूप्यस्य शुक्तिरधिष्ठानम्'' यहां पर षष्ठी विभक्ति से यह सूचित होता है कि रजत के साथ शुक्ति का कोई न कोई सम्बन्धा अवश्य है। वह सम्बन्ध संयोगादि वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता है। अतः पूर्वपक्षी को भी गले पादुकान्याय से अध्यस्तत्त्व रूप सम्बन्ध विशेष को अवश्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार यहां तक आक्षेप्य के प्रथम गुण उपपादकत्व पर विचार हुआ। अब आक्षेप्य के द्वितीय गुण प्रमाणाविरुद्धत्व पर विचार कर रहे हैं। सिद्धान्ती का कहना है कि ज्ञेयगतमिथ्यात्वरूप आक्षेप्य प्रमाण विरुद्ध नहीं है, क्योंकि घटः सन् इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाणों तथा प्रपञ्चसत्यत्वबोधकानुमान प्रमाणों और ''विश्वं सत्यम्'' इत्यादि आगम प्रमाणों के विरोध का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। आक्षेपक को सत्य (प्रमित) होना चाहिए ऐसा जो पूर्वपक्षी ने कहा था उसको हम स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि अप्रमित (मिथ्या) प्रतिबिम्ब के द्वारा सत्य बिम्ब का आक्षेप देखा जाता है। अतः आक्षेपक में प्रमितत्त्व अनपेक्षित है॥ १९॥

तर्कपरतायामपि नाप्रयोजकता, सत्यत्वे सम्बन्धानुपपत्तेर्भवदुक्तन्यायखण्डनेन प्रथमत एवोपपादितत्वात्। दृश्यत्वाभावस्यापादकमत्र सत्त्वमनिर्वाच्यत्वाभावो वा, त्रिकालाबाध्यत्वं वा? उभयथाऽपि न दोषः। न चानिर्वाच्यत्वाभावस्य तुच्छे परोक्षधीवेद्यतया दृश्येऽपि सत्त्वेन व्यभिचारः, कारणसामर्थ्येन तत्र तदाकारवृत्तिसमुल्लासेऽपि दृक्सम्बन्धरूपस्य दृश्यत्वस्य तुच्छत्वविरोधिनस्तत्राभावात्। तुच्छाकारताया वृत्तिगतत्वेऽपि वृत्तिसम्बन्धस्य तुच्छगतत्वाभावोपपत्तेः नापि—यथा सतो ब्रह्मणः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थापत्ति पर विचार करने के पश्चात् अनुकूल तर्क पर विचार प्रारम्भ करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''यदि ज्ञेयो मिथ्या न स्यात् तर्हि दृग्दृश्यसम्बन्धोऽपि न स्यात्'' इसको यदि मिथ्यात्वानुमान के प्रति तर्क माना जाय तब भी अप्रयोजकता नहीं है। अर्थात् अनुपपत्ति का अभाव जो पूर्वपक्षी ने खण्ड १८ के अन्तिम में कहा था, वह नहीं है। अर्थात् उक्त दृश्यत्व की अनुपपत्ति का अभाव नहीं है, क्योंकि न्यायामृताकार ने जो भी वास्तविक सम्बन्ध का कथन किया था उसका दृग्दृश्यभङ्ग प्रकरण में खण्डन कर दिये जाने से दृश्य को सत्य मानने पर दृग्दृश्यसम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। ''प्रपञ्चसत्यत्वे दृश्यत्वं न स्यात्'' इस अनुकूल तर्क में दृश्यत्वाभाव का आपादन जिस सत्यत्व के द्वारा किया गया है, उसका अर्थ अनिर्वाच्यत्वाभाव अथवा त्रिकालाबाध्यत्व करने पर कोई भी दोष नहीं है। सत्यत्व का अर्थ अनिर्वाच्यत्वाभाव करने पर तर्क की मूलीभूत व्याप्ति का आकार होगा— ''यत्र यत्र अनिर्वाच्यत्वाभावः तत्र तत्र दृश्यत्वाभावः।'' इस व्याप्ति में पूर्वपक्षी व्यभिचारदोष देते हुए कह रहा है कि अनिर्वाच्यत्वाभाव तुच्छ में है किन्तु दृश्यत्वाभाव नहीं है, क्योंकि ''अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि'' (श्लो० वा०) अर्थात् शशविषाणादि अत्यन्त असत् पदार्थों का भी ज्ञान शब्द के द्वारा होता है। अतः तुच्छ पदार्थ भी परोक्ष ज्ञान के विषय होने के कारण दृश्य है। इस प्रकार से तुच्छ में व्याप्य (अनिर्वाच्यत्वाभाव) के रहने और व्यापक (दृश्यत्वाभाव) के न रहने से व्यभिचार दोष है। इस दोष का वारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शशविषाणादि शब्द रूप कारण में स्वार्थ प्रतिपादन का सामर्थ्य होने के कारण तुच्छ स्थल पर तुच्छ विषयक तुच्छाकार वृत्ति का समुल्लास होने पर भी तुच्छत्वविरोधी दृग्दृश्यसम्बन्धरूप दृश्यत्व तुच्छ में नहीं रहता है, क्योंकि शशविषाणादि में दृश्यत्व मानने पर दृश्यत्व और तुच्छत्व में विरोध होने के कारण उसमें तुच्छत्व ही नहीं रहेगा। वृत्ति तुच्छ नहीं है अपितु व्यावहारिक सत्य पदार्थ है। अतः वृत्ति में तुच्छाकारता नामक धर्म रह सकता है किन्तु तुच्छ का कोई अस्तित्व न होने के कारण उसमें वृत्ति का कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता है क्योंकि तुच्छ किसी का भी आधार नहीं होता है। अतः तुच्छ में वृत्ति का सम्बन्ध न होने से तुच्छ दृश्य नहीं होगा। कहने का आशय यह है कि यदि तुच्छ से वृत्ति का सम्बन्ध होता तब वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का भी आध्यासिक सम्बन्ध तुच्छ से होता। तब तुच्छ में दृग्दृश्य–सम्बन्धरूप दृश्यत्व के होने से व्यभिचारदोष होता किन्तु ऐसा है नहीं। अतः तुच्छ को दृश्य मानकर व्यभिचारदोष नहीं दिया जा सकता है। यह जो पूर्वपक्षी ने कहा है कि उक्त अनुकूल तर्क के अन्तर्गत सत्त्व का अर्थ त्रिकालाबाध्यत्व करने पर उक्त अनुकूल तर्क की मूलीभूत व्याप्ति का आकार होगा— "यत्र यत्र त्रिकालाबाध्यत्वं तत्र तत्र दृश्यत्वाभावः" ऐसी परिस्थिति में जैसे सद्रूप ब्रह्म का अपने व्यवहार (ब्रह्म का स्फुरणात्मक व्यवहार) के साथ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार सद्रूप घटादि का अपने ज्ञान के साथ सम्बन्ध बन जायेगा। ऐसा होने पर घटादि

स्वव्यवहृत्या सम्बन्धः, तथा घटादेरपि सत एव स्वज्ञानेन सम्बन्धोऽस्त्विति—वाच्यम्, दृष्टान्ते ब्रह्मण्यध्यासस्यैव व्यवहृतिसम्बन्धत्वात्। तथा च उभयसम्बन्धिसत्त्वे विषयविषयिभावानुपपत्तिः नाप्रयोजकत्वादिना परिभूयते। एतेन—आध्यासिकः सम्बन्धो नाम अध्यस्तसम्बन्धो वा? अध्यस्तत्वमेव वा? आद्ये सम्बन्धस्य मिथ्यात्वेऽपि सम्बन्धिनो दृश्यस्य दृश इव मिथ्यात्वानुपपत्तिः, द्वितीये ज्ञानस्याप्यध्यस्तत्वेन तत्राध्यासानुपपत्तिः स्वस्वज्ञानपरंपरायामध्यासस्वीकारेऽनवस्था चेति—निरस्तम्, ज्ञानं हि वृत्त्यवच्छिन्नं चैतन्यम्, तत्रावच्छेदिकाया वृत्तेर्जड़ाया अध्यस्तत्वेऽप्यवच्छेद्यस्य चैतन्यस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

में त्रिकालाबाध्यत्वरूप व्याप्य के रहने पर भी दृश्यत्वाभावरूप व्यापक के न होने से व्यभिचारदोष होगा। अतः उक्त तर्क अप्रयोजक है। अर्थात् मूल मिथ्यात्वानुमान के अनुकूल नहीं है ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त में ब्रह्म में व्यवहार के अध्यस्त होने के कारण ब्रह्म का अपने व्यवहार के साथ आध्यासिक सम्बन्ध ही होता है, क्योंकि असङ्ग ब्रह्म का किसी के साथ वास्तविक सम्बन्ध हो नहीं सकता। अतः यह निश्चित हो गया कि विषय और ज्ञान ये दोनों सम्बन्धी के सत्य (त्रिकालाबाध्य) होने पर उनमें विषयविषयिभाव की उपपत्ति किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है। अतः इस अनुकूल तर्क का पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित अप्रयोजकत्व के द्वारा निराकरण नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार घटादि का ज्ञान के साथ आध्यासिक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो गया कि दोनों सम्बन्धियों (दृक् और दृश्य) के सत् होने पर दृग्दृश्यसम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। उक्त अनुपपत्ति को पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से अप्रयोजकत्वादि के द्वारा अभिभूत नहीं किया जा सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उठायी गयी सभी शङ्काओं का निराकरण कर दिया गया। अतः दृग्दृश्य के आध्यासिक सम्बन्ध की सिद्धि में कोई भी बाधा नहीं है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि आध्यासिक सम्बन्ध का क्या अर्थ है? सम्बन्ध में अध्यस्तत्त्व को आध्यासिक सम्बन्ध कहते हैं? अथवा सम्बन्धी द्वय में अध्यस्तत्त्व को आध्यासिक सम्बन्ध कहते हैं। प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर सम्बन्ध के मिथ्यात्व सिद्ध होने पर भी दृक् के जैसे ही दृश्य भी मिथ्या नहीं माना जा सकता है अपितु दृश्य को भी सत्य मानना पड़ेगा। जैसे तार्किक एक देशिमत में विभुद्वय संयोग को नित्य संयोग नहीं माना जाता है। अतः विभुद्वय संयोग आरोपित होने के कारण मिथ्या होने पर भी सम्बन्धिविभुद्वय को सत्य ही माना जाता है। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर सम्बन्धिद्वय में अध्यस्तत्त्व के रहने पर ज्ञेय की तरह ज्ञान भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा। ऐसा होने पर मिथ्या ज्ञान को मिथ्या ज्ञेय का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अधिष्ठान सत्य होता है। पूर्वपक्षी के द्वारा उठाये गये प्रथम विकल्प को स्वीकार करने पर (अर्थात् आध्यासिक सम्बन्ध का अर्थ सम्बन्ध में अध्यस्तत्त्व करने पर) जो दोष दिया गया कि सम्बन्ध में ही मिथ्यात्व सिद्ध होगा, दृक् और दृश्य दोनों सत्य हो जायेंगे। उस दोष का निराकरण एतेन—अव्यवहित पूर्वोक्त तर्क से ही हो जाता है। वह तर्क यही है कि दृक् दृश्य दोनों को सत्य मानने पर उनमें विषयविषयिभाव की ही उपपत्ति नहीं हो सकती। सिद्धान्त पक्ष में पूर्वपक्षी एक और दोष देना चाहता है कि यदि घटादि विषय का अध्यास घटादि ज्ञान में और घटादिज्ञान का अध्यास घटादि ज्ञान के ज्ञान में मानोगे तब अनवस्था होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि घटादि ज्ञान का अर्थ घटाकारवृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य है। उसमें अवच्छेदकीभूत घटाकारवृत्ति जो कि

प्रकाशरूपस्यानध्यस्तत्वेन तत्र दृश्यस्याध्यासाद् दृश्यमिथ्यात्वेऽप्यनवस्थाविरहस्योपपत्तेः।। २०।।

अत एव—शाब्दवृत्तिविषयो ब्रह्म न वृत्तौ कल्पितमविद्याविषयो ब्रह्माविद्यायां न कल्पितं यथा, तथा दृश्यं न दृशि कल्पितम्, तथा च (सः) दृग्दृश्यादेस्तात्त्विक एव सम्बन्धः, सामान्यसम्बन्धेनैवातिप्रसङ्गे निरस्ते विशेषजिज्ञासा विशेषोक्तिश्च विशेषजिज्ञासादिवदनर्थिकैवेति—निरस्तम्, वृत्त्यविद्ययोः ब्रह्मणोऽनध्यासेऽपि तयोरेव ब्रह्मण्यध्यासात् सम्बन्धोपपत्तेः, अतस्तत्र तात्त्विकसम्बन्धाभावात्, कथं तद्दृष्टान्तेन दृग्दृश्ययोरपि तात्त्विकसम्बन्ध इत्युच्यते? तथा च

सत्यानन्दप्रबोधिका

जड़ है। वह मिथ्या होने पर भी अवच्छेद्य रूप चैतन्य सत्य है। अतः उसमें घटादि का अध्यास मानने पर किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। दृश्य का ज्ञान में अध्यास मानने पर भी अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि यदि वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य रूप ज्ञान में घटादि का अध्यास होता तब पूर्वपक्षी के कथनानुसार विषय का ज्ञान में, ज्ञान का ज्ञान के ज्ञान में अध्यास मानने पर अनवस्था होती किन्तु वृत्ति से अवच्छेद्यरूप अधिष्ठानभूत शुद्ध चैतन्य रूप जो ज्ञान जिसमें घटादि का अध्यास है उस के नित्य सत्य तथा एक होने से अर्थात् स्वेतरज्ञान में अध्यस्त न होने से अनवस्था दोष नहीं होगा।। २०।।

प्रदर्शित पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा ही पूर्वपक्षी की यह शङ्का भी निरस्त हो जाती है कि ''तत्त्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों से जन्य जो ब्रह्माकार वृत्ति है, उसका विषय ब्रह्म है किन्तु वह ब्रह्म ब्रह्माकारवृत्ति (विषयी) में अध्यस्त नहीं है। इसी प्रकार शुद्ध ब्रह्म विषयिणी अविद्या का विषय जो ब्रह्म है वह भी विषयी अविद्या में कल्पित नहीं है। कल्पित न होने के कारण जैसे अविद्या और ब्रह्म में तथा ब्रह्माकारवृत्ति और ब्रह्म में आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध न होकर तात्त्विक सम्बन्ध सिद्ध होता है ठीक उसी प्रकार दृश्य भी दृक् में कल्पित न होने के कारण दृक् और दृश्य में आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध न होकर तात्त्विक सम्बन्ध ही सिद्ध होगा। इस प्रकार से दृग्दृश्य में सत्यत्वरूपसामान्य सम्बन्ध से ही अतिप्रसङ्ग का वारण हो जाता है अर्थात् दृक् और दृश्य में कोई सम्बन्ध न मानने पर सभी को सभी के प्रत्यक्ष होने और प्रतिकर्मव्यवस्थाभङ्ग होने की आपत्ति होती, किन्तु सत्यत्वरूपसामान्य सम्बन्ध से ही प्रतिकर्मव्यवस्थादि की उपपत्ति हो जाने से विशेष सम्बन्ध की जिज्ञासा और विशेष सम्बन्ध की उक्ति विशेषगत विशेष की जिज्ञासावत् अनर्थक ही है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने दृग्दृश्य में कोई एक सत्यत्वरूपसामान्य सम्बन्ध कहा। उस पर उस सामान्य सम्बन्ध का विशेष नाम क्या है? इस प्रकार सिद्धान्ती के तरफ से जिज्ञासा करना अनर्थक है। अर्थात् सिद्धान्ती को ऐसी जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए। सिद्धान्ती के तरफ से की गयी उक्त जिज्ञासा के उत्तर में हमारे (पूर्वपक्षी के) तरफ से सम्बन्ध विशेष का कथन करना भी अनर्थक है, क्योंकि सत्यत्वरूपसामान्य सम्बन्ध से ही अतिप्रसङ्ग का वारण हो जा रहा है। यदि कोई अतिप्रसङ्ग होता तब उसके वारण करने के लिए विशेष सम्बन्ध की जिज्ञासा और विशेष सम्बन्ध का कथन सार्थक होता। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे वैशेषिक लोग पार्थिव परमाणुओं में से एक में जो गुण जो कर्म और जो सामान्य है वे ही गुणकर्मसामान्य दूसरे में भी रहते है—ऐसा मानते हैं। अतः उन परमाणुओं में व्यावर्तक धर्म के न होने से व्यावृत्ति बुद्धि असम्भव होने से परस्पर असंकीर्ण व्यवहार के उच्छेदरूप अतिप्रसङ्ग के वारण के लिए पार्थिव परमाणुओं में भिन्न–भिन्न विशेष नामक पदार्थ की कल्पना की। उन विशेषों के द्वारा उक्त अतिप्रसङ्ग के निरस्त हो जाने पर विशेषों में व्यावृत्ति बुद्धि

प्रसिद्धविशेषे बाधिते सामान्यस्यैव बाधशङ्कयाऽतिप्रसङ्गे प्राप्ते विशेषजिज्ञासाया विशेषोक्तेश्च साफल्यात्, न ते निरर्थिके। एतेन–सम्बन्धस्य प्रामाणिकत्वे यथाकथञ्चन लक्षणं भविष्यति। तथा हि–संयोगसमवायान्तर्भावे तल्लक्षणमेव लक्षणं भविष्यति, तदनन्तर्भावे तु तदुभयभिन्न–सम्बन्धत्वमेव लक्षणमस्त्विति–निरस्तम्, उक्तयुक्त्या प्रामाणिकसम्बन्धस्य संयोगसमवा–यान्तर्भावस्य च दूषितत्वात्। तदुभयबहिर्भूतसम्बन्धत्वं तु वयमपि न निराकुर्मः, किन्तु तस्य प्रामाणिकत्वम्। । २१।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का जनक कौन है? ऐसी जिज्ञासा और उस जिज्ञासा का समाधान व्यर्थ होता है, क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं होता है। जैसा कि वैशेषिको ने कहा है–

असङ्कीर्णव्यवहृतेर्योगिनां परमाणुषु। विशेषकल्पने तत्र विशेषेच्छा वृथा तव।।

इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ब्रह्माकार वृत्ति और अविद्या में ब्रह्म का अध्यास न हो पर भी इन दोनों का ही ब्रह्म में अध्यास होने से ही ब्रह्माकार वृत्ति और ब्रह्म में, तथा अविद्या और ब्रह्म में आध्यासिक सम्बन्ध की उपपत्ति हो जायेगी। इस प्रकार से दृष्टान्त में अर्थात् ब्रह्माकारवृत्ति और ब्रह्म में तथा अविद्या और ब्रह्म में तात्त्विक सम्बन्ध का अभाव अर्थात् आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध हो गया। तब उस दृष्टान्त के आधार पर दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध है– यह कैसे कहा जा सकता है? दृग्दृश्यभङ्ग प्रकरण में यह दिखाया जा चुका है कि देशकाल विप्रकर्ष होने के कारण ज्ञान और ज्ञेय में संयोग समवायादि तत्तत् विशेष सत्य सम्बन्धों का बाध हो जाता है। तत् तत् यावत् सत्य विशेष सम्बन्धों का बाध हो जाने पर सत्य सामान्यसम्बन्ध के बाध की भी शङ्का हो जाती है क्योंकि यावत् विशेष सम्बन्धाभाव जहां होता है। वहां सम्बन्ध सामान्य का भी अभाव होता है। सम्बन्ध सामान्य के बाध होने पर बिना सम्बन्ध के सभी पदार्थों का सभी ज्ञानों में सर्वदा भान होने का अतिप्रसङ्ग प्राप्त होने पर उसके परिहार के लिए दृग्दृश्य में बाधित संयोग समवायादि विशेष सम्बन्ध से अतिरिक्त सम्बन्धरूप विशेषान्तर की जिज्ञासा और उस आध्यासिक सम्बन्ध रूप विशेषान्तर का कथन व्यर्थ नहीं है, क्योंकि उस सम्बन्ध विशेषान्तर के स्थापन के द्वारा उक्त अतिप्रसङ्ग का निरास ही जिज्ञासा और कथन का फल है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दृक् और दृश्य का कोई तात्त्विक सम्बन्ध हमारे (पूर्वपक्षी के) द्वारा दी गयी युक्तियों के बल पर सिद्ध हो जाने पर उस सम्बन्ध का लक्षण भी जिस किसी प्रकार से बन ही जायेगा। जैसे यदि उक्त तात्त्विक सम्बन्ध को संयोग और समवाय के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं तब जो संयोग और समवाय का लक्षण है वही लक्षण उक्त तात्त्विक सम्बन्ध का होगा। यदि संयोग और समवाय के अन्तर्गत उक्त तात्त्विक सम्बन्ध को नहीं मानते हैं तब उक्त तात्त्विक सम्बन्ध का लक्षण होगा–''संयोगसमवायभिन्नत्वे सति सम्बन्धत्वम्।'' इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृग्दृश्यभङ्गप्रकरण में प्रदर्शित युक्तियों के द्वारा अर्थात् तात्त्विक सम्बन्ध के व्यापकीभूत देशकाल के विप्रकर्षाभाव की अनुपलब्धि के द्वारा दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध का और संयोग तथा समवाय सम्बन्ध का निराकरण कर दिया गया है। दृग्दृश्य में संयोग और समवाय से बर्हिभूत सम्बन्ध को हम भी निराकरण नहीं करते हैं, किन्तु उक्त रूप सम्बन्ध के प्रामाणिकत्व का ही निराकरण हम करते हैं। अर्थात् दृग्दृश्य में संयोग समवाय से भिन्न आध्यासिक सम्बन्ध को ही हम मानते हैं।। २१।।

किञ्च दृग्दृश्ययोः न तात्त्विकसम्बन्ध, सम्बन्धिभिन्नत्वेऽनवस्थानात्। न च दृश्यत्वान्तरहीनस्य दृश्यत्वादेरिव सम्बन्धस्यापि स्वनिर्वाहकत्वं क्वचिद् भविष्यतीति—वाच्यम्, दृश्यत्वमपि दृक्सम्बन्ध एव। तस्य च स्वनिर्वाहकत्वं न मायिकत्वं विनेति नास्माकं प्रतिकूलमभ्यधायि देवानां प्रियेण, अभिन्नत्वे सम्बन्धत्वायोगात्। न चैवमाध्यासिकसम्ब–न्धत्वेऽप्येतद्दोषप्रसङ्गः, तस्य मायिकत्वेन मायायाश्चाघटितघटनापटीयस्त्वेन सर्वानुपपत्तेर्भूषणत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध मानने वाले पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती पूछ रहे हैं कि दृग्दृश्य में जो तात्त्विक सम्बन्ध मानते हो वह दृग्दृश्य रूप सम्बन्धियों से भिन्न है? अथवा अभिन्न? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अनवस्था दोष होगा, क्योंकि तात्त्विक सम्बन्ध को सम्बन्धिद्वय से भिन्न मानने पर वह तात्त्विक सम्बन्ध भी सम्बन्धि द्वय में दूसरे तात्त्विक सम्बन्ध से रहेगा। इस प्रकार दूसरा तात्त्विक सम्बन्ध भी अपने सम्बन्धी में तीसरे तात्त्विक सम्बन्ध से रहेगा। इस प्रकार से अनवस्था दोष होने के कारण दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि जैसे दृश्य में दृश्यत्व है और दृश्यत्व भी एक प्रकार का दृश्य है। अतः दृश्यत्व रूप दृश्य में मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए दृश्यत्व में पुनः दृश्यत्व सिद्धान्ती को मानना होगा, क्योंकि सिद्धान्ती ने ही यह व्याप्ति मानी है कि "यत्र यत्र दृश्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्" और दृश्यत्व में दृश्यत्व मानने पर आत्माश्रय, अनवस्था आदि दोष होगा। इस अनवस्थादि दोष से बचने के लिए दृश्यत्व में दृश्यत्व नहीं माना जाता है अपितु दृश्यत्व के रहे बिना ही दृश्यत्व को भी दृश्य ही माना जाता है अर्थात् दृश्यत्व स्व का निर्वाहक है। इसी प्रकार तात्त्विक सम्बन्ध के ऊपर तात्त्विक सम्बन्धान्तर के न रहने पर भी स्व का निर्वाहक होने से क्वचिद् तात्त्विक सम्बन्ध भी दूसरे तात्त्विक सम्बन्ध के बिना ही सम्बन्धिद्वय में रह जायेगा। मूल में दिये गये क्वचित् पद का तात्पर्य यह है कि एक सम्बन्ध में दूसरा सम्बन्ध, दूसरे में तीसरा इस प्रकार से जो अनवस्था दोष आ रहा है। उससे बचने के लिए क्वचित्—कहीं न कहीं जाकर अन्तिम सम्बन्ध में सम्बन्धान्तर के रहे बिना ही वह अन्तिम सम्बन्ध सम्बन्धिद्वय से सम्बद्ध है। इस प्रकार से अन्तिम सम्बन्ध को स्वनिर्वाहक जब मानना ही है तब संयोग, समवाय आदि अनेक सम्बन्ध न मानकर एक ही सम्बन्ध को स्वनिर्वाहक मानने में लाघव है। अतः अनवस्थादि दोष न होने के कारण दृग्दृश्य में तात्त्विक सम्बन्ध माना जा सकता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि दृश्य में जो दृश्यत्व रहता है वह दृक् के साथ दृश्य का जो सम्बन्ध है, वही दृश्यत्व है और उससम्बन्ध का स्वनिर्वाहकत्व मायिकत्व के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् सम्बन्ध के स्वनिर्वाहकत्व का अर्थ है— ''स्वं प्रति सम्बन्धत्वम्'' किन्तु ''स्वं न स्वस्य, न वा स्वस्मिन्'' ऐसी प्रतीति होती है। इसलिए स्वप्रतियोगिकत्व स्वानुयोगिकत्व कहीं पर भी नहीं देखे जाने से स्व का स्व के प्रति सम्बन्धत्व मायिकत्व के बिना हो नहीं सकता है। दृक्दृश्य सम्बन्ध को मायिक मानने पर ही उस सम्बन्ध को स्वनिर्वाहक मानना सम्भव होता है, सम्बन्ध को मायिक मानने से स्वनिर्वाहक होना सम्भव इसलिए है कि माया को अघटित घटनपटीयसी माना जाता है। यह आगे कहा जा रहा है। अतः मन्दबुद्धि पूर्वपक्षी ने दृग्दृश्यसम्बन्ध रूप दृश्यत्व को स्व निर्वाहक बतलाकर हमारे (सिद्धान्ती के) प्रतिकूल कुछ भी सिद्ध नहीं किया, अपितु

न च—अतिप्रसङ्गनिराकरणार्थं दृग्दृश्ययोः सम्बन्धनिर्वचनं प्रकृतम्, न तु विषयत्वनिर्वचनम्, अतो विषयत्वखण्डनमनुक्तोपालम्भनमिति—वाच्यम्; विषयत्वखण्डनेन निरुच्यमानप्रकृतसम्ब—न्धस्यैव खण्डनात्। न च—विषयित्वानिरुक्तावपि विषयिणः सत्यत्ववद् विषयत्वानिरुक्तावपि विषयः सत्यः स्यादिति वाच्यम्, विषयित्वानिरुक्तावपि विषयाध्यासेनैव तदुपपत्त्या विषयिणः

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्व निर्वाहक मानने पर उस दृग्दृश्यसम्बन्ध को मायिक (आध्यासिक) ही मानना पड़ेगा, जो कि हमें इष्ट ही है। यहां पर पूर्वपक्षी ने जो दृश्यत्व का दृष्टान्त दिया था सिद्धान्ती ने उसे ही दार्ष्टान्त में दिखलाकर स्वाभीष्ट को सिद्ध कर दिया। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर अर्थात् दृग्दृश्य में जो तात्त्विक सम्बन्ध है, उसे दृक् और दृश्य से अभिन्न मानने पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सम्बन्धिद्वय से सम्बन्ध को अभिन्न मानने पर उस सम्बन्ध को सम्बन्ध शब्द से नहीं कहा जा सकता है। अपितु सम्बन्धिद्वय ही कहा जा सकता है। जैसे कि घट पट को ही घट पट का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि तात्त्विक सम्बन्ध के समान ही आध्यासिक सम्बन्ध के पक्ष में भी ये ही दोष आयेंगे, क्योंकि आध्यासिक सम्बन्ध को दृग्दृश्यसम्बन्धिद्वय से भिन्न मानने पर अनवस्था दोष होगा और दृग्दृश्य—सम्बन्धिद्वय स्वरूप मानने पर उसे सम्बन्ध शब्द से नहीं कहा जा सकता है अपितु उसे सम्बन्धी शब्द से कहा जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आध्यासिक सम्बन्ध मायिक है और माया में अघटित घटना में पटीयस्त्व माना ही जाता है। अतः मायिक पदार्थों में सर्व—अनुपपत्तियों को भूषण ही माना जाता है, दूषण नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म भिन्न पदार्थ को मायिक मानने पर उसमें जितनी भी अनुपपत्तियां आती हैं, वह उन मायिक पदार्थ के लिए दोष नहीं मानी जाती, क्योंकि जो पदार्थ मायिक है उसका अनुपपत्ति से युक्त होना स्वाभाविक ही है। सत्य पदार्थ में ही अनुपपत्ति का आना दोष माना जाता है। जैसा कि लघुचन्द्रिका में कहा है—

आत्माश्रयादयो दोषाः सतां निघ्नन्ति वस्तुनः। अद्वैतिनां ते सुहृदः प्रपञ्चे तत् प्रसञ्जकाः।।
सतां निघ्नन्ति=सत्ताऽभावं ज्ञापयन्ति। तत्प्रसञ्जकाः=सत्ताऽभावज्ञापकाः।।

पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हुए कहा रहा है कि प्रतिकर्म व्यवस्था भङ्ग रूप अति प्रसङ्ग के निराकरण के लिए दृग्दृश्य के सम्बन्ध का निर्वचन प्रकृत में प्रसक्त है विषयत्व का निर्वचन नहीं। अतः विषयत्व का खण्डन प्रकृत प्रसङ्ग के अनुपयोगी है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा विषयविषयिभाव को दृग्दृश्य का सम्बन्ध कहा गया था। अतः विषयविषयिभाव ही निरूप्यमान प्रकृत दृग्दृश्य सम्बन्ध है। उक्त विषयविषयिभाव सम्बन्ध का घटक विषयत्व का खण्डन कर देने से निरुच्यमान प्रकृत दृग्दृश्य सम्बन्ध का भी खण्डन हो जायेगा। अर्थात् घटादिगत विषयता का निरूपण न होने के कारण घटादि मिथ्या है। अतः घटादि मिथ्यावस्तु के साथ ज्ञान का आध्यासिक सम्बन्ध ही सिद्ध होगा। जो कि प्रकृत प्रसङ्ग (दृग्दृश्य सम्बन्ध निर्वचन) के अनुकूल है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि विषयत्व का निर्वचन न होने के कारण विषय मिथ्या है तब तो विषयित्व का निर्वचन सिद्धान्ती के द्वारा करना सम्भव न होने के कारण विषयी (दृक्) को भी मिथ्या मानना चाहिए। यदि विषयित्व का निर्वचन न होने पर भी विषयी सत्य है तब तो विषयत्व का निर्वचन न होने पर भी विषय (घटादि) सत्य होंगे। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि विषयित्व की निरूक्ति न होने

सत्यत्वं युक्तम्, विषयत्वानिरुक्तौ तु विषयस्य सत्यत्वं न युक्तम्, विषयिणोऽनध्यस्तत्वे विषयाध्यासमन्तरेणान्यस्योपपादकस्याभावात्। यत्र तु विषयिण एवाध्यासः, तत्र विषयः सत्य एव, यथाज्ञानविषयो ब्रह्म। न चोभयाध्यासः, शून्यवादप्रसङ्गात्। अन्यतराध्यासे च विनिगमकमनुवृत्तत्वव्यावृत्तत्वप्रकाशत्वजड़त्वादिकमेव। तस्माद्विषयिणो नित्यदृशोऽनध्यासाद्

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर भी विषयी में विषय के अध्यास से ही विषयित्व की उपपत्ति हो जाने से विषयी का सत्यत्व युक्त है। अर्थात् विषयी में विषय का अध्यास–इस प्रकार से सिद्धान्ती के कथन का तात्पर्य यह है कि विषयी विषय का अधिष्ठान है। अतः अधिष्ठान होने के कारण विषयी को सत्य ही मानना पड़ेगा, क्योंकि मिथ्या पदार्थ किसी का अधिष्ठान नहीं होता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विषयिता के निर्वचन के न होने के कारण विषयि सत्य है–ऐसी बात नहीं अपितु विषयका अधिष्ठान होने के कारण विषयि (ज्ञान) सत्य है। किन्तु विषय किसी का (ज्ञान का) अधिष्ठान तो है नहीं जिससे उसको अधिष्ठानत्वेन सत्य माना जाय। अतः विषयत्व की निरूक्ति के बिना विषय को सत्य नहीं माना जा सकता है। विषयि को अध्यस्त माना नहीं जाता है। इसलिए विषयि में विषयाध्यास के बिना अन्य कोई दृग्दृश्य सम्बन्ध का उपपादक नहीं है। कहने का आशय यह है कि विषय विषयी में अध्यस्त है– इस प्रकार से सिद्धान्ती के द्वारा विषयत्व का उपपादन किया गया। अतः विषयी में विषयाध्यास ही विषयत्व का उपपादक है, किन्तु इससे विषय मिथ्या सिद्ध हो रहा है। जिसको विषय को सत्य सिद्ध करना है। उसको विषयाध्यास से भिन्न कोई विषयत्व का सत्य उपपादक (लक्षण) बताना होगा जिससे विषय सत्य सिद्ध हो सके। किन्तु अभी तक पूर्वपक्षी वैसा कोई उपपादक दे नहीं पाया है। अतः विषय को सत्य नहीं माना जा सकता। अब सिद्धान्ती यह दिखलाने जा रहे हैं कि जिसका अध्यास होता है वह मिथ्या होता है चाहे वह विषय हो या विषयी। अतः जहां पर विषयी का विषय में ही अध्यास होता है वहां पर विषय सत्य ही होता है। जैसे वृत्तिरूपज्ञान का विषय ब्रह्म अथवा अज्ञान का विषय ब्रह्म। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि कहीं पर विषयी में विषय का अध्यास और कहीं पर विषय में विषयी का अध्यास न मानकर सर्वत्र ही घटादि विषय का घटज्ञानादि विषयी में और घटज्ञानादि विषयी का घटादि विषय में अध्यास मान लेना चाहिए तो ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि दोनों का ही परस्पर अध्यास मानने पर दोनों ही मिथ्या सिद्ध हो जायेंगे। इस पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है, क्योंकि ऐसा होने पर विषय और विषयी दोनों मिथ्या हो जाने के कारण निरधिष्ठानक भ्रम और शून्यवाद की आपत्ति होगी। विषय और विषयी इन दोनों में से अन्यतर के अध्यास में एकतर पक्षपातीनि युक्ति देते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिसमें अनुवृत्तत्व और प्रकाशत्व है वह सत्य और अनध्यस्त होता है और जिसमें व्यावृत्तत्व और जड़त्व है वह मिथ्या और अध्यस्त होता है। मूलस्थ आदि पद से विनाशित्व और अविनाशित्व का ग्रहण कर लेना चाहिए। अर्थात् जिसमें विनाशित्व है वह अध्यस्त होगा और जिसमें अविनाशित्व है वह अनध्यस्त होगा। प्रकृत में घटः सन्, पटः सन् इत्यादि रूप से सभी प्रपञ्च में दृक् (ब्रह्म) अनुगत है। अतः अनुगतत्त्व ब्रह्म में रहेगा और ब्रह्म स्वयंप्रकाश है ही। व्यावृतत्त्व– घटादि प्रपञ्च में है, क्योंकि घट पट है ऐसी प्रतीति नहीं होती है। अतः घट पट से व्यावृत्त है। अतः घट में व्यावृतत्त्व गया और ब्रह्म भिन्न सकल पदार्थ जड़ होने के कारण घटादि में जड़त्व है ही। इसलिए नित्यदृग् का स्वरूपतः अध्यास नहीं होता है

विषयस्यैवात्राध्यासः।। २२।।

न च—'प्रमाण(जात)ज्ञानं स्वविषयावरण' इत्याद्युक्त्या दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्वस्य हेतूकरणेन च त्वयाऽपि विषयत्वं निर्वाच्यमेवेति—वाच्यम्, तत्त्वतोऽनिर्वाच्यत्वेऽप्यध्यस्तत्वेन घटादिसमकक्षनिर्वाच्यत्वस्य सम्भवात्। ननु—कथं प्रमाणज्ञानविषयोऽध्यस्त इति—चेन्न, प्रपञ्चविषयकज्ञाने तत्त्वावेदकत्वलक्षणप्रामाण्याभावादिति गृहाण। अत एव—यादृशं विषयत्वं ते वृत्तिं प्रति चिदात्मनः। तादृशं विषयत्वं मे दृश्यस्यापि दृशं प्रतीति—निरस्तम्, चिदात्म—नोऽनध्यासेऽपि वृत्तेस्तत्राध्यस्तत्वेन तद्दृष्टान्तेन प्रकृतेऽप्यनध्यासस्य वक्तुमशक्यत्वात्।। २३।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपितु दृश्य का ही अध्यास होता है।। २२।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती को भी विषयत्व का निर्वचन करना पड़ेगा केवल मुझे ही नहीं, क्योंकि अविद्यानुमान के अवसर पर विवरणाचार्य ने कहा है— ''विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकम्, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्''। (इस अनुमान पर विशेष विचार ''अज्ञानेऽनुमानप्रमाणविचारः'' के अवसर पर प्रारम्भ में ही किया गया है।) विवरणाचार्य के इस अनुमान का घटक ''स्वविषयावरण.....'' भी है। अतः इस अनुमान के साध्य का निर्वचन विषयता के निर्वचन के बिना नहीं हो सकता है। इसी प्रकार सिद्धान्ती ने प्रपञ्च मिथ्यात्व साधकत्वेन दृग्विषयत्वरूपदृश्यत्व को कहा है। अतः प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान की सिद्धि के लिए भी विषयत्व का निर्वचन आवश्यक है। अन्यथा सिद्धान्ती के द्वारा विषयत्व का निर्वचन न होने पर विषयत्वघटित उक्त अनुमानद्वय भी नहीं किया जा सकेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि त्रिकालाबाध्यत्वेन विषयत्व का निर्वचन न होने पर भी जैसे सिद्धान्त मत में घटादि मिथ्या होने पर भी व्यवहार की दृष्टि से ''कम्बुग्रीवादिमत्त्वम्'' इत्यादि रूप से घटादि का निर्वचन होता है। उसी प्रकार विषयत्व मिथ्या होने पर भी अध्यस्तत्त्वरूप से उसका निर्वचन हो सकता है। विषयत्व का निर्वचन होने पर भी उसमें आत्माश्रयादि दोष अवर्जनीय होने के कारण विषयत्व के अनिर्वचनीयता का व्याघात नहीं होगा। पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रमाण ज्ञान का विषय अबाधित होता है न कि बाधित। अतः सिद्धान्ती प्रमाण ज्ञान के विषय को अध्यस्त कैसे कह रहे हैं? इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रमाण ज्ञान दो प्रकार का होता है एक—तत्त्वावेदक, द्वितीय—अतत्त्वावेदक। तत्त्वावेदक प्रमाण ज्ञान का जो विषय होगा उसमें पारमार्थिकसत्त्व रहता है। जैसे एकमेव ब्रह्म है। अतत्त्वावेदकप्रमाणज्ञान का विषय व्यावहारिकसत्य और अध्यस्त पदार्थ होता है। प्रकृत में प्रपञ्चविषयकज्ञान अतत्त्वावेदक प्रमाणज्ञान है। अतः उसका विषय अध्यस्त होता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा है कि सिद्धान्तमत में ब्रह्माकारवृत्ति की जो विषयता ब्रह्म में है वह विषयता जिस लक्षण वाली है। वैसी ही लक्षण वाली दृक् की विषयता दृश्य में हमारे मत में है। अतः जैसे ब्रह्माकारवृत्ति का विषय ब्रह्म सत्य है उसी प्रकार दृक् का विषय दृश्य भी सत्य है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि ब्रह्माकारवृत्ति में चिदात्मा का अध्यास न होने पर भी ब्रह्माकारवृत्ति का चिदात्मा में अध्यास होता है। अतः ज्ञान ज्ञेय में आध्यासिक सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। इसलिए इस दृष्टान्त के बल पर घटादि ज्ञान में घटादि का अध्यास ही सिद्ध होगा, न कि घटादि प्रपञ्च अनध्यस्त सिद्ध होंगे।। २३।।

स्यादेतत्—मिथ्यात्वं निर्वचता (निर्वचयता) तत्साधनं दृश्यत्वादिकं निर्वक्तव्यमेव, न हि घटपटाद्यसङ्कीर्णाकारज्ञानं विना तद्विलक्षणव्यवहारः, अथानिरुक्तासङ्कीर्णाकारज्ञानमात्रेण तदुपपत्तिः तर्हि तुल्यं ममाऽपि। इयांस्तु विशेषः यत्तव स आकारः सद्विलक्षणः, मम तु त्वन्मतसिद्धप्रातिभासिकवैलक्षण्यसाधकमानसिद्धसत्ताकः, न हि लक्षणोक्त्यनुक्तिभ्यां सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वचनीयत्वहानिलाभौ, ब्रह्मण्यपि श्रौतस्यापि जगत्कारणत्वादिलक्षणस्य कारणत्वखण्डनरीत्याऽसम्भवात्, त्वयैव—'कीदृग् तत्रत्यगिति चेत्ताद्दृगीदृगिति द्वयम्। यत्र न

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सिद्धान्ती के द्वारा मिथ्यात्व का निर्वचन किया जाता है उसी प्रकार सिद्धान्ती मिथ्यात्व का साधकीभूत दृग्विषयत्व रूप दृश्यत्वादि का निर्वचन भी आवश्यक है। निर्वचन के अभाव मात्र से कोई वस्तु मिथ्या सिद्ध नहीं हो जाती है। इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती के द्वारा प्रस्तुत मिथ्यात्वानुमान तभी माना जा सकता है जब सिद्धान्ती के द्वारा किये गये मिथ्यात्व के निर्वचन के जैसे ही मिथ्यात्व के साधन दृश्यत्वादि का भी निर्वचन सिद्धान्ती के द्वारा किया जाये, क्योंकि जैसे घटपटादि का जो असङ्कीर्ण— आकार (इतर भिन्न स्वरूप) है उस असङ्कीर्ण—आकार के ज्ञान के बिना घट पटादि का ''अयं घटः, अयं पटः'' इस प्रकार जो "अयं मठः" इत्यादि व्यवहार से विलक्षण व्यवहार होता है वह नहीं हो पाता है। अर्थात् घट का इतरभिन्नस्वरूप जाने बिना पट से घट का भेद व्यवहार नहीं हो सकता है। अतः घटादि के असङ्कीर्ण व्यवहार के हेतु के रूप से घटादिगत असङ्कीर्णाकार का ज्ञान आवश्यक है। ठीक वैसे ही विषयत्व का जो असङ्कीर्ण व्यवहार उसके हेतु के रूप से विषयत्व का असङ्कीर्ण आकार सिद्धान्ती को भी बताना होगा। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि घटादि के (असङ्कीर्णाकार) लक्षण का निर्वचन न करके घटादि का जो दूसरे से भिन्न आकार (असङ्कीर्णाकार) है, उसके ज्ञान मात्र से ही घटादि के विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि तब तो हमारे मत में भी विषयत्व के असङ्कीर्णाकार के ज्ञान मात्र से विषयत्व के विलक्षण व्यवहार की उपपत्ति हो जायेगी। विषयत्व का निर्वचन करने की कोई आवश्यकता नहीं। इतना विशेष है कि सिद्धान्ती के मत में वस्तु का वह असङ्कीर्ण—आकार सद्विलक्षण अर्थात मिथ्या है और पूर्वपक्षी के मत में तो सिद्धान्ती के मत से सिद्ध प्रातिभासिक वैलक्षण्य का साधक जो प्रमाण है उसी प्रमाण से सिद्ध वस्तु का वह असङ्कीर्ण—आकार सत् है। अर्थात् जिस प्रमाण के द्वारा सिद्धान्ती वस्तुगत असङ्कीर्ण—आकार को प्रातिभासिक से विलक्षण सिद्ध करेंगे उसी प्रमाण से हम (पूर्वपक्षी) उक्त आकार को पारमार्थिक सत्य सिद्ध कर देंगे। सिद्धान्ती के तरफ से व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रातिभासिक भिन्नता सिद्ध करने वाला अनुमान प्रमाण का आकार यह है— "घटपटादयः प्रातिभासिकभिन्नाः, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वात्—यन्नैवं तन्नैवं यथा शुक्तिरजतम्।" पूर्वपक्षी के तरफ से व्यावहारिक प्रपञ्च में तात्त्विक सत्त्व सिद्ध करने वाला अनुमान का आकार यह है—"घटपटादयः तात्त्विकसत्त्ववन्तः, अबाध्यत्वात्, ब्रह्मवत्।" लक्षण की उक्ति से अनिर्वचनीयत्व की हानि और लक्षण की अनुक्ति से अनिर्वचनीयत्व का लाभ—ऐसा नहीं माना जा सकता है। यदि लक्षण की उक्ति से अनिर्वचनीयत्व की हानि मानी जाय तब तो ब्रह्म में अनिर्वचनीयत्व न आ जाये इससे बचने के लिए ब्रह्म के लक्षण की उक्ति करनी होगी। वह लक्षण वेदान्त दर्शन के अनुसार जगज्जन्मादिकारणत्व ही होगा, किन्तु खण्डनकार के द्वारा बतलाये

प्रसरत्येतत्प्रत्यगित्यवधारय' इति ब्रह्मणोऽपि दुर्निरूपत्वोक्तेश्च, प्रपञ्चेऽपि त्वदुक्तानिर्वाच्यत्व–समकक्षलक्षणसम्भवाच्च, 'यत्कठिनं सा पृथिवी' इत्यादिश्रुत्या पृथिव्यादीनामपि लक्षणोक्तेश्च। तस्मादनिर्वाच्यत्वं न सत्त्वविरोधि। सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादेवानिर्वाच्यत्वोपपत्तेः। न च निर्वाच्यत्वमपि सत्त्वप्रयोजकम्, न हि शुक्तिरूप्यस्यापीतरभेदसाधकं रूप्यत्वं प्रातीतिकजातिरूपतया सुवचमपि सत्यम्। किञ्च ब्रह्मण आनन्दत्वज्ञानत्वसत्यत्वस्वप्रकाशत्वादि खण्डनोक्तरीत्या दुर्वचमिति ब्रह्म

सत्यानन्दप्रबोधिका

गये कारणत्व के खण्डन की युक्तियों के द्वारा उक्त लक्षण का भी खण्डन हो जायेगा। अतः ब्रह्म के लक्षण का निर्वचन न होने के कारण ब्रह्म को भी अनिर्वाच्य मानना पड़ेगा जो कि उचित नहीं है। खण्डनोक्त रीति इस प्रकार से है—

अभीष्टसिद्धावपि खण्डनानामखण्डि राज्ञामिव नैवमाज्ञा।
तत्तानि कस्मान्न यथावदेव सैद्धान्तिकेऽप्यध्वनि योजयध्वम्।।

दूसरी बात यह है कि स्वयं पञ्चदशीकार ने ब्रह्म की दुर्निरूपणीयता मानी है। अर्थात् यदि प्रश्न किया जाय कि प्रत्यगात्मा कैसा है? इसका उत्तर यह है कि जिसे परोक्ष भी और अपरोक्ष भी नहीं कहा जा सके वहीं प्रत्यगात्मा है। यहां पर यह शङ्का उठ सकती है कि पञ्चदशीकार ने ब्रह्म में अपरोक्षत्व का निषेध कैसे कर दिया? इसका उत्तर यह है कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान के विषय घटादि इदृक्शब्दवाच्य है और परोक्षज्ञान के विषय धर्मादि तादृक्शब्दवाच्य है। परन्तु ब्रह्म न तो प्रत्यक्षज्ञान का विषय है और न तो परोक्षज्ञान का विषय है, अपितु ब्रह्म स्वयंप्रकाश अपरोक्षस्वरूप है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ लक्षण का कथन न करने मात्र में कोई अनिर्वचनीय नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी के द्वारा यह दिखलाया गया कि लक्षण की उक्ति से अनिर्वचनीयत्व की हानि नहीं होती है। अब पूर्वपक्षी यह दिखलाने जा रहे हैं कि लक्षण की उक्ति मात्र से सत्यत्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि सिद्धान्ती के द्वारा जो सदसद्वैलक्षण्यरूप अनिर्वाच्यत्व का लक्षण किया जाता है वैसा ही लक्षण (सदसद्वैलक्षण्य) प्रपञ्च का भी किया जाता है। अतः प्रपञ्च के लक्षण की निरुक्ति होने से प्रपञ्च को भी, सिद्धान्ती को सत्य मानना पड़ेगा। इसी प्रकार ''यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं तदापो, यदुष्णं तत्तेजः'' इन श्रुतियों के द्वारा उक्त पृथिवी, जल, तेज के लक्षण का निर्वचन होने से पृथिव्यादि को भी सिद्धान्ती को सत्य मानना पड़ेगा। इसलिए प्रपञ्चगत अनिर्वाच्यत्व को प्रपञ्चगत सत्त्व का विरोधी नहीं माना जा सकता है। अर्थात् अनिर्वाच्यत्व को सत्त्व का विरोधी मानने पर निर्वाच्यत्व को मिथ्यात्व का विरोधी मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर प्रपञ्च और पृथिवी, जल तेजादि का पूर्वोक्त रीति से निर्वचन होने के कारण सिद्धान्ती उनमें मिथ्यात्व सिद्ध नहीं कर पायेंगे। इस पर यदि पूर्वपक्षी से पूछा जाय कि यदि प्रपञ्च सत्य है तो उसका लक्षण क्यों नहीं बन पा रहा है? इसके उत्तर में पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रपञ्च में अद्भुतत्त्व रहने से उसका लक्षण नहीं बन पा रहा है न कि उसके मिथ्या होने से। ''यत्र यत्र निर्वाच्यत्वं तत्र तत्र सत्त्वम्'' ऐसी व्याप्ति भी नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि प्रातिभासिक रजत का भी व्यावहारिक रजतभेदक रजतत्त्वरूप प्रातिभासिक जाति के द्वारा निर्वचन किया जाता है, किन्तु प्रातिभासिक रजत को कोई भी सत्य नहीं मानता है। इसी प्रकार खण्डन खण्ड खाद्य में निर्दिष्ट युक्तियों के आधार पर ब्रह्मगत आनन्दत्व, ज्ञानत्व, सत्यत्व और स्वप्रकाशत्वादि

तत्वतोऽनानन्दाद्यात्मकं स्यात्। तस्मादिक्षुक्षीरादिमाधुर्यवदनिर्वाच्यमपि विषयत्वं सदेवेति।। २४।।

अत्रोच्यते—दृश्यत्वादेरनिर्वचनीयत्वं किं सत्त्वेन, उत स्वरूपेण। नाद्यः, सत्त्वेनानिर्वचनीयत्वेऽपि तत्तदाभासलक्षणानालिङ्गितत्वमात्रेण हेतुत्वोपपत्तेः तन्निर्वचनानपेक्षणात्। न द्वितीयः, तात्त्विकातात्त्विकसाधारणेन दृक्सम्बन्धित्वादिना रूपेण दृग्विषयत्वस्य निर्वक्तुं शक्यत्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का भी निर्वचन न हो पाने से ब्रह्म भी वस्तुतः अनानन्दादिरूप हो जायेगा। अतः जैसे गन्ने के रस और दूध के रस में जो भिन्न भिन्न प्रकार का माधुर्य है, उन माधुर्यों में किस प्रकार की भिन्नता है उसका वाणी के द्वारा निर्वचन न होने पर भी अर्थात् अनिर्वाच्य होने पर भी उनको सत् माना जाता है। ऐसे ही विषयत्व अनिर्वाच्य होने पर भी सत्य माना जायेगा।। २४।।

पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रपञ्च मिथ्यात्वसाधक दृश्यत्वादि का निर्वचन सिद्धान्ती को भी करना चाहिए। यदि सिद्धान्ती दृश्यत्वादि का निर्वचन नहीं कर पाते हैं तो दृश्यत्वादि को मिथ्यात्वानुमान का हेतु नहीं बना सकते हैं। इस पर पूर्वपक्षी को बतलाना चाहिए कि दृश्यत्वादिनिष्ठ जो अनिर्वचनीयत्व है वह क्या सत्त्वेन है? अथवा स्वरूप से अर्थात् सत्त्व से भिन्न रूप से है। आद्य पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि दृश्यत्वादि हेतु गत सत्त्वेन अनिर्वाच्यत्व होने पर भी तत्तत् जो हेत्वाभास का लक्षण है उन लक्षणों से रहित होने के कारण दृश्यत्वादिगत हेतुत्व की उपपत्ति हो जायेगी। अतः हेतु बनने के लिए किसी का सत्त्वेन निर्वचन की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् किसी साध्य के साधन के लिए हेतु का सत् होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि धूलीपटल में धूमभ्रम से भी वह्नि की अनुमिति होती हुई देखी जाती है। अतः हेतु में केवल हेत्वाभास—लक्षण राहित्य ही उचित है। प्रकृत में दृश्यत्वादि हेतुओं में हेत्वाभास सम्बन्धी सभी दोषों का निराकरण पहले ही किया जा चुका है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि दृश्यत्व का स्वरूपेण निर्वचन तो किया ही जा सकता है और वह है दृक्सम्ब— न्धित्व। वह लक्षण तो प्रपञ्च को तात्त्विक मानने वाले और अतात्त्विक मानने वाले दोनों को मान्य है। अन्तर इतना है कि पूर्वपक्षी दृक्सम्बन्ध को सत्य मानता है और सिद्धान्ती दृक्सम्बन्ध को आध्यासिक मानते हैं। दृग्दृश्य सम्बन्ध को तो मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं है। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि मिथ्यात्व का साधक होने के लिए दृश्यत्व का निर्वचन सिद्धान्ती को भी करना चाहिए, उसका उत्तर यही है कि दृश्यत्व का स्वरूपेण निर्वचन करना सम्भव ही है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि लक्षण की उक्ति और अनुक्ति इन दोनों को, सदसत् से वैलक्षण्य रूप जो अनिर्वचनीयत्व है उसके प्रति हानि या लाभप्रद नहीं माना जाता है— ऐसा कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि केवल मात्र दृश्यत्व के लक्षण की निरुक्ति न होने से दृश्यत्वगत अनिर्वचनीयत्व का लाभ होता है ऐसा हम नहीं कह रहे हैं, अपितु पूर्व में जो व्याप्ति थी—''यत्र यत्र तात्त्विकसम्बन्धः तत्र तत्र देशकालविप्रकर्षाभावः।'' इस व्याप्ति का घटक जो व्यापक है उसकी अनुपलब्धि ा सहित दृश्यत्व के लक्षण की निरुक्ति न होने पर दृश्यत्व में अनिर्वचनीयत्व का लाभ होता है, यही हमारा कहना है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि आनन्दत्वादि धर्म से और ''कीदृग्'' इत्यादि पञ्चदशीकार के कथनानुसार स्वरूप से दुर्निरूपित होने से ब्रह्म में भी अनिर्वचनीयता की आपत्ति होगी। पूर्वपक्षी का यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि

लक्षणोक्त्यनुक्त्योर्न सदसद्वैलक्षण्यरूपानिर्वाच्यत्वहानिलाभकरत्वमति यदवोचः, तदपि न, पूर्वोक्तव्यापकानुपलब्धिसहिताया लक्षणानिरुक्तेः उक्तरूपानिर्वनीयत्वप्रयोजकत्वात्। यत्त्वानन्दत्वादिना धर्मेण कीदृगित्यादिना स्वरूपेण च दुर्निरूपत्वाद् ब्रह्मणोऽप्यनिर्वचनी– यत्वप्रसङ्ग इति, तन्न, आनन्दत्वादिधर्मवत्तया दुर्निरूपत्वेऽपि दुःखप्रत्यनीकत्वाद्युपलक्षितस्वरूपस्य सत्त्वेन निर्वक्तुं शक्यत्वात्। न चैवं प्रपञ्चे सत्त्वं शक्यनिर्वचनम्, बाधकसद्भावात्। अत एव–कठिनस्पर्शवत्त्वादिना पृथिवीत्वादीनां निर्वचनमस्त्येव, सत्त्वेऽप्यद्भुतत्वादिनाऽनिर्वाच्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

आनन्दत्वादि धर्मवत्त्वेन दुर्निरूपित होने पर भी ब्रह्म का दुःख विरोधित्वाद्युपलक्षित स्वरूप का सत्त्वेन निर्वचन किया ही जा सकता है। अर्थात् दुःख का विरोधी जो आनन्दत्व–सत्यत्वादि धर्म है। उनके द्वारा उपलक्षित जो ब्रह्म का स्वरूप उसकी प्रमा को उत्पन्न करने वाला ''तत् सत्'' ऐसी श्रुति के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का सत्त्वेन निर्वचन हो सकता है। सिद्धान्ती के इस समाधान के अनुसार यदि पूर्वपक्षी भी कहता है कि घट भी घटत्वधर्मवत्त्वेन दुर्निरूपित होने पर भी घट का कम्बुग्रीवादिमत्त्वोपलक्षित स्वरूप का सत्त्वेन निर्वचन किया जा सकता है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि घटादि के स्वरूपेण सत्त्व का बाधक मिथ्यात्व बोधक श्रुति मिथ्यात्वानुमानादि का सद्भाव होने के कारण घटादि के स्वरूपेण सत्त्व का निर्वचन नहीं किया जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि कठिनस्पर्शवत्त्वादि रूप से पृथिव्यादि का निर्वचन है ही और प्रपञ्च में सत्त्व होने पर भी अद्भुतत्त्वादि के रहने से अनिर्वाच्यत्व की उपपत्ति भी हो जाती है– पूर्वपक्षी का यह कथन भी खण्डित हो गया, क्योंकि निर्वचन के विरह मात्र से हम लोग किसी में अनिर्वचनीयत्व नहीं कहते हैं किन्तु सत्त्वेन असत्त्वेन अथवा सदसत्त्वेन निर्वचन अनर्हत्व को अनिर्वाच्यत्व कहते हैं। सत्त्वादिरूप से निर्वचन का विरह प्रपञ्च में है, क्योंकि प्रपञ्च का सत्त्वादि रूप से निर्वचन करने में श्रुति और युक्ति रूप बाधक है। इसलिए घटादि प्रपञ्च में सदसदनिर्वाच्यत्व सुस्थिर है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि विषय के ज्ञान में विषय का अध्यास मानने पर विषय का ज्ञान विषय का अधिष्ठान हो जायेगा। जबकि यह नियम है कि अधिष्ठान के अज्ञान से अध्यास की उत्पत्ति और अधिष्ठान के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति होती है तब तो प्रपञ्च के ज्ञान को प्रपञ्च का अधिष्ठान मानने पर तीन दोष आयेंगे। जैसे प्रथम दोष होगा– प्रपञ्च के ज्ञान (अधिष्ठान) के अज्ञान से उत्पन्न होने वाला अध्यास का विषयत्व प्रपञ्च में रहना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। द्वितीय दोष यह होगा कि प्रपञ्च ज्ञान (अधिष्ठान) के ज्ञान से निवृत्त होने वाले अध्यास का विषयत्व प्रपञ्च में रहना चाहिए जो कि सम्भव नहीं है। अर्थात् प्रथम और द्वितीय दोष इसलिए आ रहा है कि सिद्धान्ती का यह प्रथम नियम है कि जब तक अधिष्ठान का स्फुरण नहीं होता है तब तक अध्यास बना रहना चाहिए और द्वितीय नियम यह है की जैसे ही अधिष्ठान का स्फुरण होता है उसी काल में अध्यास की निवृत्ति हो जानी चाहिए किन्तु विषय के ज्ञान को अधिष्ठान मानने पर यह सम्भव नहीं होगा, क्योंकि ''घटमहं जानामि'' इस प्रकार से ज्ञान का स्फुरण जब होता है तब उस समय भी घट का अध्यास विद्यमान रहता है न कि अध्यास की निवृत्ति होती है। अतः घट ज्ञान को घट का अधिष्ठान नहीं मान सकते हो, यदि मानोगे तो सिद्धान्ती के उक्त प्रथम और द्वितीय नियम भङ्ग हो जायेंगे। तृतीय दोष यह होगा कि सिद्धान्ती का यह नियम है कि जब तक अध्यास बना रहता है तब तक अधिष्ठान आवृत रहता है। अतः आवृत अधिष्ठान से अनुविद्ध

त्वोपपत्तिरिति—निरस्तम्, न हि निरुक्तिविरहमात्रेणानिर्वाच्यत्वं ब्रूमः, किन्तु सत्त्वादिना निरुक्तिविरहेण। स च प्रपञ्चे बाधकादस्त्येव। न च—ज्ञाने विषयस्याध्यस्तत्वे तदज्ञानजन्यं तज्ज्ञाननिवर्त्यं चाध्यासं प्रति विषयत्वं तदनुविद्धतया प्रतीत्यभावश्च न सम्भवतीति—वाच्यम्, चैतन्यमात्राज्ञानजन्यत्वात्, तज्ज्ञाननिवर्त्यत्वाच्च घटादिप्रपञ्चस्येत्युक्तत्वात्। सदिति प्रतीयमानाधिष्ठानचैतन्यानुविद्धतया प्रतीयमानत्वमप्यस्त्येव। तस्मात्सत्यत्वे दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिर्दृढैव।। २५।।

—ः इत्यद्वैतसिद्धौ प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणम् ः—

सत्यानन्दप्रबोधिका

होकर के आरोप्य की प्रतीति नहीं होनी चाहिए। अर्थात् अधिष्ठान के विशेष अंश से अनुविद्धतया प्रतीति नहीं होनी चाहिए। भले ही अधिष्ठान के सामान्य अंश से अनुविद्धतया प्रतीति हो। किन्तु वह सम्भव नहीं है, क्योंकि ''घटमहं जानामि'' इस प्रकार से ज्ञान रूप अधिष्ठान के विशेष अंश से अनुबिद्ध होकर के ही विषय की प्रतीति होती है। अतः घट ज्ञान में घट का अध्यास नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्ष की इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि विषय के ज्ञान (विषयावच्छिन्न चैतन्य) को हम विषय का अधिष्ठान नहीं मानतें है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म को ही अधिष्ठान मानते हैं। अतः विषय के ज्ञान के अज्ञान से विषयाध्यास की उत्पत्ति और विषय के ज्ञान के ज्ञान से विषयाध्यास की निवृत्ति न होने पर भी प्रथम—द्वितीय नियम भङ्ग नहीं होगा, क्योंकि शुद्धब्रह्म के अज्ञान से अध्यास की उत्पत्ति होने से उस अध्यास की विषयता प्रपञ्च में है और शुद्धब्रह्म के ज्ञान से अध्यास की निवृत्ति भी होती है। ऐसा पीछे के अनेक प्रकरणों में प्रतिपादन किया जा चुका है। अतः निवृत्त होने वाले अध्यास की विषयता प्रपञ्च में है। तृतीय दोष को वारण करते हुए लघुचन्दिकाकार ने लिखा है— ''तथा च सद्रूप इव ज्ञानरूपेऽप्यनुविद्धतया विषयप्रतीतेस्तद्रूपं नाधिष्ठानम्, अपितु शुद्धचिद्रूपं पूर्णानन्दरूपम्, तदनुविद्धतया चाप्रतीतिरस्त्येवेतिभावः।'' अर्थात् ''घटः सन्'' और घट जानामि'' इस प्रकार से विषय की प्रतीति होने के कारण सद्रूप और ज्ञानरूप को अधिष्ठान नहीं माना जा सकता है। यहां पर सद्शब्द से विषयोपहित चैतन्य अथवा अज्ञान उपहित चैतन्य लेना है जो कि मिथ्या होने से अधिष्ठान नहीं बन सकता है। जो ज्ञानरूप लिखा है उसका अर्थ है कि शुद्धब्रह्म ही वृत्यवच्छिन्न होकर ज्ञान पद वाच्य होता है। वह वृत्यवच्छिन्न चैतन्य मिथ्या होने से अधिष्ठान नहीं हो सकता है। जो अधिष्ठान पूर्णानन्द शुद्ध ब्रह्म है उससे अनुविद्ध होकर अर्थात् घट, पूर्णानन्द ब्रह्म है। इस प्रकार से प्रतीति होती नही हैं। अतः तृतीय दोष का भी वारण हो गया। और तृतीय नियम की उपपत्ति भी हो जायेगी। अतः दृश्य वर्ग को सत्य मानने पर दृग्दृश्य के सम्बन्ध की अनुपपत्ति दृढ़ ही होगी। अतः प्रपञ्च को मिथ्या रूप से पूर्वपक्षी को भी सहजता पूर्वक स्वीकार कर लेना चाहिए।। २५।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रपञ्चमिथ्यात्वानुकूलतर्कनिरूपणम्।। n

9

प्रतिकर्मव्यवस्थाविचारः

ननु—विश्वस्याध्यासिकत्वे प्रातिभासिकस्थल इव विषयेन्द्रियसन्निकर्षाधीनायाः प्रतिकर्मव्यवस्थाया अनुपपत्तिरिति—चेन्न वृत्तेः पूर्वमेव घटादीनां चैतन्येऽध्यासेन प्रातिभासिक—

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है— ''प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्यं कल्पितत्त्वम्'' अर्थात् ''यत्र यत्र कल्पितत्त्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्त्वम्।'' अर्थात् कल्पित पदार्थ ज्ञानमात्र काल में रहता है। अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति से पूर्व और ज्ञानध्वंस के पश्चात् कल्पित पदार्थ रहता ही नहीं है। यदि व्यावहारिक प्रपञ्च को सिद्धान्ती के पूर्वोक्त कथनानुसार आध्यासिक माना जाय तब तो आध्यासिक का अर्थ ही होता है—कल्पित। ऐसी स्थिति में व्यावहारिक प्रपञ्च कल्पित होने के कारण उक्त व्याप्ति के बल पर अपने ज्ञान के पूर्व में नहीं रहेगा। जैसे प्रातिभासिक स्थल पर प्रातिभासिक पदार्थ कल्पित होने के कारण अपने ज्ञान से पूर्व या पश्चात् नहीं रहते हैं। अतः प्रपञ्चज्ञान के पूर्व में प्रपञ्च के न होने के कारण प्रपञ्च के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष भी सम्भव नहीं होगा, क्योंकि इन्द्रिय विषय सन्निकर्ष ज्ञान के प्रति कारण होने से ज्ञान के पूर्व में रहता है। पूर्व में विषय के न रहने के कारण पूर्व में विषयेन्द्रियसन्निकर्ष नहीं हो सकता। अतः विषय और इन्द्रिय के सन्निकर्ष के अधीन होने वाली प्रतिकर्मव्यवस्था भी सम्भव नहीं हो पायेगी। प्रतिकर्मव्यवस्था का निरूपण करते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा है—''कस्यचित्पुंसः कदाचिदेव कश्चिदेव विषयो ज्ञानकर्म, न सर्वस्य सर्वदा सर्व इति प्रतिनियतकर्मव्यवस्था।" अर्थात् किसी पुरुष को किसी ही काल में कोई ही विषय, ज्ञान का कर्म होता है, सर्व पुरुषों को सर्वकाल में सर्व विषय, ज्ञान के कर्म नहीं होते हैं। इसको प्रतिकर्मव्यवस्था कहते हैं। कहने का आशय यह है कि किस ज्ञान का कौन विषय होगा? इसके समाधान में यही कहा जाता है कि जिस पदार्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वही पदार्थ उस ज्ञान का विषय बनता है, अन्य पदार्थ जिससे इन्द्रिय सन्निकर्ष नहीं है, वे पदार्थ उस ज्ञान के विषय नहीं बनते हैं। इस प्रकार इन्द्रियसन्निकर्षों के अधीन होने वाली भिन्न—भिन्न ज्ञानों के भिन्न—भिन्न विषयों की व्यवस्था को प्रतिकर्मव्यवस्था कहते हैं। पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रपञ्च को कल्पित मानने पर उक्त प्रकार की प्रतिकर्मव्यवस्था भङ्ग हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि घटाद्याकारवृत्ति से पूर्व में ही घटादि का चैतन्य में अध्यास होने के कारण प्रातिभासिक स्थल की अपेक्षा भिन्नता है। अर्थात् प्रातिभासिक स्थल में प्रातिभासिक विषय और उसको विषय करने वाली अविद्या की वृत्ति दोनों ही एक काल में उत्पन्न होते हैं। अतः उनमें पूर्वापरीभाव नहीं है, किन्तु व्यावहारिक प्रपञ्च को विषय करने वाली वृत्ति और व्यावहारिक घटादिप्रपञ्च में पूर्वापरीभाव है। अतः प्रातिभासिक स्थल की अपेक्षा व्यावहारिक स्थल पर भिन्नता है। यहां पर प्रश्न होगा कि व्यावहारिक प्रपञ्च यदि प्रातिभासिक के जैसे प्रतिभासमात्रशरीरत्ववाला नहीं है तब वह कल्पित कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि व्यावहारिक प्रपञ्च में ज्ञाननिवर्त्यत्वेन कल्पितत्त्व की उपपत्ति हो जाती है। व्यावहारिक प्रपञ्च और प्रपञ्चाकारवृत्ति में पूर्वापरीभाव है, इसको ही स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चक्षु इन्द्रिय के जैसे ही अन्तःकरण तेजः पदार्थ है और अवयवी पदार्थ है।

स्थलापेक्षया वैलक्षण्यात्। तथा हि—अन्तःकरणं चक्षुर्वत्तेजोवयवि, तच्चेन्द्रियद्वारेण तत्संयुक्तं विषयं व्याप्य तदाकारं भवति। यथा नद्याद्युदकं प्रणाड्या निःसृत्य केदाराद्याकारं भवति, सैव वृत्तिरित्युच्यते। तत्र जीवचैतन्यमविद्योपाधिकं सत् सर्वगतमन्तःकरणोपाधिकं सत् परिच्छिन्नमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् सावयव पदार्थ है। तार्किकादिवत् निरवयव पदार्थ नहीं है। अर्थात् जैसे तेजस्त्व होने के कारण चक्षु प्रभावत् शीघ्र दूरस्थ सूर्यादि से संयुक्त रूपेण परिणत हो जाती है। उसी प्रकार तेजस्त्व होने के कारण मन भी शीघ्र ही इन्द्रियरूपद्वार से निकलकर इन्द्रियसंयुक्त विषय को व्याप्तकर विषयाकार रूप से परिणत हो जाता है। जैसे नदी, तालाबादि का जल प्रणाली (नाली) से निकलकर जैसा केदारादि का आकार होता है वैसा ही हो जाता है और जैसे नदी तालाबादि का जल नदी—तालाबादि से अविभक्त होता (नदी तालाबादि देश से वियुक्त न होता) हुआ केदारादि से संयुक्त होता है। अर्थात् नदी आदि देश से लेकर केदार देश तक फैल जाता है। उसी प्रकार देह से वियुक्त न होकर अन्तःकरण विषय से संयुक्त होता है। इस प्रकार से जब देह से अवियुक्त अन्तःकरण दीर्घ रूप से परिणत होकर इन्द्रिय सन्निकृष्ट विषय पर्यन्त फैलता है तब अन्तःकरण के इस परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का उपयोग तीन प्रकार से होता है, क्योंकि कुछ आचार्य जीवचैतन्य को अविद्योपाधिक और सर्वगत मानते हैं। अर्थात् ऐसे आचार्यों के मत में अविद्या एक होने के कारण जीव भी एक ही है और अविद्या के सर्वगत होने के कारण जीव भी सर्वगत है। कुछ आचार्यों के मत में अन्तःकरणोपाधिक जीवचैतन्य परिच्छिन्न है। अर्थात् ऐसे आचार्यों के मत में अन्तःकरण के नाना होने के कारण जीव भी नाना है और अन्तःकरण के मध्यमपरिमाण वाला होने के कारण जीव को भी मध्यम परिमाण वाला माना जाता है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष में विषय का प्रकाशक जीवचैतन्य है और द्वितीय पक्ष में विषय का प्रकाशक ब्रह्म चैतन्य है। जीव के अविद्या से उपहित और सर्वगत पक्ष में अर्थात् प्रथम पक्ष में भी जीवचैतन्य एक पक्ष में अविद्या से अनावृत माना जाता है और दूसरे पक्ष में अविद्या से आवृत माना जाता है। अर्थात् संक्षेपशारीरककार के मत में जीवचैतन्य अविद्या से अनावृत होता है, क्योंकि इस मत में अविद्या का विषय और आश्रय शुद्ध ब्रह्म है। अविद्या का यह स्वभाव होता है कि वह अपने आश्रय को आवृत करती है। अतः इस मत में शुद्ध ब्रह्म ही अविद्या का आश्रय होने के कारण अविद्या के द्वारा आवृत है। इसलिए इस पक्ष में जीव अविद्या के द्वारा अनावृत माना जाता है, क्योंकि अविद्या का आश्रय जीव नहीं है। भामतीकार के अनुसार यह कहा जाता है कि शुद्ध ब्रह्म अविद्या का विषय है आश्रय नहीं, अपितु जीव ही अविद्या का आश्रय है। अतः इस मत में जीव ही अविद्या के द्वारा आवृत माना जाता है। कहने का भाव यह है कि भामतीकार के अनुसार यह कहा जाता है कि अनुभव यह होता है कि मै ब्रह्म को नहीं जानता हूं। इस अनुभव के आधार पर जीव को ब्रह्म का अज्ञान है। अतः ब्रह्म का अज्ञान—ऐसा कहने से अज्ञान का विषय ब्रह्म हो गया और ब्रह्म का अज्ञान जीव को है। अतः जीव हो गया अज्ञान का आश्रय। संक्षेपशारीककार का कथन है कि जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म ही जब अविद्या द्वारा आवृत रहता है तभी ब्रह्म को जीव कहा जाता है। अतः ब्रह्म को ही अपना (ब्रह्म का) अज्ञान रहता है। अतः अज्ञान का विषय ब्रह्म और आश्रय भी ब्रह्म हो गया। इस प्रकार से कुल तीन मत हुए।

मतद्वयम्। तत्राद्ये विषयप्रकाशकं जीवचैतन्यं द्वितीये ब्रह्मचैतन्यम्। आद्ये पक्षेऽपि जीवचैतन्यमविद्या–नावृतमावृतञ्च।। १।।

तत्राद्ये वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था। द्वितीये त्वावरणाभिभवार्था। परिच्छिन्नत्वपक्षे तु जीवचैतन्यस्य विषयप्रकाशकतदधिष्ठानचैतन्याभेदाभिव्यक्त्यर्था। अनावृतत्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते, न तु विषयैः, असङ्गत्वात्, यथा गोत्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रथम मत में विषय प्रकाशक अविद्योपाधिक अविद्या अनावृत जीवचैतन्य है। द्वितीय मत में विषय प्रकाशक अविद्योपाधिक अविद्या आवृत जीव चैतन्य है। तृतीय मत में विषयप्रकाशक शुद्ध ब्रह्म चैतन्य है, क्योंकि जीव इस पक्ष में परिच्छिन्न होने के कारण विषय देश में न रहने से विषय का प्रकाशक नहीं माना जाता है। अतः शुद्धब्रह्मचैतन्य को इस पक्ष में विषय का प्रकाशक माना जाता है।। १।।

जिस पक्ष में विषय प्रकाशक अविद्योपाधिक अविद्या अनावृत जीव चैतन्य को माना जाता है उस पक्ष में जीव चैतन्य के असङ्ग होने के कारण उसका किसी भी विषय के साथ स्वतः उपराग नहीं रहता है। अतः जीवचैतन्य के साथ विषयोपराग स्थापित करने के लिए वृत्ति मानी जाती है। स्वप्रतिबिम्बाश्रय जो वृत्ति है तादृशवृत्ति का जो विषय के साथ संश्लेष विशेष है। उसको विषयोपराग कहा जाता है। स्व पद से चैतन्य का ग्रहण करना चाहिए। जिस पक्ष में विषयप्रकाशक अविद्योपाधिक अविद्या–आवृत जीवचैतन्य को माना जाता है उस पक्ष में आवरण के अभिभव (नाश) के लिए वृत्ति मानी जाती है। यहां पर विशेष बात यह है कि लघुचन्द्रिकाकार ने मूलस्थ '' आवरणाभिभवार्था'' का ''आवरणाभिभवार्थैव'' ऐसा सावधारण निर्देश किया है। इससे लाभ यह होता है कि प्रथम पक्ष में जीवचैतन्य के अविद्या के द्वारा अनावृत्त होने पर भी ब्रह्मचैतन्य तो आसंसार अविद्या के द्वारा आवृत्त ही है। अतः प्रथम पक्ष में भी कहीं विषयोपरागार्थ और कहीं आवरणाभिभवार्थ दोनों के लिए वृत्ति मानी जा सकती है। ऐसा इसलिए मानना पड़ता है, क्योंकि ब्रह्माकारवृत्ति विषयोपरागार्थ नहीं होती है किन्तु आवरणाभिभवार्थ ही होती है, क्योंकि ब्रह्माकारवृत्ति का विषय जो साक्षी चैतन्य है उसका वृत्ति के बिना ही ब्रह्म के साथ तादात्म्यरूप उपराग है और वृत्ति के द्वारा ही सर्वत्र विषय का उपराग होता है ऐसा नियम भी नहीं है, क्योंकि अविद्या और अविद्या की परिणामभूतवृत्तियाँ जो कि सुषुप्त्यादि में होती हैं तथा अन्तःकरण और अन्तःकरण की परिणामभूतवृत्तियाँ जो है, इन सभी का वृत्ति के बिना ही चैतन्य में उपराग है। द्वितीय पक्ष में आवरण के अभिभव के लिए ही वृत्ति है विषयोपराग के लिए नहीं। जिस पक्ष में विषयप्रकाशक शुद्ध ब्रह्म चैतन्य है अर्थात् अन्तःकरणोपाधिक जीव चैतन्य के पक्ष में विषय का प्रकाशक जो विषय का अधिष्ठान ब्रह्म चैतन्य उसके साथ जीवचैतन्य के अभेद की अभिव्यक्ति के लिए वृत्ति मानी जाती है। अर्थात् यदि कोई शङ्का करता है कि विषय का प्रकाशक शुद्ध ब्रह्म चैतन्य को मानने पर शुद्ध ब्रह्म को सदा सर्वदा सभी विषयों का ज्ञान रहेगा और जीव को किसी भी समय किसी वस्तु का ज्ञान होना सम्भव नहीं होगा। इसके समाधान में कहा गया कि जिस समय जिस विषय के आकार की वृत्ति बनेगी उस समय उस वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त विषयावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य के साथ में जीव चैतन्य का अभेद हो जायेगा, क्योंकि दोनों उपाधियां (विषय और अन्तःकरण) एक देश में हो गयी। ऐसा अभेद जब

सर्वगतमपि सास्नादिमद्व्यक्त्याऽभिव्यज्यते, न तु केसरादिमद्व्यक्त्या, यथा वा प्रदीपप्रभा आकाशगन्धरसादिव्यापिन्यपि तान्नप्रकाशयन्ती रूपसंसर्गितया रूपमेव प्रकाशयति तद्वत्, केवलाग्न्यदाह्यस्यापि अयःपिण्डादिसमारूढाग्निदाह्यत्ववच्च केवलचैतन्याप्रकाश्यस्यापि घटादेस्तत्तदाकारवृत्त्युपारूढचैतन्यप्रकाश्यत्वं युक्तम्। एवञ्चानावृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्तिद्वारा चैतन्यस्य तत्तदुपरागे तत्तदर्थप्रकाशः। आवृतत्वपक्षे तत्तदाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्न—

सत्यानन्दप्रबोधिका

तक बना रहेगा तब तक जीव चैतन्य जो कि ब्रह्म चैतन्य से अभिन्न हो गया है, उसको विषय का प्रकाशक माना जायेगा। ऐसा होने पर उसी समय उसी जीव को उसी विषय का ज्ञान होगा, अन्य विषय का ज्ञान नहीं होगा। यह वृत्ति मानने से लाभ हुआ। इस प्रकार से प्रतिकर्मव्यवस्था की भी उपपत्ति हो जाती है। अनावृतत्व पक्ष में अनावृत सर्वगत जो जीवचैतन्य है वह असङ्ग होने से तत्तदाकार वृत्ति से ही उपरक्त होता है, विषयों से नहीं। अर्थात् जीव चैतन्य का यह स्वभाव है कि वह असङ्ग है अर्थात् किसी भी विषय के साथ में उसका स्वतः सम्बन्ध नहीं रहता है किन्तु अन्तःकरण या अन्तःकरण की वृत्ति के साथ जीवचैतन्य का सम्बन्ध होता है। अतः जब विषयाकारवृत्ति के माध्यम से अनावृत और सर्वगत जीवचैतन्य जिस विषय से सम्पृक्त होता है तब उस विषय का ही प्रकाशन होता है। इस प्रकार से प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है। सर्वगत जीव चैतन्य वृत्ति में ही अभिव्यक्त होता है घटादि में नहीं। इसको दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे गोत्व जाति सर्वगत होने पर भी सास्नादि युक्त गौ व्यक्ति में ही अभिव्यक्त होती है। अर्थात् "अयं गौः" इस प्रकार व्यवहार को उत्पन्न कर देती है। केसरादि युक्त सिंह शरीर में नहीं। यह दृष्टान्त जाति सर्वगत होती है— ऐसे मतानुसार दिया गया है। जिस मत में गोत्व जाति को सर्वगोव्यक्तिगत, न कि सर्वगत माना जाता है। उस मत के अनुसार दृष्टान्त दे रहे हैं— जैसे प्रदीप की प्रभा आकाशगन्धरसादि पर व्याप्त होकर भी आकाशादि को नहीं प्रकाश करती है किन्तु रूप संसर्गि होकर रूप को ही प्रकाशित करती है। स्वरूपेण जीव चैतन्य असङ्ग होने के कारण घटादि के प्रकाशन में समर्थ न होने पर भी वृत्तिरूप उपाधि के माध्यम से घटदि के प्रकाशन में समर्थ हो जाता है। इसको दृष्टान्त से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जैसे अग्नि सर्वत्र रहते हुए भी उस अग्नि के द्वारा तृणादि का दहन नहीं होता है किन्तु जब अयः पिण्ड, कोयला—काष्ठादि पर वह अग्नि आरूढ़ हो जाती है तब उसके द्वारा तृणादि का दहन हो जाता है। इसी प्रकार केवल सर्वव्यापी जीव चैतन्य के द्वारा घटादि का प्रकाशन न होने पर भी तत्तदाकारवृत्ति में आरुढ़ जीव चैतन्य के द्वारा घटादि विषय का प्रकाशन मानना उचित ही है। ऐसा होने पर अनावृतत्त्व पक्ष में अर्थात् प्रथम पक्ष में तत्तदाकारवृत्ति के द्वारा जीव चैतन्य का तत्तद् विषय के साथ उपराग होने पर तत्तदर्थ का प्रकाश होता है। विषय प्रकाशक अविद्योपाधिक अविद्या—आवृत जीव चैतन्य के पक्ष में अर्थात् द्वितीय पक्ष में तत्तदाकारवृत्ति (तत्तद्विषयाकारवृत्ति) के द्वारा तत्तद्विषयावच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ आवरण का अभिभव हो जाने से तत्तदर्थ का प्रकाश होता है। विषयप्रकाशक शुद्धब्रह्मचैतन्य के पक्ष में अर्थात् तृतीय पक्ष में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं। इस तृतीय पक्ष में जीव का अवच्छेदक जो अन्तःकरण उसकी तत्तद्विषयाकारवृत्ति के द्वारा तत्तद्विषयावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य के साथ जीव के अभेद की अभिव्यक्ति होने पर तत्तद् विषय का प्रकाश होता है। मूलस्थ "यद्यपि"

चैतन्यावरणाभिभवेन तत्तदर्थप्रकाशः। अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपत्वे जीवस्यावच्छेदकान्तः—करणतत्तद्विषयाकारवृत्त्या तत्तद्विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तौ तत्तत्प्रकाशः। यद्यपि प्रकाशकम—धिष्ठानचैतन्यं सर्वगतं जीवचैतन्यं चान्तःकरणावच्छिन्नम्, तथापि चैतन्याभेदेनाभिव्यक्तत्वाद् व्यवस्थोपपत्तिः॥ २॥

ननु—इयं प्रतिकर्मव्यवस्था नोपपद्यते, तथा हि—स्वसन्निकृष्टेन्द्रियजन्यस्वज्ञानात् पूर्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

से इस शङ्का का समाधान किया जा रहा है कि जीव चैतन्य इस तृतीय पक्ष में जब विषय का प्रकाशक ही नहीं है अपितु ब्रह्म चैतन्य है तब किसी भी समय जीव के द्वारा विषय का प्रकाशन सम्भव न होने के कारण जीव को किसी भी समय किसी भी विषय का ज्ञान ही नहीं होगा। दूसरी शङ्का यह है कि जीव चैतन्य के परिच्छिन्न होने के कारण वह विषय देश पर वर्तमान नहीं रह सकता है। अतः जीव के द्वारा बाह्य घटादि विषयों का प्रकाशन होना सम्भव नहीं है। इन दोनों शङ्काओं का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जिस समय जीव को घटाकार वृत्ति बनेगी उस समय घटावच्छिन्न ब्रह्मचैतन्य जो कि प्रकाशक है उसके साथ में जीव के अभेद की अभिव्यक्ति हो जाने से जीव को भी घट वस्तु का प्रकाशक उस समय माना ही जायेगा किन्तु उस समय जीव को पट का प्रकाशक नहीं माना जायेगा, क्योंकि पटावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य के साथ जीव के अभेद की अभिव्यक्ति नहीं हुई है। दूसरी शङ्का का भी समाधान हो जायेगा, क्योंकि जब वाह्यविषयाकार वृत्ति बनेगी तब जीव भी वृत्ति के माध्यम से बाह्य विषय देश तक पहुँच जाता है। अतः वाह्य विषयों का ज्ञान जीव को हो जाने में कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार तीनों पक्षों में प्रतिकर्मव्यवस्था की सूपपत्ति है। यहां पर यह प्रश्न होता है कि प्रतिकर्मव्यवस्थारूप एक ही विषय के प्रतिपादन में विभिन्न प्रक्रियाओं का आश्रय क्यों किया गया? इसका समाधान यह है कि समस्त वैदिक और अवैदिक दर्शनों में एक ही विषय वस्तु का सुगमता पूर्वक बोध कराने के लिए विभिन्न प्रक्रियाओं का अनुसरण किया गया है। अतः एक वस्तु के प्रतिपादन के लिए विभिन्न प्रक्रिया का आश्रय करना दोषप्रद नहीं है। प्रकृत में विभिन्न प्रक्रियाओं की उपादेयता का समर्थन करते हुए वार्तिककार ने कहा है—

प्रक्रियानियमो नास्ति नापि पुंव्युत्पत्तिप्रधानतः।
प्रतिश्रुतिविगीतश्च प्रक्रियाणां समीक्ष्यते॥ १॥
यया—यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता॥ २॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने जो यह प्रतिकर्मव्यवस्था पूर्वोक्त प्रकार से बनायी है वह वक्ष्यमाण दोषों के रहने के कारण सिद्ध नहीं हो सकती है, क्योंकि घटादि से सन्निकृष्ट जो चक्षुरादि—इन्द्रिय, उससे जन्य जो घटादि विषयक ज्ञान है उस घटादि ज्ञान से पूर्व ही घटादि का सत्त्व होने पर प्रतीतिमात्रशरीरत्व से व्याप्त जो काल्पनिकत्व, वह घटादि में सिद्ध नहीं हो पायेगा। अर्थात् पूर्वपक्षी का आशय यह है कि जब सिद्धान्ती घट को काल्पनिक मानते हैं तब सिद्धान्ती को यह व्याप्ति माननी पडेगी कि ''यत्र यत्र काल्पनिकत्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'' किन्तु घट ज्ञान से पहले ही घट की सत्ता स्वीकार करने पर अर्थात् घट की अज्ञात सत्ता स्वीकार करने पर घटादि में व्यापक

घटादेः सत्त्वे प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याप्तकाल्पनिकत्वायोगः। न च काल्पनिकत्वविशेषः प्रातिभासिकत्वादिरेव तद्व्याप्तः, गौरवात्। न च प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेऽपि ज्ञाननिवर्त्यत्वादिनैव कल्पितत्वं भविष्यति, प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावेन ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्याप्यापाद्यत्वात्, प्रतीतेर्विश्वसत्यत्वेन वा मिथ्यात्वेऽपि स्वप्नादिवदिन्द्रियसन्निकर्षनिरपेक्षतया वोपपत्तेः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतीतिमात्रशरीरत्व नहीं रहेगा, क्योंकि ज्ञात मात्र सत्ता वाले पदार्थों में ही प्रतीतिमात्रशरीरत्व रहता है। अतः घटादि में व्यापक के न रहने से व्याप्य काल्पनिकत्व भी नहीं रहेगा। ऐसा होने पर घट को मिथ्या नहीं माना जा सकता है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''यत्र यत्र काल्पनिकत्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'' इस व्याप्ति को हम नहीं मानते हैं किन्तु ''यत्र यत्र प्रातिभासिकत्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'' इस व्याप्ति को मानते हैं। ऐसा मानने पर घट में व्याप्य और व्यापक दोनों के न रहने के कारण घटादि की अज्ञात सत्ता होने से घटादि के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने के पश्चात् घटादि का ज्ञान उत्पन्न होगा। अतः प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति भी हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि कल्पितत्व सामान्य रूप से कल्पित मात्र का ग्राहक होने से लघुभूत है और प्रातिभासिकत्व कल्पितत्व का विशेष रूप होने से गुरुभूत है। अतः प्रातिभासिकत्व में प्रतीतिमात्रशरीरत्व की व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है। जैसे गौरव होने के कारण नील धूम में वह्नि की व्याप्ति नहीं मानी जाती है, अपितु लघुभूत धूम में ही वह्नि की व्याप्ति मानी जाती है। इसलिए काल्पनिकत्व में प्रतीतिमात्रशरीरत्व की व्याप्ति मानने पर पूर्वोक्त दोष विद्यमान ही रहेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि पूर्वपक्षी के पूर्वोक्त व्याप्ति के अनुसार अनुमान का आकार होगा— ''घटादिव्यावहारिकः प्रपञ्चः, प्रतीतिमात्रशरीरः, काल्पनिकत्वात्, शुक्तिरूप्यादिवत्।'' किन्तु इस अनुमान में ''यद्यत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वं न स्यात्, तर्हि काल्पनिकत्वं न स्यात्'' इस प्रकार का अनुकूल तर्क सम्भव नहीं है, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रतीतिमात्रशरीरत्व का अभाव मानने पर भी ज्ञान निवर्त्यत्व के द्वारा काल्पनिकत्व सिद्ध हो जाता है। अर्थात् पूर्वपक्षी के द्वारा कथित अनुकूल तर्क के आधार पर यह अनुमान का आकार होगा— "व्यावहारिकः प्रपञ्चः, न काल्पनिकः, प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावात्, आत्मवत्" इस पर सिद्धान्ती ने प्रतिकूल तर्क दिया "हेतुरस्तु साध्यं मास्तु'' अर्थात् ''प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावोऽस्तु (ज्ञाननिवर्त्यत्वमस्तु) काल्पनिकत्वाभावो मास्तु (काल्पनिकत्वमस्तु)।'' इस प्रतिकूल तर्क से यह अर्थ निकला कि व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रतिभासमात्रशरीरत्व न मानने पर भी ज्ञाननिवर्त्यत्व के द्वारा काल्पनिकत्व की सिद्धि हो जाती है। अतः व्यावहारिक प्रपञ्च में प्रतिभासमात्रशरीरत्व मानकर जो प्रतिकर्म व्यवस्था का खण्डन किया गया है वह अनुचित है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि "घटादिव्यावहारिकप्रपञ्चो न ज्ञाननिवर्त्यः प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभावात्, आत्मवत्'' इस प्रकार से प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभाव के द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वाभाव का भी आपादन समझना चाहिए। ''ज्ञाननिवर्त्यत्वाभावस्यापि'' के ''अपि'' पद के द्वारा यह सूचित किया गया है कि जैसे प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभाव के द्वारा काल्पनिकत्वाभाव का आपादन किया जाता है वैसे ही प्रतीतिमात्रशरीरत्वाभाव के द्वारा ज्ञाननिवर्त्यत्वाभाव का भी आपादन किया जा सकता है। अतः प्रतीतिमात्रशरीरत्व के प्रपञ्च में रहने से प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति नहीं होगी। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि व्यावहारिक प्रपञ्च को प्रतीतिमात्रशरीर वाला मानने

व्यावहारिकत्वस्यापि भ्रान्तिदैर्घ्यमात्रेणोपपत्तेश्चेति चेत्, मैवम्, प्रतीतिमात्रशरीरत्वस्य कल्पितत्वं न व्याप्यम्, दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्त्यादिसहकृतोक्तानुमानात् प्रपञ्चे कल्पितत्वे सिद्धे, प्रत्यभिज्ञाबलाच्च स्थायित्वे तत्रैव व्यभिचारात्।। ३।।

न च—शुक्तिरूप्यादिप्रत्यभिज्ञासाम्यं प्रकृतप्रत्यभिज्ञाया इति—वाच्यम्, प्रतीत्यविशेषेऽपि

सत्यानन्दप्रबोधिका

पर प्रपञ्च ज्ञान के पूर्व में घटादि प्रपञ्च के न रहने के कारण इन्द्रिय सन्निकर्ष के अभाव के कारण प्रत्यक्षप्रतीति नहीं हो पायेगी जब कि प्रत्यक्षप्रतीति होती है। अतः कल्पित होने पर भी प्रपञ्च में प्रतीति मात्र शरीरत्व नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के द्वारा व्यावहारिक प्रपञ्च को काल्पनिक मानते हुए भी प्रतीतिमात्रशरीर न मानकर व्यावहारिक प्रपञ्च के प्रत्यक्ष प्रतीति की उपपत्ति जिस प्रकार से की जा रही है वह उचित नहीं है क्योंकि ''यत्र यत्र काल्पनिकत्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्'' इस व्याप्ति से विरोध है। अतः विश्व को सत्य मानकर ही प्रत्यक्ष प्रतीति की उपपत्ति कर लेना युक्ति सङ्गत है। यदि सिद्धान्ती व्यावहारिक प्रपञ्च को काल्पनिक मानने का आग्रह करते हैं तो स्वप्नादि पदार्थ का जैसे इन्द्रियसन्निकर्ष के विना ही साक्षी के द्वारा प्रत्यक्ष होता है वैसे ही व्यावहारिक प्रपञ्च का भी इन्द्रियसन्निकर्ष के बिना ही साक्षी प्रत्यक्ष मान लेना चाहिए। ऐसा होने पर स्वप्नादिपदार्थ के जैसे ही व्यावहारिक पदार्थ में भी प्रतीतिमात्रशरीरत्व की उपपत्ति हो जाने से उक्त व्याप्ति के साथ विरोध भी नहीं होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती प्रश्न करें कि व्यावहारिक प्रपञ्च और प्रातिभासिक प्रपञ्च दोनों में ही प्रतीतिमात्रशरीरत्व मानने पर दोनों में भेद क्या होगा? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि दीर्घकालीन भ्रान्ति के विषय को व्यावहारिक पदार्थ कहा जायेगा और स्वल्प कालीन भ्रान्ति के विषय को प्रातिभासिक पदार्थ कहा जायेगा। इस प्रकार से दोनों में भेद सिद्ध हो जायेगा। अतः व्यावहारिक प्रपञ्च को काल्पनिक मानने पर उसमें प्रतीतिमात्रशरीरत्व मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर प्रतिकर्मव्यवस्था सिद्ध नहीं हो पायेगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र कल्पितत्त्वं तत्र तत्र प्रतीतिमात्रशरीरत्वम्।'' ऐसी पूर्वपक्षी की व्याप्ति निर्दुष्ट नहीं है, क्योंकि ''प्रपञ्चो यदि मिथ्या न स्यात् तर्हि दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिः न स्यात्'' इस अनुकूल तर्क के द्वारा सहकृत प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान से घटादि प्रपञ्च में काल्पनिकत्व सिद्ध है, किन्तु ''सोऽयं घटः'' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के द्वारा ज्ञान काल से भिन्न काल में रहने वाला घटादि के सिद्ध हो जाने से घटादि में प्रतीतिमात्रशरीरत्व के न रहने से घटादि व्यावहारिक प्रपञ्च में कल्पितत्व हेतु व्यभिचरित है। अतः पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति व्यभिचारदोष से ग्रस्त होने के कारण खण्डित हो गयी।। ३।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रतिभासमात्रकाल स्थायी शुक्तिरूप्यादि में सादृश्य के कारण "तदेवेदं रजतम्" इस प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शुक्तिरूप्यादि में स्थायित्व सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि शुक्तिरूप्य की प्रत्यभिज्ञा प्रमा नहीं है अपितु भ्रम है। इसी प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च स्थल पर ''सोऽयं घटः'' ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी पूर्वदृष्ट घट और अधुनादृष्ट घट में सादृश्य के कारण होने से भ्रमरूप है। अतः भ्रमप्रत्यभिज्ञा के आधार पर न स्थायित्व सिद्ध होगा और न उक्त व्याप्ति में व्यभिचार ही होगा। इस

वणिग्वीथीस्थशुक्तिरूप्ययोः परीक्षितत्वापरीक्षितत्वाभ्यां स्थायित्वास्थायित्वरूपविशेषसम्भवात्। तथापि (वा) परोक्षवृत्तेरिवापरोक्षवृत्तेरपि प्रकाश(क)त्वमस्तु, किं तदुपरक्तचैतन्येनेति चेन्न, परोक्षस्थलेऽपि परोक्षवृत्त्युपरक्तचैतन्यस्यैव प्रकाशकत्वात्। अथ तत्राप्यपरोक्षैकरसचैतन्योपरागे विषयापरोक्ष्यप्रसङ्गः, न, विषयचैतन्याभिव्यक्तावेव विषयस्यापरोक्षम्। न च परोक्षस्थले तदस्ति, विषयेन्द्रियसन्निकर्षाभावेन विषयपर्यन्तं वृत्तेरगमनात्, अन्तरेव तत्र धीसमुल्लासात्। अपरोक्षस्थले

सत्यानन्दप्रबोधिका

शङ्का का समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्यावहारिक रजत स्थल पर और प्रातिभासिक रजत स्थल पर ''तदेवेदं रजतम्'' इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा यद्यपि समानरूप से होती है तथापि आपणस्थ व्यावहारिक रजत तथा शुक्ति में कल्पित प्रातिभासिक रजत में परीक्षितत्व–अपरीक्षितत्व प्रयुक्त स्थायित्व और अस्थायित्व रूप विशेष (भेद) सम्भव होने के कारण आपणस्थ व्यावहारिक रजत स्थायी और शुक्ति में कल्पित रजत अस्थायी है। अतः स्थायी घटादि प्रपञ्च में व्यभिचारदोष होगा। पूर्वपक्षी का कथन है कि पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति होने पर भी वृत्ति को ही विषय का प्रकाशक मानना चाहिए। चैतन्य को विषय का प्रकाशक मानना व्यर्थ है। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे परोक्ष स्थल पर परोक्ष वृत्ति से ही विषय का प्रकाश होता है न कि वृत्ति में अभिव्यक्त अधिष्ठान चैतन्य के द्वारा, क्योंकि अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्षवृत्ति के द्वारा ही होती है, न कि परोक्षवृत्ति से, ऐसी ही सिद्धान्ती की मान्यता है। इसी प्रकार अपरोक्ष विषयक वृत्ति के द्वारा ही विषय का प्रकाशन मानना चाहिए न कि वृत्ति अभिव्यक्त चैतन्य को। अर्थात् वृत्ति में अभिव्यक्त अधिष्ठान चैतन्य ही विषय प्रकाशक है– ऐसी कल्पना व्यर्थ है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि वृत्ति जड़ है। इसलिए उसको परोक्ष अथवा अपरोक्ष स्थल पर कभी भी प्रकाशक नहीं माना जाता है। इसलिए पूर्वपक्षी ने यह जो आरोप लगाया था कि सिद्धान्त मत में परोक्षवृत्ति को प्रकाशक माना जाता है– वह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि परोक्ष और अपरोक्ष उभय स्थल पर ही विषय का प्रकाशक अभिव्यक्तचैतन्य को ही माना जाता है। उभय स्थलों में अन्तर केवल इतना है कि अपरोक्ष स्थल पर विषयावच्छेदेन विषयाधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है जब कि परोक्ष स्थल पर वृत्यवच्छेदेन चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि परोक्ष स्थल पर वृत्ति विषय देश पर जाकर नहीं बनती है अपितु अन्दर ही बनती है। इस पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि परोक्ष स्थल पर भी चैतन्य को ही विषय का प्रकाशक मानोगे तब तो परोक्ष स्थल पर भी विषय का अपरोक्ष होना चाहिए, क्योंकि चैतन्य अपरोक्षैकरसात्मक स्वभाव वाला माना जाता है। ऐसे चैतन्य से जब विषय का सम्बन्ध होगा तब विषय का अपरोक्ष ही होगा न कि परोक्ष। ऐसी शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि विषय के अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर ही विषय का अपरोक्ष होता है न कि वृत्ति उपरक्त चैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर विषय का अपरोक्ष होता है। परोक्ष स्थल पर विषयावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती नहीं है, क्योंकि विषय के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने के कारण विषय पर्यन्त वृत्ति जाती नहीं है, अपितु शरीर के अन्दर ही अन्तःकरण का विषयाकार परिणाम होता है। अपरोक्ष स्थल पर प्रमातृ चैतन्य के साथ अभेदेन अभिव्यक्त जो विषयावच्छिन्न अधिष्ठान चैतन्य है, उस चैतन्य का उपराग विषय के साथ होने से विषय का अपरोक्ष होता है। यह समाधान प्रतिकर्मव्यवस्था में

तु प्रमातृचैतन्याभेदाभिव्यक्ताधिष्ठानचैतन्योपरागो विषयेऽस्ति, तत्र विषयस्य कर्मकारकत्वात्॥ ४॥

न च वृत्तिगतविशेषादापरोक्ष्यम्, तत्र हि विशेषो विषयकृतश्चेदोमिति ब्रूमः। जातिकृत–स्तु विशेषो न सम्भवति, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञायां परोक्षत्वापरोक्षत्वयोः सङ्करप्रसङ्गात्, अव्याप्यवृतित्वात्, प्रमात्वादिना सङ्करप्रसङ्गाच्च। किञ्च वृत्तेर्जड़त्वादेव न प्रकाशकत्वम्। न च—वृत्तावन्तःकरणावृत्त्यपि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानत्ववदिति—वाच्यम्, स्वप्रकाशात्मसम्बन्धेनैव तस्याः

सत्यानन्दप्रबोधिका

उक्त तृतीय पक्ष का आलम्बन करके दिया गया हैं। अपरोक्ष स्थल पर वृत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में नियत रूप से विषय वर्तमान रहता है। अतः अपरोक्ष स्थल पर वृत्ति के प्रति कारणता विषय में मानी जाती है। इसलिए अपरोक्ष स्थल पर विषय को कर्मकारक कहा जाता है। अर्थात् वृत्तिरूप क्रिया का जनक कर्म (विषय) है॥ ४॥

सिद्धान्त पक्ष से विषयावच्छेदेन अभिव्यक्त अधिष्ठान चैतन्य को अपरोक्ष ज्ञान कहा गया और वृत्यवच्छेदेन अभिव्यक्त चैतन्य को परोक्षज्ञान कहा गया। इस प्रकार चैतन्यगत विशेष से ही ज्ञान में अपरोक्षत्व आता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि चैतन्यगत विशेष से ज्ञान में अपरोक्षत्व आता है ऐसा न मानकर वृत्तिगत विशेष से ही ज्ञान में अपरोक्षत्व आता है ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय? अर्थात् एक विशेष प्रकार की वृत्ति को ही अपरोक्ष क्यों न कहा जाय? ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि यदि वृत्तिगत वह विशेष विषय प्रयुक्त है तब तो हमें भी इष्टापत्ति है। अर्थात् अपरोक्षवृत्ति में परोक्षवृत्ति की अपेक्षा विषयकृत जो विशेष है वह यह हैं कि अपरोक्षवृत्ति स्थल पर अभिव्यक्त अपरोक्ष स्वरूप अधिष्ठान चैतन्य के साथ विषय का उपराग है। जो कि परोक्ष वृत्ति स्थल पर विषय में नहीं है। अतः उस वृत्ति को अपरोक्ष कहा जायेगा, जिसका विषय अनावृत्त अधिष्ठानचित् के साथ तादात्म्यापन्न है। ऐसा हमें भी इष्ट है। वृत्ति में अपरोक्षत्व और परोक्षत्व रूप जाति कृत विशेष तो माना नहीं जा सकता है, क्योंकि सङ्कर दोष होगा। जैसे अपरोक्षत्व अभाव वाली परोक्ष अनुमित्यात्मिकावृत्ति में परोक्षत्व है और परोक्षत्व अभाववाली "अयं घटः" इस अपरोक्षात्मिकावृत्ति में अपरोक्षत्व है। इस प्रकार से परोक्षत्व और अपरोक्षत्व परस्पर अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण होते हुए भी ''सोऽयम्'' इस प्रत्यभिज्ञा में साथ–साथ रह जाते हैं। अतः वृत्ति में जातिकृत विशेष नहीं माना जा सकता है। वृत्तिगत जातिकृत विशेष मानने पर दूसरा दोष यह होगा कि जाति जहां रहती है वह सम्पूर्ण आश्रय को व्याप्त करके रहती है। जैसे गोत्व जाति सम्पूर्ण गौ के शरीर में रहती है न कि गौ के एक पूछ या सींग में। जब कि अपरोक्षत्व और परोक्षत्व ''सोऽयम्'' इस प्रत्यभिज्ञा के एक–एक अंश में रहते हैं। अतः अव्याप्यवृत्ति होने के कारण अपरोक्षत्व और परोक्षत्व को जाति ही नहीं माना जा सकता है। इसलिए अपरोक्षत्व और परोक्षत्व के जाति न होने के कारण इसको जाति मान कर वृत्तिगत विशेष सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अपरोक्षत्व और परोक्षत्व को जाति मानने पर तृतीय दोष दे रहे हैं कि प्रमात्वादि के साथ भी सङ्कर दोष होगा। जैसे प्रमात्व–अभाव वाले अपरोक्षभ्रम में अपरोक्षत्व है और अपरोक्षत्व अभाव वाले परोक्ष प्रमा में प्रमात्व है। अपरोक्ष प्रमा में प्रमात्व और अपरोक्षत्व दोनों ही रहते हैं। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्त मत में ब्रह्म को छोड़कर सभी को जड़ पदार्थ माना जाता है। अतः वृत्ति के जड़ होने के कारण उसमें कभी भी प्रकाशकत्व बन ही नहीं सकता। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा हैं

प्रकाशत्वोपपत्तौ तत्स्वप्रकाशत्वे मानाभावात्। किञ्च घटं जानामीत्यनुभूयमानसकर्मकवृत्त्यन्या संविद् घटप्रकाशरूपा घटः प्रकाशत इत्याकारकानुभवसिद्धैव। न च करोति यतते चलति गच्छतीत्यादावेकार्थत्वेऽपि सकर्मकाकर्मकस्वभावत्वदर्शनादत्राप्येकार्थत्वेऽपि तथा स्यादिति वाच्यम्, तत्राप्येकार्थत्वाभावात्। अनुकूलयत्नो हि कृञ्धात्वर्थः, यत्यर्थस्तु यत्नमात्रम्। एवं गम्यर्थ उत्तरसंयोगफलकः स्पन्दः, चलत्यर्थस्तु स्पन्दमात्रम्, तथा चैकार्थकत्वे कुत्रापि न सकर्मकत्वाकर्मकत्वव्यवस्था।। ५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि जैसे अन्तःकरण में न रहने वाले ज्ञानत्व धर्म को अन्तःकरण की वृत्ति में माना जाता है। उसी प्रकार अन्तःकरण में न रहने वाले स्वप्रकाशत्व धर्म को भी वृत्ति में मानना चाहिए। ऐसा मानने पर वृत्ति में प्रकाशकता सिद्ध हो जायेगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है,क्योंकि स्वप्रकाश आत्मा के साथ तादात्म्याध्यासरूप सम्बन्ध से ही जब वृत्ति में प्रकाशत्व की उपपत्ति हो जाती है तब उसमें स्वतन्त्र रूप से प्रकाशत्व नहीं माना जा सकता है, क्योंकि वृत्ति में स्वतन्त्र रूप से प्रकाशत्व के मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि सकर्मक क्रिया को अकर्मकक्रिया और अकर्मक क्रिया को सकर्मक क्रिया नहीं माना जा सकता है। अतः ''घटं जानामि'' यहां पर सकर्मिका ही क्रिया है और ''घटः प्रकाशते'' यहां पर अकर्मिका ही क्रिया है। इस प्रकार उक्त स्थलों पर एक सकर्मक और दूसरी अकर्मक दो प्रकार की क्रिया है। इसलिए ''घटं जानामि'' इस प्रकार के अनुभव से एक प्रकाश सकर्मक प्रतीत होता है अर्थात् "घटं जानामि"यहां पर सकर्मक ज्ञा धातु का अर्थ वृत्ति है और ''घटः प्रकाशते'' इस प्रकार के अनुभव से द्वितीय प्रकाश अकर्मक प्रतीत होता है। उसका अर्थ स्वप्रकाश ब्रह्मस्वरूप ज्ञान है। यह द्वितीय प्रकाश वृत्तिरूप प्रकाश से भिन्न है। अतः वृत्ति में प्रकाशत्व नहीं माना जा सकता है। पुनः पूर्वपक्षी की शङ्का है क्रिया के सकर्मक और अकर्मक होने से उनके अर्थों में भेद सिद्ध नहीं होता है। जैसे ''घटं करोति'' ''घटाय यतते'' यहां पर दोनों धातुए एकार्थक होने पर भी कृधातु सर्कमक और यत् धातु अकर्मक है। इसी प्रकार "देवदत्तः ग्रामाय चलति," ''देवदत्तः ग्रामं गच्छति'' यहाँ पर 'चल' धातु अकर्मक और 'गम' धातु सकर्मक होने पर भी उन दोनों धातुओं का अर्थ एक ही है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में ''घटं जानामि'' और ''घटः प्रकाशते'' यहां पर एक क्रिया सकर्मक और दूसरी क्रिया अकर्मक होने पर भी दोनों क्रियाओं का एक ही अर्थ लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतः उक्त दोनों क्रियाओं का अर्थ वृत्ति किया जा सकता है। ऐसा होने पर वृत्ति में प्रकाशत्व माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि करोति, यतते तथा चलति, गच्छति इन धातुओं में भी एकार्थत्व का अभाव है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रकृत कार्य के अनुकूल जो यत्न है वह 'कृञ्' धातु का अर्थ होता है, और अनुकूल प्रतिकूल साधारण यत्न मात्र यति धातु का अर्थ होता है। इसी प्रकार उत्तरसंयोग फलक जो स्पन्द है वह गम् धातु का अर्थ है और स्पन्दमात्र अर्थ चल धातु का है। अर्थात् उत्तरसंयोगफलक स्पन्द पूर्वसंयोगफलकादिस्पन्द साधारण 'चल' धातु का अर्थ है। इसलिए धात्वर्थ के भेद के बिना अर्थात् एक ही अर्थ में सकर्मकत्व और अकर्मकत्व की व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए सकर्मक 'ज्ञा' धातु का अर्थ वृत्ति रूप ज्ञान है और अकर्मक 'काशृ' धातु का अर्थ ब्रह्मस्वरूपज्ञान है। इसलिए वृत्ति में प्रकाशकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।। ५।।

न च—त्वन्मते परिणतेरकर्मकत्वात्, परिणतिविशेषभूताया वृत्तेः कथं सकर्मकत्वमिति—वाच्यम्, एकस्य हि सकर्मकत्वाकर्मत्वे एकरूपेण विरुद्धे न तु रूपान्तरेणापि, मानाभावात्, यथा स्थितेरकर्मिकाया अपि अगमनत्वेन रूपेण सकर्मकत्वम्, तथा परिणतित्वेन रूपेणाकर्मिकाया अपि वृत्तेः ज्ञानत्वेन सकर्मकत्वं भविष्यतीत्यदोषः। ननु तर्ह्यतीतः प्रकाशते इति धीर्न स्यात्, न, इष्टापत्तेः, तत्रापि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यसत्त्वेन प्रकाशत इत्यादि प्रयोगसम्भवाच्च। ननु यथाऽज्ञानविरोधिवृत्तावनुभवत्वं नास्ति, किन्तु अन्यत्र, तथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत में ''परिणति'' क्रिया को जब अकर्मक माना जाता है तब अन्तःकरण के परिणाम विशेष वृत्तिरूप क्रिया भी अकर्मक ही होनी चाहिए। अतः सिद्धान्ती का यह कथन अनुचित है कि सकर्मक ज्ञा धातु का अर्थ वृत्ति है, क्योंकि ज्ञा धातु सकर्मक है न कि अकर्मक। अर्थात् सकर्मक ज्ञा धातु का अर्थ अकर्मक वृत्ति रूप क्रिया नहीं लिया जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस रूप से कोई धातु सकर्मक हो सकती है उसी रूप से वह धातु अकर्मक नहीं हो सकती है। क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं होता, किन्तु रूपान्तर से अकर्मक हो सकती है। जैसे ''ग्रामे तिष्ठति'' यहां पर गतिनिवृत्तिरूप स्थिति अकर्मक है किन्तु ''ग्रामं न गच्छति'' इस प्रतीति के आधार पर उस स्थिति में अगमनत्व रूप से सकर्मकत्व है। इसी प्रकार ''अन्तःकरणं घटरूपेण परिणमते'' यहां पर परिणतित्वेन वृत्ति अकर्मक है और ''घटं जानामि'' यहां पर ज्ञानत्वेन वृत्ति सकर्मक है। इस प्रकार से मानने में कोई भी दोष नहीं है। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हुए कह रहा है कि ''घटः प्रकाशते'' यहां पर अकर्मक काशृ धातु का अर्थ ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करने पर वर्तमान घट के लिए ही ''घटः प्रकाशते'' यह प्रयोग हो सकता है, क्योंकि वर्तमान घट के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर जो प्रत्यक्षात्मिका वृत्ति उत्पन्न होगी उसी में चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है,किन्तु अतीत घट के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष न होने के कारण अतीत घटाकार प्रत्यक्षात्मिका वृत्ति नहीं बनेगी और उसमें चैतन्य की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। अतः "अतीतः प्रकाशते" इत्याकारिका धी नहीं होनी चाहिए। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "अतीतः प्रकाशते" ऐसी धी नहीं होती है अपितु ''अतीतं जानामि'' ऐसी ही धी होती है। अर्थात् ''प्रकाशते'' इस धी का विषय अनावृत्त चित्तादात्म्य को मानने पर उक्त स्थल पर उक्तविध चैतन्य के न होने से अतीत विषय में उक्त प्रकार की धी हम लोग भी नहीं मानते हैं। यदि ''अतीतः प्रकाशते'' इत्याकारिका धी मान भी ली जाय तो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि शरीर के अन्दर विद्यमान अनुमितिशाब्दबोधात्मिका अतीतविषयक परोक्ष वृत्ति, उसमें भी चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है। अतः ''अतीतः प्रकाशते'' यह प्रयोग हो ही सकता है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अभाव का अपने प्रतियोगी से विरोध होता है। अतः अज्ञान का विरोधी ज्ञान होगा किन्तु सिद्धान्ती अज्ञान का विरोधी जिस वृत्ति को मान रहे हैं उसमें ज्ञानत्व नहीं मान रहे हैं और जिस प्रकाशस्वरूप चैतन्य में ज्ञानत्व मान रहे हैं, वह अज्ञान का विरोधी नहीं है अपितु अज्ञान का साधक है। अतः यदि अज्ञान विरोधी वृत्ति से अन्यत्र (वृत्त्यभिव्यक्त चैतन्य) में ज्ञानत्व मानेंगे तब तो द्वेष विरोधी वृत्ति में इच्छात्व न मानकर कहीं अन्यत्र ही मानना चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि दार्ष्टान्त में बाधक प्रमाण के सद्भाव के कारण अज्ञान

द्वेषविरोधिवृत्तेरन्यत्रेच्छात्वमित्यपि स्यादिति चेन्न, बाधकसत्त्वासत्त्वाभ्यां विशेषात्, अत्रेव तत्र सकर्मकाकर्मकविलक्षणक्रियाननुभवाच्च। यथा च वृत्त्यतिरिक्तभानसिद्धिस्तथा स्वयंज्योतिष्ट्व– प्रस्तावे विस्तरेण वक्ष्यामः।। ६।।

ननु–अस्तु चैतन्यस्य विषयप्रकाशकत्वम्, तथाप्यन्तःकरणस्य देहान्निर्गतिः न कल्प्या, परोक्षवैलक्षण्याय विषयस्याभिव्यक्तापरोक्षचिदुपराग एव वक्तव्यः, चिदुपरागादौ चापरोक्ष–

सत्यानन्दप्रबोधिका

विरोधी वृत्ति में ज्ञानत्व नहीं माना गया है। वृत्ति का जड़ होना ही वृत्ति को ज्ञान मानने में बाधक है। दृष्टान्त में बाधक प्रमाण का सद्भाव न होने के कारण द्वेष विरोधी वृत्ति में इच्छात्व माना जाता है। इस प्रकार बाधक प्रमाण का सत्त्व और बाधक प्रमाण का असत्त्व के द्वारा दृष्टान्त दार्ष्टान्त में वैषम्य है। दूसरी बात यह है कि अज्ञान विरोधी वृत्ति स्थल पर ''घटं जानामि'' इस प्रकार सकर्मक क्रिया का अनुभव होता है और चैतन्य स्वरूप ज्ञान स्थल पर ''घटः प्रकाशते'' इस प्रकार अकर्मक क्रिया का अनुभव होता है। वैसे ही द्वेष विरोधी वृत्ति और इच्छा में सकर्मकत्व और अकर्मकत्व का विरोध नहीं प्रतीत होता है अपितु सुखमिच्छति, सुख– साधनमिच्छति इत्यादि अनुभव से नियम से सकर्मकत्व ही सिद्ध होता है। जिस प्रकार से वृत्ति से अतिरिक्त स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप ज्ञान होता है– इसका विशेष विवेचन स्वयम्प्रकाशोपपत्ति प्रकरण में किया जायेगा।। ६।।

विषय की अपरोक्षता के लिए अन्तःकरण की वृत्ति का बहिर्निर्गमन की कल्पना व्यर्थ है– इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि चैतन्य में विषय की प्रकाशकता स्वीकार कर लेने पर भी अन्तःकरण का देह से निर्गमन की कल्पना उचित नहीं है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि विषय के साथ वृत्ति के सम्बन्ध के बिना विषय के साथ चिदुपराग ही सम्भव नहीं है, क्योंकि जहां पर वृत्ति का सम्बन्ध होता है वहीं पर विषय के साथ चिदुपराग होता है। अतः वृत्यवच्छिन्न विषय में चिदुपराग होने के कारण उसके लिए वृत्ति का देह से बहिर्गमन पूर्वक विषय देश तक जाना आवश्यक है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अपरोक्ष विषय का परोक्ष विषय से भेद की सिद्धि के लिए सिद्धान्ती के द्वारा अपरोक्ष विषय में अभिव्यक्त अपरोक्ष चैतन्य का उपराग माना जाता है। उक्त अपरोक्ष विषयनिष्ठ अपरोक्षचैतन्य के उपराग में अपरोक्ष वृत्ति की विषयाकारता ही नियामक है। अर्थात् घटाद्याकार अपरोक्ष वृत्ति बनने से ही घटादिविषय का अभिव्यक्त–अपरोक्षचित् के साथ उपराग हो जायेगा और उस विषयाकारता के लिए वृत्ति का बाहर निकलकर विषय के साथ सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि परोक्ष स्थल पर देखा गया है कि वृत्ति का विषय के साथ सम्बन्ध के बिना ही अर्थात् वृत्ति का शरीर से बाहर जाकर विषय के साथ संयोगादि सम्बन्ध के बिना ही परोक्ष वृत्ति विषयाकार हो जाती है। अर्थात् परोक्ष वृत्ति में विषयाकारत्व तो रहता है किन्तु विषय देश में अन्तःकरण का गमन नहीं माना जाता है। इसलिए परोक्ष स्थल में अन्तःकरण का विषय के साथ संयोगादि रूप सम्बन्ध भी नहीं माना जाता है। इसी प्रकार अपरोक्ष स्थल में भी अन्तःकरण की विषयाकारता के लिए अन्तःकरण का बहिर्गमन और विषय के साथ संयोगादि रूप सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। अर्थात् शरीर के भीतर ही विषयाकार अपरोक्ष वृत्ति का उत्पन्न होना मानना चाहिए। इस पर प्रश्न होता

वृत्तेस्तदाकारत्वमेव तन्त्रम्, तस्याश्च तत्संश्लेषं विनापि परोक्षवृत्तेरिव तत्सन्निकृष्टकरणजन्य–त्वेनैवोपपत्तिः, न तु प्रभाया इव वृत्तेस्तदावरणनिवर्तकत्वादौ तत्संश्लेषस्तन्त्रम्, नेत्रान्निर्गच्छ–द्ध्रुवाद्याकारवृत्त्यैव स्वसंश्लिष्टनेत्रस्थकज्जलादेर्ध्रुवनेत्रमध्यवर्तिनः परमाण्वादेश्चापरोक्षत्वापातादिति–चेत्।। ७।।

न, विषयेष्वभिव्यक्तचिदुपरागे न तदाकारत्वमात्रं तन्त्रम्, परोक्षस्थलेऽपि प्रसङ्गात्, किन्तु तत्संश्लेषः, प्रभाया विषयसन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वदर्शनात्, तैजसस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

है कि यदि दोनों प्रकार की वृत्ति शरीर के भीतर ही बनती है तब परोक्षत्व अपरोक्षत्व का विभाग कैसे होगा? इसका उत्तर देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जो वृत्ति विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय से जन्य होगी उसमें अपरोक्षत्व रहेगा और जो वृत्ति विषयसन्निकृष्ट इन्द्रिय से जन्य नहीं होगी उसमें परोक्षत्व रहेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जैसे प्रभा को विषय के आवरण के निवर्तन के लिए विषय के साथ प्रभा का सम्बन्ध होना आवश्यक है ठीक उसी प्रकार वृत्ति को विषयावच्छिन्न चैतन्य के आवरण के निवर्तन के लिए विषय के साथ वृत्ति का सम्बन्ध होना आवश्यक है। अतः बाह्य विषयक ज्ञान स्थलों के पदार्थों के प्रकाशन के लिए वृत्ति का देह से बाहर निकलना आवश्यक है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे स्वविषयनिष्ठ अन्धकाररूप आवरण निवर्तकत्व में प्रभा का विषय के साथ संयोगादि सम्बन्ध नियामक है। उसी प्रकार वृत्ति को विषयनिष्ठ आवरणनिवर्तकत्व में विषय के साथ संयोगादि सम्बन्ध नियामक नहीं है, क्योंकि नेत्र से निकलकर ध्रुवादि तक पहुंची जो ध्रुवाद्याकारवृत्ति है उस वृत्ति से सन्निकृष्ट जो नेत्रस्थ कज्जलादि एवं नेत्र और ध्रुवादि के मध्यवर्ती परमाणु पुञ्ज, आकाशादि के अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि नेत्रस्थकज्जलादि और परमाणुपुञ्ज तथा आकाशादि से वृत्ति का संयोगादि सम्बन्ध होने से कज्जलादिगत आवरण की निवृत्ति हो जाने से कज्जलादि का अपरोक्ष होना चाहिए, जबकि होता नहीं है। इसलिए सन्निकृष्ट विषय के प्रकाशन के लिए भी वृत्ति का शरीर से बाहर निकलना नहीं माना जा सकता है।। ७।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''यत्र वृत्तेः विषयाकारत्वं तत्र विषयेषु अभिव्यक्तचिदुपरागः'' ऐसा हम नहीं मानते हैं, क्योंकि वृत्ति के विषयाकारत्व मात्र को विषय में अभिव्यक्त चैतन्य के उपराग के प्रति प्रयोजक मानने पर परोक्ष स्थल पर भी वृत्ति के विषयाकारत्व होने के कारण विषय में चिदुपराग होने से विषय के अपरोक्षत्व की आपत्ति होगी। इसलिए प्रतिकर्मव्यवस्था के निरूपण के प्रारम्भ में सिद्धान्ती ने जो तीन पक्षों का प्रतिपादन किया था, उसमें से प्रथम पक्ष का आलम्बन करके सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वृत्ति का विषय के साथ सम्बन्ध होने पर वृत्तिगत अभिव्यक्तचित् के साथ विषय का सम्बन्ध होगा तब विषय का अपरोक्ष होगा। अतः विषय के साथ वृत्ति का संयोगादि सम्बन्ध ही विषयनिष्ठ अभिव्यक्तचित् के उपराग का प्रयोजक है। दूसरी बात यह है कि ''विषयसन्निकृष्टतैजसपदार्थसत्त्वे आवरणाभिभवसत्त्वम्। तदभावे तदभावः'' ऐसा अन्वयव्यतिरेक प्रभादि तैजस पदार्थ स्थल पर देखा गया है। अतः इस अन्वयव्यतिरेक के द्वारा आवरण अभिभव का कारण (आवरण अभिभावक) विषय सन्निकृष्ट तैजस पदार्थ को मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर तैजस पदार्थ मन का भी अज्ञान रूप आवरण के अभिभव के लिए विषय के साथ सम्बन्ध आवश्यक है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि यदि वृत्ति

मनसोऽप्यज्ञानरूपावरणाभिभवाय तत्संश्लेष आवश्यकः, ध्रुवादिदेहमध्यवर्तिपरमाण्वादावतिप्रसङ्गस्तु तदाकारत्वप्रयोजकसामग्रीविरहादेव परिहरणीयः, अन्यथेन्द्रियसन्निकर्षादेर्विद्यमानत्वात् परमाण्वाद्याकारताया दुर्निवारत्वापत्तेः। तस्मात् प्रभाऽविशेषान्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् क्लृप्तं सन्निकृष्टतेजस्त्वेनावरणाभिभावकत्वम्, तस्य तदाकारत्वरूपविशेषापेक्षायामपि न त्यागः। न हि पृथिवीत्वगन्धत्वादिना कार्यकारणभावे आवश्यके अनित्यगुणत्वद्रव्यत्वादिना तत्त्यागः। अत एव—तदितरहेतुसाकल्ये सति घटचक्षुःसन्निकर्षस्यैव घटानुभवजनकत्वम्, न तु घटमनःसन्निकर्षस्य,

सत्यानन्दप्रबोधिका

में स्वसंयुक्त पदार्थ की भासकता मानी जाती है तब नेत्रस्थकज्जलादि के प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। उसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रत्यक्षात्मकवृत्ति के विषयाकारत्व की प्रयोजक सामग्री अतिसामीप्याभाव, महत् परिमाण, उद्भूतरूप इत्यादि हैं। अर्थात् जिस विषय में अतिसामीप्याभाव, महत् परिमाणादि रहेगा, उस विषय के आकार की प्रत्यक्षात्मक वृत्ति बनेगी, वृत्ति के विषयाकारत्व की ऐसी प्रयोजक सामगी स्वीकार करने पर नेत्रस्थकज्जल और ध्रुवादि तथा देह के मध्यवर्ती परमाणु आदि के प्रत्यक्ष की आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि उक्त प्रयोजक सामग्री के अभाव के कारण नेत्रस्थ कज्जलादि के आकार की प्रत्यक्षात्मक वृत्ति ही नहीं बनेगी। यदि पूर्वपक्षी विषय के प्रत्यक्ष के लिए अतिसामीप्याभावादि उक्त सामग्री को नहीं स्वीकार करता है। तब तो पूर्वपक्षी के मत में भी दोष होगा, क्योंकि पूर्वपक्षी विषय के प्रत्यक्ष स्थल पर देह से बाहर मन का निकलना न स्वीकार करता हुआ भी इन्द्रिय का बाहर निकलना स्वीकार करता है। अतः इन्द्रिय के द्वारा ध्रुवादि का प्रत्यक्ष करते समय ध्रुवादि देश तक जाने वाले चक्षु इन्द्रिय के साथ परमाणु आदि का भी सन्निकर्ष होने से उनके प्रत्यक्ष की आपत्ति होगी। प्रभा स्थल पर यह जो देखा गया है कि —''विषयसन्निकृष्टतैजसपदार्थसत्त्वे आवरणाभिभवसत्त्वम्, तदभावे तदभावः।'' इस अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध यह जो सामान्य नियम है कि किसी वस्तु के द्वारा आवरण के अभिभव के लिए उस वस्तु में विषयसन्निकृष्टत्व और तेजस्त्व होना आवश्यक है। अतः वृत्ति का विषयाकारत्व रूप विशेष अर्थात् वृत्ति के द्वारा विषय के आवरण का अभिभवरूप कार्य विशेष के प्रति वृत्ति को विषयसन्निकृष्ट तैजस पदार्थरूप से कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि सामान्य कार्यकारणभाव का विशेषकार्यकारणभाव स्थल पर त्याग नहीं होता है। जैसे ''अनित्यं गुणं प्रति द्रव्यं कारणम्'' इस सामान्यकार्यकारणभाव का ''गन्धं प्रति पृथिवी कारणम्'' इस प्रकार के विशेषकार्यकारणभावस्थल पर त्याग नहीं होता है। अर्थात् उक्त सामान्यकार्यकारणभाव के अनुसार कार्य में अनित्यगुणत्व रहना चाहिए और कारण में द्रव्यत्व रहना चाहिए। अब जहां उक्त विशेषकार्यकारणभाव है। वहां पर भी गन्ध अनित्यगुणत्वेन कार्य है और पृथिवी द्रव्यत्वेन ही कारण है। प्रकृत में भी जब मन में आवरण अभिभावकत्व है तब मन में विषसन्निकृष्टत्व और तेजस्त्व भी मानना पड़ेगा अन्यथा सामान्यकार्यकारणभाव भङ्ग हो जायेगा। अतः तैजसवृत्ति स्वसन्निकृष्ट घटादि का प्रकाशक एवं घटाद्याकार होकर सन्निकृष्ट घटादि के अपरोक्ष को उत्पन्न करती है। ऐसा मानने में कोई भी दोष नहीं है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि घटमनःसन्निकर्ष से इतर—आलोक, महत् परिमाण, उद्भूतरूप, अतिसामीप्याभाव आदि सहायक सामग्री से युक्त होकर चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष ही घटानुभव का जनक होता है, घट और मन का सन्निकर्ष नहीं, क्योंकि घटमनःसन्निकर्ष के विलम्ब से घटानुभव में विलम्ब नहीं होता है। अर्थात्

तद्विलम्बेन तद्विलम्बाभावादिति निरस्तम्, आवरणभङ्गे सन्निकृष्टतेजसः– कारणत्वावधारणेन तस्याप्यावश्यकत्वात्। न च–स्पार्शनप्रत्यक्षे चक्षुरादिवन्नियतगोलकद्वाराभावेनान्तःकरण–निर्गत्ययोगादावरणाभिभवानुपपत्तिरिति–वाच्यम्, सर्वत्र तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानस्यैव द्वारत्वसम्भवात्। न च–अन्तःकरणवृत्तित्वाविशेषादिच्छाद्वेषादिरूपवृत्तयोऽपि देहान्निर्गत्य विषयसंसृष्टा भवन्तीति कथं न स्वीक्रियत इति–वाच्यम्, आवरणाभिभावकतेजस्त्वस्य तत्प्रमापकस्य ज्ञानवत् तत्राभावात्॥ ८॥

सत्यानन्दप्रबोधिका

यह नहीं होता है कि घट के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष हो गया किन्तु घट का अनुभव होने में तब तक विलम्ब होता है जब तक घट के साथ मन का सन्निकर्ष न हो जाये। पूर्वपक्षी का यह कथन इसलिए निरस्त हो गया, क्योंकि पूर्व में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि तमोरूप आवरण की निवृत्ति में विषयसन्निकृष्ट तेज की कारणता निश्चित है। अतः अज्ञान रूप आवरण की निवृत्ति में भी विषय सन्निकृष्ट तैजस पदार्थ मन की कारणता निश्चित ही है। इसलिए घट प्रत्यक्ष में घटमनःसन्निकर्ष भी आवश्यक है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि ''त्वगिन्द्रियं सर्वशरीरव्यापीति.....'' ऐसा अभियुक्त वचन होने के कारण त्वग् इन्द्रिय सर्व शरीर में व्याप्त है। अतः त्वाच प्रत्यक्ष स्थल में चक्षुरादि के सदृश नियतगोलकरूप द्वार का अभाव होने के कारण अन्तःकरण का वहिर्निर्गमन सम्भव न होने के कारण आवरण के भङ्ग होने की अनुपपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस इन्द्रिय का जो अधिष्ठान (गोलक) निश्चित है। अर्थात् जो इन्द्रिय जहां–जहां पर रहता है वहीं–वहीं से मन बाहर निकलता है। अर्थात् वही मन के बाहर निकलने का द्वार होता है। त्वग् इन्द्रिय जब सम्पूर्ण शरीर में रहती है तब सम्पूर्ण शरीर का कोई भी प्रदेश मन के बाहर निकलने का द्वार हो जायेगा। अतः त्वाचप्रत्यक्ष स्थल पर आवरण के अभिभव की अनुपपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी का कथन है कि अन्तःकरण की ज्ञानाख्यवृत्ति के जैसे ही इच्छाद्वेषादिरूप वृत्तियाँ हैं। अतः अन्तःकरण की ज्ञानाख्यवृत्ति के जैसे ही इच्छाद्वेषादिरूप वृत्तियां भी देह से निकलकर विषय से सन्निकृष्ट हो जाती है ऐसा सिद्धान्ती क्यों नहीं स्वीकार करते हैं? अर्थात् पूर्वपक्षी का अनुमान होगा–"ज्ञानाख्यावृत्तिः वहिर्न गच्छति, अन्तःकरणवृत्तित्वात्, इच्छादिवृत्तिवत्।"। इसका समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मन के बहिर्निर्गमन पूर्वक विषय सन्निकर्ष की प्रमा का हेतु आवरण अभिभावक तेजस्त्व है। ऐसा तेजस्त्व जैसे ज्ञानाख्य रूपा अन्तःकरण की वृत्ति में है। वैसे इच्छादिरूपवृत्तियों में नहीं हैं। अर्थात् ज्ञानाख्यवृत्ति जैसे आवरण भङ्ग करती है वैसे ही इच्छादि वृत्तियां आवरण भङ्ग नहीं करती है। इसलिए ज्ञानाख्यवृत्ति के द्वारा आवरणभङ्ग कर दिये जाने के पश्चात् इच्छादि वृत्तियों का उदय होता है। अतः उनके उत्पत्ति काल में विषयगत आवरण होता ही नहीं। इसलिए आवरणाभिभवार्थ इच्छादिवृत्तियों को बाहर निकालने की आवश्यकता ही नहीं होती है। अतः शास्त्रकारों ने ''जानाति, इच्छति, यतते, करोति'' ऐसा प्रवृत्ति का क्रम स्वीकार किया है। इस प्रकार सिद्धान्ती ने पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में उपाधि दिया–आवरणानभिभावकत्व। दृष्टान्त इच्छादिवृत्तियों में उपाधि के रहने से उपाधि में साध्यव्यापकत्व है और पक्ष ज्ञानाख्यवृत्ति में उपाधि के न रहने से उपाधि में साधनाव्यापकत्व है। अतः सोपाधिक हेतु होने के कारण पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान का खण्डन हो गया॥ ८॥

ननु—घटप्रकाशकं चैतन्यमुपदेशसाहस्र्यनुसारेण घटाकारधीस्था चिद्वा? परागर्थ—प्रमेयेष्वित्यादिवार्त्तिकोक्तरीत्या धीप्रतिबिम्बितचैतन्याभेदाभिव्यक्तविषयाधिष्ठानचैतन्यं वा? नाद्यः, आध्यासिकसम्बन्धस्यातन्त्रतापातात्। न द्वितीयः, आवश्यकेन विषयसंश्लिष्टवृत्ति—

सत्यानन्दप्रबोधिका

घट का प्रकाशक घटाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य (चिदाभास) है? अथवा बुद्धि में प्रतिबिम्बित चैतन्य के साथ अभेदरूप से अभिव्यक्त जो विषयाधिष्ठान चैतन्य (बिम्बचैतन्य) घट का प्रकाशक है? यह दोनों ही पक्ष सम्भव नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि घट का प्रकाशक घटाकारवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य है? जैसा कि भगवान् भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य जी ने उपदेशसाहस्री में कहा है—

व्यञ्जकस्तु यथालोको व्यङ्ग्यस्याकारतां गतः।
व्यतिकीर्णोऽप्यसङ्कीर्णस्तद्वज्ज्ञः प्रत्ययैः सदा।। (उ०सा० १६—५)

जैसे वस्तु के अभिव्यञ्जक दीपकादि का प्रकाश अपने व्यङ्ग्य वस्तु के समान आकार वाला हो जाता है। इस प्रकार से वस्तु के साथ मिला हुआ प्रतीति होने पर भी दीपकादि का प्रकाश वस्तुतः उससे मिला हुआ नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा भी अपने द्वारा प्रकाश्य बुद्धिवृत्तियों से सर्वदा अलिप्त ही रहता है। इसलिए आत्मा में बुद्धिगत अशुद्धि के आने की कोई सम्भावना ही नहीं होती है। अर्थात् आत्मा नित्य शुद्ध ही है।

स्थितो दीपो यथाऽयत्नः प्राप्तं सर्वं प्रकाशयेत्।
शब्दाद्याकारबुद्धिर्ज्ञः प्राप्तास्तद्वत् प्रपश्यति।। (उ०सा० १६—६)

जिस प्रकार एक स्थान पर स्थित हुआ दीपक अपने समीप में विद्यमान सभी पदार्थों को बिना किसी प्रयत्न के ही प्रकाशित कर देता है। उसी प्रकार शब्दादि के आकार में परिणत होकर अपने समीप आयी हुई बुद्धि वृत्तियों को, यह आत्मा साक्षी बना हुआ देखता रहता है। अर्थात् बुद्धि वृत्तियों का साक्षी मात्र रहने से इस आत्मा को उनका अवभासक कहा जाता है।

भगवान् भाष्यकार के भावों को स्पष्ट करते हुए श्रीविद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी में कहा है—

घटैकाकारधीस्था चिद् घटमेवावभासयेत्।
घटस्य ज्ञातता ब्रह्मचैतन्येनावभासते।। पं० कूट० ४।।

घट के आकार के सदृश है आकार जिसका ऐसी घटाकार बुद्धि वृत्ति में स्थित चिदाभास घट का ही प्रकाश करता है। अर्थात् घट की ज्ञातता या अज्ञातता का प्रकाश नहीं करता है। यह घट ज्ञात है इस प्रकार व्यवहार का हेतु जो उस घटगत ज्ञातता रूप धर्म है वह ब्रह्म चैतन्य के द्वारा प्रकाशित होता है।

इन सभी को पूर्वपक्षी ने संक्षेप कर के प्रथम पक्ष में कहा है। द्वितीय पक्ष को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि बुद्धि में प्रतिबिम्बितचैतन्य के साथ वृत्ति के द्वारा अभेद रूप से अभिव्यक्त जो विषयाधिष्ठानचैतन्य घट का प्रकाशक है। जैसा कि भाष्यकार और वार्तिककार के भावों को स्पष्ट करते हुए श्रीविद्यारण्य स्वामी ने पञ्चदशी में कहा है—

परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित् सैव मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः।। {श्रीसुरेश्वरवार्तिकम्}

प्रतिबिम्बितचैतन्येनैव तदज्ञाननिवृत्तिवत् तत्प्रकाशस्याप्युपपत्तौ किं विषयाधिष्ठानचैतन्याभिव्य-क्तिकल्पनेनेति–चेन्न, प्रकाशकं तावदधिष्ठानचैतन्यम्। तच्चाध्यासेन विषयैः सह साक्षात्सम्बद्धम्, प्रकाशस्य च स्वयं भासमानस्य स्वसम्बद्धसर्वभासकत्वमपि क्लृप्तमेव, एतदनभ्युपगमे

सत्यानन्दप्रबोधिका

इति वार्तिककारेण चित्साद्दश्यं विवक्षितम्।
ब्रह्मचित्फलयोर्भेदः साहस्र्यां विश्रुतो यतः।। {पञ्चदशी कूट० ११–१२}

घटादि बाह्य पदार्थ प्रमाण के विषय होने पर जो प्रमाण के फलरूप कर के उनका स्वीकृत ज्ञान है, वही संवित्‌रूपज्ञान वेदान्त शास्त्र में वेदान्त वचन रूप प्रमाण से अर्थात् तत्त्वमसि इत्यादि वाक्यों से जानने योग्य पदार्थ है। इस प्रकार वार्तिककार ने ब्रह्मचैतन्य के सद्दश चिदाभास को ही प्रमाण के फलरूप से कहा है ब्रह्मचैतन्य को नहीं, क्योंकि उपदेशसाहस्री ग्रन्थ में वार्तिककार के गुरुवर भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्म चैतन्य और चिदाभासरूपफल के भेद का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार उपदेशसाहस्री के अनुसार प्रथम विकल्प है और वार्तिक के अनुसार द्वितीय विकल्प है। प्रथम विकल्प का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि घटाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास को घट का प्रकाशक माना जाता है तब घटादि द्दश्यपदार्थों के प्रकाशन के लिए आध्यासिकसम्बन्ध मानना व्यर्थ है, क्योंकि घटप्रकाशक घटाकार बुद्धि में प्रतिबिम्बित चिदाभास मिथ्या होने के कारण घट का अधिष्ठान ही नहीं माना जाता है। अतः चिदाभास रूप घटज्ञान में घट का अध्यास हो ही नहीं सकता है। जब कि सिद्धान्ती घटज्ञान में घट का अध्यास मानते हैं। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि विषयसंश्लिष्ट वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही विषय के अज्ञान की निवृत्ति के जैसे ही विषय प्रकाश की भी उपपत्ति हो जाने से विषयाधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति की कल्पना अर्थात् बुद्धि में प्रतिबिम्बितचैतन्य के साथ अभेदरूप से अभिव्यक्त विषयाधिष्ठानचैतन्य की कल्पना व्यर्थ है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि विषय का प्रकाशक अभिव्यक्त विषयाधिष्ठानचैतन्य है न कि वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य (चिदाभास)। अर्थात् उपदेश साहस्री में कथित वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य का तात्पर्य यह है कि वृत्ति के सम्बन्ध से विषयाधिष्ठानचैतन्य अभिव्यक्त होकर वृत्ति में प्रतिबिम्बित होता है। उस अभिव्यक्त चैतन्य का विषयों के साथ साक्षात् आध्यासिकसम्बन्ध होता ही है और स्वयम्भासमान प्रकाश में स्व से सम्बद्ध सर्व का प्रकाशकत्व निश्चित ही है, क्योंकि प्रदीपप्रभादि स्थल पर अनावृत प्रदीप प्रभा स्वसम्बन्ध योग्य पदार्थों की अवभासिका होती ही है। इस प्रकार प्रथम विकल्प के दोषों को निराकृत कर के द्वितीय विकल्प के दोषों का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जो विषय के साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है और स्वयम्प्रकाश है, उसको विषय का प्रकाशक न मान कर, विषय से परम्परासम्बन्ध रखने वाला और जो स्वयम्प्रकाश नहीं है ऐसा वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य विषय का प्रकाशक है ऐसी कल्पना करने पर गौरव दोष होगा, क्योंकि ''घटो भाति'' इस प्रकार के व्यवहार का प्रयोजक विषयसंश्लिष्टवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को मानने पर अर्थात् विषय का प्रकाशक वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य है– ऐसी कल्पना करने पर सुखादि का प्रकाशक वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य को मानना सम्भव नहीं होगा, क्योंकि सुखादि स्वयं ही एक प्रकार की अन्तःकरण की वृत्ति है। इसलिए वृत्याकार वृत्ति के

कल्पनान्तरगौरवापत्तेः। तच्चानभिव्यक्तं निर्विकल्पकरूपमाच्छादितदीपवन्न प्रकाशकमिति तदभिव्यक्तिरपेक्षिता। तच्च परोक्षस्थले वृत्त्यवच्छेदेनैवाभिव्यज्यते, अपरोक्षस्थले तु वृत्तिसम्पर्कादावरणाज्ञानाभिभवे विषयेऽभिव्यज्यते, वृत्तेर्विषयपर्यन्तत्वात्। न च परोक्षस्थलेऽप्येवं प्रसङ्गः, द्वाराभावेनान्तःकरणनिर्गत्यभावात्॥ ९॥

ननु—वृत्तेस्तदाकारत्वं न तावत्तद्विषयत्वम्, त्वयैव निरासात्। नापि तस्मिन्

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानने से अनवस्था होगी। अतः सुखाकार वृत्ति मानी नहीं जा सकती है। इसलिए सुखादि का प्रकाशक सुखादि के अधिष्ठान चैतन्य को ही मानना पड़ेगा। अतः घटादि का प्रकाशक वृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्य और सुखादि का प्रकाशक सुखाधिष्ठान चैतन्य मानने से गौरव दोष होगा। सुख का प्रकाशन भी वृति प्रतिबिम्बितचैतन्य से मानने पर सुख के आकार की वृत्ति मानेंगे। तब अनवस्था दोष होगा, क्योंकि सुख स्वयं ही अन्तःकरण की वृत्तिरूप है। अतः एक वृत्ति के प्रकाशन के लिए उसके आकार की दूसरी वृत्ति मानने पर गौरव तथा अनवस्था दोष अवश्यम्भावी है। यद्यपि अधिष्ठान चैतन्य को सिद्धान्त में विषय का प्रकाशक माना गया है तथापि वह अधिष्ठान चैतन्य जब तक अनभिव्यक्त है तब तक लोक प्रसिद्ध आच्छादित दीपक के समान विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता है। उस पर तार्किकादि सम्मत भी दृष्टान्त दिया गया— निर्विकल्पकरूपम्। यहां ''रूपम्'' पद का अर्थ ''तुल्यम्'' है। अर्थात् तार्किकादि के मत से घटत्वविशिष्टघटज्ञान के पूर्व में घटत्व का जो निर्विकल्पक ज्ञान होता है वह तार्किकादि के मत से भी विषय का प्रकाशक नहीं होता है। इसी प्रकार अनभिव्यक्त विषय चैतन्य भी विषय का प्रकाशक नहीं होता है। अतः अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति विषय प्रकाशन के लिए अपेक्षित है। वह अधिष्ठानचैतन्य परोक्ष स्थल में शरीरमध्यवर्तिवृत्यवच्छेदेन अभिव्यक्त होता है और अपरोक्ष स्थल में वृत्ति के साथ विषय के सम्पर्क से अधिष्ठान चैतन्य के आवरणरूप अज्ञान का अभिभव होने पर अधिष्ठान चैतन्य विषयावच्छेदेन अभिव्यक्त होता है, क्योंकि वृत्ति विषय पर्यन्त पहुंच जाती है। मूलस्थ ''वृत्तिसम्पर्कादावरणाज्ञानाभिभवे विषयेऽभिव्यज्यते'' के स्थान पर पाठान्तर है—''वृत्तिसम्पर्कादापन्नजाड्याभिभवे विषयेऽभिव्यज्यते।'' यहाँ पर ''आपन्नजाड्य'' का अर्थ है— अनभिव्यक्ति। अर्थात् वृत्ति बनने से पहले अधिष्ठानचैतन्य में अज्ञान के आवरण के कारण जो अनभिव्यक्ति आगयी थी उस की निवृत्ति तब होगी जब वृत्ति के साथ अधिष्ठानचैतन्य के सम्पर्क होने से अधिष्ठानचैतन्य अभिव्यक्त हो जायेगा। अर्थात् अधिष्ठानचैतन्य से वृत्ति का सम्पर्क होने पर अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से विषयावच्छेदेन अधिष्ठानचैतन्य की अभिव्यक्ति हो जायेगी, क्योंकि वृत्ति विषय पर्यन्त पँहुची हुई होती है और तब विषय का अपरोक्षज्ञान होता है। परोक्षस्थल पर विषयावच्छेदेन अधिष्ठान चैतन्य की अभिव्यक्ति नहीं होती है, क्योंकि विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्षरूप द्वार(मार्ग) न होने के कारण अन्तःकरण की परिणामात्मिका वृत्ति बाह्य विषय पर्यन्त नहीं पहुंच पाती है॥ ९॥

सावयव तैजस अन्तःकरण की परिणामात्मिका वृत्ति विषयाकार होती है— ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन है। उसमें दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि वृत्ति में विषयाकारता है— इससे क्या विवक्षित है? क्या वृत्ति के घटाद्याकारत्व का अर्थ है घटादिविषयकत्व? अथवा विषय में चैतन्योपराग योग्यता सम्पादकत्व? अर्थात् जब तक घटाद्याकार वृत्ति नहीं बनी थी तब तक घटादि में चैतन्य उपराग की योग्यता नहीं थी। अर्थात् वृत्ति ने ही

चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्वम्, तदज्ञानाभिभावकत्वं वा, उभयोरपि तदाकारत्वप्रयोज्यत्वेन तत्त्वायोगात्। नापि घटादिवत् पृथुबुध्नोदराद्याकारत्वम्, साकारवादापातात्, संस्थानहीनजाति–गुणादिवृत्तेर्निराकारत्वप्रसङ्गाच्च, घटपटावितिसमूहालम्बने विरुद्धनानाकारत्वापत्तेश्चेति– चेन्न,

सत्यानन्दप्रबोधिका

तादृशयोग्यता का सम्पादन कर दिया। अथवा विषयवारक अज्ञाननाशकत्व? प्रथम पक्ष उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती ने स्वयं ही पूर्वप्रकरण में वृत्ति (ज्ञान) के साथ घटादि के विषयता या विषयविषयिभावसम्बन्ध का निराकरण कर चुके हैं। द्वितीय और तृतीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्वरूपधर्म और विषयगत अज्ञानाभिभावकत्व रूपधर्मद्वय वृत्ति के विषयाकारत्व के द्वारा प्रयोज्य है। अर्थात् वृत्ति के विषयाकार बनने पर ही वृत्ति में उक्त धर्मद्वय की सिद्धि होगी। अत: उक्त धर्मद्वय प्रयोज्य होगा और वृत्ति का तदाकारत्व प्रयोजक होगा, किन्तु यह सम्भव नहीं है, क्योंकि एक ही में प्रयोज्य प्रयोजकभाव होता नहीं है। प्रकृत में तदाकारत्व का ही अर्थ चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्व और तदज्ञानाभिभावकत्व किया गया है। अत: तदाकारत्व और चैतन्योपरागयोग्यतापादकत्व तथा तदज्ञानाभिभावकत्व अभिन्न हो गये। अर्थात उक्त धर्मद्वय के ज्ञान के लिए अपनी ही अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष हो रहा है। योगाचार बौद्ध मत में जैसे घटादि पदार्थ पृथुबुध्नादि विशेष आकार के होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान का भी आकार होता है। पृथुबुध्नोदर में पृथु नाम स्थूल का है और बुघ्न नाम गोल का है तथा उदर नाम पेट का है। पृथु और बुघ्न ये दोनों पेट के विशेषण हैं। यदि योगाचार मतानुसार सिद्धान्ती कहते हैं कि घटादि का आकार जैसे पृथुबुघ्नोदरादि होता है वैसे ही वृत्ति भी विषय के आकार से आकारित हो जाती है तब तो सिद्धान्ती के ऊपर बौद्ध मत में प्रवेश की आपत्ति होगी और आकार रहित जाति गुणादि विषयक वृत्तियों को निराकार मानना पड़ेगा। अर्थात् घटाद्याकारवृत्ति को साकार और जात्याद्याकार वृत्ति को निराकार मानना पड़ेगा। इससे गौरव दोष होगा। ''घटपटौ'' इत्याकारक समूहालम्बन स्थल पर एक ही वृत्ति में विरुद्ध नाना आकारत्व की आपत्ति होगी, क्योंकि एक ही वृत्ति में घटाकारत्व और पटाकारत्व दोनों मानना पड़ेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित पूर्वोक्त पक्षों से भिन्न तदाकारत्व अर्थात् वृत्तिगत विषयाकारत्व का अर्थ हम ऐसा मानते हैं कि "घटोऽस्ति", "घट: सन्", इत्यादि जो घट विषयकव्यवहार तादृश व्यवहार का प्रतिबन्धक जो असत्त्वापादक अज्ञान तादृश अज्ञान निवर्तन करने का वृत्तिगत योग्यत्व को ही विषयाकारता कहा जाता है। अज्ञान शब्द से असत्त्वापादक अज्ञान का ग्रहण इसलिए किया गया है कि ''घटोऽस्ति''। "घट: सन्'' इत्यादि घटविषयक व्यवहार घटविषयक परोक्ष–अपरोक्षज्ञान के द्वारा होता है, क्योंकि शरीरान्त:स्थ असत्त्वापादक–अज्ञान की निवृत्ति परोक्ष और अपरोक्ष दोनों ही ज्ञानों से होती है। विषयदेशस्थ अभानापादक–अज्ञान को भी ग्रहण करने पर ''घटोऽस्ति'' इत्यादि घट विषयक व्यवहार अपरोक्ष स्थल पर ही हो पायेगा, क्योंकि अपरोक्षज्ञान ही असत्त्वापादक और अभानापादक दोनों ही प्रकार के अज्ञानों का नाशक होता है, क्योंकि अपरोक्षवृत्ति शरीर के भीतर के देश में और बाहर विषय के देश में फैली हुयी रहती है। अत: परोक्षस्थल पर जो वृत्ति विषयाकार होती है उसमें अव्याप्ति के वारण के लिए अज्ञान शब्द से असत्त्वापादक अज्ञान का ही ग्रहण किया गया है। अथवा वृत्तिगत विषयाकारत्व का अर्थ है–घटादि विषय से सन्निकृष्ट जो करण (इन्द्रिय, व्याप्ति ज्ञान, सादृश्य ज्ञान,

अस्तीत्यादितद्विषयकव्यवहारप्रतिबन्धकाज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वस्य, तत्सन्निकृष्टकरणजन्यत्वस्य वा तदाकारत्वरूपत्वात्। तदुभयञ्च स्वकारणाधीनस्वभावविशेषात्। न चात्माश्रयः, निवृत्तिजन-नस्वरूपयोग्यतया फलोपधानस्य साध्यत्वेन स्वानपेक्षणात्॥ १०॥

ननु—दृशि विषयाध्यासस्वीकर्तुर्जीवचैतन्यं वा विषयदृक्, ब्रह्मचैतन्यं वा? नाद्यः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

शब्द ज्ञान इत्यादि) उससे जन्य है वृत्ति। अतः विषयसन्निकृष्ट करण जन्यत्व वृत्ति में है। यही वृत्तिगत विषयकारता है। अर्थात् प्रत्यक्ष स्थल पर विषयसन्निकृष्ट चक्षुरादिकरणजन्यत्व वृत्ति में है और परोक्ष स्थल पर विषयसन्निकृष्ट करण है व्याप्तिज्ञानादि, उससे जन्य ही है परोक्षवृत्ति। उक्त अज्ञाननिवर्तनयोग्यत्व और विषयसन्निकृष्टकरणजन्यत्व रूप वृत्तिगत आकार विशेष अपने कारण (विषयसन्निकृष्टकरण) के अधीन स्वभाव विशेष से होता है। अर्थात् अज्ञान की निवृत्ति करना और घटादि विषय के सन्निकृष्ट करण से वृत्ति का जन्य होना वृत्ति का स्वभाव ही है। वृत्तिगत यह स्वभाव अपने कारण से प्राप्त होता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त अज्ञान निवर्तन योग्यत्व की सिद्धि वृत्ति के विषयाकारत्व रूप हेतु से होती है, क्योंकि वृत्ति के विषयाकार होने से ही वृत्ति में अज्ञाननिवर्तनयोग्यता आयेगी। अतः अज्ञाननिवर्तनयोग्यता की सिद्धि के लिए विषयाकारत्व की अपेक्षा है। अर्थात् विषयाकारत्व प्रयोजक है और अज्ञाननिवर्तनयोग्यता प्रयोज्य है। सिद्धान्ती ने तदाकारत्व का ही अर्थ उक्त अज्ञाननिवर्तनयोग्यत्व किया है। अतः उक्त अज्ञाननिवर्तनयोग्यत्वरूप धर्म और तदाकारत्व अभिन्न हो गये। अभिन्न हो जाने से अज्ञाननिवृत्तियोग्यता की सिद्धि में स्व की अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष होगा। अर्थात् जो विषयाकारत्व अज्ञाननिवर्तनयोग्यतारूपप्रयोज्य का प्रयोजक है वही उसी अज्ञाननिवर्तनयोग्यता से विषयाकारत्व प्रयोज्य हो रहा है। इस प्रकार अज्ञाननिवर्तनयोग्यता की सिद्धि के लिए अपनी ही अपेक्षा होने से आत्माश्रय दोष आ रहा है। इस दोष का निवारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि योग्यता दो प्रकार की होती है— स्वरूपयोग्यता और फलोपधायक योग्यता। इन दोनों योग्यताओं में साध्य साधन भाव मानने पर भी आत्माश्रयदोष नहीं माना जाता है। प्रकृत में जो तदाकारत्व का अर्थ किया गया है— उक्त अज्ञाननिवर्तन योग्यत्व। यहाँ पर योग्यता से स्वरूपयोग्यता का ग्रहण किया गया है। अतः उक्त अज्ञाननिवर्तनस्वरूपयोग्यता के द्वारा अज्ञाननिवृत्तिरूपफलोपधान की सिद्धि होने से आत्माश्रयदोष नहीं होगा। अर्थात् वृत्तिगत अज्ञाननिवर्तनयोग्यता विषयाकारत्वेन (तदाकारत्वेन) अवच्छिन्न मानी जाती है, न कि अज्ञाननिवृत्तिजनकतावच्छेदकत्वेन। अर्थात् वृत्ति में विषयाकारत्व रहने के कारण वृत्ति में अज्ञाननिवर्तनस्वरूपयोग्यता आती है, और उक्त स्वरूपयोग्यता वृत्ति में रहने के कारण वृत्ति में अज्ञाननिवृत्तिरूप फल का उपधान होता है। अतः आत्माश्रयदोष नहीं होगा॥ १०॥

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृक् (ज्ञान) में विषय के अध्यास को मानने वाले सिद्धान्ती के मत में विषय का द्रष्टा जीव चैतन्य है? अथवा ब्रह्म चैतन्य? दोनों ही पक्ष दोषयुक्त होने के कारण असङ्गत है, क्योंकि प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर विषय का द्रष्टा जीवचैतन्य को मानना पड़ेगा, किन्तु जीव चैतन्य उपाधि से परिच्छिन्न चित्स्वरूप होने के कारण कल्पित है, क्योंकि अद्वैतसिद्धान्त में देशकालादि उपाधि से परिच्छिन्न को कल्पित माना जाता है। अतः कल्पित जीव चैतन्य में विषय का अध्यास सम्भव नहीं है, क्योंकि दो कल्पित वस्तुओं में अध्यास होता नही है अपितु उनमें से एक सत्य वस्तु होनी चाहिए

जीवेऽवच्छिन्नचित्स्वरूपे कल्पितेऽध्यासायोगात्। नच विषयदृक् जीवचैतन्यमेव, अध्यासस्तु ब्रह्मचैतन्य इति—वाच्यम्, दृश्ययोरेवाध्यासिकसम्बन्धापत्तेः, अध्यस्ताधिष्ठानयोरुभयोरपि दृग्भिन्नत्वात्। अतएव न द्वितीयोऽपि, (सविशेष) ब्रह्मणोऽपि कल्पितत्वेन तत्राध्यासायोगाच्च। न च—शुद्धचैतन्यमेकमेव, तदेवाधिष्ठानम्, तत्रावच्छेदकमविद्यादिकं नाधिष्ठानकोटौ प्रविशति, तदेव च जीवशब्देन ब्रह्मशब्देन च व्यपदिश्यते, उपाधिविशेषात्। तथा च जीवचैतन्यस्य दृक्त्वेऽपि दृश्याध्यासो नानुपपन्न इति—वाच्यम्, शुद्धचैतन्यस्याऽऽसंसारमावृतत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो अध्यास का अधिष्ठान बन सके। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि विषय का द्रष्टा जीवचैतन्य है और विषय का अध्यास ब्रह्मचैतन्य में होता है तब इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि द्रष्टा से भिन्न को दृश्य कहते हैं, क्योंकि अद्वैतमत में द्रष्टा और दृश्य दो ही पदार्थ माने जाते हैं। अतः जो द्रष्टा नहीं है वह दृश्य होगा ऐसी स्थिति में यदि जीवचैतन्य को द्रष्टा मान लिया जाता है तब ब्रह्मचैतन्य को दृश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि जीवचैतन्य रूप द्रष्टा से जैसे भिन्न विषय (प्रपञ्च) है उसी प्रकार जीवचैतन्य रूप द्रष्टा से भिन्न ब्रह्मचैतन्य भी है। ऐसा होने पर विषयरूप दृश्य का ब्रह्मरूप दृश्य में अध्यास मानना होगा तथा दृश्य में दृश्य का आध्यासिकसम्बन्ध भी मानना होगा जो कि सर्वथा अनुचित है, क्योंकि दो दृश्यपदार्थों में आध्यासिकसम्बन्ध स्वीकार ही नहीं किया जाता है। दूसरी बात यह है कि पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मरूपदृश्य में विषयरूपदृश्य का अध्यास होने पर दृश्यों में आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध होगा जबकि सिद्धान्ती के द्वारा दृग्दृश्य में आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध करना था। अतः सिद्धान्त से विरोध भी होगा। दो दृश्यों में अध्यास न होने के कारण ही द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि विषयोपहितब्रह्मचैतन्य को विषय का द्रष्टा मानना पड़ेगा। वह विषयोपहितब्रह्मचैतन्य स्वयं कल्पित है। अतः उसमें विषय का अध्यास हो नहीं सकता है। प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए जो पूर्वपक्षी ने कहा था कि जीवचैतन्य को विषय का द्रष्टा नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जीव स्वयं अवच्छिन्न चित्स्वरूप होने के कारण कल्पित है। इस दोष का उद्धार करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म और जीव दो प्रकार का शुद्धचैतन्य नहीं है। अपितु एक ही शुद्धचैतन्य अविद्या उपाधि वाला होकर ब्रह्म और अन्तःकरणउपाधि वाला होकर जीव कहलाता है और उक्त उपाधि वाले शुद्धचैतन्य को विषय का अधिष्ठान मानने में कोई भी दोष नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो दोष दिया था कि जीवचैतन्य उपाधि से परिच्छिन्न चित्स्वरूप होने के कारण कल्पित है। इसलिए उसमें विषय का अध्यास नहीं हो सकता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि अधिष्ठान अविद्यादि उपाधिक चैतन्य है फिर भी अधिष्ठान कल्पित नहीं माना जायेगा, क्योंकि चैतन्य की उपाधि अविद्यादि है, उपाधि कार्यानन्वयी होने के कारण अधिष्ठानतावच्छेदक जो अविद्यादि हैं। वे अधिष्ठान कोटि में प्रविष्ट नहीं होती है। इस प्रकार से वहां शुद्धचैतन्य ही अविद्या और अन्तःकरण रूप उपाधि की भिन्नता से ही जीव शब्द से और ब्रह्म शब्द से अभिलपित होता है। अतः जीवचैतन्यरूप शुद्धचैतन्य को विषय का द्रष्टा मानने पर भी उसमें दृश्य के अध्यास की अनुपपत्ति नहीं होगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विषय का अधिष्ठान शुद्धचैतन्य को मानने पर शुद्धचैतन्य संसार पर्यन्त मूलाज्ञान से आवृत रहता है। अर्थात् जब तक संसार है तब तक शुद्धचैतन्य का भान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि

जगदान्ध्यप्रसङ्गादिति—चेन्न, मूलाविद्यानिवृत्त्यभावेन सर्वत आवरणाभिभवाभावेऽपि घटाद्यवच्छेदेनावरणाभिभवादान्ध्यविरहोपपत्तेः।। ११ ।।

ननु—तर्हीदानीमपि ब्रह्मस्फुरणे चरमवृत्तिवैयर्थ्यम्, अधिकभानेऽपि तस्य स्फुरणात्, न ह्यखण्डार्थवेदान्तजन्यायां वृत्तौ भावो अभावो वा विशेषणमुपलक्षणं वा प्रकारः प्रकाशत इति—चेन्न, उपाध्यविषयकब्रह्मस्फुरणस्य चरमवृत्तिप्रयुक्तत्वेन तस्याः साफल्यात्, प्रकारास्फुरणं

सत्यानन्दप्रबोधिका

शुद्धचैतन्य का भान होने पर संसार ही निवृत हो जायेगा। इसलिए संसार काल में शुद्धचैतन्य आवृत होने से उसके द्वारा घटादिविषय का प्रकाशन न होने के कारण प्रवृत्यादि के अभाव के कारण जगत् में सर्वव्यवहार का लोप हो जायेगा। इस प्रकार से पूर्वपक्ष के उपस्थापित होने पर उसका सहजतापूर्वक निराकरण करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि शुद्धब्रह्म की आच्छादिका जो मूला अविद्या है उसकी निवृत्ति संसार काल में पूर्णरूपेण नहीं होने से सर्वतः आवरण के अभिभव न होने पर भी घटाद्यवच्छेदेन आवरण के अभिभव से घटादि के प्रकाशन की उपपत्ति हो जाने से सर्वव्यवहार लोप का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। अर्थात् जब जिस आकार की वृत्ति बनेगी तब तद्विषयावच्छेदेन आवरण का नाश हो जाने से उस विषयावच्छेदेन ब्रह्म अनावृत हो जायेगा और उस अनावृत ब्रह्म के द्वारा उस समय उस विषय का प्रकाश हो जाने से सर्वव्यवहार के लोप का प्रसङ्ग नहीं आयेगा।। ११ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि घटाद्याकार वृत्ति के द्वारा घटाद्यवच्छेदेन आवरण का अभिभव होने पर ब्रह्म का स्फुरण मान लिया जाय तब महावाक्य से जन्य अखण्डाकार वृत्ति मानना व्यर्थ है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि संसार काल में जब घटाद्यवच्छेदेन ब्रह्म के आवरण का अभिभव होता है, तब घटाद्यवच्छेदेन ब्रह्म के स्फुरण के साथ—साथ घटादि विषय का भी भान होता है, जबकि अखण्डाकार वृत्ति काल में निरवच्छिन्न ब्रह्म का ही भान होता है। अतः अखण्डाकार वृत्ति मानना व्यर्थ नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि संसार काल में ब्रह्म से अधिक घटादि का भान होने पर भी ब्रह्म का भी भान होता ही है। अतः ब्रह्म के भान के लिए चरमवृत्ति मानना व्यर्थ है। दूसरी बात यह है कि चरम वृत्तिकाल में ब्रह्म से अतिरिक्त विशेषण अथवा उपलक्षण के रूप से कोई भी भाव पदार्थ अथवा अभावपदार्थ प्रकाशित नहीं होता है। यदि चरम वृत्ति में ब्रह्म से अतिरिक्त ऐसा कोई भावपदार्थ अथवा अभावपदार्थ का प्रकाश होता और ब्रह्म से अतिरिक्त उस भाव पदार्थ अथवा अभावपदार्थ का प्रकाश घटाद्याकार वृत्तिकाल में नहीं होता तब चरम वृत्ति का मानना सार्थक हो सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। अतः चरम वृत्ति मानना व्यर्थ है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सभी प्रकार की उपाधियों से रहित शुद्धब्रह्म का जो स्फुरण है वह एक मात्र अखण्डाकार चित्तवृत्ति के द्वारा ही होता है। ऐसा होने पर ही अखण्डाकार चित्तवृत्ति का साफल्य भी होता है। अखण्डाकार चित्तवृत्ति में किसी भी प्रकार का स्फुरण न होना उसका भूषण ही है, क्योंकि अखण्डाकार चित्तवृत्ति जिस मूलाज्ञान की निवृत्ति के लिए होती है इस मूलाज्ञान की निवृत्ति निष्प्रकारकब्रह्मविषयकवृत्तिज्ञान से ही होती है, क्योंकि अविद्या का विषय भी निष्प्रकारक होने से वृत्तिज्ञान और अज्ञान दोनों समानविषयक हो गये। संसारवस्था में

तु तस्याः भूषणमेव, इदानीन्तनस्फुरणस्य सप्रकारकत्वेनोपाधिविषयत्वात्, 'एकधैवानु–द्रष्टव्यम्'इत्यादिश्रुतिबलात् स्वसमानविषयज्ञानादेव चाज्ञाननिवृत्तेरखण्डचिन्मात्रज्ञानस्यैव मोक्षहेतुत्वावधारणात्। न च–अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यस्य जीवत्वे सुषुप्तिदशायां तदभावेन कृतहान्याद्यापत्तिरिति–वाच्यम्, तदाप्यस्य कारणात्मनाऽवस्थानात्, स्थूलसूक्ष्मसाधा–रणस्यान्तःकरणस्योपाधित्वात्। 'तदपीतेः संसारव्यपदेशात्'इत्यस्मिन् सूत्रे चायमर्थः स्पष्टतरः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटाद्यवच्छिन्न ब्रह्म का जो स्फुरण होता है, उसमें घटादिरूप उपाधि प्रकार है। अतः घटादि रूप उपाधि विषयक अर्थात् घटादि प्रकारक ब्रह्म का स्फुरण होता है, जब कि चरमवृत्ति में कोई भी उपाधि विषय नहीं बनती है। ''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' (बृ०उ० ४.४.२०) यह श्रुति निष्प्रकारकत्वेन (एकरसत्वेन) ब्रह्म के दर्शन का प्रतिपादन करती है। आदि पद से ''अव्यवहार्यमलक्षणं प्रपञ्चोपशमं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः'' इत्यादि माण्डूक्यश्रुति का संग्रह कर लेना चाहिए। इस प्रकार इन श्रुतियों के बल से और स्वसमानविषयकज्ञानसे ही अज्ञान की निवृत्ति होने से अर्थात् अज्ञान का विषय उपाधि नहीं होती है, क्योंकि अज्ञान स्वयं उपाधि है और उपाधि कार्यानन्वयी होती है। अर्थात् विषयकोटि में उपाधि प्रविष्ट नहीं होती है। अतः अज्ञान रूप उपाधि का विषय केवल (निरुपाधिक निष्प्रकारक) ब्रह्म ही होता है और चरम वृत्ति में भी केवल ब्रह्म का ही स्फुरण होता है। अतः दोनों में समान विषयकत्व होने से ज्ञानसे ही अज्ञान की निवृत्ति होने से अखण्ड चिन्मात्रज्ञान में ही मोक्ष हेतुत्व का निश्चय होता है। अर्थात् निष्प्रकारक चिद्विषयक वृत्तिज्ञान ही मोक्ष का हेतु है, ऐसा निश्चय होता है। अतः संसार कालीन ज्ञान से मोक्ष नहीं हो सकता है, क्योंकि संसार कालीन घटाद्यवच्छिन्न ब्रह्म के स्फुरण में ब्रह्म से अतिरिक्त घटादि का भी स्फुरण होने से ज्ञान और अज्ञान में समानविषयकत्व नहीं है। अतः अज्ञानकी निवृत्ति के लिए चरमवृत्ति मानना आवश्यक है। पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कहा रहा है कि सुषुप्ति में अन्तःकरण का मूलाविद्या में लय हो जाता है, जब कि सिद्धान्त मत में अन्तःकरणविशिष्टचैतन्य को जीव माना गया है। अतः सुषुप्ति में अन्तःकरण रूप विशेषण के न रहने पर अन्तःकरणविशिष्टचैतन्य रूप जीव भी नहीं रहेगा। फलतः कृतनाश और अकृताभ्यागम दोष होगा। अर्थात् कर्म करने वाले अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यरूपजीव का सुषुप्ति में नाश होने से जीवोपार्जित धर्माधर्मादि रूपकृतकर्म का फलभोग के बिना ही नाश मानना पड़ेगा। इससे कृतनाश दोष होगा। इसी प्रकार सुषुप्ति से उत्थान होने पर भावि अन्तःकरण विशिष्ट जीव ने कोई कर्म किया नहीं, किन्तु सुखदुःखादि रूप भोगों को भोगता है। ऐसा स्वीकार करने पर अकृताभ्यागम दोष होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सुषुप्ति अवस्था में अन्तःकरण स्थूल रूप से विद्यमान न रहने पर भी कारणात्मना अर्थात् सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहता है। अतः सुषुप्ति अवस्था में भी अन्तःकरणविशिष्टचैतन्यरूपजीव का नाश नहीं होता है, क्योंकि स्थूल अन्तःकरण और सूक्ष्म अन्तःकरण उभय साधारण अन्तःकरण को ही जीव की उपाधि माना जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए ब्रह्मसूत्र में सूत्रकार ने कहा है:– ''तदपीतेः संसारव्यपदेशात्'' (ब्रह्मसूत्र ४/२/८) इसी सूत्र के भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने भी स्पष्ट किया है– ''तस्मात् तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तिप्रलयवत् बीजभावावशेषैवैषा सत्सम्पत्तिरिति।'' अतः सुषुप्ति अवस्था में सूक्ष्म अन्तःकरण के रहने से जीवत्व के समाप्त न होने से कृतनाशादि दोष नहीं

न च—वृत्त्युपरक्तत्वं चैतन्यस्य न तत्प्रतिबिम्बितत्वम्, दर्पणे मुखस्येवानुद्भूतरूपेऽन्तःकरणे शब्दान्यप्रतिबिम्बितोपाधिताया अचाक्षुषचैतन्यस्य प्रतिबिम्बि(त)तायाश्चायोगादिति—वाच्यम्, उद्भूतरूपवत्त्वं न प्रतिबिम्बितोपाधिताप्रयोजकम्, अस्वच्छेऽपि लोष्ठादौ प्रतिबिम्बापत्तेः, किन्तु स्वच्छत्वम्, तच्च प्रकाशस्वभावत्वेन मनसस्तत्परिणामभूताया वृत्तेश्चास्त्येव, त्रिगुणात्म—कस्याप्यज्ञानस्य स्वच्छसत्त्वात्मकताया अपि सत्त्वेन तत्रापि प्रतिबिम्बितोपाधितायाः सत्त्वात्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगा। पीछे खण्ड—२ में सिद्धान्ती ने कहा था—'' अनावृतत्त्वपक्षे ह्यनावृतं सर्वगतमपि जीवचैतन्यं तत्तदाकारवृत्त्यैवोपरज्यते।,। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि पूर्व में सिद्धान्ती ने जो कहा था कि चैतन्य वृत्ति से उपरक्त हो जाता है। उसका अर्थ चैतन्य वृत्ति में प्रतिबिम्बित हो जाता है, ऐसा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उद्भूतरूप वाले दर्पण में ही मुख का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अतः अन्तःकरण अनुद्भूत रूपवाला होने से उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब नहीं माना जा सकता है। यद्यपि रूपरहित आकाश में शब्द का प्रतिध्वनिरूपप्रतिबिम्ब होता है। इसलिए यह नियम नहीं बनाया जा सकता है कि उद्भूतरूप वाले में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है तथापि शब्द से भिन्न पदार्थ का रूप रहित में प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। ऐसा नियम माना ही जा सकता है। इसलिए मूल में कहा गया है कि शब्दान्य के प्रतिबिम्बन की उपाधिता अन्तःकरण में नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने यह कहा कि रूपरहित पदार्थ में शब्दभिन्न पदार्थ का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। आगे यह कह रहा है कि चाक्षुष पदार्थ ही प्रतिबिम्बित होता है। चैतन्य अचाक्षुष पदार्थ होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। अर्थात् चैतन्य (बिम्ब) प्रतिबिम्बी है। अतः प्रतिबिम्बिता चैतन्य (बिम्ब) में रहेगी अर्थात् सिद्धान्ती के मत में बिम्बभूत चैतन्य अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित होता है। अतः चैतन्य में प्रतिबिम्बिता रहेगी और अन्तःकरण प्रतिबिम्बिता की उपाधि है। ऐसा नियम अर्थात् अन्तःकरण में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है ऐसा नियम माना नहीं जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ''यत्र यत्र उद्भूतरूपवत्त्वं तत्र तत्र प्रतिबिम्बितोपाधित्वम्'' ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, अर्थात् उद्भूतरूप वाले में ही प्रतिबिम्ब पड़ता है ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अस्वच्छ लोष्टादि में मुख के प्रतिबिम्बिता की उपाधिता नहीं है, अर्थात् अस्वच्छलोष्टादि उद्भूतरूपवाले तो हैं, परन्तु उनमें मुखादि का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। अतः ''यत्र यत्र स्वच्छत्वं तत्र तत्र प्रतिबिम्बितोपाधित्वम्'' इस व्याप्ति को मानना चाहिए। प्रकृत में अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के मिलित सत्त्वांश का कार्य मन है। अतः मन और मानस परिणाम रूप वृत्ति में प्रकाशस्वभावता के कारण स्वच्छता सहज ही सिद्ध है। यहाँ पर अनुमान का आकार होगा—मनसस्तत्परिणामभूतावृत्तिश्च स्वच्छः, प्रकाशस्वभावत्वात्।" अतः अन्तःकरण में चैतन्य का प्रबिबिम्ब मानने पर कोई भी आपत्ति नहीं है। इसी प्रकार यद्यपि अज्ञान (माया) त्रिगुणात्मक है और तीन गुणों में से रज और तम गुण स्वच्छ नहीं है, तथापि अज्ञान सत्त्वगुणात्मक भी है ही और सत्त्वगुण स्वच्छ है ही, अतः अविद्या और उसकी वृत्ति में भी स्वच्छता विद्यमान होने के कारण उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब माना ही जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो व्याप्ति बनायी थी कि "यत्र यत्र प्रतिबिम्बितत्त्वं तत्र तत्र चाक्षुषत्वम्"इसमें व्यभिचारदोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अचाक्षुष आकाशादि पदार्थों का जलादि में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। अन्यथा

नापि चाक्षुषत्वं प्रतिबिम्बितत्वप्रयोजकम्, अचाक्षुषस्याप्याकाशादेः प्रतिबिम्बितत्वदर्शनात्।। १२।।

ननु—चाक्षुषवृत्त्युपारूढचितः कथं रूपमात्रप्रकाशकत्वम्? न च प्रभावन्नियमः, वैषम्यात्, तथा हि—प्रभायां तमोविरोधित्वं रूपं प्रतीव गन्धादीन् प्रत्यपि समम्, न हि सा गन्धदेशस्थं तमो न निवर्तयति। न च—अज्ञानविरोधित्वलक्षणं प्रकाशकत्वं रूपं प्रत्येव, न तु रसादीन् प्रतीति—वाच्यम्, अज्ञाननिवर्तकत्वस्य वृत्तिभिन्नेऽनङ्गीकारात्, प्रभाया रूपग्राहकचक्षुःसहकारित्ववत् गन्धादिग्राहिघ्राणादिसहकारित्वाभावेऽपि चितो ग्राहकान्तरासहकारित्वेन तद्वत्सहकारि

सत्यानन्दप्रबोधिका

जानुमात्र उदक में अति गम्भीर प्रतीति की अनुपपत्ति होगी। अतः अचाक्षुष चैतन्य का भी प्रतिबिम्ब हो ही सकता है।। १२।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि चैतन्य विभु होने के कारण सभी पदार्थों से सम्बन्धित है। अतः सभी पदार्थों के एक साथ प्रकाश की आपत्ति होगी। इस आशय से पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि घटाकार चाक्षुषवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तचैतन्य केवल रूप का ही प्रकाशन क्यों करता है? रस गन्धादि का प्रकाशन क्यों नहीं करता है? अर्थात् जब चैतन्य सर्वगतत्वेन सर्व सम्बन्धी है तब जिस समय रूप का प्रकाशन करता है उसी समय रसादि का भी प्रकाशन करना चाहिए। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि घट संलग्न प्रभा जैसे घट के रूप का ही प्रकाशन करती है घट के रस गन्धादि का नहीं। ठीक इसी प्रकार घटाकार चाक्षुषवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तचैतन्य घट के रूप का ही प्रकाशन करता है। रसगन्धादि का नहीं। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी ने मूल में कहा—''वैषम्यात्'' अर्थात् ''प्रभायाः प्रकाशकत्वं तमो निवर्तकत्वरूपम्। तच्च सममुभयत्रापि, चितिश्च भातीति व्यवहारप्रयोजकत्वरूपं तत्। तच्च रूपं प्रत्येवेति वैषम्यमित्यर्थः। पूर्वपक्षी का आशय यह है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। इसको ही स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि उक्त चैतन्य जैसे अज्ञान का विरोधी है वैसे ही प्रभा अज्ञान का विरोधी नहीं है, अपितु अन्धकार की विरोधी है। रूप देशस्थ अन्धकार को प्रभा जैसे हटाती है। ठीक उसी प्रकार प्रभा रसगन्धादि देशस्थ अन्धकार को भी समान रूप से हटाती है, जबकि दार्ष्टान्त में चैतन्य केवल रूप का ही प्रकाशन करता है। रसगन्धादि का नहीं। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रभा में रहने वाला तमो विरोधित्व यद्यपि रूपरसादि के प्रति समान रूपेण है, तथापि प्रभा में रहने वाला अज्ञान विरोधित्व रूपरसादि के प्रति समान रूपेण नहीं है, क्योंकि प्रभा के द्वारा रूप के अज्ञान का नाश तो होता है किन्तु रसगन्धादि के अज्ञान का नाश नहीं होता है। अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्त (प्रभा और चाक्षुषवृत्त्यभिव्यक्तचित्) में समानता ही है विषमता नहीं। सिद्धान्ती के इस कथन का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रभा में अज्ञाननिवर्तकत्व नहीं है, क्योंकि प्रमाणजन्य अन्तःकरण की वृत्ति में ही अज्ञानविरोधित्व माना जाता है। अब दूसरे प्रकार की विषमता दिखलाते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि प्रभा का गन्धादि ग्राहक घ्राणादि में सहकारित्व नहीं है अर्थात् घ्राणादि से गन्धादि का ग्रहण करने के लिए प्रभा की सहकारिता आवश्यक नहीं है तथापि प्रभा में जैसे रूप ग्राहक चक्षु का सहकारित्व है। अर्थात् चक्षु से रूप का ग्रहण करने के लिए प्रभा की सहकारिता आवश्यक है, वैसे ही चैतन्य में ग्राहकान्तर का सहकारित्व न होने के कारण प्रभावत् सहकारी के अभाव से चैतन्य में गन्धादि के अनवभासकत्व को कहा नहीं

(तत्तत्सहकार्य)विलम्बेन विलम्बस्य वक्तुमशक्यत्वात्। तथा च चितः सर्वगतत्वेन सर्वसम्बन्धाद्रूपादिवद् गुरुत्वादेरप्याश्रयद्वारा साक्षाद्वा सम्बन्धित्वात् प्रकाशापत्तिः, वृत्त्युपरक्तचित्सम्बन्धस्यैव प्रकाशकत्वात्। 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिस्तु (ईश्वरस्य) तत्कृतलेपाभावपरा, न तु सम्बन्धनिषेधिका, 'स यत्तत्र यत्किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवति'इति पूर्ववाक्यात्, 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' इत्यादिस्मृतेश्चेति चेत्।। १३।।

न,प्रभाया रूपरसादिदेशगततमोनाशकत्वं तत्सम्बन्धाद्युज्यते, चैतन्यस्य तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

जा सकता है। अर्थात् चैतन्य किसी ग्राहकान्तर (चक्षुरादि) का सहकारी नहीं है, किन्तु प्रभा चक्षुरादि का सहकारी है। अतः चक्षु को जब तक प्रभा की सहकारिता में विलम्ब रहता है तब तक रूप के प्रकाशन में भी विलम्ब रहता है वैसे ही चैतन्य में नहीं है। अतः चाक्षुषादि वृत्ति के द्वारा अभिव्यक्तचैतन्य के सर्वगतत्व होने के कारण चैतन्य का सर्व के साथ सम्बन्ध है। अतः उसके द्वारा जिस समय रूप का प्रकाशन होता है उसी समय गन्धादि का भी प्रकाशन होना चाहिए और गुरुत्व का आश्रय घटादि के साथ चैतन्य का आध्यासिक सम्बन्ध रहने के कारण गुरुत्व के साथ भी चैतन्य का सम्बन्ध हो ही जाता है अथवा गुरुत्व का आश्रय घट जैसे चैतन्य में अध्यस्त है। ऐसी ही गुरुत्व भी चैतन्य में अध्यस्त होने के कारण चैतन्य गुरुत्व का साक्षात् सम्बन्धी होने के कारण चैतन्य के द्वारा गुरुत्वादि अतीन्द्रिय पदार्थों का भी प्रकाशन हो जाना चाहिए। क्योंकि वृत्युपरक्त चैतन्य के साथ किसी वस्तु का सम्बन्ध होने से अन्य किसी की अपेक्षा के बिना ही वस्तु का प्रकाशन हो जाता है। पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि ''चितः सर्वगतत्वेन सर्वसम्बन्धात्.....''। इसका विरोध करते हुए यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुति (असङ्गो ह्ययं पुरुषः बृ.४.३.१५) के अनुसार चित् के साथ किसी का सम्बन्ध ही नहीं होता है। अर्थात् चित् को किसी वस्तु के प्रकाशन करने के लिए जिस सम्बन्ध की आवश्यकता होती है वह सम्बन्ध वृत्ति के बिना नहीं हो सकता है। अतः जिस वस्तु के आकार की वृत्ति बनेगी उसी वस्तु के साथ चैतन्य का सम्बन्ध होगा और उसी वस्तु का ही प्रकाशन होगा। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' यह श्रुति ईश्वरपरक अथवा लेपाभावपरक अर्थात् ईश्वर को किसी वस्तु के प्रति आसक्ति नहीं है इस अर्थ को बोधन कराने वाली है न कि सम्बन्धाभाव को। क्योंकि ''स यत्तत्र यत्किञ्चित् पश्यति अनन्वागतस्तेन भवति'' (बृ.उ. ४.३.१५) इस पूर्व वाक्य में ईश्वरीय आसक्ति का निषेध ही प्रक्रान्त है न कि सम्बन्ध निषेध। श्रुति का उक्त ही अर्थ उचित है। इसमें स्मृतिप्रमाण देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि स्मृति में भी कहा है– 'यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः'' (गी० ९/६) अर्थात जैसे वायु सदा निर्लिप्तभाव से आकाश में रहता है वैसे ही सम्पूर्ण भूत मुझमें निर्लिप्त भाव से स्थित है।। १३।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि रूपरसादि का जो देश है तद्देशगत जो तम उस तम का नाशकत्व प्रभा में मानना उचित है क्योंकि रूपरसादि देश के साथ प्रभा का सम्बन्ध है किन्तु चैतन्य स्वभावतः असङ्ग है। चैतन्य का घटादि विषय के साथ वृत्ति के द्वारा ही सम्बन्ध स्थापित होता है। अतः जिस वस्तु के आकार की वृत्ति बनेगी केवल उसी वस्तु के साथ ही चैतन्य का सम्बन्ध स्थापित होता है और उस समय केवल उसी वस्तु का ही प्रकाशन होता है अन्य वस्तु का नहीं। अतः अन्य

स्वभावतोऽसम्बद्धत्वात् तदाकारवृत्त्या तदेकसम्बन्ध(स्योपादानात्)स्यापादनात् कथमन्यावभासकत्वप्रसङ्गः? स्वभावतो ह्यसङ्गत्वे 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतिः प्रमाणम्। न चैषा लेपाभावपरा, अकर्तृत्वप्रतिपादनाय सम्बन्धाभावपरत्वात्। यथा चैतत्तथा व्यक्तमाकरे। एवं स्मृतिरप्येतच्छ्रुत्यनुरोधेन नेया। अतः सर्वैः सह सम्बन्धाभावान्न सर्वावभासः, किन्तु यदाकारावृत्तिस्तस्यैव। अत एव 'इदं रजतम्' इति भ्रमे इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्येन रजतभानानुपपत्तेः रजताकाराप्यविद्यावृत्तिरभ्युपेयते, स्वतश्चिद्बिम्बाग्राहके

सत्यानन्दप्रबोधिका

वस्तु के प्रकाश की आपत्ति नहीं होगी। चैतन्य के स्वभावतः असङ्गत्व में ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' यह श्रुति प्रमाण है। यह श्रुति ईश्वरपरक अथवा लेपाभावपरक नहीं है, क्योंकि उपक्रम उपसंहारादि देखकर यही निश्चय होता है कि उक्त श्रुति ''आत्मा कर्ता नहीं है'' इस अर्थ का प्रतिपादन करती है। आत्मा में अकर्तृत्व का प्रतिपादन तभी सम्भव होगा जब आत्मा के साथ प्रपञ्च के सम्बन्ध का अभाव का बोधन उक्त श्रुति के द्वारा कराया गया हो। श्रुति के इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए भगवान् भाष्यकार ने बृहदारण्यक भाष्य में कहा है– ''स आत्मा यत्किञ्चित् तत्र स्वप्ने पश्यति पुण्यपापफलमनन्वागतोऽनुबद्धस्तेन दृष्टेन भवति नैवानुबद्धो भवति। यदि हि स्वप्ने कृतमेव तेन स्यात्तेनानुबद्धेत। स्वप्नादुत्थितोऽपि समान्वागतः स्यात्, न च तल्लोके स्वप्नकृतकर्मणाऽन्वागतत्वप्रसिद्धिः।'' अर्थात् वह आत्मा जो कुछ भी स्वप्न में पुण्यपाप का फल देखता है, उस देखे हुए से वह अनन्वागत अर्थात् बिना बँधा हुआ सा रहता, अर्थात् उससे सम्बद्ध नहीं होता है। यदि आत्मा ने स्वप्न में वैसा किया होता तब उससे बँध जाता और स्वप्न से उठने पर उससे सम्बद्ध ही रहता है, किन्तु लोकव्यवहार में जाग्रत काल में स्वप्नकृत कर्म से सम्बद्धता की प्रसिद्धि भी नहीं है। ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः'' इस श्रुति का यही अर्थ है। इस पर विशेष विचार निर्गुण प्रकरण में भी किया जायेगा। श्रीमद्भगवद् गीता में भी भगवान् वेदव्यासजी ने जीव चैतन्य को असङ्ग कहा है–''शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते''। अतः उक्त श्रुति एव स्मृति के अनुरोध से ''यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः'' इस स्मृति का भी अर्थ सम्बन्धाभावपरक कर लेना चाहिए। वृत्ति के बिना चैतन्य का स्वतः सबसे सम्बन्ध न होने के कारण चैतन्य के द्वारा सदा सभी वस्तु का प्रकाशन नहीं होता है। इसलिए यदाकार वृत्ति होती है। उसका ही भान होता है। इसलिए ''इदं रजतम्'' इत्याकारक भ्रमस्थल पर इदमाकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य के द्वारा इदम् का ही अवभास होगा न कि रजत का, क्योंकि इदमाकारवृत्ति रजताकार नहीं है। अतः रजत के भान के लिए रजताकार अविद्यावृत्ति मानी जाती है। घटाद्याकार वृत्ति के बिना चिद् का प्रतिबिम्ब अस्वच्छ घटादि विषय में न होने से घटादि पदार्थ में चैतन्य के तदाकारत्व का अयोग है। अर्थात् चैतन्य में विषयाकारता और विषयभासकता सिद्ध नहीं होगी। कहने का आशय यह है कि घटादि विषय स्वाभाविकरूपेण अस्वच्छ होने के कारण उनमें चिद् का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। जब विषयाकार वृत्ति बनेगी तब स्वच्छ वृत्ति के साथ विषय का सम्पर्क होने से विषय में चिद् का प्रतिबिम्ब पड़ना सम्भव है। जैसे मिट्टी अस्वच्छ होने के कारण उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है किन्तु उसी मिट्टी में यदि पानी का छिड़काव कर दिया जाय तब उस जल से सम्पृक्त मिट्टी में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ते हुए देखा गया है। जो दृश्य पदार्थ स्वाकार वृत्ति के बिना ही स्वयं ही चैतन्य के प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकते हैं उन पदार्थों के चित् के द्वारा प्रकाशन के लिए तदाकार वृत्ति मानने की आवश्यकता

चैतन्यस्य (वृत्तिमन्तरेण) तदाकारत्वायोगात्, स्वतश्चिद्बिम्बग्राहके त्वन्तःकरणवृत्त्यादौ न वृत्त्यपेक्षेति नानवस्था।। १४।।

न च—आश्रयसम्बन्धाविशेषेऽपि रूपाकारावृत्तिर्न गन्धाद्याकारेति कुत इति—वाच्यम्, यथा तव चाक्षुषज्ञाने आश्रयसम्बन्धाविशेषेऽपि न गन्धो विषयः, तथाऽस्माकमपि चक्षुर्द्वारकवृत्तौ न गन्धाद्याकारत्वम्, इन्द्रियविषयसम्बन्धानां स्वभावस्य नियामकस्य समानत्वात्। ननु—आध्यासिकसम्बन्धो वृत्तेः पूर्वमप्यस्त्येव, अन्यस्तूपरागो न दृश्यत्वे तन्त्रमिति किं तदर्थया

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होती है। अतः मूल में कहा गया कि तदाकारवृत्ति के बिना स्वतः चित् के प्रतिबिम्ब का ग्राहक अन्तःकरण और अन्तःकरणीय वृत्ति एवं सुखस्वरूप वृत्ति के चित् के द्वारा प्रकाशन के लिए तदाकारवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती है। एक वृत्ति के प्रकाशन के लिए दूसरी वृत्ति की आवश्यकता न होने से अनवस्थादि दोष भी नहीं होता है।। १४।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि आश्रय घट के साथ घटीयरूप और घटीय गन्ध का समानरूप से सम्बन्ध (समवाय) होने पर भी चक्षु और घट के सम्बन्ध के समय रूपाकार ही वृत्ति होती है, गन्धाकार नहीं— ऐसा क्यों? इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि घटरूप के चाक्षुषज्ञान के समय जैसे पूर्वपक्षी के मत में भी चाक्षुषज्ञान का विषय गन्धादि नहीं होते है, जबकि आश्रय घट के साथ रूप और गन्धादि का सम्बन्ध (समवाय) समान ही है। अतः जिस समय चक्षु इन्द्रिय के साथ रूप का स्वसंयुक्त समवाय सम्बन्ध है उसी समय गन्ध के साथ भी चक्षु इन्द्रिय का स्वसंयुक्त समवाय सम्बन्ध होने पर भी गन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसी प्रकार सिद्धान्त मत में भी चक्षु द्वारा निकली हुई वृत्ति रूपाकार ही होती है गन्धाद्याकार नहीं। इन्द्रिय तथा विषय और इन्द्रिय विषय का पारस्परिकसम्बन्ध इन तीनों का अपना—अपना स्वभाव ही नियामक है। अर्थात् किस विषय का किस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होगा और किसके साथ नहीं होगा इसके लिए नियामक उन तीनों का अपना—अपना स्वभाव ही माना जायेगा। जो दोनों पक्षों में समानहोने के कारण एक दूसरे पर प्रश्न नहीं कर सकता है। पीछे खण्ड—२ में सिद्धान्ती ने कहा था कि—''वृत्तिर्जीवचैतन्यस्य विषयोपरागार्था'' इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि वृत्ति से पूर्व ही विषय का चैतन्य के साथ आध्यासिकसम्बन्ध विद्यमान है। अतः घटाकार वृत्ति के द्वारा घट के प्रकाशन के लिए घट और चित् का आध्यासिकसम्बन्ध स्थापित होता है यह कहा नहीं जा सकता है और वृत्ति के द्वारा आध्यासिकसम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य प्रकार का सम्बन्ध घट के प्रकाशन के लिए घट और चित् में स्थापित होता है, यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि दृग्दृश्य में आध्यासिकसम्बन्ध को छोड़कर अन्य प्रकार का सम्बन्ध सिद्धान्तमत में माना नहीं जाता है। अतः दृग्दृश्य में सम्बन्ध स्थापित करने के लिए वृत्ति को मानना व्यर्थ है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वृत्ति के पूर्व में जो आध्यासिकसम्बन्ध विद्यमान है वह अधिष्ठानब्रह्मचैतन्य के साथ विषय का है। वृत्ति से पहले जीवचैतन्य के साथ में विषय का आध्यासिक सम्बन्ध विद्यमान नहीं रहता है। जब कि जीव के द्वारा विषय के प्रकाश के लिए जीव के साथ विषय का सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है। अन्यथा ''मया इदं विदितम्'' इस प्रकार से जीव के साथ विषय के सम्बन्ध का अवभास ही नहीं होगा। विषय का अधिष्ठानचैतन्य ही

वृत्त्येति—चेन्न, जीवचैतन्यस्याधिष्ठानचैतन्यस्य चाऽभेदाभिव्यक्त्यर्थत्वाद् वृत्तेः। अन्यथा मयेदं विदितिमिति सम्बन्धावभासो न स्यात्॥ १५॥

ननु—जीवचैतन्यस्यासङ्गत्वे ब्रह्मचैतन्यं सुतरामसङ्गम्; तथा च मायोपाधिकविषयोपरागत्वात् स्वतः सार्वज्ञ्यं न स्यात्। न च—ब्रह्म सर्वोपादानत्वादुपाधिं विनैव स्वस्वरूपवत्स्वाभिन्नं जगदवभासयतीति—वाच्यम्, उपादानत्वं न तावद्विशिष्टनिष्ठं परिणामित्वम्, आध्यासिक—सम्बन्धस्यातन्त्रतापत्तेः, अनाद्यविद्यादिकं प्रति तदभावाच्च, नापि शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वम्, शुद्धस्य सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादेरभावादिति—चेन्न, ब्रह्मणोऽसङ्गत्वेऽपि सर्वेषां तत्राध्यासेन मायोपाधिं विनैव

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषय का प्रकाशक होता है। वृत्ति के द्वारा जीवचैतन्य का अधिष्ठान ब्रह्मचैतन्य के साथ अभेद की अभिव्यक्ति हो जाने से जिस विषय का ब्रह्म के साथ आध्यासिकसम्बन्ध था उसी विषय का अब जीवचैतन्य के साथ आध्यासिकसम्बन्ध हो जायेगा और सम्बन्ध स्थापित हो जाने से जीव के द्वारा विषय का प्रकाशन हो जायेगा। अतः वृत्ति मानना सार्थक है॥ १५॥

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि जीवचैतन्य यदि असङ्ग है और वृत्ति के द्वारा उसका विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है तब तो ब्रह्मचैतन्य सुतराम् असङ्ग होने के कारण विषय के साथ उसका वृत्ति के बिना सम्बन्ध नहीं हो सकता है और वृत्ति के द्वारा ही उसका विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है, यह मानना होगा। मायावृत्तिरूप उपाधि के द्वारा ब्रह्म का विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है, ऐसा मानने पर ब्रह्म में स्वतः सर्वज्ञता नहीं मानी जायेगी किन्तु औपाधिक सर्वज्ञता मानी जायेगी। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मायावृत्तिरूप उपाधि की सहायता के बिना ही ब्रह्म सम्पूर्ण जगत् का उपादान होने के कारण जैसे अपने स्वरूप को प्रकाशित कर देता है वैसे ही ब्रह्म अपने से अभिन्न जगत् को मायावृत्ति रूप उपाधि की सहायता के बिना ही प्रकाशित कर देगा। अतः उसमें सर्वज्ञता की सिद्धि स्वतः हो जायेगी। ''तदनन्यत्व मारम्भणशब्दादिभ्यः (ब्रह्मसूत्र २—१—१४) इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्म (उपादान) और जगत् (उपादेय) में अभेद माना ही जाता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उपादान दो प्रकार का होता है—परिणामी उपादान कारण और विवर्तोपादानकारण। परिणामी—उपादान कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म है और विवर्तोपादान कारण शुद्धब्रह्म है। अब यदि प्रकृत उपादान शब्द से मायाविशिष्टब्रह्मरूपपरिणामी उपादान कारण लेते हैं और उसमें स्वतः सर्वज्ञता मानते हैं। तब मायाविशिष्टब्रह्म के साथ जगत् का आध्यासिकसम्बन्ध सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि मायाविशिष्टब्रह्म मिथ्या होने के कारण वह जगत् का अधिष्ठान नहीं हो सकता है। यदि ''तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय से आध्यासिकसम्बन्ध मान भी ले तो भी अविद्यादि अनादि पदार्थों की परिणामित्वरूप उपादानता ब्रह्म में सम्भव नहीं है, क्योंकि अनादि पदार्थ अनादि होने से उपादेय (कार्य) नहीं हो सकते हैं। अतः परिणामित्वरूप उपादानता मायाविशिष्टब्रह्म में सम्भव न होने के कारण उन अनादि पदार्थों का अवभास भी नहीं हो पायेगा और प्रकृत उपादान शब्द से यदि शुद्धनिष्ठ विवर्तोपादनत्व को लेते हैं तो उसे भी स्वतः सर्वज्ञ नहीं कह सकते हो क्योंकि शुद्ध निर्धर्मक होने के कारण शुद्धनिष्ठ सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादि का अभाव होता है। सिद्धान्ती विवर्तोपादान कारण शुद्धब्रह्म को स्वतः सर्वज्ञ मानकर समाधान दे रहे हैं कि ब्रह्म असङ्ग होने पर भी माया और माया के अधीन स्थिति वाले

तस्य सर्वप्रकाशकतया सार्वज्ञ्योपपत्तेः। न च शुद्धनिष्ठमधिष्ठानत्वं नोपादानत्वम्, सार्वज्ञ्या–भावादित्युक्तमिति–वाच्यम्, अविद्याकल्पितानां सर्वज्ञत्वादीनां शुद्धे सत्त्वात्। अन्यथा तेषां तटस्थलक्षणत्वमपि न स्यात्।। १६।।

ननु–आवरणाभिभवार्थत्वपक्षो न युक्तः, विवर्ताधिष्ठानस्य चिन्मात्रस्याज्ञानादिसाक्षित्वेन सदा प्रकाशनात्, अन्यस्याज्ञानकल्पितस्यावरणस्याभावादिति–चेन्न, अज्ञानादिसाक्षित्वेन स्वप्रका–शेऽप्यशनायाद्यतीतत्वादिना प्रकाशाभावादावरणस्यावश्यकत्वात्। ननु–अज्ञानस्य नयनपटलवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

निखिल पदार्थों का शुद्धब्रह्म में अध्यास होने के कारण मायावृत्तिरूप उपाधि के बिना ही शुद्धब्रह्म सर्व का प्रकाशक होने के कारण शुद्ध ब्रह्म में सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्त्वादि की उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि शुद्धनिष्ठ उपादानत्व को प्रकृत उपादानत्व नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शुद्धब्रह्म निर्धर्मक होने से उसमें सर्वज्ञत्वादि नहीं हैं। जब कि जो उपादान कारण होता है उसमें उस वस्तु का ज्ञानादि होता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि शुद्धब्रह्म में भी अविद्या कल्पित सर्वज्ञत्वादि है। यदि शुद्धब्रह्म में अविद्या कल्पित सर्वज्ञत्वादि धर्म न माना जाय तब तो सर्वज्ञत्वादि को शुद्धब्रह्म का तटस्थ लक्षण भी नहीं माना जा सकेगा,क्योंकि तटस्थलक्षण उसी को कहा जाता है जो कादाचित्क हो और वर्तमान होते हुए इतरव्यावर्तक हो। अर्थात् शुद्धब्रह्म में वास्तविक सर्वज्ञत्वादि नहीं है किन्तु अविद्या कल्पित है। अतः सर्वज्ञत्वादि को ब्रह्म का तटस्थलक्षण माना जाता है। यदि वास्तविक सर्वज्ञत्वादि ब्रह्म में होता तब तो सर्वज्ञत्वादि को ब्रह्म का स्वरूपलक्षण माना जाता न कि तटस्थलक्षण, जब कि जब तक सर्व (मिथ्या जगत्) है तभी तक ब्रह्म में सर्वज्ञत्वादि रहता है, मोक्ष काल में न सर्व है और न सर्वज्ञत्वादि ब्रह्म में रहता है।। १६।।

''वृत्तिश्चिदुपरागार्थाः'' इस पक्ष के निर्दुष्ट सिद्ध हो जाने पर अब पूर्वपक्षी ''आवरणभिभवार्था वृत्तिः'' इस पक्ष में दोष देते हुए कह रहा है कि ''आवरण के अभिभव के लिए वृत्ति है'' यह पक्ष युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि विवर्ताधिष्ठान जो शुद्धब्रह्म अज्ञानादि निखिल पदार्थों का भासक होने के कारण सदा प्रकाशमान है, क्योंकि अविद्यादि का सदा भान होता है। अतः उस शुद्धब्रह्म में आवरण न होने के कारण उसके अभिभव के लिए वृत्ति मानना व्यर्थ है। शुद्धचैतन्य से भिन्न अविद्याविशिष्टचैतन्य के आवरण के नाश के लिए भी वृत्ति मानना सम्भव नहीं है क्योंकि विशिष्टब्रह्म मिथ्या (जड़) होने के कारण आवरण का आश्रय विशिष्ट ब्रह्म को संक्षेपशारीरककार नहीं मानते हैं, अपितु शुद्धब्रह्म को मानते हैं। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अज्ञानादि का साक्षिरूप से शुद्धब्रह्म स्वप्रकाश होने पर भी अर्थात् आवृत न होते हुए भी मैं भूख–प्यास से अतीत (रहित) हूं शुद्ध बुद्ध मुक्त हूं इत्यादि प्रकार से आत्मा का बद्ध जनों को भान नहीं होता है। इसलिए शुद्ध बुद्ध मुक्त रूपेण आत्मा आवृत है। उस आवरण के नाश के लिए वृत्ति मानना आवश्यक है। पुनः पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि विषयगत अज्ञान का किसी एक व्यक्ति को होने वाली वृत्ति के द्वारा नाश होने पर उक्त विषय का सबको ज्ञान होना चाहिए। इसी को स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि नेत्रगत काचादिदोष के जैसे अज्ञान (आवरण) को जीवगत मानने पर चैत्र के अज्ञान का नाश होने पर भी मैत्र के अज्ञान का नाश न होने से मैत्र को विषय का प्रकाश नहीं होगा–

पुंगतत्वे चैत्रस्याज्ञाननाशेऽपि मैत्रस्य तदनाशादप्रकाशो युक्तः, विषयगत्वे तु चैत्रार्जितया वृत्त्या अज्ञाने दीपेन तमसीव नाशिते मैत्रस्यापि प्रकाशः स्यादिति—चेन्न, चैत्रावरण—शक्तेरेवाज्ञानगतायाश्चैत्रार्जितवृत्त्या नाशितत्वेन स पश्यति, न मैत्रः, तत्प्रतियोगि—कावरणशक्तेरनाशात्, आवरणशक्तीनां द्रष्टृविषयभेदाभ्यां भिन्नत्वात्, तमस्तु न तथेत्येकानीतप्रदीपेनाप्यन्यान्प्रति प्रकाशो युज्यते। एतेन—एकाज्ञानपक्षे शुक्तिज्ञानेन तदज्ञाननिवृत्तौ सद्य एव मोक्षापातः, अनिवृत्तौ रूप्यादेः सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपबाधायोग

सत्यानन्दप्रबोधिका

यह तो उचित है, किन्तु सिद्धान्ती अज्ञान (आवरण) को विषयगत मानते हैं। अतः जैसे चैत्रीय दीप से तम के नाश होने पर मैत्रादि को भी घटादि का प्रकाश हो जाता है ठीक इसी प्रकार चैत्रीय वृत्ति से अज्ञान के नाश होने पर मैत्रादि अन्यों को भी वृत्ति के बिना ही घटादि के प्रकाश की आपत्ति होगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अज्ञानगत चैत्रीय आवरण शक्ति का ही चैत्रार्जित वृत्ति से नाश होने के कारण "चैत्र देखता है मैत्र नहीं" ऐसा व्यवहार होता है, क्योंकि चैत्रार्जित वृत्ति से मैत्र प्रतियोगिक आवरण शक्ति का नाश नहीं हुआ है। अज्ञान के एक होने पर भी अज्ञानगत आवरण शक्तियों को द्रष्टा के भेद से और विषय के भेद से भिन्न—भिन्न माना जाता है। अर्थात् एक ही घटावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान की एक आवरण शक्ति के द्वारा चैत्र के प्रति घट का स्फुरण नहीं होता है और उसी घटावच्छिन्न चैतन्यगत अज्ञान की दूसरी आवरण शक्ति के द्वारा मैत्र को घट का स्फुरण नहीं होता है। इस प्रकार द्रष्टा के भेद से अज्ञानगत नानाशक्ति मानी गयी है और मैत्रार्जित घटाकारवृत्ति के द्वारा अज्ञानगत एक आवरण शक्ति के नाश हो जाने पर मैत्र को जब घट का स्फुरण होता है, उसी समय मैत्र को मठाकारवृत्ति न होने के कारण अज्ञानगत दूसरी आवरण शक्ति के द्वारा उसी मैत्र को मठ का स्फुरण नहीं होता है। इस प्रकार विषय के भेद से अज्ञानगत नाना आवरणशक्तियाँ मानी गयी हैं। जब कभी एक वृत्ति बनेगी तब उस वृत्ति के द्वारा अज्ञान का नाश नहीं होगा किन्तु अज्ञानगत अनेक आवरणशक्तियों में से एक आवरण शक्ति का नाश होगा। जैसे चैत्र को घटाकार वृत्ति होने पर चैत्र व्यक्ति के प्रति घट का स्फुरण न होने देने वाली जो शक्ति थी उसका नाश हो जायेगा और तब केवल चैत्र को ही केवल घट का ही स्फुरण होगा अर्थात् न तो चैत्र को मठ का स्फुरण होगा और न मैत्र को घट का स्फुरण होगा। दृष्टान्त में द्रष्टा के भेद से और विषय के भेद से तम भिन्न—भिन्न नहीं होता है। अतः एक पुरुष के द्वारा लाये गये दीपक से अन्य पुरुषों को भी घटादि का प्रकाश हो जाना उचित ही है। द्रष्टा के भेद से और विषय के भेद से अज्ञानगत आवरणशक्तियों के भिन्न—भिन्न होने के कारण पूर्वपक्षी का यह कथन निरस्त हो गया कि सिद्धान्ती अज्ञान को एक मानते हैं अथवा भिन्न—भिन्न। यदि एक ही अज्ञान मानते हैं तब शुक्ति के ज्ञान से उस अज्ञान की निवृत्ति होने पर तुरन्त सभी को मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए, क्योंकि अज्ञान एक ही है उसका शुक्तिज्ञान के द्वारा नाश हो गया और यदि शुक्तिज्ञान के द्वारा शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति नहीं मानते हैं तब कार्य के सहित अविद्या निवृत्तिरूप बाध अर्थात् शुक्तिरजत का बाध नहीं होगा। पूर्वपक्षी के इस कथन का निरास इसलिए हो गया कि अज्ञान एक होने पर भी अज्ञानगत आवरणशक्तियां नाना हैं। अतः शुक्तिज्ञान

इति–निरस्तम्, आवरणशक्तिनाशेऽपि मूलाज्ञाननाशाभावेन सद्यो मोक्षाभावस्य रूप्यादौ सविलासशक्तिमदविद्यानिवृत्तिरूपबाधस्य चोपपत्तेः।। १७।।

ननु–एकाज्ञानपक्षे रूप्यादेः शुक्तिज्ञानेन स्वकारणे प्रविलयमात्रं क्रियते, मुद्गरप्रहारेणेव घटस्य, न त्वज्ञानं निवर्त्यत इति ते मतं न युक्तम्, यतो ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तिबलाद् ज्ञानस्याज्ञाननिवृत्तिद्वारैवान्यविरोधित्वेनाज्ञानमनिवर्त्यरूप्यादिनिवर्तकत्वायोगात्, शुक्तिज्ञानेनाज्ञानानिवृत्तावभिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धाभावेन भ्रान्ताविव बाधेऽपि शुक्तेरप्रकाशापत्तेश्चेति– चेन्न, यतो ज्ञानमज्ञाननिवर्तकमिति व्याप्तेरुच्छेदविषयत्वात्, स्वकारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थाने तदनङ्गीकारात्, शुक्तिज्ञानस्य चानवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपमूलाज्ञानानिवर्तकत्वेऽपि अवच्छिन्नचैतन्या–

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा शुक्ति के अज्ञान का नाश नहीं होता है किन्तु अज्ञानगत अनेक आवरण शुक्तियों में से एक आवरणशक्ति का नाश होता है। अतः शुक्तिज्ञान से मूलाज्ञान का नाश न होने के कारण तुरन्त मुक्ति की आपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि अज्ञान का नाश न मानने पर शुक्तिरजत का बाध नहीं होगा। उसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो बाध का अर्थ किया वह ठीक नहीं है, क्योंकि बाध का अर्थ है–कार्य सहित आवरणशक्ति वाली अविद्या की निवृत्ति। शुक्तिज्ञान से कार्य (शुक्तिरजत) सहित एक आवरणशक्ति वाली अविद्या की निवृत्ति हो जाने से शुक्तिरजत के बाध की भी उत्पत्ति हो जायेगी।। १७।।

एक अज्ञान पक्ष में दोष देते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि विवरणाचार्य ने यह जो कहा है–''अस्मिन् पक्षे शुक्तिकादिज्ञाने रजताद्यध्यासानां स्वकारणे प्रविलयमात्र क्रियते मूसलप्रहारेणेव घटस्य''। पूर्वपक्षी उक्त विवरण वाक्य के भावों को उद्घृत करते हुए कह रहा है कि एक अज्ञान पक्ष में शुक्तिज्ञान से अज्ञान का नाश नहीं होता है अपितु शुक्तिरजत का अपने कारण में विलयमात्र हो जाता है न कि शुक्तिरजत का बाध। जैसे मूसल के प्रहार से घट का मिट्टी में विलय हो जाता है न कि घट का बाध। विवरणाचार्य का उक्त कथन उचित नहीं है, क्योंकि ''यत्र यत्र ज्ञानत्वं तत्र तत्र अज्ञानस्यैव निवर्तकत्त्वम् (न तु विषयस्य निवर्तकत्वम्) इस व्याप्ति के आधार पर पहले शुक्तिज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होगी, इसके पश्चात् अज्ञानरूप कारण की निवृत्ति होने से रजतरूप कार्य की स्वतः निवृत्ति हो जायेगी। अर्थात् शुक्तिज्ञान अज्ञान की निवृत्ति के माध्यम से (परम्परया) रजत का विरोधी (निवर्तक) होता है। अतः शुक्तिज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति के बिना ही रजत की निवृत्ति न होने के कारण विवरणाचार्य का उक्त कथन उचित नहीं है। दूसरा दोष यह भी होगा कि शुक्तिज्ञान से शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति न होने पर शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी और तब शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य के साथ शुक्ति का सम्बन्ध न होने पर शुक्तिरजत के बाध के पश्चात् भी शुक्ति का प्रकाश (ज्ञान) भी नहीं हो पायेगा। जैसे भ्रान्तिकाल में शुक्तिरजतविषयावच्छेदेन अभिव्यक्तचैतन्य के साथ शुक्ति का सम्बन्ध न होने से शुक्ति का प्रकाश (ज्ञान) नहीं होता है। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि नाश दो प्रकार का होता है एक उच्छेद (बाध) और दूसरा निवृत्ति। ''यद् यद् ज्ञानं तत् तदज्ञानस्यैव निवर्तकम्''। यह व्याप्ति बाध स्थल पर ही मानी जाती है। जहाँ पर निवृत्ति मानी जाती है वहां पर कार्य अपने कारण में सूक्ष्म रूप से

वरणरूपतूलाज्ञाननिवर्तकत्वेनाभिव्यक्तचैतन्यसम्बन्धाद् बाधदशायां रूप्यनिवृत्तिशुक्तिप्रकाश–योरप्युपपत्तेः। न च उपादेयभूतया वृत्त्योपादानभूताविद्याभिभवो न घटते, उपादेयेनोपादानाभिभवा–दर्शनादिति–वाच्यम्, वृश्चिकादिना गोमयादेरुपादानस्याप्यभिभवदर्शनात्। आरम्भवादानभ्युपगमाच्च न गोमयावयवानामुपादानत्वशङ्का।। १८।।

ननु–चक्षुरादिजन्यशुक्त्यादिवृत्तेः सप्रकारिकायाः निष्प्रकारकशुद्धचैतन्याविषयतया तदावरणरूपमूलाज्ञानाभिभवाभावेऽप्यवच्छिन्नविषयया तया अवच्छिन्नचैतन्यावरणरूपतूला–

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्थित रहता है। अतः निवृत्तिस्थल पर उक्त व्याप्ति के न मानने के कारण निवृत्ति स्थल पर पूर्वपक्षी के द्वारा कथित दोष अकाण्ड ताण्डव होने के कारण खण्डित हो गया। अब पूर्वपक्षी के द्वारा कथित द्वितीय दोष का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि शुक्ति ज्ञान शुद्धचैतन्य के आवरणभूत मूलाज्ञान का निर्वतक नहीं होता है तथापि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य का आवरणभूत तूलाज्ञान का निर्वतक होता है। इसलिए शुक्तिज्ञान के द्वारा शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य के आश्रित तूलाज्ञान की निवृत्ति के पश्चात् अभिव्यक्त शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य से शुक्ति का सम्बन्ध होने से शुक्ति रजत की बाध (निवृत्ति) दशा में शुक्तिरजत की निवृत्ति के साथ–साथ शुक्ति के प्रकाश की भी उपपत्ति हो जायेगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि कार्यभूत वृत्ति के द्वारा कारणभूत अविद्या का अभिभव नहीं होगा, क्योंकि कार्य के द्वारा कारण का अभिभव नहीं देखा जाता है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि गोमय का कार्य बिच्छू के द्वारा अपने कारण गोयम का अभिभव देखा जाता है, क्योकि जब गोयम से बिच्छू बन जाता है तब बिच्छू के शरीर को देखकर किसी को भी ''यह गोमय है'' ऐसा ज्ञान नहीं होता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी आरम्भवाद की दृष्टि से शङ्का करे कि गोमय के अवयव (परमाणु) को बिच्छू का उपादान (समवायि) कारण माना जाता है। वे परमाणु परस्पर संयुक्त होकर बिच्छू के अवयव बनते हैं और उनसे बिच्छू उत्पन्न होता है। इस प्रकार बिच्छू की उत्पत्ति के बाद भी गोमय का अवयव (परमाणु) का अस्तित्व होता है जिसमें बिच्छू समवायेन रहता है। अतः सिद्धान्ती के द्वारा जो दृष्टान्त में उपादेय से उपादान का अभिभव दिखलाया गया वह उचित नहीं है, क्योंकि उपादान गोमय के अवयव का अभिभव बिच्छू की उत्पत्ति से नहीं देखा जाता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम आरम्भवाद को नहीं मानते हैं अपितु परिणामवाद मानते हैं। अतः गोमय के अवयवों को बिच्छू का समवायि कारण नहीं माना जा सकता है अपितु जैसे दूध दधिरूप में परिणत हो जाने के बाद दूध के स्वरूप का अभिभव हो जाता है। ऐसे ही गोमय से बिच्छू बनने के बाद में गोमय के स्वरूप का अभिभव हो जाता है। अतः परिणामवाद के अनुसार कोई भी दोष नहीं है।। १८।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि चक्षुरादि से जन्य शुक्त्याद्याकार जो वृत्ति वह सप्रकारक होती है, क्योंकि उक्त वृत्ति का विषय शुक्ति है। उसमें शुक्तित्व प्रकार है। अतः शुक्त्याकार वृत्ति का विषय सप्रकारक शुक्ति है। अतः उस वृत्ति में निष्प्रकारक शुद्धचैतन्य विषयकत्व न होने से उसके द्वारा शुद्धचैतन्य का आवरण रूप जो मूलाज्ञान उसका अभिभव नहीं होता है। अर्थात् शुक्त्याकारवृत्ति का विषय सप्रकारकशुक्ति है और मूलाज्ञान का विषय जो ब्रह्म है वह निष्प्रकारक है। इस प्रकार से शुक्त्याकार वृत्ति और मूलाज्ञान ये दोनों समानविषयक

ज्ञानाभिभवो युज्यत इति ते मतमयुक्तम्, अवच्छिन्ने अविद्याकल्पिते अप्रसक्तप्रकाशे मूलाविद्याया इव तदावरणशक्तेरयोगात्, त्वयानभ्युपगतत्वाच्च, जडविशिष्टात्मानं प्रति तदभ्युपगमे च विशेषणानावरकविशिष्टावरकशक्त्यभिभवस्य विशेष्यावरकशक्त्यभिभवं विनाऽयोगेन शुक्त्याकारवृत्त्यैव शुद्धात्मप्रकाशापातादिति चेन्न, अनवबोधात्। न ह्यविद्याकल्पितेऽवच्छिन्ने अस्माभिरविद्या वा तच्छक्तिर्वाभ्युपेयते, किन्तु चैतन्यमात्र एव, तस्मिंस्तु सर्वं जडमध्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होने के कारण शुक्त्याकारवृत्ति से मूलाज्ञान का नाश नहीं होता है क्योंकि ज्ञान और अज्ञान समानविषयक होने पर ही ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होता है। इस प्रकार से उक्त शुक्त्याकारवृत्ति के द्वारा मूलाज्ञान का नाश न होने पर भी शुक्त्याकारवृत्ति के द्वारा शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य की अभिव्यक्ति होने से उक्त वृत्ति का विषय शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य होता है। अतः शुक्त्याकारवृत्ति के विषयीभूत शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य का आवरणरूप जो तूलाज्ञान उसका नाश उक्त वृत्ति के द्वारा हो जाता है। क्योंकि तूलाज्ञान का विषय और उक्त वृत्ति का विषय समान अर्थात् शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य है। ऐसा जो सिद्धान्ती का मत है, वह उचित नहीं हैं, क्योंकि शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य अविद्या से कल्पित होने के कारण अर्थात् जड़ होने के कारण शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य में प्रकाश प्रसक्त ही नहीं है। जहां प्रकाश प्रसक्त होता है, वहीं पर आवरण सार्थक माना जाता है। इसलिए जड़ वस्तु के समान शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य जैसे मूलाज्ञान का आश्रय नहीं होता है वैसे ही मूलाज्ञान की अवस्थाविशेषरूपातूलाविद्या का भी आश्रय नहीं बन सकता है। दूसरी बात यह है कि सिद्धान्ती स्वयं ही अज्ञान को जड़ वस्तु के आश्रित मानते नहीं है। शुक्तिरूप जड़वस्तु से विशिष्ट चैतन्य (शुक्त्यवच्छिन्नचैत्न्य) को तूलाज्ञान का आश्रय मानने पर शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य का विशेषणीभूत जो शुक्ति उसको आवृत न करने वाली किन्तु विशिष्ट (शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य) को आवृत करने वाली मूलाविद्या की आवरण शक्तिरूपातूलाविद्या का अभिभव तभी हो सकता है जब शुक्त्यवच्छिन्नचैतन्य के विशेष्यभूत शुद्धचैतन्य के आवरण का अभिभव हो, क्योंकि विशेष्य के आवृत रह जाने से विशिष्ट अनावृत नहीं हो सकता है। अतः शुक्त्याकारवृत्ति के द्वारा ही शुद्ध आत्मा के प्रकाश तथा सद्यो मोक्ष की प्राप्ति की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का बालस्वभाव होने के कारण अद्वैतसिद्धान्त को नहीं समझ सका। अब सिद्धान्तमत को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अद्वैतसिद्धान्त में अविद्या से कल्पित शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्य में मूलाविद्या अथवा मूलाविद्या की आवरण शक्तिरूपा तूलाविद्या नहीं मानी जाती है। अपितु शुद्ध चैतन्य मात्र में मानी जाती है। उसी चैतन्य में सम्पूर्ण जड़ जगत् अध्यस्त है। अतः एकाश्रयाश्रितत्वरूप सम्बन्ध से जड़ावच्छिन्नचैतन्य आवृत है। ऐसा व्यपदेश होता है। अर्थात् जड़ावच्छिन्नचैतन्य में अविद्या साक्षात् सम्बन्ध से नहीं रह सकती है। अविद्या साक्षात् सम्बन्ध से शुद्धचैतन्य में रहती है, किन्तु अविद्या परम्परा सम्बन्ध से जड़ावच्छिन्न चैतन्य में रह सकती है। वह परम्परा सम्बन्ध है, एकाश्रयाश्रितत्व। एका–अविद्या, उसका आश्रय–शुद्धचैतन्य, उसमें आश्रित–जड़ावच्छिन्नचैतन्य। अतः उक्त आश्रितत्व जड़ावच्छिन्नचैतन्य में चला गया। अथवा एक आश्रय जो शुद्ध चैतन्य उसमें अविद्या भी आश्रित है और जड़ावच्छिन्नचैतन्य भी। अतः उक्त आश्रितत्व जड़ावच्छिन्नचैतन्य में चला गया। इस प्रकार से अविद्या साक्षात् सम्बन्ध से जड़ावच्छिन्नचैतन्य में नहीं रही किन्तु परम्परासम्बन्ध से रह जाने से जड़ावच्छिन्नचैतन्य अविद्या के द्वारा आवृत है– ऐसा गौणरूप से कहा

स्तमस्तीत्येकाश्रयाश्रितत्वसम्बन्धात्, जड़ावच्छिन्नचैतन्यमावृतमिति व्यपदेशः, घटाद्याकारवृत्त्या तु तदधिष्ठानचैतन्याभिव्यक्तौ तदवच्छेदेनैव तन्निष्ठावरणाभिभवो जायत इति न शुद्धात्मप्रकाशापत्तिः। तदुक्तं संक्षेपशारीरके—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः।।'
बहु निगद्य किमत्र वदाम्यहं श्रृणुत संग्रहमद्वयशासने।
सकलवाङ्मनसातिगता चितिः सकलवाङ्मनसव्यवहारभाक्।।'

इति च। तस्मादविद्यायां सत्यामपि शक्त्यभिभवाद्वा, तूलाज्ञाननाशाद्वा, अवस्थाविशेषप्रच्यवाद्वा,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

जाता है। यही हमारा सिद्धान्त है। घटाकार शुक्त्याकार इत्यादि वृत्तियों के द्वारा घटाधिष्ठान शुद्धचैतन्य की अभिव्यक्ति होने पर भी घटावच्छेदेन ही शुद्धचैतन्यनिष्ठ आवरण का अभिभव होता है। अर्थात् घटाद्याकार वृत्ति के द्वारा शुद्धब्रह्मचैतन्यनिष्ठ जो आवरण है उसका निरवच्छेदेन नाश नहीं होता है, किन्तु घटाद्यवच्छेदेन नाश होता है। ऐसे स्थल पर ही तुलाविद्या नष्ट हुयी, ऐसा कहा जाता है। जहां निरवच्छेदेन अविद्या नष्ट होती है, वहां मूलाविद्या नष्ट हो गयी—ऐसा कहा जाता है। मूलाविद्या का नाश होने पर ही शुद्धात्मा का प्रकाश होगा। घटाद्यवच्छेदेन आवरण नाश होने पर शुद्धात्मा के प्रकाश एवं सद्यो मुक्ति की आपत्ति नहीं होगी। शुद्धचैतन्य ही अविद्या का आश्रय और विषय होता है—यह संक्षेपशारीरक में कहा है—जीवेशादि भेद से रहित शुद्धचैतन्य ही मूलाज्ञान का आश्रय और विषय होता है। जीवेशादि से पूर्व सिद्ध तमरूप अनादि अज्ञान का पश्चात् (उत्तर) सिद्ध जीव अथवा ईश आश्रय और विषय नहीं हो सकते हैं। जीवेशादि माया कल्पित है। अतः जीवेशादि को माया के उत्तरसिद्ध कहा गया है और माया को जीवेशादि से पूर्वसिद्ध कहा गया है।

अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त में बहुत विस्तार से मैं क्या कहूं। इस अद्वैतवेदान्त के अनुशासन का संग्रह संक्षेप में सुनिए—शुद्धचैतन्य ही सर्व वाणी तथा मन से अतीत है और सकल वाणी और मन के व्यवहार का विषय भी है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण व्यवहार अधिष्ठानता सम्बन्ध से चैतन्य में ही रहता है। इसलिए चैतन्य को सर्वव्यवहार वाला कहा गया और वस्तुतः व्यवहार का ब्रह्म के साथ कोई वास्तविकसम्बन्ध नहीं है। अतः सर्व व्यवहार से अतीत कहा गया।

अतः घटाकारवृत्ति के द्वारा मूलाविद्या का नाश न होने पर भी अर्थात् मूलाविद्या के रहने पर भी एकाज्ञान पक्ष में मूलाविद्या की आवरण शक्ति (तूलाविद्या) का अभिभव हो जाने से घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। नानाज्ञानवाद में तूलाज्ञान नाना है। उनमें से घटाकारवृत्ति के द्वारा एक तूलाज्ञान का नाश हो जाने पर घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। अथवा मूलाज्ञान की अनेक अवस्थायें हैं, उनमें से घटाकार वृत्ति के द्वारा मूलाज्ञान की ही एक विशेषप्रकार की अवस्था का नाश हो जाने से घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जोयगी। अथवा घटाकारवृत्ति के द्वारा मूलाज्ञान के एक देश का नाश हो जाने से घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। यहाँ पर प्रश्न होता है कि मूलाज्ञान निरवयव है। अतः उसका एकदेश कैसे सम्भव होगा। इसका समाधान देते हुए लघुचन्द्रिकाकार ने कहा ''एकदेशनाशस्तु वृत्तौ सत्यामज्ञानं स्वकार्याक्षम्।'' अज्ञान के एक देश का नाश का अर्थ है कि जब तक वृत्ति रहती है तब तक अज्ञान अपने कार्य (आवरण) करने में समर्थ

एकदेशनाशाद्वा, भीरुभटवदपसरणाद्वा, कटवत्संवेष्टनाद्वा, आवरणभङ्गानिर्मोक्षबाधानामुपपत्तिः।। १९।।

ननु—अवस्थाविशेषाणामज्ञानाभिन्नत्वे एकाज्ञानपक्षक्षतिः, अज्ञानभिन्नत्वे च साक्षाद् ज्ञानेन निवृत्तिः, भ्रमाद्युपादानत्वञ्च न स्यात्, तेषामिव रूप्यस्यैवोपादाननाशं विना नाशप्रसङ्गश्च, शुक्त्यज्ञानं नष्टमित्यनुभवविरोधश्चेति—चेन्न, यतोऽवस्था तावदवस्थावतोऽभिन्नैव, अज्ञानैक्यं तु सर्वावस्थानुस्यूतैकाकारमादाय। एवं चाज्ञानावस्थाया अज्ञानत्वेन न ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वा—

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं रहता है। अथवा घटाकारवृत्ति के द्वारा भीरूभटवत् अविद्या के हट जाने से घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। अथवा घटाकारवृत्ति के द्वारा अज्ञान का घटभाग वेष्टित हो जाने से घटभाग में चेतन अनावृत्त हो जाता है। अतः घट के प्रकाश की उपपत्ति हो जाती है। जैसे बड़ी चटाई के कुछ भाग लपेट देने पर चटाई जिस देश पर फैली हुयी थी उस देश का कुछ भाग अनावृत्त हो जाता है। इस प्रकार शुक्त्याद्याकार वृत्ति के द्वारा आवरण के अभिभव की उपपत्ति भी हो जाती है और सम्पूर्ण अज्ञानके नाश न होने के कारण सद्योमुक्ति की भी आपत्ति नहीं होती है और रजतादि भ्रमों के बाध की उपपत्ति भी हो जाती है।। १९।।

विवरणाचार्य का कथन है—''अथवा मूलाज्ञानस्यैव अवस्थाभेदाः रजताद्युपादानानि शुक्तिकादिज्ञानैः सहाध्यासेन निवर्तन्ते।'' इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती मूलाज्ञान के अवस्थाविशेष को मूलाज्ञानसे अभिन्न मानते हैं अथवा भिन्न। अभिन्न मानने पर अवस्थाविशेष के अनेक होने से मूलाज्ञान को भी अनेक मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर विवरणकार का एकाज्ञान पक्ष ही समाप्त हो जायेगा। मूलाज्ञान से अवस्था विशेष को भिन्न मानने पर अवस्था विशेष को अज्ञान पद से नहीं कहा जा सकेगा। ऐसा होने पर ज्ञान से अवस्थाविशेष की निवृत्ति नहीं हो पायेगी क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान साक्षात् अज्ञान का ही निवर्तक होता है अज्ञान से भिन्न वस्तु का नहीं। अज्ञान को भ्रम का उपादान कारण माना जाता है, किन्तु अवस्थाविशेष के अज्ञान से भिन्न होने के कारण अवस्थाविशेष प्रातिभासिकभ्रम का उपादान कारण भी नहीं हो पायेगा। यदि सिद्धान्ती शुक्त्यादिज्ञान से अवस्थाविशेष की निवृत्ति मानते हैं तब तो अवस्थाविशेषों के उपादान कारण मूलाज्ञान के नाश के बिना ही अवस्थाविशेषों का नाश जैसे मान रहे हैं वैसे ही प्रातिभासिकपदार्थ का भी नाश अपने उपादानकारण अवस्था विशेष के नाश के बिना ही मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर शुक्तिज्ञान से शुक्ति का अज्ञान नष्ट होता है ऐसा जो सार्वजनिक अनुभव है उससे विरोध होगा। अभिन्नत्व पक्ष को स्वीकार करके सिद्धान्ती समाधान देते हुए कहा रहे हैं कि किसी भी वस्तु की जो अवस्था होती है वह उस वस्तु से अभिन्न होती है। अभिन्न मानने पर जो पूर्वपक्षी ने दोष दिया था कि अज्ञान अनेक हो जायेंगे वह उचित नहीं है, क्योंकि अवस्था भेद से अज्ञान नाना होने पर भी सभी अवस्था—अज्ञानों में मूलाज्ञान अनुस्यूत होकर ''न जानामि'' इस प्रकार से अपनी एकता को बनाये रखता है। जैसे सूत की बनी हुयी माला में सूत की बनी हुयी मनिकाएं भिन्न—भिन्न दिखने पर भी उन सबमें सूत ही अनुस्यूत होता है और जैसे घटादिरूप अवस्थाओं में अनुगत हुआ भी घटादि प्रपञ्च का कारणरूप अनादि अज्ञान घटादि के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है वैसे ही अज्ञानरूप नाना अवस्था विशेषों में अनुस्यूत अज्ञान (मूलाज्ञान) उन अवस्थाओं के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है। यहाँ पर विशेष बात यह है कि घटादि रूप अवस्थाओं का बाध अनादि अज्ञान के

द्यनुपपत्तिः। यत्त्ववस्थाविशेषाणामिव रूप्यस्यैवोपादाननिवृत्तिं विना निवृत्त्यापादनम्, तदयुक्तम्, अज्ञान एव ज्ञानस्य साक्षाद्विरोधावधारणेनाज्ञानावस्थायास्तदभिन्नायाः ज्ञानसाक्षान्निवर्त्यत्वार्हत्वात्, न तु रूप्यादीनाम्, अनीदृक्त्वात्। अनेकाज्ञानपक्षे तु शङ्कापि नोदेति।। २०।।

ननु—अस्मिन्पक्षे एकया वृत्त्या सर्वतदज्ञानस्य निवृत्तिः? उत एकतदज्ञानस्य? आद्ये पुनः शुक्तेः कदाप्यप्रकाशो न स्यात्, अन्त्ये वृत्तिकालेऽपि प्रकाशो न स्यात्, एकस्यावरणस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

बाध के बिना नहीं होता है, किन्तु अज्ञानरूप अवस्था विशेषों में यद्यपि अनादि अज्ञान अनुस्यूत है फिर भी इन अज्ञानरूप अवस्था विशेषों का अनादि अज्ञान के बाध के बिना ही बाध हो जाता है, क्योंकि अवस्थाविशेष जैसे अज्ञान से अभिन्न हैं। वैसे घटादि अज्ञान से अभिन्न नहीं है। इस प्रकार से मूलाज्ञान के अवस्थाविशेषों में अज्ञानरूपत्व होने के कारण ज्ञान से साक्षात् निवर्त्यत्वादि की अनुपपत्ति नहीं है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा शुक्तिज्ञान से अवस्थाविशेष की निवृत्ति होने पर भी जैसे अवस्था विशेष के उपादान कारण मूलाज्ञान की निवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार शुक्तिज्ञान से रजत की निवृत्ति होने पर भी रजत के उपादान कारण अवस्था विशेष की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन अयुक्त है क्योंकि अज्ञानके साथ ही ज्ञानका साक्षाद् विरोध का अवधारण होने के कारण अज्ञान के साथ अभिन्न अवस्था विशेषों में भी ज्ञान से साक्षात् निवर्त्यत्व सिद्ध हो जाता है। जैसे अज्ञान स्वरूप अवस्था विशेष है वैसे ही रजतादि अज्ञान स्वरूप नहीं है। अतः शुक्तिज्ञान से रूप्यादि के उपादानकारण अवस्था विशेष के नाश के बिना रूप्यादि का नाश नहीं होगा, क्योंकि अवस्थाविशेष अज्ञान से अभिन्न है और ज्ञान का अज्ञान के साथ ही साक्षात् विरोध है, जब कि ज्ञान का रजतादि के साथ साक्षात् विरोध नहीं है। जिस पक्ष में अज्ञान को नाना माना जाता है। उस पक्ष में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। विवरणाचार्य ने एकाज्ञान पक्ष में अवस्था विशेष को और नाना अज्ञान पक्ष में तुलाज्ञान को माना है।। २०।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने खण्ड १७ में कहा था—''आवरणशक्तीनां द्रष्टृविषयभेदाभ्यां भिन्नत्वात्''। इसलिए ''एक विषय में नाना अज्ञान होते हैं।'' इस पक्ष में यह प्रश्न होता है कि एक शुक्त्याकार वृत्ति के द्वारा सर्वशुक्त्यज्ञानों की निवृत्ति होती है अथवा एक शुक्त्यज्ञान की? प्रथम पक्ष स्वीकार करने पर शुक्त्याकार एक ही वृत्ति के द्वारा शुक्तिविषयक सभी अज्ञानों की निवृत्ति हो जाने के कारण अर्थात् शुक्ति को आवृत करने वाला कोई भी अज्ञान के शेष न रहने के कारण भविष्य में शुक्ति का अप्रकाश नहीं होना चाहिए। क्योंकि अप्रकाश के प्रयोजक अज्ञानों का एक ही वृत्ति से नाश हो गया। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर शुक्त्याकार वृत्तिकाल में भी शुक्ति का प्रकाश नहीं होगा, क्योंकि उस एक वृत्ति के द्वारा एक आवरण की निवृत्ति होने पर भी उस वृत्तिकाल में अन्य आवरण के द्वारा शुक्ति आवृत है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि शुक्त्याकार एक वृत्ति के द्वारा एक ही अज्ञान का नाश होता है और उसी वृत्ति के द्वारा ही आवरणान्तरों को प्रतिरुद्ध (कार्याक्षम) कर दिया जाता है। इसलिए जब तक वह वृत्ति स्थिर रहती है तब तक शुक्ति का प्रकाश बना रहता है और उस वृत्ति के नष्ट होने पर पुनः दूसरे अज्ञान शुक्ति को आवृत कर देते है। जिससे शुक्ति का प्रकाश

निवृत्तावप्यावरणान्तरानिवृत्तेरिति—चेन्न, एकया वृत्त्या एकाज्ञाननाशेऽपि तयैवावरणान्तराणां प्रतिरुद्धत्वात्, यावत् सा तिष्ठति तावत्प्रकाशः, तस्यामपगतायां पुनरप्रकाशश्चोपपद्यते, अज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावस्थानीयत्वात्। यथा तव एकं ज्ञानमेकमेव प्रागभावं नाशयति, तन्नाशरूपेणोदयात् प्रागभावान्तरनिबन्धनमज्ञातत्वादिव्यवहारञ्च प्रतिबध्नाति, तथा ममाप्येकं ज्ञानमेकमेवाज्ञानं निवर्तयति, अज्ञानान्तरनिबन्धनञ्च प्रयोजनं प्रतिबध्नातीति किमनुपपन्नम्? अत्र च प्रतिबन्धकपदेन कार्यानुत्पत्तिप्रयोजकत्वं कारणाभावप्रतिबन्धकसाधारणमभिहितम्। एवमवस्थाविशेषपक्षेऽपि प्रकाशाप्रकाशावुपपादनीयौ। एवममूर्तस्याज्ञानस्य यद्यपि दण्डादिना गवादीनामिवापसरणं करादिना

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं होता है। इसको स्पष्ट करने के लिए सिद्धान्ती पूर्वपक्षी की मान्यता के अनुसार दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि जैसे पूर्वपक्षी के मत में अज्ञान को ज्ञान का प्रागभाव माना जाता है और वह प्रागभाव नाना हैं। जैसे तुम्हारे मत में एक ज्ञान एक ही प्रागभाव का नाश करता है, क्योंकि उसी एक प्रागभाव के नाश के रूप से उस ज्ञान का उदय होता है किन्तु वही ज्ञान अपने अन्य प्रागभावों के द्वारा प्रयुक्त अज्ञातत्वादि व्यवहारों को प्रतिबन्धित भी कर देता है। ठीक उसी प्रकार सिद्धान्त मत में भी एक वृत्ति (ज्ञान) एक ही अज्ञान को निवृत्त करती है और दूसरे अज्ञानों के द्वारा होने वाला जो कार्य अर्थात् विषय का अप्रकाश तथा अज्ञातत्वादि व्यवहार को रोक भी देती है। अतः सिद्धान्त मत में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यहां पर प्रतिबन्ध पद से कारणाभाव और प्रतिबन्धक एतदुभय साधारण विवक्षित है जो कार्यानुत्पत्ति का प्रयोजक (व्याप्य) है। अर्थात् ''यत्र यत्र कारणाभावः तत्र तत्र कार्यानुत्पत्ति।'' "यत्र यत्र प्रतिबन्धकः तत्र तत्र कार्यानुत्पत्तिः।'' अर्थात् जैसे अग्नि (कारण) के न रहने पर भी कार्य (दाह) नहीं होता है और अग्नि रहने पर भी यदि चन्द्रकान्त मणि (प्रतिबन्धक) रहे तो भी कार्य (दाह) नहीं होता है। इसी प्रकार प्रकृत में एक तूलाज्ञान (कारण) के न रहने पर अज्ञातत्वादि व्यवहार नहीं होता है और अन्य तूलाज्ञानों (कारणों) के रहने पर भी वृत्तिरूपप्रतिबन्धक के विद्यमान होने से भी अज्ञातत्वादि व्यवहार रूपकार्य की अनुत्पत्ति होती है। इसी प्रकार नाना अज्ञान पक्ष के सदृश ही अवस्था विशेष पक्ष में भी प्रकाश और अप्रकाश की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे एक वृत्ति से वस्तु के एक अवस्था विशेष रूप अज्ञान का नाश होता है और अवस्था विशेषान्तर प्रतिबद्ध रहता है तब तक उस वस्तु का प्रकाश होता है और उस वृत्ति के नष्ट होने पर अवस्था विशेषान्तर के द्वारा उस वस्तु का अप्रकाश हो जाता है। पूर्वपक्षी की यह भी शङ्का है कि अपसरण और संवेष्टन मूर्त पदार्थों का ही होता है, जबकि अज्ञान अमूर्त पदार्थ है। अतः अमूर्त होने के कारण उसमें अपसरण एवं संवेष्टन सम्भव नहीं होगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि अमूर्त अज्ञान का दण्डादि से गवादि के जैसे अपसारण और करादि से कटादि के जैसे संवेष्टन सम्भव नहीं है तथापि अपसारण के द्वारा अपसारित गवादि और संवेष्टन के द्वारा संवेष्टित चटाई में जैसे कार्य–क्षमता नहीं मानी जाती है। अर्थात् गौ का कार्य अन्नादि का खा जाना होता है। दण्डे से हटा देने पर गौ वह कार्य नहीं कर सकती है। कट का कार्य है कि जितने स्थान पर वह प्रसारित था उतने स्थान को आवृत्त करना। कर से कट को संवेष्टन कर देने पर कट उतने स्थान को आवृत्त नहीं कर पायेगा। इसी प्रकार वृत्तिकाल में तूलाज्ञान अथवा अवस्था विशेष रूप अज्ञान अपने आवृतत्त्वरूप कार्य में अक्षम रहता है। इस प्रकार से आत्मीय कार्य में असमर्थत्व के साम्य

कटादीनामिव संवेष्टनं च न सम्भवति, तथापि कार्याक्षमत्वसाम्येनापसरणसंवेष्टनपक्षौ योजनीयौ। यथा हि उत्तेजकाभावसहकृतस्य मणेः प्रतिबन्धकतायामुत्तेजकसत्त्वे प्रतिबन्धकार्याक्षमत्वम्, तथा वृत्त्यभावसहकृतस्याज्ञानस्य प्रतिबन्धकतायां वृत्तौ सत्यां तत्कार्यानुदय इति द्रष्टव्यम्।। २१।।

ननु चैतन्यस्य निरवयवत्वात् तस्यैकदेशेन प्रकाशो न युज्यते, अथाकाश इव तत्तदर्थावच्छिन्नत्वमेकदेशशब्दार्थः तर्हि नागन्तुकपदार्थावच्छिन्नचैतन्यमनाद्यज्ञानस्य विषयः, निर्विषयस्यावरणस्यायोगात्। प्रागनवच्छिन्नावरणमेवेदानीमवच्छिन्नावरणं जातमित्यपि न, अवच्छिन्नचैतन्यज्ञानेनैवानवच्छिन्नावरणनाशापत्तेः। एतेन व्यक्तितः पूर्वं जातिरिव विषयात्पूर्वम्—

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अपसरण पक्ष और संवेष्टन पक्ष भी समर्थनीय है। पूर्वपक्षी के मत में उत्तेजकाभाव विशिष्ट मणि (सूर्यकान्तमणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि) को प्रतिबन्धक माना जाता है और उत्तेजकाभाव विशिष्ट मण्याभाव (सूर्यकान्तमणि के अभाव से विशिष्ट चन्द्रकान्तमणि के अभाव) को प्रतिबन्धकाभाव माना जाता है। किन्तु उत्तेजक (सूर्यकान्तमणि) के होने पर प्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि में दाह प्रतिबन्ध रूप कार्य का आपादन नहीं हो पाता है, क्योंकि वहां पर सूर्यकान्तमणि और चन्द्रकान्तमणि दोनों होने के कारण वहाँ पर विशेषणाभाव से प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप प्रतिबन्धकाभाव की सिद्धि हो जानेसे दाह प्रतिबन्ध रूपकार्य न होकर दाहरूप कार्य ही हो जाता है। इसी प्रकार सिद्धान्त में वृत्यभावविशिष्ट अज्ञान को प्रतिबन्धक मानते हैं। वृत्यभाव विशिष्ट अज्ञानाभाव को प्रतिबन्धकाभाव मानते हैं। वृत्ति के होने पर अर्थात् वृत्ति और अज्ञानान्तरों के विद्यमान होने पर विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव रूप प्रतिबन्धकाभाव होने से वस्तु का अज्ञातत्वादिरूपकार्य अथवा अप्रकाशरूपकार्य नहीं होता है। अर्थात् वस्तु का प्रकाशरूप कार्य ही हो जाता है।। २१।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि चैतन्य निरवयव पदार्थ है। अतः घटाकार वृत्ति के द्वारा उसके एक अवयव या एकदेश का प्रकाश सम्भव नहीं है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि आकाश निरवयव होने पर भी जैसे नैयायिकादि घटावच्छिन्न, मठावच्छिन्न आकाश मानते हैं ऐसे ही चैतन्य निरवयव होने पर भी चैतन्य को तत्तद्विषयावच्छिन्न मान ही सकते हैं। अर्थात् तत्तद्विषयावच्छिन्नत्व ही एकदेश शब्द का पारिभाषिक अर्थ है और तत्तद् विषयावच्छेदेन चैतन्य का प्रकाश होना ही एकदेशेन चैतन्य के प्रकाश का अर्थ है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि घटादिविषय आगन्तुक (सादि) है। अतः घटाद्यवच्छिन्नचैतन्य भी सादी होगा। जबकि अज्ञान अनादि है। अतः अनादि अज्ञान का विषय घटाद्यवच्छिन्नचैतन्य नहीं होगा, क्योंकि वह सादि है। ऐसा होने पर घटाकारवृत्ति के द्वारा निवर्तनीय अज्ञान को घटावच्छिन्न चैतन्य विषयक न कह कर निर्विषयक ही मानना पड़ेगा जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि निर्विषयक आवरण होता ही नहीं हैं। अर्थात् यदि आवरण है तो उस आवरण का कोई न कोई विषय अवश्य होता है, जिस विषय को वह आवरण आवृत्त करता है। यदि कहा जाय कि घटादि के उत्पत्ति के पूर्व में चैतन्य अनवच्छिन्न था और अनवच्छिन्नचैतन्य अनादि ही है। अतः अनादि अनवच्छिन्नचैतन्य अनादि अज्ञान के द्वारा आवृत्त था। अब घटादि के उत्पत्ति के पश्चात् अनादि अनवच्छिन्नचैतन्य का आवरणरूप अज्ञान ही सादि घटाद्यवच्छिन्नचैतन्य का आवरण हो जाता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि अनवच्छिन्नचैतन्य का आवरण ही अवच्छिन्नचैतन्य का आवरण हो गया है

ज्ञानमस्तीति निरस्तमिति—चेन्न अनाद्यज्ञानविषये अनादिचैतन्ये तत्तदागन्तुकपदार्थावच्छेदाभ्युपगमात्, 'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला' इत्युक्तत्वात्। यदवच्छिन्नगोचरा च वृत्तिस्तदवच्छेदेनैवावरणापसारणान्नानवच्छिन्नचैतन्यावरणभङ्गप्रसङ्गः। अत एव वृत्तिविषया—वच्छिन्नचैतन्यात् प्रागज्ञानमस्तीत्यभिप्रायेण विषयात्प्रागज्ञानमस्तीति साधूक्तम्। तस्मादधिष्ठानचैतन्यं स्वाध्यस्तं भासयतीति सिद्धम्॥ २२॥

तदयमत्र निष्कर्षः—यद्यपि विषयप्रकाशकं विषयाधिष्ठानभूतं प्रमेयचैतन्यम्, अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं तु तस्य प्रमातृ, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं तु प्रमाणम्, तथापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

तब घटाकारवृत्ति के द्वारा जब अवच्छिन्नचैतन्य के आवरण का नाश हो जायेगा तब अनवच्छिन्नचैतन्य के आवरण का भी नाश हो जायेगा, क्योंकि उक्त दोनों चैतन्यों के आवरण एक ही है। ऐसा होने पर सद्यो मुक्ति की आपत्ति होगी। निर्विषयक और निराश्रित अज्ञान को स्वीकार न किये जाने से यह कथन भी निरस्त हो गया कि व्यक्ति से पूर्व जैसे जाति रहती है। अथवा व्यक्ति के नाश के पश्चात् जैसे जाति रहती है ऐसे ही घट की उत्पत्ति के पूर्व अथवा घट के नाश के पश्चात् घटाज्ञान रह ही सकता है। यह कथन निरस्त इसलिए है कि विषय से पहले यदि अज्ञान रहता है तब उस समय अज्ञान को निराश्रित और निर्विषयक मानना पड़ेगा जो कि उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पहले ही यह सिद्ध किया जा चुका है कि अनादि अज्ञान का विषय और आश्रय अनादिचैतन्य (निरवच्छिन्नचैतन्य) ही होता है। उसी अनादि चैतन्य में अविद्या के द्वारा सादि पदार्थ अध्यस्त होने के कारण उन सादि पदार्थों को अनादि चैतन्य का अवच्छेदक माना जाता है। अनादि चैतन्य ही अज्ञान का आश्रय और विषय होता है—यह सिद्धान्त संक्षेपशारीरककार के इस कथन ''आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला....'' के द्वारा प्रमाणित किया जा चुका है। यत् पदार्थावच्छिन्नचैतन्यविषयकवृत्ति होती है। तत्पदार्थावच्छेदेन ही चैतन्य के आवरण का नाश होने के कारण अनवच्छिन्नचैतन्यनिष्ठ आवरण (मूलाज्ञान) के नाश होने का प्रसङ्ग ही नहीं होता है। अनवच्छिन्नचैतन्य को अनादि अज्ञान का विषय माना गया है, इसलिए ''विषयात्पूर्वमज्ञानमस्ति'' ऐसा पूर्वाचार्यों का कथन भी उचित ही है, क्योंकि वृत्ति का विषय जो घटावच्छिन्नचैतन्य उस घटावच्छिन्नचैतन्य से पहले अनवच्छिन्नचैतन्य विषयक अज्ञान रहता है। इसलिए अधिष्ठानचैतन्य ही विषयाकारवृत्ति के द्वारा अभिव्यक्त होकर स्व में अध्यस्त प्रपञ्च को प्रकाशित करता है—यह सिद्ध हो गया॥ २२॥

पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित दोषों का समाधान करके अब आचार्यप्रवर इस प्रकरण के सार को दिखला रहे हैं। इस प्रकारण पर कथित सिद्धान्ती के वक्तव्य का आशय यह है कि यद्यपि विषय का प्रकाशक विषय का अधिष्ठान प्रमेयचैतन्य है। प्रमेयचैतन्य का अर्थ है ब्रह्मचैतन्य, क्योंकि सम्पूर्ण वेदान्त के द्वारा ब्रह्म की ही प्रमा होती है। उस प्रमा का प्रमेय ब्रह्म ही है। शरीरस्थ अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्य (जीवचैतन्य) उस विषय का प्रमाता है। शरीर और विषय इन दोनों के मध्य में जो अन्तःकरण का भाग है उस भाग (वृत्ति)से अवच्छिन्नचैतन्य को प्रमाण कहते हैं और विषय में जो अन्तःकरण का भाग स्थित हो उस भाग से अवच्छिन्नचैतन्य को प्रमिति या प्रमा कहते हैं। प्रमा के विषय को प्रमेय कहते हैं। इस प्रकार से प्रमाता प्रमाण प्रमेय और प्रमिति चैतन्यों में औपाधिकभेद होने पर भी

यदीयान्तःकरणवृत्त्या विषयपर्यन्तं चक्षुरादिद्वारा निस्सृतया यत्प्रकाशकं चैतन्यं यत्प्रमातृचैतन्या- भेदेनाभिव्यज्यते तमेव स एव जानाति नान्यं नान्यो वा। अत एवैकवृत्त्युपारूढत्वलक्षणैकलोली- भावापन्नं प्रमातृप्रमाणप्रमेयचैतन्यं भवति। ततस्तदवच्छेदेनाज्ञाननिवृत्त्या भासमानं प्रमेयचैतन्यमपरोक्षं फलमित्युच्यते। तत् स्वयं भासमानं सत् स्वाध्यस्तं घटाद्यपि भासयतीति तत् फलव्याप्यमित्युपेयते। यन्निष्ठा च यदाकारा वृत्तिर्भवति तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं (सा) नाशयतीति नियमात् प्रमातृप्रमेयोभयव्यापिन्यपरोक्षवृतिः स्वावच्छेदेनावरणमपसारयति, प्रकाशस्य स्वावच्छेदेनावरणापसारकत्वदर्शनात्। अतः प्रमात्रवच्छिन्नस्यासत्त्वावरणस्य प्रमेयावच्छिन्न- स्याभानावरणस्य चापसरणाद् घटोऽयं मे स्फुरतीत्याद्यपरोक्षव्यवहारः॥ २३॥

परोक्षस्थले तु इन्द्रियसन्निकर्षलक्षणद्वाराभावादन्तःकरणनिस्सरणाभावेन विषयपर्यन्तं

सत्यानन्दप्रबोधिका

जिस व्यक्ति के अन्तःकरण की वृत्ति जो चक्षुरादि के द्वारा बाहर विषयपर्यन्त निकालती है, उस वृत्ति के द्वारा जिस विषय से अवच्छिन्न प्रकाशक चैतन्य जिस प्रमाता से अभिन्न होकर अभिव्यक्त होता है वही व्यक्ति उसी विषय को जानता है। अन्य व्यक्ति उस विषय को नहीं जानता है और वही व्यक्ति उस विषय से अन्य विषय को भी नहीं जानता है। {मूलस्थ जानाति का अर्थ है—साक्षात्कार करता है। अतः परोक्ष स्थल में पूर्वोक्त प्रकार की व्यवस्था न होने से अव्याप्ति नहीं है। ''नान्यं जानाति'' यहां पर अन्य का विशेषण अस्वच्छ भी है। इसलिए स्वच्छ सुखादि का अन्तःकरण की वृत्ति के बिना भी प्रत्यक्ष होने पर अव्याप्ति नहीं होगी। "नान्यः" में अन्य शब्द जीवपरक है। अतः ईश्वर को चक्षुरादि द्वारकवृत्ति के बिना ही सकल प्रपञ्च का प्रत्यक्ष होने पर भी अव्याप्ति नहीं होगी।} इसलिए जब इन्द्रियद्वारक एक ही विषयाकार वृत्ति में प्रमाता—प्रमाण और प्रमेय चैतन्य संसृष्ट होकर अभेदापन्न हो जाते हैं, तब उस विषय से अवच्छिन्नचैतन्य के ही आवरक अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर भासमान प्रमेयचैतन्य को अपरोक्षरूप फल कहा जाता है। वह प्रमेय चैतन्य स्वयं भासमान अर्थात् अनावृत्त होता हुआ स्व में अध्यस्त घटादि को भी भासित करता है। अतः घटादि पदार्थ फल के द्वारा व्याप्य है ऐसा स्वीकार किया जाता है। फल व्याप्य शब्द का अर्थ है—फलभास्य अर्थात् घट प्रत्यक्ष के समय घटाकारवृत्ति स्थल पर अनावृत्त घटावच्छिन्न ब्रह्म चैतन्य को फल कहा जाता है और उस चैतन्य से घट प्रकाशित होता है। अतः घट को फल भास्य कहा जाता है। जिस प्रमाता में संश्लिष्ट हुई वृत्ति जिस विषय के आकार की होती है उस प्रमाता में रहने वाले उस विषय के आकार के अज्ञान को वह वृत्ति नष्ट करती है—ऐसा नियम है। इस नियम के अनुसार अपरोक्ष स्थल पर प्रमाता और प्रमेय दोनों से ही वृत्ति संश्लिष्ट होती है। अतः अपरोक्ष स्थल पर प्रमाता और प्रमेय से संश्लिष्ट जो अज्ञान (प्रमाता से संश्लिष्ट अज्ञान—असत्वापादक अज्ञान और प्रमेय से संश्लिष्ट अज्ञान=अभानापादक अज्ञान) उसको वृत्ति स्वावच्छेदेन नष्ट करती है, क्योंकि प्रकाश का यह नियम है कि वह स्वावच्छेदेन ही अन्धकार का अपसारक होता है। अर्थात् अपने ही क्षेत्र के अन्धकार को हटाता है। अतः प्रमात्रवच्छेदेन रहने वाले असत्त्वापादक आवरण और प्रमेयावच्छेदेन रहने वाले अभानापादक आवरण के अपसरण हो जाने पर ''घटोऽयं मे स्फुरति'' इत्यादि रूप अपरोक्ष व्यवहार होता है॥ २३॥

परोक्ष स्थल पर विषयेन्द्रियसन्निकर्षरूप द्वार के अभाव होने के कारण अन्तःकरण

वृत्तेरगमनाद्विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्येन सह प्रमातृचैतन्यस्यैकवृत्त्युपारूढत्वाभावेनापरोक्ष-तयाऽभिव्यक्त्यभावेऽपि प्रमातृप्रमाणचैतन्ययोरेकलोलीभावापत्त्या प्रमात्रवच्छिन्नमसत्त्वावरणमात्रं निवर्तते, तावन्मात्रस्य वृत्त्यवच्छिन्नत्वात्। इदमेव सुषुप्तिव्यावृत्तिशब्देन विवरणाचार्यैर्व्याख्यातम्। विषयावच्छिन्नाभानावरणतत्कार्यसद्भावेऽपि, प्रमात्रवच्छिन्नासत्त्वावरणनिवृत्त्या अनुमानादौ व्यवहारोपपत्तिः। अत एव जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्तीति, स तु कीदृश इति मे न भातीत्यादिव्यवहारः। त्रयाणामेकलोलीभावे अपरोक्षत्वम्, द्वयोरेकलोलीभावे तु परोक्षत्वमिति न सङ्करः। वृत्तेश्च विषयेण समं साक्षादेवापरोक्षस्थले सम्बन्धः, परोक्षस्थले त्वनुमितेरनुमेयेन तद्व्याप्यज्ञानजन्यत्वम्, शाब्द्याः संसर्गेण सह तदाश्रयवाचकपदज्ञानजन्यत्वम्, स्मृतेः स्मर्तव्येन सह तद्विषयानुभवजन्यत्वम्। एवमन्यत्रापि परम्परासम्बन्ध एवेति परोक्षापरोक्षविभागः। विस्तरेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

बाहर नहीं निकलता है। अतः अन्तःकरण की वृत्ति विषयपर्यन्त नहीं पहुंच पाती है। अन्तःकरण वृत्ति के बाहर गमन न होने से विषयावच्छिन्नप्रमेयचैतन्य के साथ प्रमातृचैतन्य का एक वृत्ति में संश्लिष्टत्व का अभाव होने से अपरोक्षरूप से प्रमातृचैतन्य की अभिव्यक्ति का अभाव होने पर भी प्रमातृचैतन्य और प्रमाणचैतन्य इन दोनों का एक वृत्ति में संश्लिष्टत्व होता है। अर्थात् प्रमात्रवच्छिन्नचैतन्य से वृत्यवच्छिन्नचैतन्य अभिन्न हो जाता है। इसलिए केवल प्रमात्रवच्छिन्नचैतन्यगत असत्त्वापादक आवरण ही निवृत्त हो पाता है, क्योंकि प्रमात्रवच्छिन्नचैतन्य का ही परोक्षवृत्ति से अवच्छिन्नचैतन्य (प्रमाणचैतन्य) से अभेद होता है न कि प्रमेयचैतन्य से भी। विवरणाचार्य ने असत्त्वापादक आवरण की निवृत्ति को ही ''सुषुप्ति व्यावृत्ति'' शब्द से कहा है। ''सुषुप्तौ जानामीति व्यवहारो न जायते परोक्षवृत्त्या तु जानामीति व्यवहारो जायते, प्रमातृगतासत्त्वापादकाज्ञाननाशात्, अतः परोक्षवृत्तिदशायां सुषुप्तिव्यावृत्तिर्भवति।'' परोक्ष स्थल पर विषयावच्छिन्न अभानापादक आवरण के रहने और उसका कार्य–विषय का अभान के रहने पर भी अर्थात् भाती ऐसा व्यवहार न होने पर भी प्रमातृगत असत्त्वापादक आवरण मात्र की निवृत्ति हो जाने से वह्नि आदि अनुमेय में ''अस्ति'' इत्यादि व्यवहार की उपपत्ति हो जाती है। विषयावच्छेदेन विद्यमान अभानावरण के नष्ट न होने से और प्रमात्रवच्छेदेन विद्यमान असत्त्वावरण के निवृत्त होने से ''जानाम्यहं पर्वते वह्निरस्ति, स तु कीदृश इति न भाति।'' इस प्रकार से व्यवहार होता है। प्रमाता–प्रमाण और प्रमेयरूप तीनों चैतन्यों का एक वृत्ति में उपारूढ होने पर अर्थात् अभेद होने पर विषय का अपरोक्ष होता है और प्रमाता और प्रमाण इन दोनों चैतन्यों में अभेद होने पर विषय का परोक्ष ज्ञान होता है। इसलिए परोक्षत्व और अपरोक्षत्व में साङ्कर्य नहीं होता है। अपरोक्ष स्थल पर सर्वत्र वृत्ति के साथ विषय का साक्षात् सम्बन्ध होता है, किन्तु परोक्ष स्थल पर अनुमित्याकारवृत्ति का अनुमेय के साथ तद्व्याप्यज्ञानजन्यत्वरूप परम्परासम्बन्ध होता है। तद् पद से वह्न्यादि रूप अनुमेय पदार्थ का ग्रहण है। उसके व्याप्य धूमादि है धूमादि विषयकज्ञानजन्यत्व ''पर्वतो वह्निमान्'' इत्यादि अनुमितियों में रहता है। शाब्दी प्रमा का संसर्गरूप स्वप्रमेय अर्थात् वाक्यार्थ के साथ अर्थात् शाब्दबोधरूपा परोक्षवृत्ति का विषय (पदार्थों का पारस्परिक संसर्ग) के साथ तदाश्रयवाचकपदज्ञानजन्यत्वरूप परम्परासम्बन्ध होता है। तत् पद से शाब्दी प्रमा के विषयीभूत संसर्ग का ग्रहण है। अर्थात् तत् पद से पदार्थों के पारस्परिक संसर्ग अर्थात् वाक्यार्थ का ग्रहण है। उसका आश्रय पदार्थ समूह, तादृश पदार्थसमूह का वाचक जो पद समूह उसके

च व्युत्पादितास्माभिरियं प्रक्रिया सिद्धान्तबिन्दौ। तस्माद्विषयस्य मिथ्यात्वेऽपि प्रतिकर्मव्यव–स्थोपपन्नेति दिक्।। २४।।

इत्यद्वैतसिद्धौ प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान से जन्य है शाब्दबोध, अतः तादृश जन्यत्व शाब्दबोध में है। स्मृतिवृत्ति का स्मर्तव्य विषय के साथ तद्विषयानुभवजन्यत्वरूप परम्परा सम्बन्ध है। तत् पद से स्मर्तव्य विषय का ग्रहण करना है। विषय–स्मृति का विषय है विषय जिसका अर्थात् अनुभव का। अर्थात् तद् विषयक जो अनुभव, तादृश अनुभव से जन्य संस्कार द्वारा अनुभवजन्यत्व स्मृति में है। इसी प्रकार उपमित्यादि स्थल में भी परम्परासम्बन्ध होता है। इस प्रकार से परोक्ष और अपरोक्ष का विभाग समझ लेना चाहिए। इस प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन हमारे द्वारा सिद्धान्त बिन्दु के निर्वाणदशक के प्रथम श्लोक की टीका में किया गया है। अतः प्रपञ्च के मिथ्या होने पर भी प्रतिकर्मव्यवस्था की उपपत्ति हो जाती है। यह संक्षेप से कहा गया है। सूक्ष्मदर्शी प्राज्ञ लोग इसी को अनेक प्रकार से लिख सकते हैं।। २४।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां प्रतिकर्मव्यवस्थोपपत्तिः n

9

प्रतिकूलतर्कविचारः

ननु—मिथ्यात्वानुमानं प्रतिकूलतर्कपराहतम्। तथा हि—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, (साधिष्ठानं) सत्याधिष्ठानं स्यात्, न चैवम्, सामान्यतो ज्ञातत्वे सत्यज्ञातविशेषवत्त्वस्याधिष्ठान-त्वप्रयोजकस्य निर्विशेषे निस्सामान्ये च ब्रह्मण्यसम्भवादिति चेन्न, स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेणाज्ञातत्वस्याधिष्ठानत्वप्रयोजकत्वेनाज्ञातविशेषवत्त्वस्याप्रयोजकत्वात्। 'पुरुषो न वा?'इति

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रपञ्च मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए उपन्यस्त दृश्यत्वादि हेतुओं के अनुग्राहक अनुकूल तर्कों का पहले प्रतिपादन किया गया है। अब पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित प्रतिकूल तर्कों के निराश के लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि "प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरूप्यवत्" यह मिथ्यात्व साधक अनुमान प्रतिकूल तर्क से पराहत होने के कारण स्वकीय कार्य करने में असमर्थ है। प्रथम प्रतिकूल तर्क का आकार यह है "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् साधिष्ठानं स्यात्।'' अर्थात् प्रपञ्च यदि कल्पित है तब उसका कोई सत्य अधिष्ठान होना चाहिए, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि अधिष्ठानत्व का प्रयोजक जो सामान्यत: ज्ञातत्व विशिष्ट अज्ञात विशेषवत्त्व है उसका निर्विशेष तथा नि:सामान्य ब्रह्म में अभाव है। अर्थात् सामान्यरूप से ज्ञात और अज्ञात विशेष वाला जो पदार्थ होता है वही अधिष्ठान होता है। यह रज्जू सर्पादि अध्यास स्थल पर देखा गया है। उस स्थल पर अधिष्ठान जो रज्जु। वह इदन्त्वरूप सामान्य रूप से ज्ञात और अज्ञात जो रज्जुत्वरूप विशेष, तादृश विशेष वाला भी है रज्जु। प्रकृत में ब्रह्म निर्धर्मक और निर्विशेष होने के कारण उसमें उक्त अधिष्ठान का लक्षण नहीं जा रहा है। अत: ब्रह्म में प्रपञ्च का अध्यास नहीं हो सकता और अध्यास के विषय को ही कल्पित कहा जाता है। ब्रह्म में प्रपञ्च का अध्यास उक्त प्रकार से सम्भव न होने के कारण प्रपञ्च को कल्पित भी नहीं कहा जा सकता है। पूर्वपक्षी का आशय है—''यत्र यत्र अधिष्ठानत्वं तत्र तत्र सामान्यतो ज्ञातत्वे सति अज्ञातविशेषवत्त्वम्।'' नि:सामान्य और निर्विशेष ब्रह्म में व्यापक के अभाव के कारण व्याप्याभाव है। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि अधिष्ठानता का प्रयोजक होता है— स्वरूपेण ज्ञातत्व विशिष्ट विशेषेण अज्ञातत्त्व, न कि अज्ञात विशेषवत्व। अर्थात् सामान्यरूप से ज्ञात और विशेष रूप से अज्ञात पदार्थ ही अधिष्ठान हुआ करता है न कि अज्ञात विशेषवत्। अज्ञात विशेषवत्त्व कहने से जो दोष आ रहा था कि ब्रह्म निर्विशेष है, अत: उसमें कोई विशेष रहता ही नहीं है। इसलिए अज्ञात विशेषवत् भी ब्रह्म नहीं होगा। उसका वारण हो गया, क्योंकि ब्रह्म भी सामान्य रूप से ज्ञात और शुद्ध बुद्ध इत्यादि विशेषरूप से अज्ञात रहता ही है। सिद्धान्ती के अनुसार व्याप्ति होगी—''यत्र यत्र अधिष्ठानत्वं तत्र तत्र स्वरूपेण ज्ञातत्वे सति विशेषेण अज्ञातत्त्वम्।'' पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अधिष्ठानता के प्रयोजकत्व में अर्थात् अधिष्ठान के लक्षण में क्या दोष है, उसे दिखला रहे हैं। जहां पर ''पुरुषो न वा'' (स्थाणुर्वा पुरुषो वा) इस प्रकार का संशय होता है, वहां पर संशय का अधिष्ठान स्थाणु होने के कारण स्थाणु में अधिष्ठान का लक्षण जाना चाहिए, किन्तु पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अज्ञात विशेषवत्त्व नहीं जा सकता है, क्योंकि संशय स्थलीय स्थाणु व्यक्ति से भिन्न प्रमा स्थलीय स्थाणु व्यक्ति में स्थाणुत्व रूप विशेष तो ज्ञात है। वही ज्ञात स्थाणुत्व इस

संशयधर्मिणः स्थाणोरप्यन्यत्र ज्ञातस्थाणुत्वरूपविशेषवत्त्वात् तत्राज्ञातविशेषवत्त्वमपि न प्रयोजकम्, विशेषवत्त्वेनाज्ञातत्वस्यैव लघुत्वेन प्रयोजकत्वात्, तथा च निस्सामान्ये निर्विशेषे च ब्रह्मणि स्वप्रकाशत्वेन ज्ञानात् परिपूर्णत्वानन्दत्वादिना चाज्ञानादधिष्ठानत्वमुपपन्नम्। वस्तुतस्तु— कल्पितसामान्यविशेषवत्त्वं ब्रह्मण्यपि सुलभमेव, अकल्पितसामान्यविशेषत्त्वं चाप्रसिद्धम्। न च तत्कल्पनेऽन्योन्याश्रयः, कल्पितसामान्यविशेषाणां प्रवाहानादित्वात्, सत्यत्त्वानन्दत्वादीनामेव कल्पितव्यक्तिभेदेन सामान्यत्वात्, परिपूर्णानन्दत्वादीनां च विशेषत्वात्। अत एव सामान्याकारज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

संशय स्थलीय स्थाणुरूप अधिष्ठान में भी रहता है, क्योंकि स्थाणुत्व जाति होने के कारण संशय स्थलीय स्थाणु और प्रमा स्थलीय स्थाणु दोनों में ही रहेगी। इस प्रकार संशय स्थलीय स्थाणु में अज्ञात विशेषवत्त्व न रह कर ज्ञात विशेषवत्त्व ही रह गया। अतः पूर्वपक्षी को अज्ञात विशेषवत्त्व में कुछ विशेषण जोड़ना पड़ेगा। वह विशेषण यही होगा कि अधिष्ठान व्यक्ति वृत्तित्वेन अज्ञात जो विशेष तादृश विशेषवत्ता ही अधिष्ठान के लक्षण का घटक है। इस प्रकार के विशेषण जोड़ने में पूर्वपक्षी यही युक्ति देगा कि भ्रमादि अधिष्ठान व्यक्ति से भिन्न जो प्रमास्थलीय व्यक्ति उसमें विशेष ज्ञात होने पर भी भ्रमादि अधिष्ठान व्यक्ति में यदि विशेष ज्ञात हो जाय तब तो भ्रम ही नहीं होगा। अतः भ्रमाधिष्ठान व्यक्ति से भिन्न प्रमास्थलीय व्यक्ति में भले ही विशेष ज्ञात हो किन्तु भ्रमाधिष्ठान व्यक्ति में विशेष अज्ञात ही होता है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि अधिष्ठान के लक्षण के शरीर में तत्तद् अधिष्ठान व्यक्तिवृत्तित्व का निवेश करना आवश्यक हो जाने के कारण गौरव दोष होगा, क्योंकि उसकी अपेक्षा से सिद्धान्ती के लक्षण का शरीर विशेषवत्त्वेन अज्ञातत्त्व लघु है। फलतः निःसामान्य तथा निर्विशेष ब्रह्म होने पर भी ब्रह्म स्वप्रकाशत्वेन ज्ञात होने से और परिपूर्णत्व आनन्दत्वादिरूप से अज्ञात होने से अर्थात् मैं हूँ इस प्रकार स्वरूपेण सभी जीव को अपना ज्ञान है किन्तु मैं परिपूर्ण आनन्दस्वरूप हूँ ऐसा विशेषरूपसे ज्ञान न होने से ब्रह्म में अधिष्ठानत्व की उपपत्ति हो जायेगी। मूलस्थ वस्तुतस्तु से पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अधिष्ठान के लक्षण को मानकर ब्रह्म में उक्त लक्षण की अव्याप्ति को हटा रहे हैं। प्रपञ्च में जितने सामान्य और जितने विशेष हैं, वे सभी कल्पित हैं, क्योंकि हमारे मत में ब्रह्म को छोड़कर किसी को भी वास्तविक नहीं माना जाता है। अतः ब्रह्म में कोई वास्तविक सामान्य या वास्तविक विशेष न रहने पर भी कल्पित सामान्य और कल्पित विशेष सुलभ ही है। सिद्धान्ती के अनुसार तो वास्तविक सामान्य और वास्तविक विशेष ही ब्रह्म में सर्वथा अप्रसिद्ध है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अधिष्ठान का लक्षण भी कल्पित सामान्य और कल्पित विशेष को लेकर ब्रह्म में समन्वय हो जायेगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि ब्रह्म में सामान्य विशेष धर्मों की कल्पना करने पर अन्योन्याश्रय दोष होगा क्योंकि ब्रह्म में प्रपञ्च का अध्यास सिद्ध होने पर ब्रह्म में कल्पित सामान्य और विशेष सिद्ध होगा और कल्पित सामान्य तथा विशेष सिद्ध होने पर ब्रह्म में अध्यास सिद्ध होगा। इस अन्योन्याश्रय दोष का वारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जिस कल्पित सामान्य विशेष के रहने से ब्रह्मरूप अधिष्ठान में प्रपञ्च का भ्रम सिद्ध होता है उसी भ्रम से उक्त सामान्य विशेष की कल्पना नहीं होती है, अपितु अन्य सामान्य विशेष की कल्पना होती है। इसी प्रकार जिस भ्रम से जिस सामान्य विशेष की कल्पना होती है, उसी सामान्य विशेष की कल्पना

विना संस्कारानुद्बोधात् कथमध्यास इति न वाच्यम्, सदात्मना स्वरूपज्ञानस्यैव सामान्यज्ञानत्वात्। न ह्यध्यसनीयं सदात्मना न भाति। एतावानेव विशेषः—यदधिष्ठानं स्वत एव सदात्मना भाति, अध्यसनीयं तु तत्सम्बन्धात्।। १।।

ननु—अधिष्ठानतिरोधानं विना भ्रमासम्भवः, प्रकाशरूपतिरोधाने तु तदध्यस्ताविद्यादेः प्रकाशानुपपत्तिरिति—चेन्न, एकस्यैवानन्दाद्यात्मना तिरोहितस्य सदात्मना प्रकाशसम्भवात्। तदुक्तं वार्त्तिककारपादैः—

यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्।।' इति।

सत्यानन्दप्रबोधिका

से पहला ही भ्रम नहीं होता है किन्तु दूसरा ही भ्रम होता है। इस प्रकार कल्पना और भ्रम अनादि काल से भिन्न–भिन्न चले आ रहे हैं। अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं होगा। प्रश्न होता है। कि ब्रह्म एक है अतः उसमें सत्त्व आनन्दत्वादि जाति नहीं रह सकती है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि सत् स्वरूप ब्रह्म ही माया कल्पित भिन्न–भिन्न घट पटादि व्यक्तियों ''घटः सन्, पटः सन्'' इत्यादि रूप से प्रतीयमान होकर सत्ताजाति रूप से भासित होता है। इसी प्रकार आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही नाना अन्तःकरण की उपाधि भूत वृत्तियों में प्रतिबिम्बित होकर उनमें अनुगत रूप से भासमान होता हुआ आनन्दत्व जाति रूप से लक्षित होता है। इस प्रकार से ब्रह्म में कल्पित व्यक्ति के भेद से सामान्य और आनन्दत्वादि विशेष माने जाते हैं। कल्पित सामान्य और कल्पित विशेष को ब्रह्म में स्वीकार किये जाने से पूर्वपक्षी की यह शङ्का समाप्त हो जाती है कि ब्रह्म में जब कोई सामान्य रहता ही नहीं है तब ब्रह्म में रहने वाले सामान्याकार का ज्ञान ही नहीं हो सकता है और उसके ज्ञान के बिना अध्यस्त पदार्थों के संस्कार का उद्बोधन भी नहीं हो सकता है और संस्कार के उद्बोधन के बिना अध्यास ही नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का यह कथन इसलिए भी उचित नहीं है, क्योंकि ''मैं हूँ'' इस प्रकार से सदात्मना स्वरूपज्ञान को ही सामान्यज्ञान कहा जाता है। भ्रान्तिकाल में और भ्रान्ति के निवृत्तिकाल में सदात्मना भासित होने वाला ब्रह्म सामान्य रूप से व्यवहृत होता ही है। यद्यपि अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों ही सद्रूप से प्रतीत होते हैं तथापि ब्रह्म स्वयं प्रकाश होने के कारण सद्रूप से भासित होता है और अध्यस्त पदार्थ सद्रूप अधिष्ठान से तादात्म्यापत्ति के कारण सद्रूप से भासित होते हैं– यही दोनों सद्रूपों में अन्तर माना जाता है।। १।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि भ्रम का अधिष्ठान ब्रह्म नहीं हो सकता है, क्योंकि यदि अधिष्ठान ब्रह्म को भ्रम काल में अनावृत माना जाय तब तो भ्रम ही नहीं हो सकता है। क्योंकि अधिष्ठान के तिरोधान के बिना अध्यास होता ही नहीं है। यदि अधिष्ठान ब्रह्म को भ्रमकाल में आवृत मानते हैं। तब तो उस ब्रह्म में अध्यस्त जो अविद्यादि है उनके प्रकाश की अनुपपत्ति होगी। इस प्रकार से ब्रह्म के आवृत और अनावृत दोनों ही पक्षों में दोष होने के कारण ब्रह्म को भ्रम का अधिष्ठान नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्म का विशेष रूप से अर्थात् परिपूर्ण आनन्दत्वादिरूप से तिरोधान अर्थात् आवृतत्त्व और सद्रूप से अर्थात् सामान्य रूप से प्रकाश सम्भव है। अतः ब्रह्म में आवृतत्त्व और अनावृतत्त्व सम्भव होने से वह भ्रम का अधिष्ठान हो ही

न च बाधकालेऽपि सद्विशेषाज्ञानमस्तीति—वाच्यम्, परिपूर्णानन्दत्वादेः सत एव विशेषत्वेन तदा तदज्ञानाभावात्, धर्मत्वमात्रस्यैव कल्पितत्वात्। यद्वा भ्रमविरोधिज्ञानाभाव एव तन्त्रम्, न तु विशेषाज्ञानम्, विश्वोपादानगोचराज्ञानस्य श्रवणादिजन्यमात्ममात्रविषयकं वृत्तिरूपं ज्ञानं

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकता है। इसमें पूज्य वार्तिककार के कथन को प्रमाण रूप से उद्घृत कर रहे हैं।

यत्प्रसादादविद्यादि सिध्यतीव दिवानिशम्।
तमप्यपह्नुतेऽविद्या नाज्ञानस्यास्ति दुष्करम्।।

जिस साक्षिचैतन्य के प्रकाश से ही अविद्यादि पदार्थ दिन—रात प्रकाशित होते हैं, उस प्रकाश स्वरूप चैतन्य को भी अविद्या तिरोहित कर देती है, क्योंकि अघटन घटना पटीयसी होने के कारण अविद्या के लिए कुछ भी असाध्य नहीं है। इस पर पुनः पूर्वपक्षी शङ्का कर रहा है कि ''इदं रजतम्'' इस भ्रम स्थल पर शुक्तित्वरूप विशेष के ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति होती है किन्तु जगत् के भ्रमकाल के जैसे ही जगत् के बाधकाल में भी ब्रह्मगत विशेषों का अज्ञान ही रहेगा, क्योंकि जगत् के बाधकाल में ब्रह्मगत किसी विशेष का ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि ब्रह्म में रहने वाले विशेष भी कल्पित होने के कारण जगत् अन्तः पाती है। इसलिए जगत् के बाधकाल में विशेष का भी बाध हो जाने से बाधकाल में विशेष का ज्ञान होगा नहीं और विशेष का ज्ञान न होने से भ्रम की निवृत्ति नहीं होगी। इस पर सिद्धान्ती का कथन है कि परिपूर्णानन्दत्वादि सत्स्वरूप ब्रह्म का स्वरूप होने से कल्पित नहीं है। अतः जगत् के बाध काल में भी ब्रह्मस्वरूप परिपूर्णानन्दत्वादि विशेष के ज्ञान के रहने से अर्थात् अज्ञान का अभाव होने से प्रपञ्चभ्रम की निवृत्ति हो जायेगी। यद्यपि अधिष्ठान ब्रह्म परिपूर्णानन्दात्मक ही है न कि तादृश आनन्दत्वादि धर्म वाला है तथापि परिपूर्णानन्दादि में ब्रह्मधर्मत्व कल्पित है। जैसा कि पञ्चपादिका में कहा गया है—''आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वञ्चेति सन्ति धर्मा अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते।'' अतः प्रकृत में भी अधिष्ठान के विशेषांश के अज्ञान से भ्रम और अधिष्ठान के विशेषांश के ज्ञान से भ्रम की निवृत्ति मानने में किसी प्रकार का दोष नहीं है। अथवा भ्रम का प्रयोजक विशेष का अज्ञान नहीं है, किन्तु भ्रम विरोधी ज्ञान का अभाव है। अतः विश्व का उपादान जो चैतन्य है तादृश चैतन्य विषयक जो अज्ञान उस अज्ञान का विरोधी वेदान्त श्रवण मनन निदिध्यासन से जन्य निर्विशेष ब्रह्म विषयक वृत्तिरूप ज्ञान है, न कि स्वतः सिद्धचैतन्य स्वरूप ज्ञान। प्रपञ्चभ्रम के समय उक्त वृत्तिरूपभ्रम विरोधी ज्ञान अर्थात् मैं परिपूर्णानन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ ऐसे वृत्तिज्ञान का अभाव रहता ही है। अतः प्रपञ्चभ्रम की सिद्धि हो जायेगी। पूर्वपक्षी कि शङ्का है कि सिद्धान्ती का यह नियम है कि ''यत्र यत्र अध्यासः तत्र तत्र भेदाग्रहः'' इसी प्रकार ''यत्र यत्र भेदग्रहः तत्र तत्र अध्यासाभावः।'' अतः प्रकृत में द्रष्टृत्व दृश्यत्व आत्मत्व—अनात्मत्व इत्यादि रूप से आत्मा और अनात्मा का भेद ज्ञान है। इसलिए आत्मा अधिष्ठान है और अनात्मा अध्यस्त है यह कहना उचित नहीं हैं, क्योंकि भेदज्ञान अध्यास का विरोधी है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि भेदज्ञान अध्यास का विरोधी है तथापि येन केन प्रकारेण भेदज्ञान अध्यास का विरोधी नहीं है, अपितु यद्रूपेण अध्यास हो रहा है तद्रूपेण भेदज्ञान ही अध्यास का विरोधी है, अन्यरूपेण भेदज्ञान अध्यास का विरोधी नहीं है। जैसे ''इदं रजतम्'' इस अध्यास स्थल पर इदन्त्व और रजतत्त्व रूप

विरोधि, न तु चिद्रूपं स्वतः सिद्धं ज्ञानम्, भ्रमविरोधिनश्च वृत्तिरूपस्य ज्ञानस्येदानीमभावोऽस्त्येव। ननु–आत्मानात्मनोर्द्रष्टृदृश्यत्वात्मानात्मत्वादिना भेदज्ञानात् कथमध्यस्ताधिष्ठानभाव–इति चेन्न, इदमनिदं न भवतीति पुरोवर्त्त्यपुरोवर्तिनोर्भेदग्रहेऽपीदं रजतमित्यध्यासवत् सन् घट इत्याद्यध्यासो भविष्यति। न हि रूपान्तरेण भेदग्रहो रूपान्तरेणाध्यासविरोधी, सन् घट इत्यादिप्रत्यये च सद्रूपस्यात्मनो घटाद्यनुविद्धतया भानान्न तस्य घटाद्यध्यासाधिष्ठानतानुपपत्तिः, सद्रूपेण च

सत्यानन्दप्रबोधिका

से अध्यास होता है। यहां पर यदि इदन्त्व और रजतत्व रूप से भेदज्ञान रहता अर्थात् जिस में इदन्त्व है उसमें रजतत्व नहीं और जिसमें रजतत्व है उसमें इदन्त्व नहीं अर्थात् पुरोवर्ति वस्तु रजत से भिन्न है। इस प्रकार से यदि भेदज्ञान रहता तब तो अध्यास नहीं होता, किन्तु अन्यरूपेण भेदज्ञान यदि रहता है तब भी अध्यास होते हुए देखा जाता है। जैसे "इदमनिदं न भवति" यहां पर इदन्त्व और अनिदन्त्वरूपेण भेदज्ञान भ्रान्तिकाल में भ्रान्तव्यक्ति को होने पर भी (इदन्त्व और रजतत्वरूपेण भेदज्ञान न होने के कारण) ''इदं रजतम्'' इस प्रकार से अध्यास होता है। इसी प्रकार ''सन् घटः'' इस स्थल पर सत्त्व और घटत्व रूपेण अध्यास हो रहा है परन्तु सत्त्व और घटत्वरूपेण भेदज्ञान नहीं है। अर्थात् जिसमें सत्त्व है वह घट से भिन्न है और जिसमें घटत्व है वह सत् से भिन्न है ऐसा भेदज्ञान यदि रहता तब तो अध्यास नहीं होता किन्तु उक्त प्रकार से भेदज्ञान न होने से अध्यास होता है। अतः पूर्वपक्षी ने आत्मा और अनात्मा में जो द्रष्टृत्व, दृश्यत्व आत्मत्व–अनात्मत्वादि रूप से जो भेदज्ञान कहा, वह भेदज्ञान ''घटः सन्'' इत्यादि भ्रमस्थल पर अध्यास का विरोधी नहीं है अपितु सत्त्व और घटत्वरूपेण भेद ज्ञान ही ''घटः सन्'' इस अध्यास का विरोधी है। अतः आत्मत्वानात्मत्वादि रूप से आत्मा और अनात्मा में भेद ज्ञान रहने पर भी ''घटः सन्'' इत्यादि रूपसे अध्यास हो ही सकता है। अधिष्ठान के सामान्याकार के साथ में तादात्म्यापन्न होकर के अध्यस्त पदार्थ का भान होता है। ऐसा ''इदं रजतम्'' इस भ्रम स्थल पर देखा गया है। दृष्टान्त में अधिष्ठान का विशेष आकार ''शुक्ति'' और सामान्याकार ''इदम्'' है। इसी प्रकार प्रकृत में घटादि का अधिष्ठान जो आत्मा है उसका विशेष आकार शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप है और सामान्याकार सत् है। इस सत् रूप सामान्याकार से तादात्म्यापन्न होकर घटादि अध्यस्त पदार्थ का ''सन् घटः'' इस प्रकार से अध्यास हो ही सकता है। अतः आत्मा को घटादि प्रपञ्च का अधिष्ठान मानने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है, क्योंकि जिसके सामान्याकार से तादात्म्यापन्न जो अध्यस्त पदार्थ भ्रम में भासता है, वही उस अध्यस्त पदार्थ का अधिष्ठान होता है– यह ''इदं रजतम्'' इत्यादि भ्रम स्थल पर देखा गया है। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि ''सन् घटः'' इत्यादि स्थल पर घट के साथ तादात्म्यापन्न होकर सत् इस प्रकार से आत्मा का भान नहीं हो सकता है, क्योंकि ''सन् घटः'' इस चाक्षुष ज्ञान में रूपरहित आत्मा की प्रतीति नहीं हो सकती है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सद्रूप से आत्मा केवल चाक्षुष ज्ञान का ही विषय नहीं है किन्तु ''गन्धः सन्'' ''रसः सन्'' ''शब्दः सन्'' ''स्पर्शः सन्'' इस प्रकार से सद्रूपेण आत्मा चाक्षुषाचाक्षुषादि सभी ज्ञानों का विषय होता है। जो पदार्थ सभी ज्ञानों में भासता है उसके चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उसको रूपवान् होने की आवश्यकता नहीं होती है। यह कालादि स्थल पर देखा गया है। जैसे "इदानीं घटः, इदानीं

सर्वज्ञानविषयतोपपत्तेर्न रूपादिहीनस्याप्यात्मनः कालस्येव चाक्षुषत्वाद्यनुपपत्तिः।। २।।

ननु—विश्वं यदि कल्पितं स्यात्तदा सप्रधानं स्यात्, न चैवम्, तस्मात् न कल्पितमिति—चेन्न, अत्रापि प्रधानस्य सजातीयस्य सत्त्वात्, पूर्वप्रपञ्चसजातीयस्यैवोत्तरप्रपञ्चस्याध्यसनात्। अध्यासो हि स्वकारणतया संस्कारमपेक्षते, न तु संस्कारविषयस्य सत्यताम्, अनुपयोगात्। न च—प्रमाजन्य एव संस्कारो भ्रमहेतुः, अतो विषयसत्यत्वमावश्यकमिति—वाच्यम्, मानाभावात्, विपरीते लाघवाच्च। अत एव—अध्यस्तसजातीयं पूर्वमध्यस्तापेक्षयाऽधिकसत्ताकमपेक्षणीयमित्यपि—निरस्तम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

गन्धः, इदानीं रसः" इत्यादि स्थल पर काल के प्रत्यक्ष के लिए काल को रूपवान होने की आवश्यकता नहीं मानी गयी है। नैयायिकों ने भी रूपरहित सत्तादि का चाक्षुष भान माना है। इस प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित प्रथम प्रतिकूल तर्क का खण्डन हो गया। अर्थात् सिद्धान्ती का अनुकूल तर्क था— ''विश्वं यदि अकल्पितं स्यात् दृश्यं न स्यात्। न च विश्वमदृश्यं तस्मात् कल्पितम्।'' इस पर पूर्वपक्षी ने हेतुगत साधकत्व के प्रतिघात के लिए प्रतिकूल तर्क दिया—''विश्वं यदि कल्पितं स्यात् साधिष्ठानं स्यात्। न च साधिष्ठानं ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वासम्भवात् तस्मान्न कल्पितम्।'' सिद्धान्ती के द्वारा ब्रह्मगत अधिष्ठानत्व का समर्थनकर दिये जाने से पूर्वपक्षीकृत प्रथम प्रतिकूल तर्क का खण्डन हो गया।। २।।

पूर्वपक्षी द्वितीय प्रतिकूल तर्क देते हुए कहा रहा है कि सिद्धान्ती यदि विश्व को कल्पित मानेंगे तो विश्व को सर्पधान भी मानना होगा किन्तु वह सम्भव नहीं है। अतः विश्व कल्पित नहीं है। यहां पर अध्यस्त वस्तु के सजातीय और अध्यस्त से अधिक सत्ता वाली वस्तु का नाम प्रधान है। जैसे प्रातिभासिक रज्जुसर्प से अधिक सत्ताक व्यावहारिक सर्प होता है। अतः व्यावहारिक सर्प को प्रातिभासिक सर्प की दृष्टि से प्रधान कहा जाता है। कहने का आशय यह है कि प्रातिभासिक रजत को अध्यस्त इसलिए माना जाता है कि प्रातिभासिक रजत से भिन्न प्रधान रजत—व्यावहारिक रजत रहता है। व्यावहारिक रजत होने से तद्विषयक अनुभव जन्य संस्कार उत्पन्न होता है। वह संस्कार अध्यास के प्रति कारण बनता है। ठीक ऐसे ही व्यावहारिक घटादि (विश्व) को अध्यस्त (कल्पित) तभी माना जा सकता है यदि व्यावहारिक घटादि से भिन्न प्रधान घटादि (पारमार्थिक घटादि) रहता हो और उससे तद्विषयक अनुभव जन्य संस्कार उत्पन्न होता है जो कि अध्यास के प्रति कारण बनता हो किन्तु ऐसा सिद्धान्ती स्वयं ही नहीं मानते हैं। अतः विश्व को कल्पित ही नहीं मान सकते हैं। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रधान वही हो सकता है जो अध्यस्त का सजातीय हो और अध्यस्त से अधिक सत्ता वाला हो किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि अध्यस्त के सजातीय को प्रधान मानना उचित है किन्तु उसमें अधिक सत्ताकत्व रूप विशेषण कार्यकारणभाव से बहिर्भूत होने से अन्यथासिद्ध है। सजातीयत्वरूपप्रधानत्व सिद्धान्त मत में भी माना ही जाता है। सृष्टिप्रलय प्रवाह रूप से अनादि होने से पूर्व—पूर्व प्रपञ्च के सजातीय प्रपञ्च का उत्तर—उत्तर अध्यास होने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। अध्यास अपने कारण के रूप से संस्कार की अपेक्षा करता है और संस्कार के विषय के सत्यता की अपेक्षा नहीं रखता है। अर्थात् अध्यास अध्यस्त पदार्थ के ज्ञान जन्य संस्कार की अपेक्षा रखता है न कि सत्य पदार्थ के ज्ञान जन्य संस्कार की अपेक्षा रखता है, क्योंकि अध्यास के कारण कोटि में संस्कार मात्र प्रविष्ट होता है संस्कार विषय का सत्यत्व नहीं, क्योंकि सत्यत्व कार्यकारण भाव में बहिर्भूत होने के कारण अन्यथासिद्ध

सत्यतावदधिकसत्ताया अप्यनुपयोगात्। पूर्वं तु तज्ज्ञानमात्रमपेक्ष्यते, तच्चास्त्येव। ननु—एवमधिष्ठानस्यापि ज्ञानमात्रमेव हेतुः, न तु तदिति न सदधिष्ठानापेक्षा स्यादिति शून्यवादापत्तिरिति—चेन्न, अधिष्ठानस्य ज्ञानद्वारा भ्रमाहेतुत्वेऽप्यज्ञानद्वारा भ्रमहेतुत्वेन सत्त्वनियमात्। भ्रमोपादानाज्ञानविषयो ह्यधिष्ठानमित्युच्यते, तच्च सत्यमेव, असत्यस्य सर्वस्याप्य—ज्ञानकल्पितत्वेनाज्ञानाविषयत्वात्, तदसत्यत्वे तज्ज्ञानस्य भ्रमाबाधकत्वप्रसङ्गात्, जगति

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। अतः संस्कार के विषयगत सत्यता की कारणता में कोई उपयोगिता नहीं है। प्रमाज्ञान से जन्य जो संस्कार है वही भ्रम का हेतु है, अतः जैसे प्रमाज्ञान के लिए विषयगत सत्यत्व आवश्यक है, उसी प्रकार प्रमा ज्ञान से जन्य भ्रम हेतु संस्कार के लिए भी विषयगत सत्यत्व आवश्यक है, ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाजन्य संस्कार ही भ्रम का हेतु है, इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अर्थात् कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहने वाले को कारण कहा जाता है। प्रमाजन्य संस्कार को भ्रम के प्रति कारण मानने पर सर्वत्र अध्यास के पूर्व में प्रमाजन्य संस्कार रहना चाहिए किन्तु ऐसा होता नहीं है। क्योंकि भ्रम जन्य संस्कार के बल पर भी अध्यास होता हुआ देखा जाता है। अतः अन्यथासिद्ध होने के कारण प्रमाजन्य संस्कार को भ्रम के प्रति हेतु नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि यथार्थ अनुभवजन्य संस्कार को भ्रम के प्रति हेतु मानने की अपेक्षा अनुभवमात्र जन्य संस्कार को भ्रम के प्रति हेतु मानने में लाघव है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि अधुना व्यावहारिक घटाध्यास के लिए अपेक्षणीय घटत्व जातीय घट के सजातीय पूर्व घट (प्रधान घट) को अधुना अध्यस्त व्यावहारिक घट की अपेक्षा से अधिक सत्ताक (पारमार्थिक सत्ता वाला) होना चाहिए। इसका भी खण्डन हो गया, क्योंकि जैसे अध्यास के लिए संस्कार के विषय की सत्यता की कोई उपयोगिता नहीं है ऐसे ही पूर्वघटादि (प्रधान घटादि) को अध्यस्त घटादि की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाला होने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। अध्यास से पूर्व सजातीय पदार्थ का ज्ञान मात्र अपेक्षित होता है वह तो ब्रह्म धर्मिक प्रपञ्चाध्यास में होता ही है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे अध्यास के लिए संस्कार के विषय की सत्यता की कोई आवश्यकता नहीं होती है अपितु संस्कार के विषय के ज्ञान मात्र की आवश्यकता होती है, ठीक वैसे ही अधिष्ठान के ज्ञानमात्र को ही अध्यास के लिए हेतु मानना चाहिए न कि अधिष्ठान गत सत्यत्व को। ऐसा होने पर अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों ही मिथ्या सिद्ध हो जाने से शून्यवाद की आपत्ति होगी। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अधिष्ठान का स्वविषयक ज्ञान (अधिष्ठान के विशेष अंश का ज्ञान) भ्रम हेतु नहीं होता है, क्योंकि अधिष्ठान का विशेष अंश का ज्ञान भ्रम का बाधक होता है, किन्तु अधिष्ठान का अज्ञान (अधिष्ठान के विशेष अंश का अज्ञान) भ्रम का हेतु होता है और उस अज्ञान का विषय सत्य ही होता है। इसे पीछे संक्षेपशारीरक के "आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभगचितिरेव केवला....... इत्यादि वाक्यों के द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है और यहां पर भी आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि भ्रम का उपादान कारण जो अज्ञान होता है उस अज्ञान के विषय को अधिष्ठान कहते हैं। वह अधिष्ठान सत्य ही होता है असत्य नहीं, क्योंकि असत्य पदार्थ मात्र अज्ञान से कल्पित होने के कारण अज्ञान के पश्चाद्भावी होते हैं। अतः वे पदार्थ अज्ञान के विषय नहीं हो सकते हैं। दूसरी बात यह भी है कि अज्ञान का विषय

भ्रमबाधव्यवस्था च न स्यात्। बाधेन हि किञ्चिद्विरुद्धं तत्त्वमुपदर्शयता आरोपितमतत्त्वं बाधनीयम्, उभयाध्यासे तु किं केन बाध्येत? अत एव भगवता भाष्यकारेण–''सत्यानृते मिथुनीकृत्य'' इत्युक्तम्।। ३।।

ननु एतत्प्रपञ्चासाध्यार्थक्रियाकारिणः प्रपञ्चान्तरस्याभावेन स्वोचितार्थक्रियाकारिणोऽस्य न मिथ्यात्वमिति चेन्न, स्वाप्नमायादौ व्यभिचारात्, स्वोचितार्थक्रियाकारित्वऽस्य पारमार्थिकसत्त्वा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह होता है जिसको अज्ञान आवृत करता है और आवरण का कार्य होता है प्रसक्त प्रकाश में प्रतिबन्धकता। जड़ में प्रकाश प्रसक्त ही नहीं है। इसलिए जड़ को अज्ञान आवृत नहीं कर सकता। अत: जड़ अज्ञान का विषय नहीं बन सकता है। यदि अधिष्ठान को असत्य मान लिया जाय तब अधिष्ठान का ज्ञान भ्रम का निवर्तक नहीं होगा और जगत् में भ्रम और बाध की व्यवस्था भी नहीं बन पायेगी, क्योंकि बाध्य पदार्थ की अपेक्षा से अधिक सत्ता वाले पदार्थ को विषय करने वाले बाधक ज्ञान के द्वारा ही अतत्त्व पदार्थ रूप आरोपित पदार्थ का बाध किया जाता है। अर्थात् अधिक सत्तावाले बाधक के द्वारा न्यूनसत्तावाले बाध्य का बाध किया जाता है। अध्यस्त और अधिष्ठान दोनों की समसत्ता होने पर अर्थात् दोनों को सत्य मानने पर अथवा दोनों को ही मिथ्या मानने पर उनमें बाध्य बाधक भाव ही नहीं बनेगा। इसलिए भ्रम और बाध की व्यवस्था की सिद्धि के लिए ही भगवान् भाष्यकार ने ब्रह्म सूत्र के अध्यास भाष्य में कहा है–''सत्यानृते मिथुनीकृत्य''। अर्थात् सत्य अधिष्ठान में अनृत के आरोप को ही अध्यास कहा जाता है।। ३।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे व्यावहारिक आपणस्थ रजत से जो आभूषणादि अर्थक्रिया की निष्पत्ति होती है वैसी अर्थ क्रिया की निष्पत्ति प्रातिभासिक शुक्तिरजत से नहीं होती है। इस कारण से शुक्तिरजत को मिथ्या माना जाता है किन्तु व्यावहारिक प्रपञ्च से निष्पत्ति न होने वाली अर्थक्रिया का निष्पादक कोई पारमार्थिक प्रपञ्च तो है नहीं। अत: व्यावहारिक प्रपञ्च अपने उचित अर्थ क्रिया का ही सम्पादन करने के कारण मिथ्या नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी का आशय है– "यत्र यत्र मिथ्यात्वं तत्र तत्र तद् (शुक्तिरूप्यम्) असाध्यार्थक्रिया (आभूषणादि) सम्पादकस्य तद् (शुक्तिरूप्यम्) अन्यस्य (हट्टस्थ रजतस्य) सत्त्वम्" अर्थात् ''यत्र यत्र सत्यत्वाभाव: तत्र तत्र स्वोचितार्थक्रियाकारित्वाभाव:।'' ऐसी व्यतिरेक व्याप्ति है। अन्वय व्याप्ति का आकार होगा–''यत्र यत्र स्वोचितार्थक्रियाकारित्वं तत्र तत्र सत्यत्वम्।'' इस व्याप्ति के अनुसार पूर्वपक्षी के अनुमान का आकार होगा–''प्रपञ्च: सत्य: स्वोचितार्थक्रियाकारित्वात्,यन्नैवं तन्नैवं यथा शुक्तिरजतम्।'' इस अनुमान में व्यभिचारदोष देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त अनुमान का हेतु स्वाप्निक प्रपञ्च और मायिक प्रपञ्च में व्यभिचारी है। अर्थात् स्वाप्निक स्त्री आदि तथा मायिक पदार्थों में स्वोचित अर्थक्रियाकारित्व है। किन्तु सत्यत्व नहीं है। इसलिए स्वोचितार्थक्रियाकारित्व को पारमार्थिकसत्यत्व का साधक नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि श्रुतिस्मृत्यादि प्रमाणों से प्रपञ्च की उत्पत्यादि सिद्ध होने के कारण प्रपञ्च को पारमार्थिक सत्य मानना चाहिए। अर्थात् पूर्वपक्षी की ''यत्र यत्र श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्यादिमत्त्वं तत्र तत्र सत्त्वम्'' ऐसी व्याप्ति भी नहीं मानी जा सकती है क्योंकि स्वाप्निक प्रपञ्च में व्यभिचार है। स्वाप्निक प्रपञ्च की भी उत्पत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित है। जैसे–''न तत्र रथा न रथयोगा, न पन्थानो भवन्ति।

प्रयोजकत्वात्। नापि श्रुत्यादिसिद्धोत्पत्त्यादिमत्त्वं सत्त्वे तन्त्रम्, स्वप्नप्रपञ्चे व्यभिचारात्, तस्यापि ''न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथस्सृजते'' इत्यादिश्रुत्योत्पत्त्यादिप्रतिपादनात्। न च कल्पाद्यभ्रमायोगः, कल्पान्तरीयसंस्कारस्य तत्र हेतुत्वात्। न च जन्मान्तरीयसंस्कारस्य कार्यजनकत्वेऽतिप्रसङ्गः, अदृष्टादिवशेन क्वचिदुद्बोधेऽप्यन्यत्रानुद्बोधोपपत्तेः, कार्योन्नेयधर्माणां यथाकार्यमुन्नयनात्, अन्यथा जातस्य स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात्।। ४।।

ननु—चैत्रेण मैत्रे संस्काराध्यासेऽपि मैत्रस्य भ्रमादर्शनात्, जगद्भ्रमहेतुसंस्कारस्य सत्त्वं

सत्यानन्दप्रबोधिका

अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'' (बृ.उ. ४.३.१०) किन्तु स्वाप्निक प्रपञ्च में सत्यता नहीं मानी जाती है। सिद्धान्ती ने पीछे कहा था कि भ्रम के प्रति पूर्व संस्कार कारण होता है। इस पर पूर्वपक्षी दोष दे रहा है कि पूर्व संस्कार को भ्रम के प्रति कारण मानने पर कल्प की प्रारम्भिक उत्पत्ति के अव्यवहित पूर्व में संस्कार विद्यमान न होने के कारण प्रपञ्चभ्रम की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सृष्टि प्रवाह रूप से अनादि है। अतः कल्प के आदि में कल्पान्तरीय संस्कारों के विद्यमान होने से प्रपञ्च भ्रम की सिद्धि हो जायेगी। यदि जन्मान्तरीय संस्कार जन्मान्तर के आरम्भक है, तब इस जन्म में अध्ययनादि के बिना ही स्वाध्याय स्मरणादि हो जाना चाहिए, ऐसी पूर्वपक्षी की शङ्का उचित नहीं है, क्योंकि वामदेव आदि को अदृष्टविशेष के आधार पर पूर्वजन्म के संस्कार उद्बुद्ध होकर जाति स्मरता प्रदान करते हैं, किन्तु सभी व्यक्तियों के वैसे अदृष्ट न होने के कारण उनके संस्कारों का उद्बोध नहीं होता है। अतः उनमें जाति स्मरता भी नहीं आती है। कार्य (फल) के बल पर अनुमेय धर्मों की कल्पना फल के अनुरूप ही की जाती है, क्योंकि कारण है, एतावता कार्य को उत्पन्न होना पड़ेगा—ऐसा कोई नियम नहीं है, परन्तु यदि कार्य उत्पन्न हो गया तब उस कार्य के बल पर उस कार्य के अनुरूप कारण का अनुमान किया जाता है, जैसे वह्नि है एतावता उससे धूम उत्पन्न होना चाहिए। इसका व्यभिचार, अयोगोलक में देखा गया, किन्तु धूमरूप कार्य को देखकर तदनुरूप कारण वह्नि का अनुमान किया जाता है। वैसे ही संस्कार है एतावता स्मृति होनी चाहिए ऐसा माना नहीं जा सकता है, अपितु यदि स्मृति हो रही है तब तदनुरूप उद्बुद्धसंस्कार की कल्पना की जाती है। दूसरी बात यह है कि जन्मान्तरीय यत्किञ्चित् संस्कारों का उद्बोध प्राय सभी में होता है और वे संस्कार कार्य के जनक भी होते हैं। यदि सर्वथा जन्मान्तरीय संस्कारों का अनुद्बोध मानेंगे और उन संस्कारों को कार्य का अजनक मानेंगे तब तो सद्यो जात बालक की माता के स्तन्य(स्तनगतदुग्ध)पान में प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं हो पायेगी, क्योंकि इष्टसाधनता का ज्ञान ही सभी को किसी कार्य में प्रवृत कराता है किन्तु सद्योजात बालक को इस जन्म में इष्टसाधनता की अनुभूति स्तन्यपान में हुयी नहीं। इसलिए उसमें इष्टसाधनता के स्मरण को ही प्रवर्तक मानना पड़ेगा। वह स्मरण पूर्वजन्मार्जित संस्कारों से ही उत्पन्न हो सकता है। इसलिए पूर्वजन्म के संस्कारो का उद्बोध और उसमें उससे जन्य कार्य के प्रति जनकता मानने में कोई भी दोष नहीं है।। ४।।

सिद्धान्ती ने पहले भ्रम के प्रति संस्कार को हेतु कहा था। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि भ्रम का हेतुभूत जो संस्कार है वह क्या मिथ्या है? अथवा सत्य? मिथ्या संस्कार को तो भ्रम का हेतु मान नहीं सकते हैं, क्योंकि मैत्र को जहां सर्प संस्कार नहीं

दुर्वारम्, न च स्वेनाध्यस्तात्संस्काराद्भ्रमः, भ्रमात् पूर्वं स्वस्य कार्यानुमेयसंस्काराध्यासनियमाभावादिति चेन्न,शुक्तिरूप्यस्य कुण्डलाजनकत्ववच्चैत्राध्यस्तसंस्कारस्य मैत्रभ्रमाजनकत्वेऽपि वणिग्वीथीस्थरूप्यस्य कुण्डलजनकत्ववत्स्वेनाध्यस्तस्य संस्कारस्य वियदाद्यध्यासजनकत्वोपपत्तेः। तत्प्रतीत्यभावेऽपि तदध्यासस्य पूर्वं सत्त्वात् कृत्स्नस्यापि व्यावहारिकपदार्थस्याज्ञातसत्त्वाभ्युपगमात्। ननु—प्रातिभासिकरूप्ये त्रैकालिकनिषेधस्य त्वन्मते व्यावहारिकरूप्यविषयत्ववद्

सत्यानन्दप्रबोधिका

है वहां चैत्र को यदि भ्रम है कि मैत्र सर्प संस्कार वाला है तो मैत्र निष्ठ संस्कार मिथ्या संस्कार ही होगा, क्योंकि वास्तव में मैत्रसर्पसंस्कार वाला नहीं है। उस मिथ्या संस्कार के बल पर मैत्र को रज्जु में सर्प का भ्रम होता नहीं है। इसलिए मिथ्या संस्कार को भ्रम के प्रति हेतु मान नहीं सकते हैं। अतः भ्रम के हेतुभूत संस्कार को सत्य मानना पड़ेगा। अतः प्रपञ्चभ्रम का हेतुभूत संस्कार को भी सत्य मानना पड़ेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि चैत्र के द्वारा मैत्रगत अध्यस्त संस्कार के बल पर मैत्र को भ्रम न होने पर भी मैत्र के द्वारा स्वगत अध्यस्त संस्कार के बल पर मैत्र को भ्रम होते हुए देखा जाता है। अतः मिथ्या संस्कार को भी भ्रम का हेतु माना ही जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अध्यस्त संस्कार को भ्रम का कारण मानने पर भ्रम से अव्यवहित पूर्व में संस्कार का अध्यास विद्यमान होना चाहिए, किन्तु भ्रम से अव्यवहित पूर्व में मिथ्या संस्कार है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञान हो नहीं सकता है, क्योंकि संस्कार प्रत्यक्षयोग्य माना नहीं जाता है। अतः भ्रम से अव्यवहित पूर्व में विद्यमान अध्यस्तसंस्कार का ज्ञान अनुमान से ही होगा। अनुमान भी कार्य से कारण का होता है। इसलिए मिथ्याभूत संस्कार का कार्य जो भ्रम है उसके उत्पन्न होने के बाद ही उसी भ्रम से अनुमान हो सकता है किन्तु भ्रम से अव्यवहित पूर्व में संस्कार का अध्यास सम्भव न होने के कारण अध्यस्त संस्कार का ज्ञान भ्रमज्ञान से पहले नहीं हो सकता है। अतः अध्यस्त संस्कार भ्रम के प्रति हेतु भी नहीं हो सकता है। अर्थात् प्रपञ्च भ्रम के पहले अपने में रहने वाले अध्यस्त संस्कार (व्यावहारिक संस्कार) का बोध अपने द्वारा सम्भव न होने के कारण अध्यस्त संस्कार को भ्रम के प्रति हेतु नहीं मान सकते हैं। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे शुक्तिरजत में व्यावहारिक कुण्डलादि आभूषणों की जनकता नहीं होती है। वैसे ही चैत्रगत अध्यस्त संस्कारों में मैत्रगत भ्रम की जनकता नहीं होती है। अर्थात् चैत्र के द्वारा कल्पित मैत्रगत मिथ्या संस्कारों से मैत्र को भ्रम नहीं होता है। किन्तु आपणस्थ रजत में व्यावहारिक कुण्डलादि आभूषणों की जनकता के समान ही चैत्रगत अध्यस्त संस्कारों में चैत्र के वियदादि अध्यास की जनकता की उपपत्ति हो ही जायेगी। यद्यपि भ्रम से पहले अपने में रहने वाले संस्कार का बोध अपने को न हो किन्तु भ्रम से पहले संस्कार के अध्यास की अज्ञात सत्ता मानी ही जा सकती है, क्योंकि सिद्धान्त मत में सम्पूर्ण व्यावहारिक प्रपञ्च की अज्ञात सत्ता मानी ही जाती है। यहां पर अध्यस्त संस्कार से व्यावहारिक संस्कार का ग्रहण किया गया है। उसी को प्रपञ्चभ्रम का कारण भी माना गया है। विवरण में कहा गया है—''लौकिक परमार्थरजतस्य अत्र कालत्रयेऽपि शून्यत्वात्तदपेक्षया निरूपाधिकनिषेधसिद्धेः।'' पूर्वपक्षी उक्त विवरण वाक्य के अक्षरार्थ को ग्रहण कर शङ्का कर रहा है कि सिद्धान्ती के मत में जैसे प्रातिभासिक रजतभ्रम के अनन्तर होने वाले त्रैकालिक निषेध (नेदं रजतम्) का विषय प्रातिभासिक रजत नहीं होता है अपितु प्रातिभासिक रजत से भिन्न और उससे अधिक

व्यावहारिकप्रपञ्चेऽपि 'नेह नाना'इति त्रैकालिकनिषेधस्य पारमार्थिकप्रपञ्चान्तरविषयताऽवश्यं वाच्येति—चेन्न, भ्रमबाधवैयधिकरण्यापातेनास्य पक्षस्यानङ्गीकारपराहतत्वात्। अङ्गीकारेऽपि व्यावहारिकनिषेधे पारमार्थिकविषयत्वं न सम्भवति, अप्रतीतस्य निषेधायोगात्। प्रतीत्या सहाध्यासातिरिक्तसम्बन्धाभावेन पारमार्थिके प्रतीतत्वाभावात्।। ५।।

ननु—प्रधानाधिष्ठानयोः सादृश्याभावात्कथमध्यासः? अथ निर्गुणयोरपि गुणयोः

सत्यानन्दप्रबोधिका

सत्ता वाला व्यावहारिक रजत होता है क्योंकि प्रातिभासिक रजत की प्रतीतिकाल में सत्ता सिद्धान्ती ने ही जब मानी है, तब प्रातिभासिक रजत का त्रैकालिक निषेध नहीं हो सकता है। ठीक उसी प्रकार व्यावहारिक प्रपञ्च भ्रमानन्तर होने वाले ''नेह नानास्ति'' (बृ.उ. ४.४.१९) इत्यादि निषेध का विषय व्यावहारिक प्रपञ्च नहीं होना चाहिए, अपितु व्यावहारिक प्रपञ्च से भिन्न और उससे अधिक सत्ता वाला अर्थात् पारमार्थिक प्रपञ्च होना चाहिए। पारमार्थिक प्रपञ्च को स्वीकार करने पर उसको मिथ्या नहीं माना जा सकेगा और तब द्वैतापत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी उक्त विवरणवाक्य के भावों को न समझ कर ही पूर्वोक्त प्रकार की शङ्का किया है। उक्त विवरण वाक्य का क्या तात्पर्य है, इसे श्री चित्सुखाचार्य जी ने प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका में इस प्रकार से स्पष्ट किया है—'' तस्माल्लौकिकपरमार्थरजतमेव नेदं रजतमिति निषेधप्रतियोगीति पूर्वाचार्यवाचोयुक्तिरपि पूरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिदर्शनात् लौकिकरजतात्मत्वेन अपरोक्षतया प्रतीतस्य कालत्रयेऽपि लौकिकरजतमिदं न भवतीति निषेधप्रतियोगितामङ्गीकृत्य नेतव्या।'' इस पर विचार द्वितीय मिथ्यात्व के लक्षण में भी किया गया है। यहां पर भी आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि ''नेदं रजतम्'' इस निषेध के द्वारा यदि शुक्ति में प्रसक्त प्रातिभासिकरजत को निषेध का प्रतियोगी न मानकर व्यावहारिकरजत को उक्तनिषेध का प्रतियोगी मानेंगे तो भ्रम और बाध का वैयधिकरण्य हो जायेगा। अर्थात् प्रसक्त का निषेध न होकर अन्य का ही निषेध होगा। अतः इस प्रकार के पक्ष को स्वीकार नहीं किया जाता है। इसलिए इस पक्ष को मानकर जो दोष दिये गये थे वह खण्डित हो गये। ''दुर्जनः तुष्यतु'' इस न्याय से यदि पूर्वपक्षी के दृष्टान्त को मान भी लिया जाय अर्थात् ''नेदं रजतम्'' इस निषेध के द्वारा व्यावहारिकरजत का निषेध मान भी लिया जाय तब भी प्रकृत में व्यावहारिक प्रपञ्च का जो ''नेह नाना......'' इत्यादि वाक्यों के द्वारा त्रैकालिकनिषेध होता है उसका प्रतियोगी पारमार्थिक प्रपञ्च तो हो नहीं सकता है, क्योंकि निषेध के लिए यह नियम है कि निषेध के प्रतियोगी की प्रतीति निषेध से पहले होना चाहिए। पूर्वपक्षी जो निषेध का प्रतियोगी पारमार्थिक प्रपञ्च को मान रहा है उससे प्रश्न होगा कि निषेध से पहले पारमार्थिक प्रपञ्च की प्रतीति होती है अथवा नहीं? यदि नहीं होती है तब तो उसका निषेध ही नहीं हो सकता है। यदि होती है तब तो उस प्रतीति में वह प्रपञ्च भी अध्यस्त ही होगा, क्योंकि दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्ति प्रकरण में सिद्ध किया जा चुका है कि प्रतीति के साथ विषय का आध्यासिक सम्बन्ध ही होता है। अतः प्रतीति में प्रपञ्च अध्यस्त होने के कारण उस प्रपञ्च को पारमार्थिक माना नहीं जा सकता है। इस प्रकार से ''विश्वं यदि कल्पितं स्यात् सर्पधानं स्यात्'' इस द्वितीय प्रतिकूल तर्क के प्रधानगत मिथ्यात्व का समर्थन कर देने से यह तर्क खण्डित हो गया।। ५।।

अब पूर्वपक्षी के द्वारा तृतीय प्रतिकूल तर्क का उपस्थापन किया जा रहा है। पूर्वपक्षी

साद्दश्यवदत्रापि किञ्चित्साद्दश्यं भविष्यतीति, तन्न, निर्धर्मके ब्रह्मणि तस्याप्यध्या–साधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। यद्यपि साद्दश्यं सोपाधिकाध्यासे न कारणम्, व्यभिचारात्, तथापि निरुपाधिकाध्यासेऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्यावश्यमपेक्षणीयत्वात् सोपाधिकेऽपि 'रक्तः स्फटिकः'

सत्यानन्दप्रबोधिका

का कथन है कि इस समय जो रजत का भ्रम हो रहा है उस भ्रम का विषय रजत है। उस रजत के प्रति प्रधान होगा पूर्व द्दष्ट रजत। उस प्रधानरजत के साथ अधिष्ठान (शुक्ति) का चाकचिक्यादिरूप साद्दश्य के रहने से इस समय रजत भ्रम हो रहा है, प्रकृत में "अयं घटः" इस प्रकार से व्यावहारिक घट का जो भ्रम हो रहा है, उस घट के प्रति प्रधान होगा पूर्व द्दष्ट घट। उस पूर्व द्दष्ट घट के साथ में अधिष्ठान (ब्रह्म) का कोई भी साद्दश्य न रहने के कारण ''अयं घटः'' इस प्रतीति को भ्रम नहीं माना जा सकता है। गुण आकार कर्मादि को लेकर साद्दश्य होता है। जैसे शुक्तिरजत स्थल पर चाकचिक्यादि गुण पूर्वद्दष्टरजत और पूरोवर्ति शुक्ति दोनों में रहता है। अतः यहां पर गुणकृत साद्दश्य माना जाता है। इसी प्रकार आकार (अवयव) को लेकर भी साद्दश्य होता है। जैसे रज्जु सर्पस्थल पर पूर्वद्दष्टसर्प और पूरोवर्ति रज्जु का आकार (अवयव) एक ही प्रकार का है। अतः यहां पर आकारकृत साद्दश्य को लेकर भ्रम होता है। इसी प्रकार पूर्वद्दष्ट देवदत्त के कर्मादि का साद्दश्य वर्तमान किसी अन्य यज्ञदत्त के कर्म में होने से भी "अयं देवदत्तः" ऐसा भ्रम होता है। प्रकृत में पूर्वद्दष्ट घटादि में घट के आकारादि और गुण तो है किन्तु ब्रह्म में न तो कोई गुण है और न आकारादि। अतः प्रधान के साथ अधिष्ठान का कोई साद्दश्य न होने के कारण ''अयं घटः'' इस प्रतीति को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता है। यहां पर तृतीय प्रतिकूल तर्क का आकार होगा–''विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, तदा प्रधानाधिष्ठानयोः सत्यसादृश्यं स्यात्।'' इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि जहां पर केतकी गन्ध को सूंघकर सर्पगन्ध का भ्रम होता है। वहां पर प्रधान होगा पूर्वघ्रात सर्पगन्ध और अधुना घ्रात केतकी गन्ध अधिष्ठान होगा। गुण में गुण न रहने के कारण उक्त दोनों गन्धों में गुणकृतसाद्दश्य हो नहीं सकता है और गन्धों का कोई आकार आदि भी नहीं होता है। अतः आकारादि को लेकर भी उन दोनों गन्धों में कोई साद्दश्य नहीं हो सकता है फिर भी दोनों गन्धों में गन्धत्वादि कोई न कोई साद्दश्य मानना पड़ेगा अन्यथा भ्रम की सिद्धि नहीं हो पायेगी। इसी प्रकार प्रकृत में अधिष्ठान ब्रह्म के निर्गुण और निराकार होने पर भी उसके साथ प्रधान का वस्तुत्वादि कोई न कोई साद्दश्य अवश्य मानना पड़ेगा और उसी साद्दश्य के बल पर ''अयं घटः'' यह प्रतीति भ्रमात्मक सिद्ध हो जायेगी। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ब्रह्म में यदि कोई साद्दश्य सिद्धान्ती मानते भी हैं तो भी द्वैतापत्ति के भय से और ब्रह्म के निर्धर्मक होने से उस साद्दश्य को पारमार्थिक मान नहीं सकते हैं। अतः ब्रह्मगत साद्दश्य को कल्पित ही मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर अध्यास के द्वारा ही ब्रह्म में साद्दश्य की सिद्धि होगी और साद्दश्य की सिद्धि होने पर अर्थात् प्रधान और अधिष्ठान में साद्दश्य की सिद्धि होने पर प्रपञ्चाध्यास की सिद्धि होगी। इस प्रकार से अन्योन्याश्रय दोष होगा। "यद्यपि रक्तः स्फटिकः'' यह एक सोपाधिकभ्रमस्थल है। यहां पर उपाधि जपाकुसुम है। इस सोपाधिक अध्यास में साद्दश्य कारण नहीं होता है, क्योंकि रक्तरूप के साथ में स्फटिक का कोई साद्दश्य नहीं होता है। अतः ''रक्तः स्फटिकः'' इत्यादि सोपाधिक भ्रम

इत्यादौ द्रव्यत्वादिना सादृश्यस्य सत्त्वाच्चेति—चेत्।। ६।।

न,अविद्याध्यासस्यानादित्वेन कारणानपेक्षस्य सादृश्यानपेक्षत्वात्, अन्तःकरणाध्यासे त्वविद्यासम्बन्धित्वस्यैव सादृश्यस्य विद्यमानत्वात्। वस्तुतस्तु—न भ्रमे सादृश्यापेक्षानियमः, निरुपाधिकेऽपि 'पीतः शङ्खः' इत्यादौ व्यभिचारात्। 'रक्तः स्फटिकः' इत्यादावपि द्रव्यत्वादिना सादृश्यमस्तीत्यपि न, प्रधानमात्रवृत्तितया प्रागवगतमध्याससमये चाधिष्ठानवृत्तितया गृहीतं

सत्यानन्दप्रबोधिका

में व्यभिचार होने के कारण सोपाधिकभ्रम में सादृश्य को कारण नहीं माना जाता है, तथापि (सोपाधिक अध्यास में सादृश्य को कारण न मानने पर भी) शुक्ति रजत एवं आत्मानात्मादि के निरुपाधिक अध्यास में अन्वय व्यतिरेक (सादृश्यसत्त्वे निरुपाधिकाध्याससत्त्वम्, तदभावे तदभावः) के आधार पर सादृश्य को अवश्य ही भ्रम का कारण माना जाता है। दूसरी बात यह है कि ''रक्तः स्फटिकः'' इस सोपाधिक भ्रम स्थल पर जपाकुसुम और स्फटिक में द्रव्यत्वादिरूप से सादृश्य विद्यमान है। अतः सोपाधिक और निरुपाधिक सभी भ्रमों के प्रति सादृश्य को कारण माना ही जा सकता है। प्रकृत में सादृश्य सम्भव न होने के कारण ''अयं घटः'' इत्यादि प्रतीतियों को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता है। सभी जगह सादृश्य पद से सादृश्यज्ञान अर्थ अभीष्ट है।। ६।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर सर्वप्रथम सादृश्य ज्ञान को भ्रम ज्ञान के प्रति कारण मानकर समाधान देते हुए कह रहे हैं कि प्रधान और अधिष्ठान में हम भी कल्पित सादृश्य ज्ञान मानते हैं। अतः प्रपञ्चभ्रम की सिद्धि हो जायेगी। इस पर प्रधान और अधिष्ठान में कल्पित सादृश्य मानकर ब्रह्म में प्रपञ्च का अध्यास मानने पर पूर्वपक्षी ने जो अन्योन्याश्रय दोष दिया था। उसका परिहार करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में अविद्यादि षड्विध अनादि पदार्थ माने गये हैं। जैसा कि कहा है—

जीवेशौ विशुद्धाचित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्यातच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।

अतः अविद्यादि के अनादि होने के कारण उनके अध्यास में किसी कारण की अपेक्षा न होने से सादृश्य की भी अपेक्षा नहीं होती है। अन्तःकरणादि सादि पदार्थों के अध्यास में प्रधान (अन्तःकरण) और अधिष्ठान (ब्रह्म) में अविद्या सम्बन्धित्वरूप सादृश्य विद्यमान ही है। अविद्या का सम्बन्धी ब्रह्म इसलिए है कि ब्रह्म अविद्या का आश्रय है और अन्तःकरणादि अविद्या के सम्बन्धी इसलिए है कि अन्तःकरणादि अविद्या का कार्य है। अतः दोनों में अविद्या सम्बन्धित्व रूप सादृश्य है। यहां तक अध्यास के प्रति सादृश्य को कारण मान कर सिद्धान्ती के द्वारा समाधान दिया गया। अब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वस्तुतः अध्यास के प्रति सादृश्य कारण ही नहीं होता है, क्योंकि ''पीतः शङ्खः'' इत्यादि निरुपाधिक भ्रम स्थल पर शङ्ख और पीतरूप में द्रव्यत्वादि कोई भी सादृश्य नहीं है। ''निरुपाधिकेऽपि'' में अपि पद से यह कहा गया है कि सोपाधिक अध्यास के प्रति सादृश्य को कारण मानने पर व्यभिचार होगा। यह पीछे कहा ही जा चुका है। अतः व्यभिचार होने के कारण निरुपाधिक भ्रम और सोपाधिकभ्रम दोनों ही स्थलों पर सादृश्य को कारण नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ''रक्तः स्फटिकः'' इत्यादि सोपाधिकभ्रम स्थल पर प्रधान और अधिष्ठान में भी द्रव्यत्वादिरूप से सादृश्य विद्यमान है। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि जो सादृश्य अध्यास के पूर्व प्रधान में रहता हुआ अवगत हो और अधिष्ठान

यत् तदेव हि सादृश्यं विपर्ययप्रयोजकमिति त्वयापि वाच्यम्, न तु प्रागेव प्रधानाधिष्ठानोभ–यवृत्तितया गृहीतम्, तस्य संशायकत्वात्। द्रव्यत्वादि च लोहितालोहितवृत्तितया प्राग्गृहीतमिति न विपर्ययप्रयोजकम्। किञ्च सादृश्यं न स्वतो भ्रमकारणम्, मानाभावात्, किन्तु संस्कारोद्बोधेन सामग्रीसम्पादकतया, संस्कारोद्बोधश्च न सादृश्यैकनियतः, अदृष्टादिनापि तत्सम्भवात्। तदुक्तम्–'सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः' इति। चिन्तादिकं च प्रणिधानसूत्रे

सत्यानन्दप्रबोधिका

में रहता हुआ अवगत न हो तथा अध्यास के समय अधिष्ठान में रहता हुआ अवगत हो, ऐसे सादृश्य को भ्रम का कारण माना जाता है। ऐसा ही तुमको (पूर्वपक्षी को) भी स्वीकार करना पड़ेगा। जो सादृश्य अध्यास से पूर्व प्रधान और अधिष्ठान दोनों में रहता हुआ अवगत हो उस सादृश्य से संशय पैदा होता है न कि भ्रम (अध्यास)। जैसे "स्थाणूर्वा पुरुषो वा" इस प्रकार के संशय स्थल पर पूरोवर्ति स्थाणु (अधिष्ठान) और पूर्वदृष्ट पुरुष (प्रधान) दोनों में आरोह अवरोहवत् (मनुष्य जैसा लम्बा–चौड़ा होता है वैसा ही लम्बा–चौड़ा) द्रव्य में रहने वाला द्रव्यत्व रूप सादृश्य उभयवृत्ति तथा संशय से पूर्व अवगत होता है। अतः यहां पर भ्रम न मानकर संशय माना जाता है। इसी प्रकार अध्यास से पहले लोहित और अलोहित उभय प्रकार के द्रव्य में रहता हुआ द्रव्यत्व गृहीत होने के कारण उसको भ्रम का हेतुभूत सादृश्य नहीं माना जा सकता है। अर्थात् भ्रम से पहले जपाकुसुम और स्फटिक दोनों में द्रव्यत्वरूप सादृश्य देखा गया है। अतः वह "रक्तः स्फटिकः" इस भ्रम का कारण नहीं हो सकता है। इस प्रकार से पूर्वपक्षी जो "रक्तः स्फटिकः" इस स्थल पर द्रव्यत्वादि रूप से सादृश्य को भ्रम का कारण मान रहा था उसका खण्डन हो गया। दूसरी बात यह है कि सादृश्य स्वतः भ्रम का कारण नहीं होता है, क्योंकि इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है। अर्थात् सादृश्य की विद्यमानता मात्र से भ्रम की उत्पत्ति नहीं होती है। सादृश्य के विद्यमान मात्र से भ्रम की उत्पत्ति मानने पर तो शुक्ति को देखकर सभी को रजत का भ्रम होना चाहिए, किसी को भी "इयं शुक्तिः" ऐसी प्रमा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि शुक्ति में रजत का सादृश्य विद्यमान रहता ही है। इसलिए सादृश्य को संस्कार उद्बोधन के द्वारा भ्रम की सामग्री का सम्पादक माना जाता है। अर्थात् सादृश्य से संस्कार का उद्बोधन हुआ और उद्बुद्ध संस्कार से भ्रम हुआ। अतः भ्रम की उत्पत्ति के प्रति सादृश्य अन्यथासिद्ध है। अतः भ्रम के प्रति उद्बुद्ध संस्कार कारण है न कि सादृश्य। सर्वत्र संस्कार का उद्बोधन सादृश्य से ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि संस्कार का उद्बोधन अदृष्टादि से भी होता है। जैसा कि कहा गया है–"सादृश्यादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।।" चिन्तादि का व्याख्यान न्यायदर्शन के प्रणिधान सूत्र में भाष्यकार ने किया है। प्रणिधानसूत्रहै–"प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसम्बन्धानन्त–र्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माधर्मनिमित्तेभ्यः (न्या.सू. ३.२.४१)"

१. प्रणिधान– मन की एकाग्रता जिस विषय में होती है तद्गतविशेष की स्मारिका होती है। अर्थात् जिस विषय में मन एकाग्र रहता है, उस विषय के संस्कार का उद्बोधन होता है। और संस्कार का उद्बोध होने पर उस विषय का स्मरण होता है।
२. निबन्ध– एक सूत्र में घटित पदार्थ एक दूसरे के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा

व्याख्यातम्। तथा चान्यतः संस्कारोद्बोधे सति साद्दश्यमनुपयोगि। तदुक्तं विवरणे—

सत्यानन्दप्रबोधिका

एक दूसरे के स्मारक होते हैं।

३. अभ्यास— पुनः पुनः आवृत्ति होने से उस आवर्तनीय विषय के संस्कार का उद्बोधन होकर उस विषय की स्मृति उत्पन्न होती है।

४. लिङ्ग— व्याप्य को लिङ्ग कहते हैं। वह संस्कारोद्बोधन के द्वारा व्यापक का स्मारक होता है।

५. लक्षण— साङ्केतिक चिह्न के द्वारा भी संस्कार का उद्बोधन होता है। जैसे कपिध्वज को देखकर कपिध्वज के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा अर्जुन का स्मरण होता है।

६. साद्दश्य— गवय गत गो साद्दश्य दर्शन से गो के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा गो का स्मरण होता है। इस प्रकार साद्दश्य से भी संस्कार का उद्बोधन होता है।

७. परिग्रह— जिससे कोई वस्तु स्वीकार की जाती है। उसको देखकर उस वस्तु के संस्कार का उद्बोधन होकर उस वस्तु की स्मृति होती है।

८. आश्रयाश्रित— पोषक और पोष्य एक दूसरे के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा एक दूसरे के स्मारक होते हैं।

९. सम्बन्ध— शिष्य और आचार्यभावादि सम्बन्ध भी संस्कार के उद्बोधन के द्वारा शिष्यादिका स्मारक होता है।

१०. आनन्तर्य—पूर्व अपर काल में अनुष्ठेय स्नान तर्पणादि एक दूसरे के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा स्मारक होते हैं।

११. वियोग— दारादि का वियोग भी उसके संस्कार के उद्बोधन के द्वारा दारादि का स्मारक होता हैं।

१२. एककार्यकारिता— एक कार्य में संलग्न अन्तेवासि आदि एक दूसरे के संस्कारोद्बोधन के द्वारा परस्पर एक दूसरे के स्मारक होते हैं।

१३. विरोध— सर्प नकुलादियों को एक दूसरे से विरोध के कारण एक–दूसरे के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा एक दूसरे के स्मारक होते हैं।

१४. अतिशय—उपनयनादि आचार्य के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा आचार्य का स्मारक होता है।

१५. प्राप्ति— दानादि की प्राप्ति दाता के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा दाता की स्मृति को उत्पन्न करती है।

१६. व्यवधान— म्यानादि रूप तलवार के व्यवधान तलवार आदि के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा तलवारादि के स्मारक होते हैं।

१७. सुख दुःख— सुख और दुःख पूर्वकृत कर्मों के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा पूर्वकृत कर्मों के स्मारक हाते हैं।

१८. इच्छाद्वेष— इच्छा और द्वेष भी जिस विषयक होते हैं उस विषयक अर्थात् मित्र और शत्रु के संस्कार के उद्बोधन के द्वारा मित्रादि के स्मारक होते हैं।

१९. भय— जिस विषयक भय होता है उस विषयक संस्कार के उद्बोधन के द्वारा उस विषय का स्मारक होता है।

२०. अर्थित्व— याचना दाता के संस्कारोद्बोधन के द्वारा दाता की स्मृति को उत्पन्न करती

'निरुपाधिकभ्रमकार्यदर्शनमेव गुणावयवसामान्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशः सर्पगन्ध इतिवत् साद्दश्यान्तरं वा, शङ्खपीतिमादाविव कारणान्तरं वा कल्पयति'इति।। ७।।

ननु—दोषं विना भ्रमस्वीकारे तदप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वापत्तिः, दोषजन्यत्वस्वीकारे तु दोषस्याप्यध्यसनीयत्वेनानवस्थापत्तिरिति—चेन्न, अनाद्यविद्याध्यासस्य दोषानपेक्षत्वात्। साद्यध्यासस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

है।

२१. क्रिया— वाहनादि की क्रिया वाहनादि की रचना के संस्कारोद्बोधन के द्वारा वाहनादि की रचना की स्मृति को उत्पन्न करती है।

२२. राग— पुत्रादिगत राग पुत्रादि के संस्कारोद्बोधन के द्वारा पुत्रादि के स्मारक होते हैं।

२३. धर्माधर्म— धर्म और अधर्म भी सुख—दुःख के संस्कारोद्बोधन के द्वारा सुखादि के स्मारक होते हैं।

यहां पर विशेष बात यह भी है कि इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है— ''निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूनाम्, न परिसंख्यानम्।'' अर्थात् स्मृति के जनक संस्कारों के उद्बोधक उक्त सूत्र में जितने कहे गये हैं उतने ही नहीं हैं अपितु अनन्त हैं। सूत्र में तो दिग्दर्शन मात्र है। इस प्रकार किसी स्थल पर साद्दश्य से भिन्न अदृष्टादि के द्वारा संस्कार का उद्बोधन हो जाने पर उस स्थल पर संस्कारोद्बोधन में विद्यमान साद्दश्य का कोई भी उपयोग नहीं रह जाता है। अर्थात् उस स्थल पर साद्दश्य संस्कार के उद्बोधन के प्रति अनुपयोगी होता हुआ भ्रम की उत्पत्ति के प्रति भी अनुपयोगी सिद्ध हो जाता है। विवरणाचार्य ने भी कहा है—अध्यास के प्रति केवल गुणवत्त्व या भूयोऽवयवसामान्यवत्त्व रूप साद्दश्य को कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''शङ्खः पीतः'' इत्यादि निरुपाधिकभ्रम में उक्त दोनों प्रकार का साद्दश्य सम्भव ही नहीं है, क्योंकि पीतरूपात्मकगुण में न गुणवत्ता ही है और न अवयववत्ता। इसलिए निरुपाधिकभ्रम के प्रति उक्त दोनों प्रकारों से भिन्न प्रकार के साद्दश्य को कारण मानना पड़ेगा। जैसे केतकी गन्ध में सर्पगन्ध का निरुपाधिक भ्रम रूप कार्य देखा जाता है। वहां पर साद्दश्य होने पर भी गुण और अवयव को लेकर साद्दश्य नहीं है अपितु गन्धत्व गुणत्वादि जाति को लेकर साद्दश्य है। अथवा ''शङ्खः पीतः'' इत्यादि निरुपाधिकभ्रम के प्रति साद्दश्य निरपेक्ष दोषादि को कारण मानना होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जो प्रतिकूल तर्क दिया था कि विश्व को यदि कल्पित मानोगे तो सत्य साद्दश्य मानना पड़ेगा, क्योंकि अध्यास के प्रति सत्य साद्दश्य कारण होता है। सिद्धान्ती के द्वारा अध्यास के प्रति साद्दश्यगत कारणता का खण्डन हो जाने से अध्यास के प्रति सत्यसाद्दश्य कारण होता है, इसका भी खण्डन हो गया।। ७।।

अब पूर्वपक्षी के द्वारा चतुर्थ प्रतिकूल तर्क दिया जा रहा है। पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि सिद्धान्ती क्या भ्रम के प्रति दोष को कारण नहीं मानते हैं? अथवा मानते हैं? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर पूर्वपक्षी दोष दे रहा है कि भ्रमगत अप्रामाण्य में परतस्त्व नहीं आयेगा, क्योंकि अप्रामाण्य में परतस्त्व का अर्थ है कि जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त दोष से उस ज्ञान में अप्रामाण्य उत्पन्न होता है। अतः यदि अप्रमाण्य को दोष से उत्पन्न न माना जाय तब तो जैसे प्रामाण्य दोष से जन्य न होने के कारण उसमें स्वतस्त्व माना जाता है वैसे ही अप्रामाण्य में भी स्वतस्त्व ही मानना पड़ेगा। द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर अर्थात् दोष को अध्यास के प्रति कारण मानने पर दोष भी

चाविद्यादोषजन्यत्वात्, नाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्, नाप्यनवस्था। अन्यथा तार्किकाणामप्य—नादिप्रमा गुणं विनापीति प्रामाण्यपरतस्त्वं भज्येत। जन्यप्रमामात्रस्य गुणजन्यत्वं तु जन्याध्यासमात्रस्य दोषजन्यत्वेन समम्।। ८।।

ननु—लाघवेन प्रथमोपस्थितत्वेन च प्रवृत्तिमात्रं प्रति ससर्गधिय इव धूममात्रं प्रति वह्नेरिव चाध्यासमात्रं प्रति दोषादीनां जनकत्वादविद्याध्यासोऽपि कथं क्लृप्तकारणेन विना

सत्यानन्दप्रबोधिका

एक अध्यस्त पदार्थ होने के कारण शुक्तिरजतादि अध्यास से पूर्व में दोष का अध्यास होना चाहिए। दोष के अध्यास के पूर्व में दोषान्तर का अध्यास मानना पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य दोष के अध्यासार्थ तत्पूर्व अन्य दोष की आवश्यकता होने से अनवस्थादि दोष होगा। यदि अनवस्थादि दोष के भय से दोष को सत्य मानते हैं तब विश्व कल्पित सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि विश्व के अंतर्गत दोष भी है। उसे स्वयं ही सत्य रूप से स्वीकार किया है। इस प्रकार से चतुर्थ तर्क का आकार होगा—''विश्वं यदि कल्पितं स्यात्, तदा सत्यदोषोपेतं स्यात्।'' इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अनादि अविद्याध्यास को दोषरूप कारण की अपेक्षा होती नहीं है, क्योंकि अनादि का कोई कारण होता ही नहीं है। सादि अध्यास अविद्यारूप दोष से जन्य होने के कारण भ्रमगत अप्रामाण्य में स्वतस्त्व की भी आपत्ति नहीं होगी। अविद्यारूप दोष अनादि होने के कारण उसके अध्यास में दोषान्तर की अपेक्षा न होने से अनवस्थादि दोष की भी आपत्ति नहीं होगी। यदि अनादिभूत अविद्याध्यास के दोष जन्य न होने मात्र से भ्रमगत अप्रमाण्य में स्वतस्त्वापत्ति मानेंगे तब तो परतत्त्व में आग्रह रखने वाले नैयायिक के मत में भी अनादि ईश्वरीय प्रमा गुणजन्य न होने से प्रामाण्यगत परतस्त्व भी भङ्ग हो जायेगा। अत: जैसे नैयायिक मत में जन्य प्रमा में गुण जन्यत्व होने से प्रामाण्य में परतस्व स्वीकार किया जाता है, उसी प्रकार सिद्धान्त मत में भी जन्य अध्यास में दोष जन्यत्व होने से अप्रामाण्य में परतस्त्व स्वीकार किया जाता है।। ८।।

सिद्धान्ती के द्वारा यह जो सिद्ध किया गया कि अनादिभूत अविद्या का अध्यास दोष से जन्य नहीं होता है, इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए प्रथम द्दष्टान्त दे रहा है कि प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। प्रमा के अनन्तर अबाधित प्रवृत्ति और भ्रम के अनन्तर बाधित प्रवृत्ति। यहां पर प्रश्न होता है कि संसर्गज्ञान को दोनों प्रकार की प्रवृत्ति के प्रति कारण माना जाय अथवा किसी एक विशेष प्रवृत्ति के प्रति इस प्रश्न के उत्तर में प्रभाकर का कहना है कि सामान्य रूप से सभी प्रवृत्ति के प्रति संसर्गज्ञान कारण नहीं होता है, किन्तु प्रमानन्तर विशेष प्रवृत्ति के प्रति कारण होता है। इस पर प्रभाकार से भिन्न भ्रमज्ञान मानने वाले नैयायिकादि का कहना है कि प्रमानन्तर विशेष प्रवृत्ति की अपेक्षा से केवल प्रवृत्ति लघु है और सामान्य रूप से प्रवृत्ति सिद्ध होने के पश्चात् ही विशेष प्रवृत्ति की सिद्धि हो सकती है। अत: विशेष प्रवृत्ति की अपेक्षा से केवल प्रवृत्ति प्रथम उपस्थित है। इस प्रकार से केवल प्रवृत्ति लघु और प्रथम उपस्थित होने के कारण केवल प्रवृत्ति के प्रति संसर्गज्ञान को कारण मानना चाहिए न कि विशेष प्रवृत्ति के प्रति, क्योंकि विशेष प्रवृत्ति गुरु और पश्चाद् उपस्थित है। द्वितीय द्दष्टान्त— वह्नि को सकल धूम के प्रति कारण माना जाय या महानसीय विशेष धूम के प्रति कारण माना जाय। इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो उचित यह है कि धूम मात्र के प्रति वह्नि को कारण माना जाय न कि महानसीयादि

भवतु? अन्यथा संसर्गधीरपि प्रवृत्तिविशेषे वह्निरपि धूमविशेषे हेतुरिति स्यात्, तथा चाख्यातिवादश्चानुमानमात्रोच्छेदश्चापद्येयाताम्। किञ्च अविद्यारूपविषयस्यानादित्वेऽपि तत्प्रतीतेर्दोषाजन्यत्वे प्रामाण्यापातः, अप्रामाण्यप्रयोजकस्य दोषजन्यत्वस्याभावात्। अथ भेदवदविद्याख्यदोषस्य स्वपरनिर्वाहकत्वम्, एवमपि भेदो भिन्न इतिवद् 'अज्ञानमज्ञातम्'इति व्यवहारो भवतु,

सत्यानन्दप्रबोधिका

विशेष धूम के प्रति, क्योंकि महानसीय विशेषधूम की अपेक्षा से केवल धूम लघु है और प्रथम उपस्थित है, क्योंकि पहले सामान्य रूप से धूम की सिद्धि के पश्चाद् ही महानसीय विशेष धूम की उपस्थिति होती है। वैसे ही प्रकृत में यह विचार करना है कि दोष को सभी अध्यास के प्रति कारण माना जाय अथवा सिद्धान्ती के द्वारा उक्त रीति से विशेष अध्यास (सादि अध्यास) के प्रति कारण माना जाय। पूर्वोक्त दोनों दृष्टान्तों के अनुसार दार्ष्टान्त में भी सभी अध्यासों के प्रति दोष को कारण मानना उचित होगा, क्योंकि विशेष अध्यास की अपेक्षा से केवल अध्यास लघु भी है और प्रथम उपस्थित भी है, क्योंकि सामान्य रूप से अध्यास की सिद्धि होने पर ही विशेष अध्यास की सिद्धि होती है। अतः सभी अध्यास के प्रति जो क्लृप्त कारण दोष है उस दोष के बिना अनादि अविद्या का अध्यास नहीं हो सकता है। अविद्याध्यास के प्रति दोष को कारण मानने पर अनवस्थादि पूर्वोक्त दोष अवश्य आयेंगे। सभी अध्यास के प्रति दोष को कारण न मानकर विशेष अध्यास (सादि अध्यास) के प्रति कारण मानने पर प्रवृत्ति विशेष के प्रति संसर्ग ज्ञान और धूम विशेष के प्रति वह्नि को कारण मानना पड़ेगा। अबाधित प्रवृत्ति विशेष के प्रति ही संसर्गज्ञान को हेतु मानने पर अर्थात् बाधित प्रवृत्ति के प्रति संसर्गज्ञान को हेतु न मानने पर अख्यातिवाद का प्रसङ्ग आ जायेगा। अर्थात् भ्रमज्ञान सिद्ध ही नहीं हो पायेगा जो कि सिद्धान्ती को भी इष्ट नहीं है। इसी प्रकार केवल महानसीय धूम के प्रति वह्नि को कारण मानने पर पर्वतीय धूम के प्रति वह्नि कारण नहीं हो पायेगी और तब पर्वतीय धूम को देखकर वह्नि की अनुमिति भी नहीं हो पायेगी। दूसरी बात यह है कि अविद्या प्रतीति का विषय जो अविद्या है उसके अनादि होने पर भी यदि अविद्या प्रतीति के प्रति दोष को कारण न माना जाय तब तो अविद्या विषयक प्रतीति दोष से जन्य न होने के कारण उसमें प्रमात्व मानना पड़ेगा, क्योंकि अप्रमात्व का प्रयोजक दोषजन्यत्व है, वह अविद्या प्रतीति में नहीं है। जबकि सिद्धान्ती अविद्या प्रतीति में प्रमात्व न मानकर अप्रमात्व मानते हैं, क्योंकि पीछे कहा है कि अविद्या प्रतीति अविद्याध्यास स्वरूप है। यदि कहो कि जैसे भेद में भेद मानने पर यदि दोनों भेद एक ही हैं तो आत्माश्रय दोष और भिन्न होने पर अनवस्था। इसलिए भेद में भेद नहीं माना जाता है, किन्तु भेद अपने में न रहता हुआ अपने से इतर घट में रहता हुआ जैसे घट को घटेतर पदार्थों से व्यावृत कर देता है, ऐसे ही अपने (भेद) को भी अपने से इतर पदार्थों से व्यावृत्त कर लेता है, ऐसे ही प्रकृत में अविद्या रूप दोष अपनी प्रतीति के प्रति कारण न होने पर भी अन्य जो सादि पदार्थ हैं, उनकी प्रतीति के प्रति कारण होता हुआ सादि प्रतीतियों में अविद्यारूप दोषजन्यत्वेन अध्यासत्व को सिद्ध करता हुआ अपनी प्रतीति में दोष जन्यत्व न होने पर भी अध्यासत्व की सिद्धि कर देगा। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यद्यपि ऐसा मानने पर सिद्धान्ती को यह लाभ होगा कि जैसे भेद जिसमें है वह इतर से भिन्न है— ऐसा व्यवहार होता है वैसे ही भेद में भेद न रहने पर भी भेद इतर से भिन्न है, ऐसा व्यवहार हो जाता है, क्योंकि भेद स्वपर

प्रतीतिमात्रशरीरस्य स्वविषयधीहेतुत्वं कुतः? स्वस्य स्वस्मात् पूर्ववृत्तित्वासम्भवादिति चेत्॥ ९॥

न,अध्यासत्वस्य लघुत्वेऽपि प्रथमोपस्थितत्वेऽपि न दोषजन्यतायां तन्त्रत्वम्, दोषस्यापि दृश्यत्वेनाध्यसनीयतयाऽनवस्थापत्तेः। यथा नित्यज्ञानवादिनां ज्ञानत्वस्य न शरीरजन्यतादाववच्छेदकत्वम्, न वा गुणजन्यत्वस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वम्, बाधकबलात्, तद्वत् जन्याध्यासं प्रत्येव दोषादीनां कारणत्वम्, गुणाजन्यत्वेऽप्यबाधितविषयतया नित्यज्ञानप्रामाण्यवत्

सत्यानन्दप्रबोधिका

निर्वाहक होता है। अर्थात् अपने में भेदव्यवहार और अपने से इतर में भी भेद व्यवहार का निर्वाहक होता है। ऐसे ही ''अज्ञात'' इस प्रकार से व्यवहार उसी पदार्थ का होना चाहिए जिसका अज्ञान हो किन्तु अज्ञान का अज्ञान होता नहीं किन्तु अज्ञान अज्ञात है। ऐसा व्यवहार हो जायेगा, क्योंकि अज्ञान स्व पर का निर्वाहक है। अर्थात् अपने में अज्ञात व्यवहार और अपने से इतर में भी अज्ञात व्यवहार का निर्वाहक होता है। तथापि सिद्धान्ती को यह हानि होगी कि स्वपर निर्वाहक का अर्थ यह भी होगा अविद्या सादि अध्यास के प्रति और अपने अध्यास के प्रति हेतु है। ऐसा होने पर स्वविषयक धी अर्थात् अविद्या विषयिका धी (अविद्या की प्रतीति) उसके प्रति हेतु अविद्या को मानना होगा। अर्थात् स्वप्रतीति के प्रति स्व को हेतु मान लिया जो कि सम्भव नहीं है, क्योंकि अविद्या एक मिथ्या पदार्थ होने के कारण उसका प्रतीति मात्र शरीर है। अतः अपने प्रतीति से पूर्व नहीं रह सकता है। जबकि कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहना चाहिए॥ ९॥

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि अध्यासत्व धर्म लघु भी है और प्रथम उपस्थित भी है तथापि अध्यासत्व को दोषजन्यत्व का प्रयोजक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि ''यत्र यत्र अध्यासत्त्वं तत्र तत्र दोषजन्यत्वम्'' ऐसी व्याप्ति मानने पर दोष भी एक दृश्य पदार्थ है। अतः वह भी अध्यस्त होगा। इसलिए दोषाध्यास के प्रति अन्य दोष को कारण मानने पर अनवस्थादि दोष होगा जो कि स्वयं ही पूर्वपक्षी ने कहा था। इस प्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित व्याप्य व्यापक भाव में बाधक अनवस्था दोष है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त व्याप्ति अप्रमाणिक है। आगे सिद्धान्ती यह दिखलाने जा रहे हैं कि अनादि अविद्या का अध्यास दोष के जन्य नहीं होता है और उसमें अप्रामाण्य भी होता है। इसको सुगमता पूर्वक समझाने के लिए दृष्टान्त दे रहे हैं। जैसे नित्य ज्ञान मानने वाले वैशेषिक नैयायिक के मत में ज्ञानत्व को शरीर जन्यता का अवच्छेदक नहीं माना जाता है। अर्थात् सभी ज्ञानों को शरीर से जन्य नहीं माना जाता है, क्योंकि ईश्वरीय नित्य ज्ञान शरीर से जन्य नहीं होता है। इसी प्रकार सभी प्रमात्व का प्रयोजक गुणजन्यत्व को नहीं माना जाता है, क्योंकि ईश्वरीय नित्य ज्ञान में गुणजन्यत्व न होने पर भी उसमें प्रमात्व माना जाता है। इस प्रकार ईश्वरीय नित्य प्रमाज्ञान के साधक प्रमाण के द्वारा बाधित होने से शरीर जन्यता का अवच्छेदक ज्ञानत्व को नहीं माना जाता है और गुणजन्यत्व को प्रमात्व का व्यापक नहीं माना जाता है। बाधक के रहने से जैसे सभी ज्ञान में शरीर जन्यत्व और सभी प्रामाण्य में गुणजन्यत्व नहीं माना जाता है, अपितु जन्यज्ञान में शरीर जन्यत्व और जन्यज्ञानगत प्रामाण्य में गुणजन्यत्व माना जाता है। इसी प्रकार अनवस्था दोष रूप बाधक के विद्यमान होने के कारण अनादि अविद्या का अध्यास दोष से जन्य नहीं माना जाता है अपितु सादि अध्यास ही दोष से जन्य माना जाता है। प्रश्न होता है कि यदि अनादि अविद्या का अध्यास दोष से जन्य नहीं है तब उसमें अप्रामाण्य की उपपत्ति

दोषाजन्यत्वेऽपि बाधितविषयतयाऽनाद्यध्यासस्याप्यप्रामाण्योपपत्तिः। बाधितविषयत्वेऽपि न दोषजन्यत्वमवच्छेदकम्, दोषजन्यत्वेऽप्यवच्छेदकान्तरान्वेषणेऽनवस्थापातात्। बाधितविषयत्वस्य दोषाजन्यवृत्तित्वेऽपि दोषजन्यत्वस्य तद्व्याप्यत्वोपपत्तेः। अत एव शबरस्वामिना 'यस्य दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनो नान्यः' इति वदता दुष्टकरणजन्यत्व–मन्तरेणापि अर्थान्यथात्वमप्रामाण्यप्रयोजकमुक्तम्,अविद्याध्यासरूपस्य च साक्षिचैतन्य–

सत्यानन्दप्रबोधिका

कैसे होगी? इसका समाधान देते हुए कह रहे हैं कि जैसे परतस्त्व प्रामाण्य वादी लोग जिस ज्ञान में गुणजन्यत्व है उसी ज्ञान में प्रमाण्य मानते हैं, किन्तु ऐसा मानने से ईश्वरीय ज्ञान में प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान मे गुणजन्यत्व नहीं है। ईश्वरीय ज्ञान में प्रामाण्य सिद्धि के लिए कहते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान में गुणजन्यत्व न होने पर भी अबाधितविषयकत्व है। अतः ईश्वरीय ज्ञान में प्रामाण्य है। इसी प्रकार प्रकृत में भी अनादि अविद्या का अध्यास दोष से जन्य न होने के कारण उसमें अप्रामाण्य न आने पर भी अविद्याध्यास में बाधितविषयकत्व होने के कारण अप्रामाण्य आता है। अर्थात् अविद्याध्यास में दोषजन्यत्वेन अप्रामाण्य नहीं आता है किन्तु बाधितविषयकत्वेन अप्रामाण्य आता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि ''यत्र यत्र बाधितविषयत्वं तत्र तत्र दोषजन्यत्वम्।'' अर्थात् दोषजन्य ज्ञान ही बाधित विषयक होता है। अतः बाधितविषयक ज्ञान का अवच्छेदक दोष जन्यत्व ही होगा। यहां पर व्यतिरेक व्याप्ति का आकार होगा—यत्र यत्र दोषाजन्यत्वं तत्र तत्र अबाधितविषयत्वम्।'' अतः अविद्याध्यास में दोषाजन्यत्व रहने के कारण उसमें अबाधितविषयत्व (प्रमात्व) भी होना चाहिए। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बाधितविषयत्व में दोषजन्यत्व अवच्छेदक नहीं है। अर्थात् पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित उक्त व्याप्ति (यत्र यत्र बाधितविषयत्वं तत्र तत्र दोषजन्यत्वम्) ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त व्याप्ति मानने पर दोषाध्यास में बाधित विषयत्वरूपव्याप्य के रहने के कारण दोषजन्यत्वरूप व्यापक को भी मानना पड़ेगा। अतः दोषाध्यास भी दोषान्तर से जन्य मानना पड़ेगा। इसी को मूल ग्रन्थ में कहा गया कि दोषजन्यत्व में भी अवच्छेदक कोई दोषान्तरजन्यत्व मानना पड़ेगा। ऐसा मानने पर अनवस्था होगी। यद्यपि दोषाजन्य अनादि अविद्या के अध्यास में बाधितविषयकत्व के रहने के कारण दोषजन्यत्व बाधितविषयत्व का व्यापक न बन सका, अर्थात् "यत्र यत्र बाधितविषयत्वं तत्र तत्र दोषजन्यत्वम्" पूर्वपक्षी की इस व्याप्ति को मानना सम्भव न हो सका, तथापि दोषजन्यत्व में बाधित विषयत्व की व्याप्यता मानने में कोई भी दोष नहीं है। अर्थात् "यत्र यत्र दोषजन्यत्वं तत्र तत्र बाधितविषयत्वम्'' ऐसी व्याप्ति को हम मानते हैं। इसमें कोई दोष नही है। अप्रमात्व का प्रयोजक (व्याप्य) दोषजन्यत्व ही है ऐसी बात नहीं किन्तु बाधित विषयत्व भी है। अतः अनादि अविद्याध्यास में दोषजन्यत्व के न रहने पर भी बाधित विषयत्व के रहने के कारण अप्रमात्व की सिद्धि भी हो जायेगी। इसमें शवर स्वामी के वचन को उद्धृत कर रहे हैं— ''यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनो नान्यः।" यह वाक्य ''औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्'' (जै. सू. १–१–५) में आया हुआ है। उक्त वाक्य का अर्थ है— जिस ज्ञान का करण दुष्ट हो और जिस ज्ञान में मिथ्यात्व है ऐसा प्रत्यय हो वही असमीचीन प्रत्यय है अन्य नहीं। अर्थात् जो ज्ञान दोष से जन्य है और जिस ज्ञान का विषय बाधित है वे दोनों ही अप्रमा ज्ञान है। जो दोष से जन्य नहीं है और जो बाधित विषयक ज्ञान नहीं है वह प्रमा ज्ञान है। इस

स्याविद्याजन्यत्वानभ्युपगमाद् न प्रतीतिमात्रशरीरत्वव्याघातः 'अहमज्ञः' इत्याद्यभिलाप–कारणीभूतवृत्तिरूपाध्यासं प्रति त्वविद्यायाः कारणत्वमस्त्येव, घटादीनामिव स्वप्रत्यक्षं प्रति। वह्निविशिष्टधियोस्तु बाधकाभावात् सामान्येनैव धूमप्रवृत्ती प्रति हेतुतेति न पूर्वोक्तदोषापातः ॥ १०॥

ननु–अविद्याध्यासस्यानादित्वेन दोषाद्यनपेक्षावदधिष्ठानानपेक्षापि स्यादिति–चेन्न,

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकार से कहने वाले शवर स्वामी ने दुष्टकरणजन्यत्व के बिना भी अर्थान्यथात्व (बाधितविषयकत्व) को भी अप्रामाण्य का प्रयोजक (व्याप्य) माना है। अर्थात् जहां दोषजन्यत्व है वहां भी अप्रामाण्य आयेगा और जहां दोषजन्यत्व न होने पर भी केवल बाधित विषयत्व है जैसे अविद्याध्यास में, वहां भी अप्रामाण्य आयेगा। शुद्ध चैतन्य में अविद्या का अध्यास होने से उसी चैतन्य को साक्षिचैतन्य कहते हैं और वह अविद्या का अध्यास अनादि होने से अविद्याध्यासरूपसाक्षिचैतन्य भी अनादि है। इसलिए अनादि होने के कारण अविद्याध्यास अविद्यादि किसी से भी जन्य नहीं है। अतः पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि जिसका अपने ज्ञान काल में ही अवस्थान है वह अपने ज्ञान से पूर्व में कैसे रहेगा। इस शङ्का का समाधान यह हुआ कि अविद्या को स्वविषय धी अर्थात् अविद्याध्यास के प्रति हेतु माना नही जाता है। अतः अविद्याध्यास के पूर्व में अविद्या के रहने का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता है और अविद्याध्यास के प्रतीतिमात्र शरीर होने में कोई व्याघात भी नहीं है। अर्थात् जब तक साक्षिचैतन्यरूप अविद्या का अध्यास रहता है तब तक अविद्या भी रहती है और अविद्याध्यास के नष्ट होने पर अविद्या भी नष्ट हो जाती है, किन्तु सादि अध्यास के प्रति अविद्या कारण है। जैसे "अहमज्ञः" इस प्रकार से जो कथन है उस कथन का करणीभूत अध्यास जो कि "अहमज्ञः" इस प्रकार से सादि वृत्तिरूप है, उस सादि अध्यास के प्रति अविद्या कारण है। जैसे घट के प्रत्यक्ष के प्रति घट कारण होता है। अर्थात् अविद्याध्यास रूप साक्षिचैतन्य (साक्षिप्रत्यक्ष) निर्विकल्पक और अनादि है। अतः अविद्या रूप विषय से जनित नहीं है किन्तु "अहमज्ञः" इस प्रकार वृत्तिरूप प्रत्यक्ष सादि और सविकल्पक माना जाता है। इस सविकल्पक वृत्ति की कारणता अविद्या में मानी ही जाती है, क्योंकि अविद्या उस वृत्ति का उपादान कारण भी है और विषय भी। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि जैसे संसर्ग ज्ञान में प्रवृत्तिमात्र की और वह्नि में धूममात्र की कारणता निश्चित है वैसे ही अध्यास मात्र में दोष को कारण मानना चाहिए। पूर्वपक्षी का ऐसा कथन उचित नहीं हैं, क्योंकि उक्त दोनों दृष्टान्त स्थलों पर वैसा मानने में कोई बाधक नहीं है। अतः पूर्वोक्त प्रकार से कार्यकारणभाव माना जाता है, किन्तु दार्ष्टान्तस्थल पर अनवस्थादि दोषरूपबाधक के विद्यमान रहने से अध्यास मात्र के प्रति दोष को कारण नहीं माना जा सकता है। अतः पूर्वोक्त दोष नहीं होगा। अर्थात् अख्यातिवाद और अनुमानमात्र के उच्छेद का प्रसङ्ग नहीं आयेगा। इस प्रकार से "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् सत्यदोषोपेतं स्यात्" इस चतुर्थ प्रतिकूल तर्क का भी खण्डन हो गया, क्योंकि दोष के मिथ्या होने पर भी अध्यास की उपपत्ति हो जाती है।। १०।।

चतुर्थ प्रतिकूल तर्क से सम्बन्धित अन्य शङ्काओं के समाधान के लिए आगे का प्रसङ्ग प्रारम्भ हो रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि अविद्याध्यास जब अनादि है तब जन्य न होने के कारण उसको किसी जनक की अपेक्षा नहीं है। अतः अविद्याध्यास को जनक के रूप से जैसे दोष की अपेक्षा नहीं है वैसे ही जनक के रूप से अधिष्ठान की भी

जनकत्वेनाधिष्ठानानपेक्षायामप्याश्रयत्वेन तदपेक्षानियमात्। परममहत्त्वादेराश्रयापेक्षावदध्यासस्य साधिष्ठानकत्वनियमेनात्रापि परतन्त्रत्वस्य समत्वात्, भास्यस्याविद्याध्यासस्य भासकतयाप्य–धिष्ठानापेक्षणाच्च। अविद्यावच्छिन्नचैतन्यस्याविद्यादिसकलद्वैतद्रष्टृत्वात् तस्यैव चान्तःकरणावच्छेदेन प्रमातृत्वात्, भ्रमप्रमयोः सामानाधिकरण्योपपत्तेर्भ्रमस्य समानाधिकरणप्रमानिवर्त्यत्वमुपपद्यते।। ११ ।।

ननु देहेन्द्रियादिकं विना कथमन्तःकरणाध्यासः? काऽत्रानुपपत्ति? अधिष्ठानापरोक्षत्वं हि अपरोक्षभ्रमे कारणम्, तद् यत्राधिष्ठानं स्वतो नापरोक्षम्, यथा शुक्त्याद्यवच्छिन्नचैतन्यम्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। इस पर इष्टापत्ति भी सिद्धान्ती नहीं कह सकते, क्योंकि अविद्याध्यास का अधिष्ठान ब्रह्म को न मानने पर शून्यवाद की आपत्ति होगी। इस शङ्का का समाधान करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अनादि होने के कारण अविद्याध्यास को जनकत्वेन अधिष्ठान की अपेक्षा न होने पर भी आश्रयत्वेन अधिष्ठान की अपेक्षा अवश्य होती है। जैसे वैशेषिक मत में परममहत्–आकाशादि का परिमाण और परमाणु का परिमाण ये दोनों नित्य होने के कारण इनको जनक की अपेक्षा न होने पर भी आकाश तथा परमाणु रूप आश्रय की अपेक्षा रहने से ये दोनों परतन्त्र है। अर्थात् स्वतन्त्र रूप से रह नहीं सकते हैं, किन्तु आश्रय के अधीन ही रहते हैं। वैसे ही अविद्याध्यास अनादि होने के कारण उसको जनक के रूप से अधिष्ठान की अपेक्षा न होने पर भी आश्रयरूप से अधिष्ठान की अपेक्षा का नियम होने से परममहत्वादि के समान ही अविद्याध्यास में भी परतन्त्रता है। दूसरी बात यह भी है कि भास्य को भासक की अपेक्षा होती है, क्योंकि भासक के द्वारा भास्य का भास (प्रकाश) न होने से भास्य की सिद्धि नहीं हो पायेगी। प्रकृत में अविद्याध्यास स्वयं प्रकाश तो है नहीं, अतः भास्य ही है। अतः भासक के रूप से उसको अधिष्ठान की अपेक्षा होगी। यहां पर पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती अविद्याध्यास का आश्रय अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (साक्षी) को मानते हैं और अध्यास निवर्तक प्रमा (ब्रह्मज्ञान) का आश्रय जीव है। अतः जीव को होने वाली प्रमा से साक्षी में रहने वाले अविद्याध्यास की निवृत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि बन्ध और मोक्ष में सामानाधिकरण्य होता है। इसके समाधान के रूप में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (साक्षिचैतन्य) जो कि अविद्यादि सकलद्वैत का द्रष्टा है। वहीं चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर प्रमाता जीव कहलता है। अतः भ्रम का आश्रय और प्रमा का आश्रय एक ही है। इसलिए भ्रम के समानाधिकरण जो प्रमा है, उस प्रमा से भ्रम के निवर्त्यत्व की उपपत्ति हो जायेगी।। ११ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे रजताध्यास उसी को होता है जिसको इदमर्थ (शुक्ति) का अपरोक्ष होता है। अपरोक्षबोध देह इन्द्रियादि से ही होता है। प्रकृत में सर्वानर्थ प्रपञ्च का मूलभूत अन्तःकरणाध्यास अर्थात् अहङ्काराध्यास सर्वप्रथम होता है, किन्तु उस समय देह–इन्द्रियादि होते नहीं हैं। इसलिए देह–इन्द्रियादि के विना अन्तःकरणाध्यास हो नहीं सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कहते हैं कि इसमें अनुपपत्ति क्या है? अर्थात् कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। (यहां पर ''का'' पद प्रश्नार्थ नहीं है किन्तु आक्षेपार्थ है।) क्योंकि अपरोक्ष भ्रम में अधिष्ठान का अपरोक्ष ही कारण होता है और अन्तःकरणाध्यास एक अपरोक्षभ्रम ही है। इसलिए इसके लिए भी अधिष्ठान का अपरोक्ष होना आवश्यक है। किन्तु जहां अधिष्ठान स्वतः अपरोक्ष नहीं है। जैसे शुक्त्यादि से अवच्छिन्नचैतन्य, ऐसे स्थल पर अधिष्ठान

तत्र तदपरोक्षतार्थं देहेन्द्रियाद्यपेक्षा, प्रकृते चाविद्यावच्छिन्नं चैतन्यमधिष्ठानम्, तत्र चैतन्यस्य स्वप्रकाशत्वेनाविद्यायाश्च तदध्यस्तत्वेन तेनैव साक्षिणा अपरोक्षत्वात् कुत्र देहेन्द्रियाद्यपेक्षा? अथैवं प्रलये देहेन्द्रियाद्यभावेऽप्यज्ञानसद्भावेनान्तःकरणाध्यासप्रसङ्गः, न, तदा देहेन्द्रियादिसर्जन—विलम्बहेतुनैव तद्विलम्बसम्भवात्, अन्यथा तदा देहेन्द्रियादिकमपि कुतो नोत्पद्येत? न च—दोषादीनामध्यस्तत्वेन तदभावस्य तात्त्विकत्वादतात्त्विकेन तात्त्विककार्यप्रतिबन्धस्या—युक्तत्वात्। बौद्धेन दुष्टतया कल्पितस्य वेदजन्यज्ञानस्येव कल्पितदोषजन्यस्य द्वैतविज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

की अपरोक्षता के लिए देह इन्द्रियादि की अपेक्षा होती है। प्रकृत में अहङ्काराध्यास का अधिष्ठान अविद्यावच्छिन्नचैतन्य (साक्षिचैतन्य)है। वह चैतन्य स्वयंप्रकश होने के कारण स्वतः ही अपरोक्ष है। उसी स्वतः अपरोक्ष चैतन्य में ही अविद्या अध्यस्त है। इसलिए उसी साक्षिचैतन्य के द्वारा अविद्या का अपरोक्ष हो जाता है। इसलिए अविद्यावच्छिन्न चैतन्य रूप अधिष्ठान के अपरोक्ष के लिए देह—इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होती है। यहां पर विशेष बात यह है कि माया और अन्तःकरण दोनों स्वच्छ होने के कारण स्वतः चैतन्य को अभिव्यक्त करने में समर्थ हैं। अतः इन दोनों से अवच्छिन्न चैतन्य स्वयम्प्रकाश है। शुक्त्यादि जड़ होने के कारण प्रत्यक्ष वृत्ति के बिना चैतन्य को अपरोक्ष रूप से अभिव्यक्त नहीं कर सकते हैं। अतः शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य परप्रकाश्य है, और प्रत्यक्ष वृत्ति को उत्पन्न करने के लिए देह—इन्द्रियादि की आवश्यकता होती है। पूर्वपक्षी पुनः शङ्का कर रहा है कि यदि देह—इन्द्रियादि के बिना केवल अज्ञान के रहने मात्र से अन्तःकरण का अध्यास हो सकता है। तब तो प्रलय काल में भी देहादि नहीं रहते हैं, किन्तु अज्ञान रहता है। अतः अज्ञानावच्छिन्नचैतन्य रूप अधिष्ठान के रहने से अहङ्काराध्यास होना चाहिए। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रलय काल में देहेन्द्रियादि के सर्जन में जो विलम्ब होता है उसका कारण है ईक्षण का अभाव। अर्थात् ईक्षण के अभाव के कारण आकाशादि की सृष्टि में विलम्ब होता है और आकाशादि की सृष्टि के विलम्ब के कारण अन्तःकरणादि के सृष्टि में विलम्ब होता है। अन्तःकरण की सृष्टि न होने के कारण ही अन्तःकरणाध्यास में विलम्ब होता है। यदि अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतरूप कारण के बिना ही अन्तःकरण की उत्पत्ति प्रलयकाल में माना जाय तब तो प्रलय में देह—इन्द्रियादि की उत्पत्ति के मानने की भी आपत्ति होगी। पीछे सिद्धान्ती ने कहा था कि सादिप्रपञ्च का ज्ञान दोष से जन्य होने के कारण मिथ्या है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि द्वैतज्ञान किसी वास्तविक दोष से यदि जन्य होता तब तो उस द्वैतज्ञान में अप्रामाण्य आ जाता, किन्तु दोष ही जब कल्पित है तब दोष का अभाव तात्त्विक होगा, क्योंकि सिद्धान्त मत में कल्पितप्रपञ्च के अभाव को तात्त्विक स्वरूप माना जाता है। दोष का कार्य अध्यास है और दोषाभाव का कार्य है सादि प्रमा। प्रकृत में द्वैतज्ञान वास्तविक दोष से जन्य नहीं है। अर्थात् द्वैतज्ञान के समय वास्तविक दोष का अभाव है। अतः द्वैतज्ञान में प्रामाण्य आ जायेगा। यदि कहा जाय कि द्वैतज्ञान गत प्रामाण्य में कल्पित दोष जब प्रतिबन्धक रूप से विद्यमान है तब द्वैतज्ञानगत प्रामाण्य की उत्पत्ति कैसे होगी? इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि तात्त्विक कार्य (द्वैतज्ञानगत प्रामाण्य) की उत्पत्ति में दोष को प्रतिबन्धक तभी माना जा सकता था यदि दोष तात्त्विक होता किन्तु दोष जब अतात्त्विक है तब उसके द्वारा तात्त्विक कार्य की उत्पत्ति में कोई भी बाधा नहीं आयेगी। इसमें पूर्वपक्षी दृष्टान्त दे रहा है कि जैसे बौद्धकल्पित अनृतत्त्वादि दोष से जन्य

प्रामाण्यापात इति वाच्यम्, बौद्धकल्पितस्य प्रातिभासिकदोषस्य व्यावहारिकवेदापेक्षया न्यून–सत्ताकत्वेन तदप्रामाण्याप्रयोजकत्वेऽप्यविद्याख्यदोषद्वैतप्रपञ्चयोः समसत्ताकत्वेन कार्यकारण–भावनियमेन च कारणीभूताविद्याख्यदोषाभावे कार्यभूतद्वैतप्रपञ्चतद्विज्ञानयोरभावनियमेन नाविद्यामिथ्यात्वेन द्वैतज्ञानसत्यतापातः, कारणमिथ्यात्वे कार्यमिथ्यात्वस्यावश्यकत्वात्, ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्वरूपव्यावहारिकत्वस्य बाध्याबाध्यसाधारणस्य मिथ्यात्वसिद्ध्यनपेक्षत्वाद् न

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो वेद ज्ञान है, उस ज्ञान स्थल में बौद्धकल्पित दोष प्रातिभासिक है और उन दोषों का अभाव तात्त्विक है। अतः तात्त्विक दोषाभावप्रयुक्त वेद ज्ञान में प्रामाण्य ही सिद्धान्त मत में माना जाता है, प्रातिभासिक दोष प्रयुक्त अप्रामाण्य नहीं। ऐसे ही कल्पितदोषजन्य द्वैतज्ञान में भी अप्रामाण्य न मान कर प्रामाण्य ही माना जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त स्थल पर बौद्धकल्पित प्रातिभासिकदोष व्यावहारिक सत्तावाले वेद की अपेक्षा से न्यूनसत्तावाला होने के कारण वह प्रातिभासिक दोष वेदजन्य ज्ञान में अप्रामाण्य का कारण नहीं होता है, किन्तु प्रकृत में कारण अविद्या दोष और कार्य प्रपञ्च दोनों समान रूप से व्यावहारिक सत्तावाले होने के कारण अविद्या दोष द्वैतज्ञानगत अप्रामाण्य का ही प्रयोजक होता है। इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि ब्रह्मज्ञान (अखण्डाकार चित्तवृत्ति) भी अविद्या से जन्य है तथा अविद्या और ब्रह्मज्ञान दोनों समसत्ताक हैं, फिर भी वह अविद्या ब्रह्मज्ञाननिष्ठ अप्रामाण्य की प्रयोजिका नहीं है, क्योंकि अविद्या मिथ्या है। इसी प्रकार द्वैतज्ञान भले ही अविद्या से जन्य हो तथा द्वैतज्ञान और अविद्या दोनों समसत्ताक भी हो, तो भी अविद्या मिथ्या होने के कारण द्वैतज्ञाननिष्ठ अप्रामाण्य की प्रयोजिका नहीं हो सकती है। इस प्रश्न के समाधान में कह रहे हैं कि नियम यह है कि जिस ज्ञान के विषय के प्रति अविद्या उपादान कारण है, वह अविद्या उसी विषय के ज्ञान में रहने वाले अप्रामाण्य की प्रयोजिका मानी जायेगी। ब्रह्मज्ञान का विषय जो ब्रह्म उसके प्रति अविद्या उपादान कारण नहीं है। अतः अविद्या ब्रह्मज्ञानगत अप्रामाण्य की प्रयोजिका नहीं मानी जायेगी। जबकि द्वैतज्ञान का विषय जो द्वैत उस द्वैत के प्रति अविद्या उपादान कारण है। अतः द्वैतज्ञानगत अप्रामाण्य की प्रयोजिका अविद्या मानी जायेगी। दूसरी बात यह है कि द्वैतप्रपञ्च और द्वैतप्रपञ्च के ज्ञान के प्रति अविद्या कारण है। यह नियम है कि कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। अतः कारणीभूत अविद्या नामक दोष के अभाव को यदि पूर्वपक्षी स्वीकार करता है तब न तो कार्यभूत द्वैतप्रपञ्च ही रहेगा और न कार्यभूत द्वैतप्रपञ्च का ज्ञान रहेगा, जिसमें पूर्वपक्षी सत्त्व सिद्ध कर सके। पुनः पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि द्वैतज्ञान कल्पित अविद्यारूप दोष से प्रयुक्त होने पर भी भ्रम इसलिए माना जाता है कि अविद्या और द्वैतज्ञान दोनों ही समसत्ताक हैं। किन्तु यह सिद्धान्ती का कथन उचित नहीं है, क्योंकि अविद्या और द्वैतज्ञान में जब तक मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है तब तक दोनों में व्यावहारिकत्वेन समसत्ताकत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्यावहारिकत्व का लक्षण है– ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यत्व। यह लक्षण जैसे बाध्य प्रपञ्च में रहता है ऐसे ही अबाध्य ब्रह्म में भी रहता है। जब व्यावहारिकत्व अबाध्य (अमिथ्या) ब्रह्म में भी है तब व्यावहारिकत्व की सिद्धि मिथ्यात्वसिद्धि पूर्विका नहीं कही जा सकती, क्योंकि ब्रह्म में मिथ्यात्व न रहने पर भी व्यावहारिकत्व है। अतः प्रपञ्च और अविद्या में मिथ्यात्व सिद्धि के बिना ही व्यावहारिकत्व के उक्त लक्षण के द्वारा व्यावहारिकत्व

सत्त्वविभागासिद्धिः।। १२।।

ननु दोषादीनां रूप्यादिभ्रमहेतूनां पारमार्थिकसत्त्वमौत्सर्गिकप्रामाण्येन सिद्धमिति परमार्थसतामेव तेषां हेतुत्वमिति—चेन्न, व्यावहारिकप्रामाण्यस्य साक्षिणा ग्रहणेऽपि त्रिकालाबाध्य—त्वरूपतात्त्विकप्रामाण्यं न केनापि गृह्यत इति प्रत्यक्षबाधोद्धारे प्रागेवाभिहितत्वात्। न च—रूप्याद्यध्यासे दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ताकत्वं दृष्टमिति इहापि तथेति—वाच्यम्, साधर्म्य—समजात्युत्तरत्वात्। वस्तुतस्तु सर्वत्र चैतन्यस्यैवाधिष्ठानत्वेन कुत्रापि दोषादीनामधिष्ठानसमसत्ता—कत्वाभावात्। न च—बाधकज्ञानं सत्यमेव वक्तव्यम्, अन्यथा बाधपरम्पर(ा)या अनवस्थापत्तेरिति—

सत्यानन्दप्रबोधिका

की सिद्धि हो सकती है। दोनों में व्यावहारिकत्व की सिद्धि हो जाने से दोनों में समसत्ताकत्व की भी सिद्धि हो जायेगी। मिथ्यात्वसिद्धि के पहले ही जब प्रपञ्च और अविद्या में व्यावहारिकत्व सिद्ध हो गया तब ''द्वैतं यदि मिथ्या न स्यात् तदा स्वसमानसत्ताकाविद्याप्रयुक्तं न स्यात्'' इस तर्क के द्वारा प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जायेगा।। १२।।

सिद्धान्ती ने अभी पीछे ही कहा कि अविद्यादोष मिथ्या होने के कारण उसका कार्य प्रपञ्च भी मिथ्या है, क्योंकि कारण के मिथ्या होने से उससे जन्य कार्य भी मिथ्या होता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि रजतादि भ्रम के हेतु जो अविद्यादि दोष है। उनमें पारमार्थिकसत्त्व है, क्योंकि स्वतः प्रामाण्य वाले साक्षी के द्वारा उनमें पारमार्थिक प्रामाण्य का ग्रहण होता है। अतः अविद्यादि दोष पारमार्थिक सत् है। अतः उससे जन्य प्रपञ्च भी पारमार्थिक सत् है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दोषादिविषयक ज्ञान ग्राहक साक्षी के द्वारा दोषादिविषयकज्ञानगत व्यावहारिक प्रामाण्य का ही ग्रहण होता है, त्रिकालाबा—ध्यत्वरूप प्रामाण्य का ग्रहण साक्षी के द्वारा नहीं होता है, क्योंकि साक्षिज्ञान से पहले कालत्रय की उपस्थिति किसी प्रमाण के द्वारा न होने के कारण उसके साथ साक्षी का सम्बन्ध ही नहीं होता है। इस पर विशेष विचार साक्षिबाधोद्धार प्रकरण में किया जा चुका है। पुनः पूर्वपक्षी अविद्यादोष में पारमार्थिकत्व सिद्ध करने के लिए अनुमान कर रहा है—"प्रपञ्चाध्यासजनकः अविद्यादोषः अधिष्ठानसत्ताकः, दोषत्वात्, रूप्याध्यासजनकदोषवत्।" अर्थात् रजतभ्रम का जनक जो काचकामल चाकचिक्यादि दोष है उनकी सत्ता के समानसत्तावाला रजतभ्रम का अधिष्ठान शुक्ति है। अतः प्रपञ्चभ्रम का जनक जो अविद्या दोष है वह भी प्रपञ्च भ्रम के अधिष्ठान ब्रह्म के समान वाला होना चाहिए। इसका खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन साधर्म्यसमा जाति नाम का असदुत्तर है। अर्थात् जहाँ वादी तर्कसहकृत हेतु का प्रयोग करता है और प्रतिवादी तर्करहित अर्थात् व्याप्ति रहित हेतु का प्रयोग करता है वहां पर साधर्म्यसमा जाति कही जाती है। जैसे "शब्दोऽनित्यः, प्रयत्नजन्यत्वात्, घटादिवत्।" यहां पर, "शब्दः नित्यः, स्पर्शशून्यत्वात्, आत्मादिवत्।" यह हेतु उभयविध व्याप्ति से रहित है। अतः यहां पर साधर्म्यसमा जाति है। इसी प्रकार से प्रकृत में भी व्याप्तिशून्यसाधर्म्यमात्र का उद्भावन होने से अर्थात् दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में केवल दोषत्वरूप साधर्म्यमात्र का उद्भावन होने से कह दिया गया है कि अविद्यादि दोष को अधिष्ठान के समान सत्ता वाला होना चाहिए। अतः यहां पर साधर्म्यसमा जाति है। अर्थात्—स्वव्याघातकमुत्तरं जात्युत्तरम्। वस्तुतः सिद्धान्त मत में सर्वत्र चैतन्य को ही अधिष्ठान माना जाता है। अतः रजतभ्रम का अधिष्ठान शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्य है। चैतन्य की सत्ता और दोष की सत्ता समान न होने के कारण पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान के दृष्टान्त में साध्य के न जाने से व्यभिचारदोष भी

वाच्यम्, वेदान्तवाक्यजन्यचरमचित्तवृत्तेः कतकरजोन्यायेन स्वपरबाधकतयाऽनवस्थाया अभावात्। दृश्यत्वमात्रेण युगपत्कृत्स्नबाधसम्भवात्। न हि गुहायां न शब्द इति शब्दः स्वं न निषेधति, अन्यथा स्वस्य स्वेनानिषेधे तत्राप्यनवस्थापत्तिः, शब्दमात्रनिषेधानुभवविरोधश्च। यद्यपि बाधकज्ञानं वृत्त्युपरक्तचैतन्यरूपं स्वतः सत्यमेव, तथापि तदवच्छेदिकाया वृत्तेर्दृश्यत्वेन मिथ्यात्वाद् बाधोपपत्तिः।। १३।।

ननु—बन्धस्यात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वे तदभावार्थं यत्नो न स्यात्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि सिद्धान्ती प्रपञ्च बाधक अखण्डाकार चित्तवृत्ति को मिथ्या मानते हैं तब अखण्डाकारचित्तवृत्ति के बाध के लिए उस वृत्ति से भिन्न दूसरा बाधक मानना पड़ेगा और दूसरे बाधक के बाध के लिए तीसरा बाधक मानना पड़ेगा। इस प्रकार से आगे—आगे बाधक मानते रहने से अनवस्था दोष होगा। अतः अखण्डाकारचित्तवृत्ति रूप बाधक को सत्य मानना चाहिए। वृत्ति को सत्य मानने पर द्वैतापत्ति होगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे कतकफल का रज (चूर्ण) जल में डालने पर जलगत मिट्टी को नीचे बैठाता हुआ कतकरज स्वयं भी बैठ जाता है। इसी प्रकार अखण्डाकारचित्तवृत्ति भी प्रपञ्च का बाध करती हुई अपना भी बाध कर देती है, क्योंकि चरमवृत्ति के द्वारा दृश्यत्वेन दृश्य का बाध होता है। उक्त वृत्ति में और प्रपञ्च में भी दृश्यत्व है। इसलिए प्रपञ्च सहित उक्तवृत्ति का भी बाध चरम वृत्ति के द्वारा "दृश्यं नास्ति" इस प्रकार से हो जायेगा। अतः बाधक के बाध के लिए दूसरे बाधक की अपेक्षा न होने से अनवस्था दोष नहीं होगा। इसको स्पष्ट करनेके लिए दूसरा दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं कि "गुहा में शब्द नहीं है" यह शब्द गुहा में स्व का निषेध नहीं करता है, यह बात नहीं। अर्थात् उक्त शब्द इतर शब्दों का निषेध करता हुआ स्वयं का भी निषेध करता है। यदि स्व का स्व से निषेध न मानने पर यहां पर भी अनवस्था की आपत्ति होगी और उक्त शब्द के द्वारा सभी शब्दों के निषेध का जो अनुभव हो रहा है उसके साथ विरोध भी होगा। यहां पर प्रश्न होता है कि सिद्धान्ती ने यह जो कहा कि बाधक ज्ञान प्रपञ्च का बाध करता हुआ अपने को भी बाध कर देता है, किन्तु सिद्धान्ती का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि केवल चरम वृत्ति को ही बाधक ज्ञान माना नहीं जाता है अपितु वृत्युपरक्त चैतन्य को, जो कि सत्य है। अतः उसका बाध नहीं हो सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि वृत्युपरक्तचैतन्यरूप बाधक ज्ञान स्वरूपेण सत्य है, किन्तु उक्त चैतन्य की अवच्छेदिका चरम वृत्ति दृश्य होने के कारण मिथ्या है। अतः उक्त वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य भी मिथ्या है। अतः बाधकज्ञान का बाध अपने द्वारा उपपन्न है।। १३।।

अब पूर्वपक्षी के द्वारा पञ्चम प्रतिकूल तर्क दिया जा रहा है। पूर्वपक्षी का कथन है कि जब अज्ञानरूपबन्ध में अत्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व है तब उस बन्ध के बाध के लिए श्रवण—मनन—निदिध्यासनादिरूप प्रयत्न नहीं करना चाहिए, क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य होने के कारण साध्य नहीं माना जाता है। यदि कहा जाय कि बन्ध तीनों कालों में नहीं है किन्तु बन्ध की प्रतीति होती है। अतः उस प्रतीति की निवृत्ति के लिए प्रयत्न सार्थक है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि बन्ध जैसे मिथ्या है वैसे ही बन्ध की प्रतीति भी मिथ्या है। बन्ध की प्रतीति मिथ्या होने के कारण अत्यन्ताभाव की प्रतियोगी ही है। अतः बन्ध की प्रतीति के अत्यन्ताभाव के लिए भी प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि अत्यन्ताभाव नित्य

अत्यन्ताभावस्यासाध्यत्वात्, अत एव न तत्प्रतीत्यभावार्थमपि यत्नः, तस्या अपि मिथ्यात्वात्; अन्यथा मोक्षेऽपि बन्धप्रतीत्या तद्दशायामपि प्रातिभासिकबन्धापातात्। अथ पारमार्थिकत्वाकारेण मिथ्यात्वम्, स्वरूपेण तु निवृत्तिरेव, न, तस्याः स्वरूपाबाधेनाप्युपपत्तेरिति—चेन्न, सत्यस्य ब्रह्मणो निवृत्त्यदर्शनेन स्वरूपतो मिथ्यात्वाभावे निवृत्त्ययोगाद् मिथ्यात्वं निवृत्त्यनुकूलमेव। न च तदर्थं प्रवृत्त्यनुपपत्तिः, अधिष्ठानसाक्षात्कारानन्तरं तथैव, ततः पूर्वं तु कण्ठगतविस्मृत—

सत्यानन्दप्रबोधिका

होने से असाध्य है। बन्ध के मिथ्या होने पर भी बन्ध की प्रतीति को मिथ्या न मानने पर मोक्षावस्था में भी बन्ध की भ्रमात्मक प्रतीति के रहने से उसका विषय प्रातिभासिक बन्ध भी मानना पड़ेगा, क्योंकि सिद्धान्त मत में भ्रम काल में ही प्रातिभासिक विषय के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। जब कि भ्रमनिवृत्तिकाल (मोक्षकाल) में प्रातिभासिक विषय के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि बन्ध स्वरूपेण मिथ्या नहीं है अपितु पारमार्थिकत्वेन मिथ्या है, अर्थात् अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है। बन्ध तो स्वरुप से निवृत्तिरूप ही है। अर्थात् बन्ध के स्वरूपेण हटा हुआ ही है। अतः उसके हटाने के लिए प्रयत्न व्यर्थ है, किन्तु उस बन्ध में जीवों को जो पारमार्थिकत्व का भ्रम है उसे हटाने के लिए श्रवणादि रूप प्रयत्न की आवश्यकता होती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यदि सिद्धान्ती बन्ध को स्वरूपेण मिथ्या नहीं मानते हैं तब तो बन्ध के स्वरूप का बाध न मानने पर भी अर्थात् बन्ध के स्वरूपेण रह जाने पर भी बन्धनिष्ठ पारमार्थिकत्व के बाध मात्र से मोक्ष की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे घट का पटत्वेन अभाव रहने पर भी घटत्वेन घट का स्वरूप विद्यमान होता ही है। वैसे ही मोक्षावस्था में पारमार्थिकत्वेन बन्ध का अभाव होने पर भी बन्धत्वेन बन्ध (स्वरूपेण बन्ध) विद्यमान ही रहेगा। इस प्रकार से बन्ध सत्य सिद्ध हो जायेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पारमार्थिकत्वेन बन्ध मिथ्या है, स्वरूपेण निवृत्तिरूप है, यहां पर पूर्वपक्षी ने स्वरूपेण निवृत्ति का यह जो अर्थ किया कि बन्ध स्वरूप से मिथ्या नहीं है वह उचित नहीं है, क्योंकि यह नियम है कि जो स्वरूप से मिथ्या नहीं है, उसकी निवृत्ति भी नहीं होती है। जैसे ब्रह्म स्वरूपेण मिथ्या नहीं है और उसकी निवृत्ति भी नहीं होती है। प्रकृत में बन्ध की जब स्वरूपेण निवृत्ति होती है तब बन्ध के स्वरूप को भी मिथ्या मानना पड़ेगा। अतः बन्ध का मिथ्यात्व बन्ध की निवृत्ति स्वरूपता के प्रतिकूल नहीं है। अर्थात् बन्ध को निवृत्ति स्वरूप मानना और बन्ध को मिथ्या मानना इन दोनों में कोई विरोध नहीं है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि मिथ्या बन्ध की निवृत्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता है, जैसे स्वप्न में देखे गये अनिष्ट की निवृत्ति के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अधिष्ठान विषयक साक्षात्कार के अनन्तर मिथ्या बन्ध की निवृत्ति के लिए हम भी प्रयत्न नहीं मानते हैं। जैसे मरु मरीचिका में जो जल दिखता है वह जल भ्रम छुटने के बाद भी दिखता है, किन्तु अधिष्ठान साक्षात्कार के अनन्तर जल दिखने पर भी उस जल की निवृत्ति के लिए कोई भी प्रयत्न नहीं करता है, किन्तु अधिष्ठान साक्षात्कार से पहले भ्रमनाशक ज्ञान की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न होता है, जैसे कण्ठगत विस्मृत सुवर्ण हार की विस्मृत्ति के बाधक ज्ञान के लिए प्रयत्न किया जाता है, किन्तु बाधक ज्ञान हो जाने पर कण्ठगत सुवर्ण हार की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं किया जाता है। अत्यन्ताभाव के अधिकरण में जैसे प्रतियोगी रहता है वैसे निवृत्ति

चामीकरप्राप्तय इव भ्रमबाधकज्ञानोत्पत्तये प्रवृत्त्युपपत्तेः। अत्यन्ताभावाधिकरणे च प्रतियोगिव–त्तन्निवृत्तिरप्युपपादितैव। न च–त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगिनि तुच्छे निवृत्तिर्न दृष्टेति कथं तादृशि प्रपञ्चे सा स्यादिति–वाच्यम्, यथाकथञ्चित् सजातीयेऽदर्शनस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा अनुत्पन्ने निवृत्तिर्न दृष्टेति प्रागभावोऽपि न निवर्तेत। तस्मात् स्वभावविशेष एव तुच्छनित्यविलक्षणो निवृत्तिप्रयोजक इति वाच्यम्। सा च निवृत्तिरधिकरणस्वरूपेति पक्षे घटनाशार्थं मुद्गरपातादाविव मननादौ प्रवृत्तिरूहनीया। अतिरिक्तेति पक्षे त्वनिर्वचनीया, पञ्चमप्रकारा चरमवृत्तिरूपा वा सा,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

भी रहती है। अर्थात् प्रपञ्च के अत्यन्ताभाव का अधिकरण जो ब्रह्म है उसमें प्रपञ्च की जब तक प्रतीति होती है तब तक उसी अधिकरण में प्रपञ्च का प्रातीतिक सत्त्व माना जाता है और साथ–साथ उसी अधिकरण में निवृत्ति (प्रपञ्चात्यन्ताभाव) भी माना जाता है, किन्तु अधिष्ठान साक्षात्कार से पूर्व ही प्रतियोगी का सत्त्व माना जाता है और उस सत्त्व की निवृत्ति ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर हो जाती है। जैसे शुक्ति का साक्षात्कार हो जाने पर रजत और रजत प्रतीति कुछ भी नहीं रहती है। इसका प्रतिपादन द्वितीय मिथ्यात्व–लक्षण के अवसर पर किया जा चुका है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी जो खपुष्पादि तुच्छ पदार्थ है, उनकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है। अतः त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी जो प्रपञ्च है, उसकी भी निवृत्ति नहीं हो सकती है। यहां पर पूर्वपक्षी के कथनानुसार अनुमान का आकार होगा– "प्रपञ्चः निवृत्यभाववान्, त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वात्, तुच्छवत्।" इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूप से तुच्छ और प्रपञ्च में समानता (सजातीयता) देखकर निवृत्यभाव को प्रपञ्च में सिद्ध करना अनुचित है, क्योंकि ''शब्दः रूपवान्, कृतकत्वात्, घटवत्'' इस अनुमान में जैसे कृतकत्वेन घट का सजातीय शब्द में रूपवत्त्व को सिद्ध करने पर जात्युत्तर होता है, वैसे ही पूर्वपक्षी के उक्त अनुमान में भी जात्युत्तर है। यथाकथञ्चित पक्ष और दृष्टान्त में सजातीयता को लेकर साध्य की सिद्धि मानने पर अनुत्पन्न घटादि पदार्थों की निवृत्ति जैसे नहीं देखी जाती है, वैसे ही अनुत्पन्न प्रागभाव की भी निवृत्ति नहीं होनी चाहिए। यहां पर अनुमान का आकार होगा–"प्रागभावः निवृत्यभाववान्, अनुत्पन्नत्वात्, तुच्छवत्।" यहां पर अनुत्पन्नत्वेन दृष्टान्त का सजातीय पक्ष है। अतः दृष्टान्त में जो निवृत्यभाव देखा गया है उसको पक्ष पर भी मानना पड़ेगा। अतः तुच्छ और नित्य (ब्रह्म) से विलक्षण प्रपञ्चगत स्वभाव विशेष को ही निवृत्ति का प्रयोजक मानना चाहिए। प्रपञ्चगत स्वभाव विशेष दृश्यत्वादि ही है। अर्थात् प्रपञ्च दृश्य है, अतः निवृत्त होता है और तुच्छ और नित्य (ब्रह्म) दृश्य नहीं है। अतः निवृत्त नहीं होते हैं। ऐसा मानने पर किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। वह प्रपञ्चनिवृत्ति जिसके मत में ब्रह्मरूप अधिकरण स्वरूप मानी जाती है, उनके मत में घट नाशार्थ मुद्गर प्रहारादि के समान ही बन्ध नाशार्थ मननादि में मुमुक्ष के प्रवृत्ति की उपपत्ति हो जायेगी। वस्तुतस्तु घट मिथ्या होने के कारण तत्त्वज्ञान से ही घट की निवृत्ति हो सकती है, मुद्गरपातादि से घट की निवृत्ति नहीं हो सकती है, फिर भी घट के मिथ्यात्व का निश्चय जिसको नहीं हुआ है वह जैसे घट नाश (घटावयवविभाग) के लिए मुद्गरपातादि में प्रवृत्त होता है। वैसे ही बन्ध के मिथ्यात्व के निश्चय से पूर्व बन्ध के नाश के लिए मननादि में प्रवृत्ति हो ही सकती है। यद्यपि उस मननादि से बन्ध की निवृत्ति तो होगी नहीं, क्योंकि वह

सर्वथा जन्यैवेति न काप्यनुपपत्तिः।। १४।।

ननु—बन्धस्य ब्रह्मण्यध्यस्तत्वे तन्निदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वं श्रवणादिनियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वं च न स्यात्। न हि देवतानिदिध्यासनसाध्यतत्साक्षात्कारनिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तम्, न वा दूरागमनादिनियमादृष्टसापेक्षसेतुदर्शननिवर्त्यं दुरितं तत्राध्यस्तमिति—चेन्न, आत्माध्यस्तगौरत्वादेः शुक्त्याद्यध्यस्तरूप्यादेश्च तत्तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वदर्शनेन प्रपञ्चस्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

निवृत्ति अधिकरण स्वरूप होने के कारण नित्य है, जन्य नहीं है, तो भी कारणीभूत अज्ञान में लीन होना रूप बन्ध का नाश तो हो ही सकता है। जिनके मत में प्रपञ्च की निवृत्ति ब्रह्म रूप अधिकरण से अतिरिक्त मानी जाती है उनके मत में निवृत्ति चाहे अनिर्वचनीय मानी जाय या पञ्चमप्रकारात्मक अथवा चरमवृत्ति रूप मानी जाय, उक्त प्रकार की निवृत्ति सर्वथा जन्य ही है। अतः उसकी उत्पत्ति के लिए श्रवणादिरूप प्रयत्न सार्थक ही है। इस प्रकार से विश्व के कल्पित होने पर भी उसकी निवृत्ति के लिए प्रयत्न सार्थक है, यह सिद्ध हो जाने से ''विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा तन्निवृत्यर्थं प्रयत्नो न स्यात्'' इस प्रतिकूल तर्क का भी खण्डन हो गया।। १४।।

पूर्वपक्षी के द्वारा कथित षष्ठ प्रतिकूल तर्क का आकार है—''बन्धः यदि ब्रह्मणि अध्यस्तः स्यात् तदा तन्निदिध्यासनसाध्यसाक्षात्कारनिवर्त्यो न स्यात्।'' अर्थात् सिद्धान्ती का यह जो कथन है कि ब्रह्म में बन्ध अध्यस्त है और वह ब्रह्म विषयक साक्षात्कार से निवृत्त होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्मविषयक निदिध्यासन से उत्पन्न होता है। वह उचित नहीं है, क्योंकि ब्रह्म में बन्ध को अध्यस्त मानने पर ब्रह्म विषयक जो निदिध्यासन उसके साध्य जो ब्रह्म विषयक साक्षात्कार उस साक्षात्कार से बन्ध निवृत्त नहीं होगा, क्योंकि सिद्धान्ती के उक्त मतानुसार यह जो व्याप्ति बनती है कि—''यत्साक्षात्कारनिवर्त्यं यत्, तत् तत्राध्यस्तम्।'' यह व्याप्ति उस दुरित (पाप) में व्यभिचरित है जो देवता के साक्षात्कार से निवृत्त होता है, किन्तु देवता में अध्यस्त नहीं होता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के द्वारा कथित सप्तम प्रतिकूल तर्क का आकार है—''बन्धः यदि ब्रह्मणि अध्यस्तः स्यात् तदा श्रवणादि नियमादृष्टसापेक्षब्रह्मज्ञाननिवर्त्यो न स्यात्।'' अर्थात् सिद्धान्त मत में श्रवणादि में नियम विधि यही है कि ब्रह्म ज्ञान के साधन के रूप से जैसे औपनिषद दर्शन का श्रवणादि प्राप्त है उसी प्रकार सांख्यादि दर्शन का भी श्रवणादि प्राप्त है। उन दोनों में से सांख्यादिदर्शन के श्रवणादि रूप साधन को निवृत्त करने के लिए ''श्रोतव्यः'' ऐसा विधान किया गया है। इस नियम विधि के अनुष्ठान से नियमादृष्ट (नियमापूर्व) उत्पन्न होता है जो ब्रह्मदर्शन का सहायक माना जाता है और उस नियमादृष्ट की अपेक्षा रखकर होने वाले ब्रह्मज्ञान से बन्ध की निवृत्ति होती है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के उक्त मतानुसार यह जो व्याप्ति बनती है कि ''नियमादृष्टसापेक्षयज्ज्ञाननिवर्त्यं यत् तत् तत्राध्यस्तम्।'' जैसे श्रवणादि विषयक जो नियम, उस नियम से जन्य जो अदृष्ट, उस अदृष्टसापेक्ष ब्रह्मज्ञान से बन्ध निवृत्त होता है। अतः बन्ध ब्रह्म में अध्यस्त है, किन्तु सिद्धान्ती की उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है, क्योंकि दूर से गमन का जो नियम उस नियम से जन्य जो अदृष्ट उस अदृष्ट सापेक्ष जो सेतु का दर्शन उस सेतु दर्शन से निवर्त्य जो दूरित (पाप) वह दूरित सेतु में अध्यस्त नहीं होता है। अतः सिद्धान्ती की उक्त व्याप्ति के भङ्ग हो जाने के कारण ब्रह्मज्ञान से निवृत्त होने वाला बन्ध ब्रह्म में अध्यस्त नहीं होगा। जैसे घट ज्ञान से निवृत्त होने वाला

ब्रह्मण्यध्यस्ततया तत्साक्षात्कारनिवर्त्यत्वस्यावश्यकत्वात्। न हि शुक्त्याद्यध्यस्तं रूप्यादि शुक्त्यादिज्ञानं विना निवर्तते। देवतादर्शनादिना तु प्रायश्चित्तसमकक्ष्येण दुरितस्य कारणात्मनावस्थानमात्रं क्रियते, न तु शुक्तिज्ञानेन रूप्यस्येव निवृत्तिः, अधिष्ठानाज्ञान रूपोपादानकस्यारोपितस्य तन्निवृत्तिं विना निवृत्त्ययोगात्, अज्ञाननिवृत्तिश्चाधिष्ठानज्ञानादेवेत्युक्तं प्राक्। श्रवणादिनियमादृष्टं च न मुक्तिं प्रति कारणम्, किन्तु ब्रह्मापरोक्ष्यं प्रति।। १५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पट ज्ञान घट में अध्यस्त नहीं होता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि नाश दो प्रकार का होता है एक निवृत्ति दूसरा बाध। सिद्धान्त मत में ब्रह्मज्ञान से बन्ध का बाध कहा गया है, जबकि पूर्वपक्षी ने ब्रह्मज्ञान से बन्ध की निवृत्ति को मानकर दोष दिया है, जिसे हम मानते ही नहीं हैं। बाध के लिए यह नियम होता ही है कि जो जिसमें अध्यस्त है वह उसके ज्ञान से बाधित हो जाता है। जैसे आत्मा में अध्यस्त गौरत्वादि का आत्मविषयक साक्षात्कार से बाध हो जाता है। इसी प्रकार जैसे शुक्ति में अध्यस्त रजत का शुक्ति विषयक साक्षात्कार से बाध हो जाता है। ऐसे ब्रह्म में अध्यस्त प्रपञ्च का भी ब्रह्मविषयक साक्षात्कार से बाध हो जाता है, क्योंकि शुक्त्यादि में अध्यस्त रजतादि का शुक्त्यादि ज्ञान के बिना बाध नहीं होता है। पूर्वपक्षी ने जो व्यभिचार दोष दिया था उसको वारण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे प्रायश्चित व्यावहारिक सत्ता वाला होता है और दुरित भी व्यावहारिक सत्तावाला होता है। अतः प्रायश्चित करने से दुरित का बाध नहीं होता है किन्तु दुरित की निवृत्ति होती है। अर्थात् दुरित कारणात्मना विद्यमान रहता है। ऐसे ही देवता दर्शन से दुरित का बाध नहीं होता है किन्तु दुरित की निवृत्ति होती है। अर्थात् दुरित कारणात्मना विद्यमान ही रहता है, शुक्तिज्ञान के द्वारा जैसे रजत का बाध होता है वैसे ही बाध दुरित का नहीं होता है, क्योंकि अधिष्ठान विषयक जो अज्ञान होता है वही आरोपित पदार्थ का उपादान कारण होता है। इसलिए आरोपित पदार्थ का बाध उपादानभूत अज्ञान के बाध के बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि अज्ञान का बाध अधिष्ठान विषयक ज्ञान से ही होता है यह पहले कहा जा चुका है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि ब्रह्मज्ञान बन्धनिवृत्ति के लिए श्रवणादि नियमादृष्ट की अपेक्षा रखता है। अर्थात् बन्धनिवृत्ति के प्रति मूलकारण है ब्रह्मज्ञान और सहायक कारण है नियमादृष्ट। इसका खण्ड़न करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्मज्ञान जो श्रवणादि नियमादृष्ट की अपेक्षा रखता है वह बन्ध की निवृत्ति (मोक्ष) के लिए नहीं अपितु अपनी (ब्रह्मज्ञान की) उत्पत्ति के लिए ही रखता है। अर्थात् बन्धनिवृत्ति के लिए नियमादृष्ट सहायक कारण नहीं है, किन्तु वह नियमादृष्ट केवल ब्रह्मज्ञान की उत्पत्ति के प्रति कारण है और केवल ब्रह्मज्ञान ही बन्ध निवृत्ति (मुक्ति) के प्रति कारण है। इससे सिद्धान्त मत में यह लाभ हुआ कि पूर्वपक्षी ने जो सप्तम प्रतिकूल तर्क के लिए जो व्याप्ति बनायी थी उसे सिद्धान्त मत में माना ही नहीं जाता, क्योंकि श्रवणादि नियमादृष्ट से जन्य ब्रह्मज्ञान होता है न कि मुक्ति। अतः पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति में दोष आने पर भी सिद्धान्त मत में कोई हानि नहीं होगी और सप्तमप्रतिकूल तर्क जो नियमादृष्ट को मुक्ति के प्रति साधन मानकर दिया गया था वह भी खण्डित हो गया, क्योंकि वह मुक्ति के प्रति कारण ही नहीं है।। १५।।

ननु—अवघातसाध्यवैतुष्यान्यापूर्वस्येव श्रवणादिसाध्यापरोक्ष्यान्यमुक्तेरेव तत्साध्यत्वम्, अन्यथा श्रवणनियमादृष्टसाध्ये साक्षात्कारे श्रवणनिरपेक्षस्योपायान्तरस्याप्रसक्त्या तत्प्रसक्त्यधीननियमविध्ययोगात्, न च—परोक्षज्ञानं श्रवणात्, अपरोक्षं तु नियमादृष्टादिति—युक्तम्, श्रवणादिविधौ परोक्षज्ञानप्रवाहरूपनिदिध्यासनसाध्यापरोक्षस्यैव द्दशिनोद्देशात्, त्वन्मते परोक्षज्ञाने कामनाया अयोगेन तस्योद्देश्यत्वायोगाच्चेति—चेत्।। १६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि ''व्रीहीनवहन्ति'' यहां पर अवघातरूप क्रिया का फल होता है, व्रीहिगत वैतुष्य अर्थात् धान की भूसी का उतर जाना, किन्तु ''अवहननेनैव वैतुष्यं सम्पाद्यं न तु नखविदलनादिना'' इस प्रकार के नियम के अनुष्ठान से जो नियमादृष्ट पैदा होता है, उसका फल व्रीहिगतवैतुष्य नहीं होता है किन्तु व्रीहिगतवैतुष्य से भिन्न परमापूर्व ही होता है क्योंकि मीमांसान्यायानुसार सभी नियमादृष्ट मिलकर परमापूर्व को पैदा करते हैं और परमापूर्व से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। अर्थात् वैदिक क्रिया का फल और वैदिक क्रिया से साध्य नियमादृष्ट का फल भिन्न–भिन्न होता है। ठीक इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी श्रवणादि से साध्य ब्रह्मसाक्षात्कार से भिन्न मुक्ति ही श्रवणादि नियमादृष्ट का फल होना चाहिए। अर्थात् सिद्धान्ती ने यह जो कहा था कि श्रवणादिक्रिया का फल ब्रह्मापरोक्ष और श्रवणादि नियमादृष्ट का भी फल ब्रह्मापरोक्ष। यह उक्त मीमांसा न्यायानुसार विरुद्ध है, क्योंकि उक्त मीमांसान्यायानुसार क्रिया और नियमादृष्ट का फल भिन्न–भिन्न होना चाहिए। भिन्न–भिन्न मानने पर श्रवणादि क्रिया का फल ब्रह्मापरोक्ष और श्रवणादि नियमादृष्ट का फल मुक्ति होगा। अत: सप्तमप्रतिकूल तर्क एवं उक्त व्याप्ति के द्वारा दिया गया दोष उचित ही है। यदि उक्त मीमांसान्यायानुसार क्रिया और नियमादृष्ट का फल भिन्न–भिन्न होने पर भी श्रवणादि क्रिया और श्रवणादिनियमादृष्ट का एक ही ब्रह्मसाक्षात्काररूप फल माना जाता है तो ''श्रोतव्य:'' इस श्रुति को श्रवणनियमविधिपरक नहीं माना जा सकेगा, क्योंकि नियमविधि वहीं पर मानी जाती है जहां श्रुति के द्वारा कथित साधन से अतिरिक्त साधन लोकत: प्राप्त हो और उस साधनान्तर की निवृत्ति के लिए विधान किया जाय, किन्तु प्रकृत में ब्रह्म साक्षात्कार रूप फल का साधन तो श्रुति द्वारा कथित वेदान्त श्रवण ही है। वेदान्तश्रवण से अतिरिक्त ब्रह्मसाक्षात्कार का साधन लोक में प्राप्त ही नहीं है, जिसकी निवृत्ति के लिए वेदान्त श्रवण का विधान किया जाय, इस प्रकार पूर्वपक्षी ने जो कहा कि श्रवणादिरूपक्रिया और श्रवणादिनियमादृष्ट के फल भिन्न–भिन्न होते हैं। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि प्रकृत में भी फल भिन्न–भिन्न है, क्योंकि श्रवण का फल परोक्षज्ञान और नियमादृष्ट का फल ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान होता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि ''आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य:'' (बृ.उ. २–४–५) इस श्रवणादि (श्रवण–मनन–निदिध्यासन) विधि का फल परोक्षज्ञान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रवणादि विधि में उक्त निदिध्यासन का अर्थ है श्रवण मनन से होने वाला ''अहं ब्रह्मास्मि'' इस प्रकार से परोक्षज्ञान का निरन्तर प्रवाह। ऐसे निदिध्यासन का फल है दर्शन अर्थात् ब्रह्म का अपरोक्षज्ञान, जो ''द्रष्टव्य:'' पद गत दृशिधातु के द्वारा निर्देश किया गया है। इस पर यदि सिद्धान्ती फिर भी कहते हैं कि श्रवण मनन निदिध्यासन का फल (उद्देश्य) परोक्षज्ञान ही है। तब पूर्वपक्षी कह रहा है कि श्रवणादि का फल (उद्देश्य) परोक्षज्ञान हो ही नहीं सकता है, क्योंकि परोक्षज्ञान की कामना ही नहीं होती है, क्योंकि परोक्षज्ञान से बन्धन के मूल अज्ञान की निवृत्ति जो कि इष्ट है होती ही नहीं है, क्योंकि अपरोक्षभ्रम की निवृत्ति अधिष्ठान के अपरोक्षज्ञान से ही होती है।। १६।।

न,(तत्र)क्रत्वर्थ(स्य)नियमापूर्वस्य परमापूर्वसाधकत्वेऽपि पुरुषार्थहिरण्यधारणादि–नियमादृष्टस्य तदभाववत् श्रवणादिसाध्यसाक्षात्कारान्यफलाभावेऽपि तेनैव फलवत्त्वोपपत्तेः, 'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'इति न्यायात् 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' इति स्मृतेश्च। अत्र सर्वाखिलपदाभ्यां कर्मशब्दवाच्यापूर्वमात्रस्य ज्ञाने समाप्तिर्दर्शिता, मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिरूपस्य ज्ञानातिरिक्तासाध्यत्वनियमाच्च। ज्ञाने त्वसम्भावनादिनिवृत्त्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि क्रिया और नियमादृष्ट का फल सर्वत्र भिन्न–भिन्न होता है, ऐसा कोई नियम नहीं होता है। अर्थात् कहीं पर भिन्न–भिन्न होता है और कहीं पर एक ही होता है। अतः भिन्न–भिन्न ही होता है, ऐसा मानकर जो पूर्वपक्षी ने दोष दिया था वह अनुचित है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अङ्ग कर्म दो प्रकार के होते हैं। १. प्रधान क्रिया (यज्ञ या क्रतु) के अङ्ग २. कर्तापुरुष के अङ्ग। दृष्टान्त में "व्रीहीनवहन्ति" से विहित अवघात दर्शपूर्णमासरूप प्रधानक्रतु का अङ्ग है। यहाँ पर अवघातरूप क्रिया और अवघातादिनियमसाध्य नियमापूर्व का फल भिन्न–भिन्न है, क्योंकि अवधात का फल वैतुष्य और नियमापूर्व का फल परमापूर्व है, किन्तु ''सुवर्णं हिरण्यं धार्यं सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति''। इस हिरण्यधारण विधि स्थल पर सुवर्णधारणरूप क्रिया और सुवर्ण धारणादि नियम से साध्य नियमादृष्ट का फल भिन्न–भिन्न न होकर एक ही है। वह एक फल यह है कि शत्रु का दुर्बल आदि हो जाना। अर्थात् यहां पर नियमादृष्ट का फल परमापूर्व नहीं माना जाता है। अपितु क्रिया और नियमादृष्ट का एक ही फल भ्रातृव्यदुर्वर्णत्वादि माना जाता है। ठीक उसी प्रकार श्रवणादि क्रिया और श्रवणादि नियमादृष्ट इन दोनों का फल एक ही है और वह एक फल है ब्रह्म का साक्षात्कार। इस प्रकार से श्रवणादि नियमादृष्ट का फल, श्रवणादि क्रिया जन्य फल ब्रह्म साक्षात्कार से भिन्न न होने कारण श्रवणादिरूप क्रियाजन्य फल के द्वारा ही श्रवणादि नियमादृष्ट के फल की भी उपपत्ति हो जाती है। अतः श्रवणादि क्रिया जन्य जो फल ब्रह्मसाक्षात्कार उससे भिन्न श्रवणादिनियमादृष्ट का फल मोक्ष नहीं हो सकता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है– सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्'' (ब्र.सू. ३.४.२६) अर्थात् सभी विहित कर्मों और विहित कर्म जन्य अदृष्टों की ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति में ही अपेक्षा होती है, क्योंकि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन (बृ. उ. ४.४.२२) यह श्रुति और ''कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः। कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते'' यह स्मृति यज्ञादि कर्मों का विनियोग ज्ञान की उत्पत्ति में ही कर रही है। अश्व के समान। यह योग्यता के विषय में दृष्टान्त है। जैसे योग्यता के कारण अश्व हल खींचने में नियुक्त नहीं किया जाता है परन्तु रथ खींचने में नियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार सभी कर्म ब्रह्म साक्षात्कार की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित हैं ब्रह्म साक्षात्कार के द्वारा होने वाला आवरण निर्वतनरूप मोक्ष के लिए अपेक्षित नहीं है। मोक्ष तो ब्रह्मसाक्षात्कार से ही होता है। इसी प्रकार श्री मद्भगवद् गीता में भी कहा गया है– ''सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'' (गी. ४/३३) हे पार्थ निखिल कर्म और कर्मादृष्ट ज्ञान में ही परि समाप्त हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञानजन्य फल के अजनक होते हुए भी ज्ञान के जनक हैं। पूर्वोक्त सूत्र और श्रीमद्भगवद् गीता वाक्य में आये हुए सर्व और अखिल पदों के द्वारा यह कहा गया है कि सर्वकर्म और सभी

प्रतिबन्धकदुरितनिवृत्त्या च दृष्टादृष्टांशोपयोगः। सामान्यपुरस्कारेण च प्रसक्तस्य साधनान्तरस्य निवृत्तिः सर्वत्र नियमविधेः फलम्, विशेषरूपेण त्वपूर्वविधित्वमेव। यथा हि 'ब्रीहीनवहन्ति' इत्यादावपूर्वसाधनीभूतब्रीहिवैतुष्ये(विशिष्य)अवघातातिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावपि ब्रीहिवैतुष्यमात्रे प्रसक्तस्य नखविदलनादेर्निवृत्तिः, विशिष्य कार्यकारणभावबोधनात्, तथा निर्विशेषब्रह्मात्माभेदसा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

अदृष्ट (अखिल पद का अर्थ है सभी अदृष्ट) की उपयोगिता ज्ञान (ब्रह्मसाक्षात्कार) को उत्पन्न करने में ही समाप्त हो जाती है। मोक्ष के प्रति कर्म या अदृष्ट की कोई भी उपयोगिता नहीं है मोक्ष तो ज्ञानैकसाध्य है, अर्थात् कर्म साध्य भी नही है और अदृष्ट साध्य भी नहीं है। सर्व और अखिल पदों का ऐसा अर्थ विवरण प्रमेय संग्रह के अनुसार है। अद्वैतसिद्धिकार अब स्वयं ही सूत्र और श्रीमद्भगवद् गीता वाक्य में आये हुए सर्व और अखिल पदों की व्याख्या करते हुए कह रहे हैं कि सर्व और अखिल पदों के द्वारा कर्म शब्द से उपलक्षित नियमापूर्व और परमापूर्व की ज्ञान में समाप्ति दिखलायी गयी है और अविद्या की निवृत्तिरूप मोक्ष ज्ञानातिरिक्त से असाध्यत्व के नियम के कारण भी मोक्ष को कर्म साध्य मानना उचित नहीं है। ज्ञान की उत्पत्ति में अपूर्वमात्र (नियमापूर्व और परमापूर्व) की उपयोगिता कैसे है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि दृष्ट अर्थात श्रवणादि क्रिया का उपयोग असम्भावनादि की निवृत्ति में होता है। अर्थात् श्रवण से प्रमाणगत असम्भावना, मनन से प्रमेयगत असम्भावना और निदिध्यासन से विपरीत भावना की निवृत्ति होती है। अदृष्ट अर्थात् यज्ञादि साध्य सभी अपूर्वों की उपयोगिता ब्रह्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति में जो प्रतिबन्धक दुरित (पाप) है उसकी निवृत्ति में होती है। अर्थात् श्रवणादि दृष्टक्रिया और अदृष्ट ये दोनों क्रमशः असम्भावनादि की निवृत्ति के माध्यम से और प्रतिबन्धदुरितनिवृत्ति के माध्यम से ब्रह्म साक्षात्कार के साधन है, उन दोनों में से कोई भी मोक्ष का साधन नहीं है। अद्वैतसिद्धान्त के कुछ आचार्यों (प्रकटार्थकारादि) ने श्रवणविधि को अपूर्वविधि माना है और कुछ आचार्यों (विवरणकारादि) ने नियम विधि माना है। इसके भावों को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि वैतुष्यत्वादिरूप सामान्यधर्मावच्छिन्न को उद्देश्य कर प्रसक्त नखविदलनादि साधनान्तर की निवृत्ति सर्वत्र नियमविधि का फल माना जाता है और विशेष ब्रीहि के उद्देश्य से केवल अवघात का ही विधान होने से अपूर्व विधि ही मानी जाती है। अर्थात् ब्रीहि के दो आकार होते हैं एक सामान्याकार जो लौकिकालौकिक उभय साधारण होता है। अर्थात् लोक में प्रयुक्त होने वाली और यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली उभय साधारण ब्रीहि और दूसरा प्रोक्षणादि से संस्कृत अलौकिक (विशेष) ब्रीहि। सामान्याकार ब्रीहि का तुष विमोक लोक में अवघात, नखविदलन, पाषाण घर्षणादि से प्राप्त है। उसमें से अवधात से भिन्न नखविदलनादि के निवृत्ति के लिए ''ब्रीहीनवहन्ति'' में नियमविधि मानी जाती है। इससे यह बोध होता है कि यज्ञीय ब्रीहि से तुष विमोक रूप कार्य के प्रति कारण एक मात्र अवघात ही होगा, नखविदलनादि नहीं। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली प्रोक्षणादि संस्कार से संस्कृत अलौकिक (विशेष) ब्रीहि के उद्देश्य से केवल अवधात ही श्रुतिविहित है, नखविदलनादि अन्य साधनान्तर अलौकिक ब्रीहि के तुषविमोक के लिए प्राप्त ही नहीं है। अतः साधनान्तर निवृत्यर्थ नियमविधि की भी आवश्यकता नहीं है। अपितु प्रोक्षणादि संस्कार से संस्कृत अलौकिक (विशेष्य) ब्रीहि के उद्देश्य से प्रमाणान्तर के द्वारा अप्राप्त अवधातरूप साधन मात्र का विधान होने से

क्षात्कारप्रतिबन्धनिवृत्तौ श्रवणाद्यतिरिक्तसाधनान्तराप्रसक्तावप्यात्मज्ञानमात्रप्रतिबन्धनिवृत्तौ साङ्ख्यादिशास्त्रस्यापि प्रसक्तेः, तन्निवृत्तिर्विशिष्य वेदान्तवाक्यविचारविधानादितिपरमगम्भीरोऽयं ग्रन्थार्थः।। १७।।

ननु—यदि विश्वं कल्पितं स्यात्, तदा 'जन्माद्यस्य यतः' इति सूत्रे 'यतो वा इमानि'

सत्यानन्दप्रबोधिका

''ब्रीहीनवहन्ति'' में अपूर्व विधि ही मानी जाती है। कहने का भाव यह है कि प्रत्येक विधि वस्तुतः अपूर्व विधि ही होती है, किन्तु जब उद्देश्य पदार्थ के केवल सामान्याकार को ध्यान में रखकर किसी साधन का विधान किया जाता है, तब साधनान्तर प्रसक्त होता है और उसकी निवृत्ति के लिए श्रुति के द्वारा नियम बनाये जाने पर विधि वाक्य को नियम विधि माना जाता है, किन्तु जब उद्देश्य पदार्थ के केवल विशेषाकार को ध्यान में रखकर किसी साधन का विधान किया जाता है तब साधनान्तर की प्राप्ति ही नहीं होती है और उसकी निवृत्ति के लिए विधिवाक्य को नियम विधि भी नहीं मानना पड़ता है। अतः ऐसे स्थल पर विधिवाक्य को अपूर्वविधि ही माना जाता है। प्रकृत में निर्विशेष ब्रह्म के साथ जो आत्मा के अभेद का साक्षात्कार के प्रति जो प्रतिबन्धक है उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति में श्रवणादि नियम जन्य अपूर्व से अतिरिक्त साधनान्तर की प्राप्ति न होने से ''श्रोतव्यः'' में अपूर्व विधि मानी जाती है, किन्तु आत्मज्ञान मात्र में जो प्रतिबन्धक है उसकी निवृत्ति में वेदान्तश्रवणादि से जन्य अपूर्व से अतिरिक्त सांख्यादि शास्त्र के श्रवणादि से जन्य अपूर्व रूप साधनान्तर की प्राप्ति होती है। उसकी निवृत्ति के लिए ''श्रोतव्यः'' ये नियमविधि मानी जाती है, क्योंकि सांख्यादि शास्त्रों के श्रवणादि से जन्य अपूर्व की निवृत्ति विशेष रूप से वेदान्त श्रवणादि से जन्य अपूर्व के विधान से की गयी है। यह एक परम गम्भीर विचार है। यहां पर प्रश्न होता है कि शुद्धात्म साक्षात्कार के प्रतिबन्धक की निवृत्ति में सांख्यादि श्रवण जन्य अपूर्व की प्राप्ति ही नहीं होगी, क्योंकि स्वप्रकाशत्वादि प्रकारक ज्ञान के जनन के प्रति प्रतिबन्धक की निवृत्ति वेदान्तश्रवणादि नियम जन्य अपूर्व से ही होती है। सांख्यादि शास्त्र श्रवणादि से जन्य अपूर्व से अकर्तृत्वादिप्रकारक ज्ञान के प्रति प्रतिबन्धक की निवृत्तिमात्र ही हो सकती है। इसका समाधान यह है कि अकर्तृत्वादि प्रकारकज्ञान के द्वारा ही शुद्धात्मसाक्षात्कार वेदान्तश्रवणादि से होता है। द्वार भूत अकर्तृत्वादि प्रकारकज्ञान का प्रतिबन्धक जो है वह द्वारीभूत शुद्धात्मसाक्षात्कार की उत्पत्ति में भी प्रतिबन्धक माना जाता है। अतः साख्यादिश्रवण से जन्य अपूर्व के द्वारा द्वारभूत अकर्तृत्वादि प्रकारकज्ञान के प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने से द्वारीभूत शुद्धात्मसाक्षात्कार के प्रतिबन्धक की भी निवृत्ति मानी जाती है। इस पर विशेष विचार के लिए लघुचन्द्रिका देखें।। १७।।

पूर्वपक्षी के द्वारा अब अष्टम प्रतिकूल तर्क दिया जा रहा है। यद्यपि अष्टम प्रतिकूल तर्क एकत्वेन व्यवहृत होता है, किन्तु उसमें आन्तरिक भेद भी है। जैसे—

१. विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा ''जन्माद्यस्य यतः'' (ब्र.सू. १.१.२) इति सूत्रे ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' (तै.उ. ३—२) इत्यादि श्रुतौ च जन्माद्युक्तिरयुक्तं स्यात्।'' अर्थात् विश्व को यदि मिथ्या मानोगे तो ''जन्माद्यस्य यतः'' इस सूत्र और ''यतो वा इमानि. ....'' इस श्रुति के द्वारा विश्व की व्यवस्थित सृष्टि का प्रतिपादन असङ्गत हो जायेगा।

२. "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा ''ईक्षतेर्नाशब्दम्'' (ब्र.सू. १.१.५) इति सूत्रे

इत्यादिश्रुतौ च जन्माद्युक्तिः, 'ईक्षतेर्नाशब्दम्'इति सूत्रे 'तदैक्षत'इयादिश्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वककर्तृत्वोक्तिः, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'इति सूत्रे 'आप्तकामस्य का स्पृहा'इत्यादिश्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिः, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्'इति सूत्रे 'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति'इत्यादिश्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेनावैषम्योक्तिः, 'तेजोऽतस्तथा ह्याह'इति सूत्रे 'वायोरग्निः'इत्यादिश्रुतौ च तेज आदेर्वाय्वादिजन्यत्वोक्तिः, 'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च'इति सूत्रे 'पृथिव्यप्सु प्रलीयते' इत्यादिस्मृतौ च पृथिव्यादीनामबादौ लयोक्तिरित्याद्ययुक्तं स्यात्, न हि कल्पिते तत्तद्विरोधशङ्का तन्निराकरणं च युक्तमिति–चेत्।। १८।।

न,प्रपञ्चस्य कल्पितस्यापि व्यावहारिकसत्त्वाभ्युपगमेन तद्दशायां विरोधशङ्कातत्परिहा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

''तदैक्षत'' (छा. ६.२.३) इत्यादि श्रुतौ च ईश्वरस्येक्षापूर्वकर्तृत्वोक्तिरयुक्तं स्यात्।" अर्थात् विश्व को यदि कल्पित मात्र मानोगे तब तो ''ईक्षतेर्नाशब्दम्'' इस सूत्र में और ''तदैक्षत'' इत्यादि श्रुतियों में ईश्वर के ईक्षण पूर्वक विश्वकर्तृत्व का कथन अयुक्त हो जायेगा।

३. "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा ''लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'' (ब्र.सू. २.१.३३) इति सूत्रे ''आप्तकामस्य का स्पृहा'' (माण्डूक्यकारिका–१/९) इत्यादि श्रुतौ च प्रयोजनाभावेऽपि लीलया सृष्ट्याद्युक्तिरयुक्तं स्यात्।" अर्थात् विश्व यदि कल्पना मात्र है तब ''लोकवत्....... .'' इस सूत्र में और ''आप्तकामस्य का स्पृहा'' इस माण्डूक्यकारिका में प्रयोजन का अभाव होने पर भी लीला से सृष्ट्यादि का वर्णन अनुचित होगा।

४. "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्'' (ब्र.सू. २.१.४) इति सूत्रे ''पुण्येन पुण्यं लोकं नयति'' (प्रश्नो.उ. ३.१७) इत्यादि श्रुतौ च कर्मसापेक्षत्वेनावैषम्योक्तिरयुक्तं स्यात्।" अर्थात् विश्व को यदि मिथ्यामात्र मानोगे तब ''वैषम्य.........'' इस सूत्र तथा ''पुण्येन पुण्यम्.....'' इत्यादि श्रुतियों से कर्मसापेक्षत्वेन जीवों को फल देने के कारण ईश्वर में जो अवैषम्य (अपक्षपातता) का उल्लेख किया गया है वह व्यर्थ हो जायेगा।

५. "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा ''तेजोऽतस्तथा ह्याह'' (ब्र.सू. २.३.१०) इति सूत्रे ''वायोरग्निः'' (तै.उ. ३.१.१) इत्यादि श्रुतौ च तेज आदेर्वाय्वादिजन्यत्वोक्तिरयुक्तं स्यात्।" अर्थात् विश्व को कल्पित मानने पर ''तेजोऽतः....'' इस सूत्र तथा ''वायोरग्निः'' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित तेज आदि की वायुनिष्ठकारणता असङ्गत सिद्ध होगी।

६. "विश्वं यदि कल्पितं स्यात् तदा ''विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च (ब्र.सू. २.३.१४) इति सूत्रे ''पृथिव्यप्सु प्रलीयते'' (विष्णु पुराण) इत्यादि स्मृतौ च पृथिव्यादीनामबादौ लयोक्तिरयुक्तं स्यात्।" अर्थात् विश्व को कल्पित मानने पर ''विपर्ययेण....'' इस सूत्र तथा ''पृथिव्यप्सु प्रलीयते'' इत्यादि स्मृतिवाक्यों के द्वारा पृथिवी आदि का जलादि में लय का विधान असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि पूर्वोक्त सभी स्थलों पर जो तत्तद् विरोध की शङ्का और उनका तत्तद् समाधान है वह विश्व के कल्पित मानने पर असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि कल्पित वस्तु के जन्मादि का कथन करना व्यर्थ ही होता है। कल्पित पृथिव्यादि का लय तो अधिष्ठान चैतन्य में सम्भव है, न कि जलादि में।। १८।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी ने जो दोष दिये हैं, वह प्रपञ्च को प्रातिभासिक मानकर दिये हैं, जब कि सिद्धान्त मत में प्रपञ्च को कल्पित मानते हुए भी प्रातिभासिक न मान कर व्यावहारिक माना जाता है। प्रातिभासिक और व्यावहारिक में भेद होता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान मात्र से बाधित व्यावहारिक पदार्थ होता है

रयोरुचितत्वात्, इन्द्रजालादावध्यस्तेऽप्यैन्द्रजालिकादेरीक्षापूर्वकस्त्रष्टृत्वादेर्दर्शनाच्च, यथा च कल्पितस्यापि जन्माद्युपपत्तिस्तथाऽनिर्वचनीयवादे वक्ष्यते। स्वप्नेऽपि सृष्ट्यादेः श्रुत्या प्रतिपादनाच्च। अध्यस्तस्यापि सर्पस्य भयकम्पादिजनकत्ववत् वाय्वादीनां तेजआदिजनकत्वमप्युपपन्नम्, 'तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः' इति सूत्रे च तत्तद्भावापन्नस्य ब्रह्मण एव कारणत्वाभिधानात्। अबादौ पृथिव्यादिलयोक्तिरपि तत्तद्भावापन्नचैतन्ये व्याख्येयेति नाधिष्ठानातिरिक्ते लयोक्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

और ब्रह्मज्ञानेतरज्ञान से बाधित प्रातिभासिक पदार्थ होता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा प्रपञ्च को प्रातिभासिक मानकर दिया गया दोष अकाण्ड ताण्डव मात्र है। व्यावहारिक प्रपञ्च के विषय में व्यवहार दशा में विरोध की शङ्का करना और शङ्का का समाधान करना उचित ही है। यदि प्रपञ्च को प्रातिभासिक मान लिया जाय तब भी दोष नहीं है, क्योंकि अध्यस्त इन्द्रजालादि की भी ऐन्द्रजालिक (जादूगर) निष्ठ ईक्षण पूर्वक रचनादि देखी जाती है। कल्पित प्रपञ्च के उत्पत्यादि में उपपत्ति है, अर्थात् कल्पित प्रपञ्च की उत्पत्यादि मानने में कोई भी दोष नहीं है, इसको प्रथम परिछेद की समाप्ति के अवसर पर अनिवर्चनीयवाद के निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जायेगा। दूसरी बात यह है कि श्रुतियों के द्वारा भी स्वाप्न पदार्थों की सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। जैसे ''अथ रथान् रथ योगान् पथः सृजते'' (बृ.उ. ४. ३.१०)। अतः कल्पित पदार्थ के विषय में शङ्का करना और उसके समाधान का प्रतिपादन करना अनुचित नहीं है। जैसे कल्पित सर्पादि से भयादि की उत्पत्ति होती है, कल्पित शुक्तिरजत से नहीं, वैसे ही कल्पित वायु आदि से तेज आदि की उत्पत्ति होती है, कल्पित जलादि से तेज आदि की उत्पत्ति नहीं होती है। ''तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः'' (ब्र. सू. २.३.१३) इत्यादि सूत्रों में तत्तद्वाय्वादिभावापन्नसद्रूपब्रह्म अर्थात् वाय्वादि अवच्छिन्न ब्रह्म को ही तेज आदि प्रपञ्च का कारण बतलाया गया है। इसी प्रकार जलादि में पृथिव्यादि के लय का कथन के द्वारा भी जलाद्यवच्छिन्नचैतन्य में पृथिव्यादि के लय को कहा गया है। अतः अधिष्ठान से अतिरिक्त में लय और अधिष्ठान से अतिरिक्त से उत्पत्ति का कथन नहीं है। ईश्वर के द्वारा विषम सृष्टि की रचना क्यों की गयी? भयङ्कर नरकों में जीवों को डालकर नैर्घृण्य (निष्ठुरता) क्यों की गयी? इत्यादि जो शङ्का है और जीवों के पाप–पुण्य की सापेक्षता दिखला कर जो समाधान दिया गया है वह सभी उपासनावस्था से सम्बन्धित है। उपासनावस्था में जीव–ईश्वरादि के विभाग का समर्थन सूत्रकार ने आपाततः (गौणरूप से) परिणामवाद मानकर किया है–''भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्'' (ब्र.सू. २.१.१३)। अर्थात् (भोक्त्रापत्तेः) अद्वितीय ब्रह्म यदि प्रपञ्च का उपादान कारण है तब सभी पदार्थ ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण भोग्य पदार्थ भोक्ता हो जायेंगे, ऐसा होने पर (अविभागः) प्रत्यक्ष सिद्ध भोक्ता भोग्यादि का विभाग ही नहीं रहेगा (चेत्) ऐसा यदि कहो तो (लोकवत्) जैसा व्यवहार में घटादि कार्य यद्यपि मृत्तिका से अभिन्न है तो भी परस्पर कथंचित् भिन्न है (स्यात्) वैसे ही कारण से अभिन्न होने पर भी भोग्यादि प्रपञ्च का परस्पर विभाग रहेगा। अद्वैत वेदान्त का प्रधान सिद्धान्त विवर्तवाद है। इसे सूत्रकार ने इस सूत्र में कहा है– ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'' (ब्र.सू. २.१.१४)। अर्थात् (तदनन्यत्वम्) कार्य जगत् की कारण ब्रह्म से अनन्यता है, (आरम्भण शब्दादिभ्यः) क्योंकि ''वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' (छा. ६.१.१) "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा.उ. ६.८.७) ''ब्रह्मैवेदं सर्वम्'' (मु.उ. २.२. ११) इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ऐसा ही अवगत होता है। इस

वैषम्यनैर्घृण्यप्रयोजनादिशङ्कापरिहारादिकं तूपासनावस्थायाम्। 'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत्'इति आपाततः परिणामवादाभ्युपगमेन, 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः'इति तु विवर्तवादे परमसिद्धान्तदशायां न शङ्का न चोत्तरम्, मायाविन इवेश्वरस्य स्वप्रतिबिम्बभूतजीवभ्रमयितृत्वेन सर्वविरोधनिरासोपपत्तेः ननु—ईश्वरस्यापि सपरिकरस्य जीवेनाध्यस्तत्वात् कथं भ्रमयितृत्वम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सूत्र पर भाष्य लिखते हुए भगवान् भाष्यकार प्रारम्भ में ही लिखते हैं ''अभ्युपगम्य चेमं व्यावहारिकं भोक्तृभोग्यलक्षणं विभागं स्याल्लोकवदिति परिहोरोऽभिहितः, नत्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात्तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते।'' अर्थात् व्यावहारिक भोक्तृ भोग्यादि विभाग को स्वीकार ''स्याल्लोकवत्'' इस सूत्र भाग से उक्त सूत्र के पूर्वार्ध में उक्त शङ्का का परिहार किया गया है परन्तु विभाग परमार्थतः नहीं है, जिससे वे कार्यकारण अनन्य अवगत होते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए संक्षेपशारीरककार ने भी कहा है—

आरम्भसंहितविकारविवर्तवादान् आश्रित्यवादिजनता खलुवावदीति।
आरम्भसंहतिमते परिहृत्य वादो द्वावत्र संग्रहपदं नयते मुनीन्द्रः।। सं. शा. २.५७
तत्रापि पूर्वमुपगम्य विकारवादं भोक्त्रादिसूत्रमवतार्य विरोधनुत्यै।
प्रावर्तत व्यवहृतेः परिरक्षणाय कर्मादिगोचरविधावुपयोगहेतोः।। सं. शा. २.५८

अर्थात् आरम्भ्वाद संघातवाद परिणामवाद और विवर्तवाद का आश्रय कर के वादिगण विवाद किया करते हैं, किन्तु औपनिषद तत्त्व प्रतिपादन के विरुद्ध होने से इस शास्त्र में आरम्भवाद तथा संघातवाद की उपेक्षा कर के मुनीन्द्र ने परिणामवाद और विवर्तवाद को संग्राह्य माना है। उन दोनों वादों में से पहले परिणामवाद को मान (भोक्तापत्तेः), आदि सूत्रों का अवतरण देकर प्रमाणान्तर के विरोधों का परिहार करने के लिए कर्मादिविषयकविधि में उपयोगी होने के कारण व्यवहार रक्षा को दृष्टिकोण में रखते हुए भगवान् सूत्रकार प्रवृत्त हुए। यहां पर शङ्का होती है कि पूर्व सूत्र ''भोक्त्रापत्तेः...... ..'' में परिणाम स्वीकार किया गया है और उत्तर सूत्र "तदनन्यत्वम्......" में विवर्तवाद स्वीकार किया गया है। इससे जिज्ञासु को क्या लाभ होता है? इसका समाधान देते हुए संक्षेपशारीरककार ने कहा है—

विवर्तवादस्य च पूर्वभूमिर्वेदान्तवादे परिणामवादः।
व्यवस्थितेऽस्मिन्परिणामवादे स्वयं समायाति विवर्तवादः।। सं.शा. २.६१

अर्थात् अद्वैतवेदान्त में विवर्तवाद की प्रथमावस्था परिणामवाद है, इस परिणामवाद की व्यवस्था हो जाने पर विवर्तवाद स्वयं ही प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के विवर्तवाद रूप परम सिद्धान्त अवस्था में न तो कोई शङ्का ही होती है और न ही कोई उत्तर की अपेक्षा होती है। जैसा कि पञ्चदशीकार ने कहा है—

चोद्यं वा परिहारो वा क्रियतां द्वैतभाषया।
अद्वैतभाषया चोद्यं नास्ति नापि तदुत्तरम्।।

मायावी की तरह ईश्वर भी स्वप्रतिबिम्बभूत जीवों का भ्रमयिता होने के कारण सभी प्रकार के विरोधों का परिहार हो जाता है। अर्थात् जैसे जादूगर के द्वारा रचित नगर में दिखलायी देने वाले पुरुषों में उत्कर्ष अपकर्ष का आपादन नहीं किया जाता है, वैसे ही ईश्वर रचित जीवों में भी उत्कर्षादि का आपादन उचित नहीं होता है, क्योंकि सभी मायामात्र हैं। जैसा कि कल्पतरूकार ने कहा है—

न अविद्योपहितचित एवानादेरीश्वरत्वेनान्तःकरणोपहितजीवकल्पितत्वायोगात्, जीवकल्पितत्व–पक्षेऽपि तादृग्धर्मविशिष्टतयैव कल्पनेन तस्य भ्रमयितृत्वाद्युपपत्तेः, 'परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेदुरगो यथा न तु नभो मलिनम्' इति न्यायात्।। १९।।

ननु—न जीवानां वाय्वादिभ्योऽग्न्याद्युत्पत्तिरिति भ्रमोऽस्ति, यः स्वापभ्रम इव श्रुतेरालम्बनं

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतिबिम्बगताः पश्यन् ऋजुवक्रादिविक्रियाः।
पुमान् क्रीडेद् यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः।।

इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि आपके सिद्धान्त में सर्वज्ञत्वादि सहित ईश्वर भी जीव के द्वारा कल्पित माना जाता है ईश्वर और जीव दोनों ही कल्पित होने से कल्पित ईश्वर में जीव का भ्रमयितृत्व मानना उचित नहीं है। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि षड् अनादि पदार्थों में अविद्योपहित चेतन ईश्वर भी माना जाता है। अतः अनादि होने के कारण सादि अन्तःकरण तत्संस्कार अन्यतर उपहित अज्ञान में प्रतिबिम्बित जीव के द्वारा कल्पित नहीं हो सकता है। जीव के द्वारा कल्पित ईश्वर मानने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि दृष्टिसृष्टि वाद में जीव अविद्यामात्रोपाधिक है और वही प्रपञ्च का उपादान भी है। इसलिए भ्रमयितृत्वादि विशिष्ट ईश्वर भी जीवोपादानक ही है। अर्थात् ईश्वर मेरा भ्रमयिता है इस प्रकार से जीव के द्वारा ईश्वर की कल्पना की जाती है। अतः ईश्वर में भ्रमयितृत्वादि की उपपत्ति हो जायेगी। जैसा कि संक्षेपशारीरककार ने कहा है—

परिकल्पितोऽपि सकलज्ञतया गुरुरेव पूर्णमवबोधयति।
परिकल्पितोऽपि मरणाय भवेद् उरगो यथा न तु नभो मलिनम्।। सं०—शा० २/२२७

अर्थात् प्रश्न था कि ईश्वर जब जीव के द्वारा कल्पित है तब कल्पित ईश्वर जीव को ब्रह्म का बोध कैसे करा सकता है? यदि कल्पित ईश्वर जीव को ब्रह्म का बोध करा सकता है तब कल्पित घटादि जीव को ब्रह्म का बोध क्यों नहीं करा सकते? अर्थात् सत्य पदार्थ में ही कार्यक्षमता देखी जाती है, मिथ्या पदार्थ में नहीं। अतः ईश्वर जो सृष्टि करता है और गुरु जो जीव को ब्रह्मबोध कराते हैं उनको सत्य मानना चाहिए। इसके समाधान में आचार्य ने कहा कि जैसे देवदत्त के द्वारा कल्पित सर्प महाभय उत्पादन के द्वारा देवदत्त के मरण का हेतु बनता है, किन्तु देवदत्त के द्वारा कल्पित नील गगन महाभय उत्पादन के द्वारा देवदत्त के मरण का हेतु नहीं बनता है। इसी प्रकार जीव के द्वारा कल्पित अन्य पदार्थ (घटादि) जीव को होने वाले ब्रह्मज्ञान के प्रति निमित्त न बनने पर भी जीव के द्वारा कल्पित गुरु आदि जीव को ब्रह्मज्ञान करा ही सकते हैं। अतः परिकल्पित ईश्वर में भी प्रपञ्च की रचनादिरूप कार्यक्षमता मानने में कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि सत्य वस्तु ही कार्यक्षम होती है ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से कल्पित वस्तु भी कार्यक्षम होती है।। १९।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यह नियम है कि जिस पुरुष को रज्जु में सर्प का भ्रम होता है, वही पुरुष उस सर्पादि का कल्पक होता है। प्रकृत में ''वायोरग्नि'' इत्यादि श्रुति में वर्णित वायु अग्नि आदि का कल्पक किसको माना जाय, जीव अथवा ईश्वर को। जीव को तो नहीं मान सकते, क्योंकि वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति होती है— यह भ्रम जीवों का नहीं हो सकता है। जैसे स्वप्न में जीवों को भ्रम होता है कि वह मार्ग—रथ—अश्वादि

स्यात्, न च भ्रान्तिं विना कल्पितमस्ति, न चैतद्वाक्यजभ्रान्तिकल्पितमेव एतद्वाक्यालम्बनम्, वेदस्य भ्रमजनकत्वप्रसङ्गात्, (अनुवादे तु न दोषः।) न चेश्वर एव तत्कल्पकः, तस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तदभ्युपगमेऽपि न निस्तारः, भ्रान्तेर्देहेन्द्रियादिकार्यत्वात् तेषां च पृथिव्यादि–कार्यत्वात्, पृथिव्याद्युत्पत्तेः प्राक् भ्रान्त्ययोगादिति–चेन्न, भ्रान्तिमात्रे देहेन्द्रियाद्यपेक्षायाः प्रागेव निरासात्, ईश्वराध्यस्तवाय्वादिहेतुकाग्न्याद्युत्पत्त्यालम्बनत्वेन वेदस्य भ्रमाजनकत्वात्, अध्यस्तस्य चाध्यस्तत्वेन स्फुरणान्न मायाविन इव ईश्वरस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गः। न चाध्यस्तत्वे उत्पत्त्याद्यनुपपत्तिः,

सत्यानन्दप्रबोधिका

को देखता है। अर्थात् स्वप्न में जीव प्रातिभासिक रथादि को उत्पन्न करता है और श्रुति ''अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते'' (बृ.उ. ४.३.१०) इसके द्वारा उसका अनुवाद करती है, किन्तु प्रकृत में वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति की कल्पना जीव करता है और ''वायोरग्निः'' यह श्रुति उसका अनुवाद कर रही है ऐसा सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि पूर्वभावी वायु आदि पञ्चभूतों के पश्चाद्भावी जीव की कल्पना का विषय वायु आदि नहीं हो सकता है। भ्रान्ति के बिना जीव वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति की कल्पना नहीं कर सकते हैं। यदि कहो कि ''वायोरग्निः'' इस श्रुतिवाक्य से जन्य जो भ्रान्ति उस भ्रान्ति से कल्पित ही इस वाक्य का विषय है। अर्थात् जीव को उक्त कल्पना प्रत्यक्षादि से न होने पर भी उक्त वेदवाक्य से ही भ्रम होता है और उस भ्रम के आधार पर वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति की कल्पना जीव करता है। इस प्रकार से उक्त वेदवाक्य से जो भ्रम होता है वही वेद वाक्य में लिखा गया है। अतः इसको भी स्वप्न भ्रम के समान माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि वेद वाक्य को भ्रम का जनक मानने पर वेद में अप्रामाण्य आ जायेगा। मूलस्थ ''अनुवादे तु न दोषः'' यह वाक्य सभी पुस्तकों में उपलब्ध नहीं है। न्यायामृत के अनुसार भी यह पाठ मूल में उचित नहीं लगता है। उक्त पाठ को मूल में मानने पर यह अर्थ होगा कि यदि श्रुति वास्तव में ईश्वरसृष्ट वायु आदि का अनुवाद मात्र करती है तब उसके प्रामाण्य पर आघात नहीं आता है, क्योंकि भूतार्थवाद मानकर उक्त वाक्य में प्रामाण्य माना ही जा सकता है, जैसे "बज्रहस्तः पुरन्दरः" इस अनुवादवाक्य में माना जाता है। वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति होती है– यह भ्रम ईश्वर को होता है ऐसा भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि ईश्वर को भी जीव के समान भ्रान्त मानना पड़ेगा। यदि ईश्वर को भ्रान्त स्वीकार करोगे तो भी दोष आयेगा, क्योंकि देहेन्द्रियादि के बिना भ्रम ईश्वर को हो ही नहीं सकता है। देहेन्द्रियादि पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए पृथिव्यादि की उत्पत्ति से पहले वायु आदि से अग्न्यादि की उत्पत्ति होती है–ऐसा भ्रम ईश्वर को हो नहीं सकता है। इसलिए वाय्वादि से अग्न्यादि की उत्पत्ति को भ्रम न मानकर यथार्थ मानना चाहिए। ऐसा मानने पर श्रुतियों के प्रामाण्य पर भी आघात नहीं होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि किसी–किसी भ्रान्ति में देहेन्द्रियादि की अपेक्षा होने पर भी सभी भ्रान्तियों में देहेन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होती है। इसका निरूपण खण्ड १२ में किया जा चुका है। ईश्वर से कल्पित जो वाय्वादि हेतुक अग्न्यादि की उत्पत्ति, उसी उत्पत्ति का कथन करने से वेद में भ्रम जनकत्व भी नहीं आयेगा, क्योंकि वेद के द्वारा जैसा है वैसा ही कहा गया है। ऐसे ही पूर्व पूर्व कल्पसिद्ध जीव के भ्रम को अनुवाद कर के भी श्रुति अद्वैत का प्रतिपादन कर सकती है। जो मिथ्या है उसको मिथ्या रूप से कल्पना करने वाला ईश्वर को जादूगर

अनध्यस्तस्य क्वाप्युत्पत्त्याद्यदर्शनेनाध्यस्तत्वस्यैव तदुपपादकत्वात्, सत्कार्यवादासत्कार्यवादनिषेधे–नानिर्वचनीयकार्यवादमात्रे कार्यकारणभावपर्यवसानात्। तदेवं कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्याद्वये ब्रह्मणि कल्पनोपपत्तेर्न प्रतिकूलतर्कपराहतिः।। २०।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणि प्रपञ्चकल्पनोपपादनेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणम्।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की तरह भ्रान्त भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि मिथ्या को सत्यरूप से अथवा सत्य को मिथ्यारूप से ईश्वर कल्पना करता तब तो उसमें भ्रान्तत्व आता, किन्तु वैसा है नहीं। मिथ्या प्रपञ्च की उत्पत्यादि मानने पर भी कोई दोष नहीं होगा, क्योंकि मिथ्या पदार्थ की ही उत्पत्यादि देखी जाती है, सत्य पदार्थ ब्रह्म की उत्पत्यादि होती ही नहीं। सिद्धान्ती जो ईश्वर को कारण मान रहे हैं और प्रपञ्च को कार्य। इस पर प्रश्न होता है कि उत्पत्ति से पहले कार्य सत् था? अथवा असत्? उभय पक्ष ही ठीक नहीं है, क्योंकि यदि उत्पत्ति से पहले कार्य विद्यमान है तो उसको उत्पन्न करने के लिए किया गया प्रयत्न व्यर्थ होगा और यदि असत् (अविद्यमान) है तब असत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती। इसका समाधान देते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सिद्धान्त मत में सत्कार्यवाद और असत् कार्यवाद से भिन्न अनिर्वचनीयवाद में ही कार्य कारण भाव माना जाता है। इसलिए समस्त कार्य उत्पत्ति के पूर्व और पश्चाद् सदसदुभय भिन्न अनिर्वचनीयमात्र हैं। इस प्रकार से सम्पूर्ण प्रपञ्च की अद्वैत ब्रह्म में कल्पना की उपपत्ति हो जाती है। इसलिए पूर्वोक्त प्रतिकूल तर्कों से मिथ्यात्व साधक दृश्यत्वादि हेतुओं में कार्य अक्षमत्व का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।। २०।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ब्रह्मणि प्रपञ्चकल्पनोपपादनेन प्रतिकूलतर्कनिराकरणम् n

9

सामान्येन मिथ्यात्वश्रुतिविचारः

एतदनुमानम्, 'एकमेवाद्वितीयम्'—इत्यादिश्रुतिरप्यनुगृह्णाति। ननु—श्रुत्या स्वस्वरूपस्वप्रा—माण्यस्वयोग्यतादेर्मिथ्यात्वाबोधनेन प्रत्यक्षादिसिद्धतत्सत्त्वोपजीवनेन च ब्रह्मेतरसकलमिथ्यात्वासिद्धिः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्व में सामान्यरूप से यह कहा गया था कि ''प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, शुक्तिरजतवत्'' इस अनुमान की पुष्टि श्रुति प्रमाण से भी होती है। अब प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान के पोषक विशेष रूप से तत्तद् श्रुतिप्रमाणों को उपस्थापित किया जा रहा है। इसी को स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमान का पोषक ''एकमेवाद्वितीयम्'' (छां. उ०.६.२.१) यह श्रुति भी है। इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए सिद्धान्ती से कह रहा है कि क्या मिथ्यात्वबोधकश्रुति श्रुतिस्वरूप, श्रुतिप्रामाण्य और श्रुतियोग्यता इन तीनों के मिथ्यात्व का बोधन नहीं करती है? अथवा करती है? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर दोष दे रहा है कि श्रुतिस्वरूपादि तीनों का श्रुति के द्वारा मिथ्यात्व का बोधन न होने से श्रुति के द्वारा ब्रह्मेतर सम्पूर्ण प्रपञ्च के मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं हुई, क्योंकि उक्त तीनों भी प्रपञ्चान्तर्गत है, केवल इतना ही नहीं अपितु घटादि के मिथ्यात्व की सिद्धि भी श्रुति के द्वारा नहीं हो पायेगी, क्योंकि श्रुति जो प्रकाश में आयी है वह मिथ्यात्वधर्मी घटादि के ग्राहक प्रत्यक्षादि के प्रामाण्य को आश्रय कर के ही आयी है। अतः जो प्रत्यक्षादि प्रमाण से असिद्ध है उन अलीक पदार्थों को श्रुति मिथ्या नहीं कह सकती है, इसलिए प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य श्रुति के प्रति उपजीव्य है। इसलिए अपने उपजीव्यभूत प्रत्यक्षादि प्रामाण्य का निराकरण श्रुति नहीं कर सकती है। अतः सिद्धान्ती को प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध घटादि का सत्त्व भी स्वीकार करना पड़ेगा। अपने उपजीव्य का बाध कोई भी नहीं करता है, इसमें महर्षि पतञ्जली की परिभाषा को उद्धृत करता हुआ पूर्वपक्षी कह रहा है— सन्निपातलक्षणो विधिः=सन्निपात नाम सम्बन्ध का है और लक्षण नाम निमित्त का है। अतः अर्थ होगा— सम्बन्ध है निमित्त जिसका एवम्भूत जो विधि, तद्विघातस्य=स्वनिमित्तभूत सन्निपात के विघात का, अनिमित्तम्=कारण नहीं बनती है। जैसे शतानि सहस्राणि इत्यादि में शि के सन्निपात को निमित्त मानकर प्रवर्तमान नुम्विधि नान्तत्व द्वारकषट्संज्ञाप्रयुक्त शिलोप के कारण स्व (नुम्) निमित्तभूत शि के सन्निपात के विघात का निमित्त नहीं बनती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व का धर्मी जो प्रपञ्च उसका ग्राहक जो प्रत्यक्ष उस प्रत्यक्षनिष्ठ प्रामाण्य के सम्बन्ध को निमित्त करके प्रवर्तमान श्रुति प्रत्यक्षनिष्ठ प्रामाण्य के सन्निपात के विघात का निमित्त नहीं बन सकती है। अर्थात् जिस पदार्थ का आश्रय लेकर जो पदार्थ प्रवृत्त होता है वह उसी के विघात का निमित्त नहीं बनता है। प्रकृत में अपनी सिद्धि के लिए श्रुति को साक्षत् या परम्परया प्रत्यक्ष की अपेक्षा है। इसलिए श्रुति के द्वारा प्रत्यक्ष का साक्षात् अथवा विषय के बाध के द्वारा बाध नहीं हो सकता है। इसी आशय से मूल में कहा गया कि पूर्वोक्तन्याय के आधार पर प्रत्यक्षादि से सिद्ध जो घटादि हैं, उनके मिथ्यात्व की असिद्धि है। यदि सिद्धान्ती द्वितीय पक्ष को स्वीकार करते हैं। अर्थात् मिथ्यात्वबोधकश्रुति स्वस्वरूप, स्वप्रामाण्य और स्वयोग्यतादि के मिथ्यात्व का बोधन कराती है। तब पूर्वपक्षी दोष देते हुए कह रहा है कि यदि श्रुति अपने योग्यतादि के मिथ्यात्व का बोधन करती है तब अद्वैतश्रुति प्रतिपादित

'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'इति न्यायेन प्रत्यक्षादिसिद्धघटादिमिथ्यात्वासिद्धिश्च, योग्यतादिमिथ्यात्वबोधने च श्रुत्यर्थस्यातात्त्विकत्वापत्तिः, शब्दबोध्यस्य शब्दतत्प्रामाण्ययोग्यतादिना समसत्ताकत्वनियमात्। न च सदर्थस्वाप्नदेवतावाक्ये व्यभिचारः, आप्तत्वापौरुषेयत्वायोगेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतरूप अर्थ को भी मिथ्या ही मानना होगा, क्योंकि श्रुति के द्वारा जनित बोध और बोधित अर्थ को नियमतः शब्द और शब्दप्रामाण्य तथा शब्दयोग्यता के समान सत्तावाला माना जाता है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि ''यत्र यत्र शब्दत्वं तत्र तत्र स्वस्वरूपादिसमानसत्ताकार्थबोधकत्वम्'' यह व्याप्ति सदर्थक कल्पित स्वाप्नदेवता वाक्य में व्यभिचरित है, क्योंकि उक्त सदर्थक वाक्य में व्याप्य शब्दत्व के रहने पर भी व्यापक कल्पित स्वस्वरूपादि के समानसत्ताक अर्थ बोधकत्व नहीं है। अर्थात् स्वप्न में जो देवता ने कहा कि तुम तीन दिनमें अभीष्ट पद को प्राप्त कर लोगे। जागने के पश्चात् वास्तव में ही तीन दिन में अभीष्ट पद को प्राप्त कर लिया। ऐसे स्वाप्नदेवता वाक्य में शब्दत्व रूप व्याप्य तो हैं, किन्तु व्यापक नहीं है, क्योंकि स्वाप्नवाक्य का स्वस्वरूपादि तीनों प्रातिभासिक हैं और अर्थ व्यावहारिकसत्य है। अतः समसत्ताकत्व सदर्थकस्वाप्नदेवता वाक्य में न होने से उक्त व्याप्ति व्यभिचरित है। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रामाण्य के कारणीभूत आप्तोक्तत्व और अपौरुषेयत्व का अभाव होने से स्वाप्नदेवता वाक्य शब्दत्वेन प्रमाण नहीं माना जा सकता है, अपितु उपश्रुति के जैसे तादृश शाब्दज्ञान सदर्थ का अनुमापक होता है। पूर्वपक्षी के कहने का आशय यह है कि उक्त स्वाप्नदेवता वाक्य का अर्थ जो अबाधित है वह शब्दत्वेन उक्त वाक्य में प्रामाण्य है, इसलिए नहीं, क्योंकि उक्त वाक्यगत प्रामाण्य तभी होता यदि उक्त वाक्य आप्तोच्चरित अथवा अपौरुषेय होता अर्थात् अपने अर्थ में लौकिकवाक्य को आप्तोक्तत्वेन प्रमाण माना जाता है और अपने अर्थ में वैदिक वाक्य को अपौरुषेयत्वेन प्रमाण माना जाता है, किन्तु उक्त वाक्य में न तो आप्तोच्चरितत्त्व है और न तो अपौरुषेयत्व ही है। अतः शब्द की दृष्टि से उक्त वाक्य का प्रामाण्य न होने से शब्द की दृष्टि से उक्त वाक्य का अर्थ मिथ्या (प्रातिभासिक) है। अतः उक्त वाक्य के स्वस्वरूपादि की सत्ता जैसे प्रातिभासिक है वैसे ही शब्द की दृष्टि से उक्तवाक्य के अर्थ की सत्ता भी प्रातिभासिक होने से उक्त व्याप्तिगत व्यभिचारदोष का वारण हो गया। स्वप्नदेवता वाक्य का ज्ञान सदर्थ का अनुमापक होता है। अतः उसमें लिङ्गत्वेन प्रमाण माना जाता है, जैसे उपश्रुति को। भविष्य सूचक अन्यार्थक शब्द को उपश्रुति कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—

नक्तं निर्गत्य यत्किञ्चिच्छुभाशुभकरं वचः।
श्रूयते तद्विदुर्धीरा देवप्रश्नमुपश्रुतिम्।। (कोष)

शकुन विचारक लोग अपने मन में चिन्तित प्रश्न का उत्तर जानने के लिए अन्धेरी रात्रि में घर से बाहर निकल पड़ते हैं और लोगों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सुनकर अपने अभिप्रेतार्थ का अनुमान कर लेते हैं। अर्थात् "अमुककार्यं मया कर्तव्यम्, उपश्रुतिविषयत्वात्" ऐसे स्थल पर लोगों के द्वारा प्रयुक्त जो वाक्य है उसको उपश्रुति कहा जाता है। वह उपश्रुति शब्दत्वेन शकुनार्थी पुरुष के अभिप्रेतार्थ में प्रमाण नहीं मानी जाती है, क्योंकि उसमें आप्तोच्चरितत्त्व और अपौरुषेयत्व नहीं है, किन्तु उसमें अनुमापकत्वेन प्रामाण्य है। इसी प्रकार स्वाप्नदेवता वाक्य को भी समझना चाहिए। अर्थात् "उक्तवाक्यं प्रमाणम्, अबाधितार्थविषयकत्वात्, उपश्रुतिवत्।" इसलिए यदि सिद्धान्ती अद्वैतश्रुति के द्वारा स्वस्वरूपादि में भी मिथ्यात्व की सिद्धि मानते

तस्य शब्दत्वेन प्रामाण्यायोगात्, किन्तूपश्रुतिवत्ताद्दशशब्दज्ञानं लिङ्गत्वेन प्रमाणमिति चेत्।। १।।

न,निर्दोषशब्दत्वेन तस्य शब्दविधयैव प्रामाण्यसम्भवात्, आप्तत्वापौरुषेयत्व–योर्दोषाभाव एवोपक्षयाद् व्याप्त्याद्युपस्थितिकल्पने गौरवात्, वक्तुः कल्पितत्वेऽपि तद्गतदोषस्यार्थसंवादेन कल्पयितुमशक्यत्वाच्च। तथा च शब्दसमसत्ताकत्वस्य व्यभिचाराद् योग्यतादिसमसत्ताकत्वनियमसिद्धेरप्रयोजकत्वाच्च, परोक्षत्वानित्यत्वाद्युपाधिसम्भवाच्च, श्रुत्या

सत्यानन्दप्रबोधिका

हैं, तब अद्वैतश्रुति के द्वारा बोधित अद्वैतरूप अर्थ भी मिथ्या होगा। यह पूर्वपक्षी का आशय है। यहां पर अनुमान का आकार यह होगा ''अद्वैतश्रुतिबोधितोऽर्थो मिथ्या, मिथ्याशब्दप्रतिपादितत्त्वात्, प्रतारकवाक्यप्रतिपादितार्थवत्।''।। १।।

सर्वप्रथम आचार्यप्रवर पूर्वपक्षी के द्वितीय विकल्प को स्वीकार कर समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अद्वैत श्रुति के द्वारा सकल प्रपञ्चगतमिथ्यात्व का बोधन जैसे होता है वैसे ही स्वस्वरूप स्वप्रामाण्य तथा स्वयोग्यतादि में भी मिथ्यात्व का बोधन होता है। इस पर पूर्वपक्षी ने जो कहा था कि जब श्रुति का स्वस्वरूपादि मिथ्या है, तब उससे बोधित अद्वैतरूप अर्थ भी मिथ्या होगा, क्योंकि श्रुति के द्वारा बोधित अर्थ श्रुति के स्वस्वरूपादि के समानसत्तावाला होता है, किन्तु पूर्वपक्षी का यह नियम स्वाप्नदेवतावाक्य में व्यभिचरित है। इस व्यभिचारदोष का वारण करते हुए पूर्वपक्षी ने कहा था कि उक्त देवता वाक्य को शब्दत्वेन प्रमाण नहीं माना जाता, किन्तु अनुमापकत्वेन प्रमाण माना जाता है, क्योंकि उक्त देवता वाक्य में आप्तोक्तत्व और अपौरुषेयत्व नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्त देवता वाक्य को भी शब्दत्वेन ही प्रमाण माना जाता है, क्योंकि स्वाप्नदेवता वाक्य भी आप्तवाक्य है। आप्तवाक्य का अर्थ ''आप्तस्य वाक्यम्'' ऐसा नहीं है किन्तु आप्तवाक्य का अर्थ होता है निर्दोष वाक्य। जैसा कि सांख्यतत्त्वकौमुदी की जो यह पञ्चम कारिका है–

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।
तल्लिङ्गलिङ्गिपूर्वकमाप्तश्रुतिराप्तवचनम्।।

इसकी व्याख्या के अवसर पर आप्त शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यप्रवर श्रीवाचस्पतिमिश्र ने कहा है– आप्ता–प्राप्ता युक्तेति यावत्। आप्ताचासौ श्रुतिश्चेति आप्तश्रुतिः। इस प्रकार से आप्त का अर्थ युक्त अर्थात् निर्दोष किया गया है। अतः निर्दोष वाक्य पौरुषेय हो या अपौरुषेय, दोनों ही शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं। शब्द गत आप्तोच्चरितत्त्व और अपौरुषेयत्व' केवल शब्द की निर्दोषता को सिद्ध करते हैं, प्रामाण्य में साक्षात् उपयोगी नहीं होते हैं। अर्थात् शब्दगत दोष के माध्यम से आने वाले अप्रामाण्य के विरोधी मात्र होते है। शब्द तो स्वतः ही प्रमाण होता है। स्वाप्नदेवता वाक्य भी निर्दोष शब्द है, क्योंकि उसके द्वारा बोधित अर्थ भी अबाधित है। इस प्रकार से स्वाप्नदेवतावाक्य शब्दत्वेन प्रमाण सिद्ध हो जाने पर उक्त वाक्य में पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति व्यभिचरित हो जाने से पूर्वपक्षी की उक्त व्याप्ति खण्डित हो गयी। इसलिए अद्वैतश्रुति के स्वस्वरूपादि के मिथ्या होने पर भी सदर्थक स्वाप्नदेवता वाक्य के जैसे अद्वैत रूप तात्विक अर्थ का बोध हो ही सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि पूर्वपक्षी के अनुसार स्वाप्नदेवतावाक्य को शब्दत्वेन प्रमाण न मानकर उसके ज्ञान को लिङ्गत्वेन प्रमाण माना जाय तो व्याप्त्यादि कल्पना प्रयुक्त गौरव दोष होगा। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि स्वाप्नदेवतारूप वक्ता कल्पित है। अतः उसमें

योग्यतादिसकलमिथ्यात्वबोधनेऽपि तदर्थस्य न मिथ्यात्वम्, मिथ्यात्वप्रयोजकरूपाभावात्। महाभाष्योक्तन्यायोदाहरणमपि न युक्तम्, विषयवैषम्यात्। तथा—हि 'शतानि सहस्राणि'इत्यत्र सर्वनामस्थानसंज्ञकशिसन्निपातेन विहितो नुम् 'ष्णान्ता षट्'इति षट्संज्ञाद्वारा 'षड्भ्यो लुक्'इति शिस्वरूपसर्वनामस्थानस्य पञ्चेत्यादाविव लुङ्निमित्तं न भवति, तत्सन्निपातेनैव विहितत्वात्, तत्सद्भावनियमेनैव विहितत्वादित्यर्थः। अलुप्तस्यैव सर्वनामस्थानस्य नुम्निमित्तत्वात्, 'न

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रतारकत्वादि दोष होगा। अतः स्वाप्नदेवतावाक्य में निर्दोषत्व नहीं होगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि स्वाप्नदेवतारूप वक्ता के कल्पित होने पर भी उसमें प्रतारकत्वादि दोषों की कल्पना करना अनुचित है, क्योंकि उसके वाक्य के द्वारा अबाधित अर्थ का बोध होता है। इस प्रकार से शब्द के समान सत्तावाला ही शब्द प्रतिपाद्य अर्थ होता है, ऐसा जो पूर्वपक्षी के द्वारा नियम बनाया गया है उसमें व्यभिचारदोष आ जाने से शब्द के स्वस्वरूप, स्वप्रामाण्य और स्वयोग्यतादि के समान सत्तावाला शब्द का अर्थ होता है, यह नियम भी खण्डित हो गया, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा इसके अनुकूल कोई तर्क नहीं दिया जा सकता है। अतः पूर्वोक्त व्याप्ति के आधार पर पूर्वपक्षी का जो यह अनुमान था—''अद्वैतश्रुतिबोधितोऽर्थो मिथ्या, कल्पितशब्दप्रतिपादितत्त्वात्, प्रतारकवाक्यार्थवत्।'' इस अनुमान में परोक्षत्व और विनाशित्व उपाधि है। दृष्टान्त में परोक्षत्व और विनाशित्व के रहने से साध्यव्यापकत्व उपाधि में है और पक्षभूत अपरोक्षनित्यचैतन्य में उपाधि के न रहने से साधन का उपाधि में अव्यापकत्व भी है। यहां पर परोक्षत्व का अर्थ साक्षिभिन्नत्व कर लेना चाहिए, अन्यथा घटादि में साध्यव्यापकत्व नहीं मिलेगा, क्योंकि स्वाप्नदेवता ने स्वप्न में कहा कि सामने घट है। उसके जागने पर सामने घट मिल गया। इस प्रकार उक्त घट में मिथ्यात्वरूप साध्य तो है किन्तु परोक्षत्व रूप उपाधि नहीं है, क्योंकि घट का अपरोक्ष ज्ञान हो रहा है। परोक्षत्व का अर्थ साक्षिभिन्नत्व करने पर घटादि में साक्षिभिन्नत्व है। पक्ष में हेतु है किन्तु साक्षिभिन्नत्व नहीं है। अतः उपाधि का समन्वय हो जायेगा। इस प्रकार श्रुति के द्वारा योग्यतादि सकल के मिथ्यात्व का बोधन होने पर भी श्रुति के तात्त्विक तात्पर्य के विषयीभूत अर्थ (अद्वैतरूपअर्थ) का बाध नहीं होता है, क्योंकि मिथ्यात्व का प्रयोजकरूपदृश्यत्व, परिच्छिन्नत्व, जड़त्व अंशित्वादि अद्वैतरूप अर्थ (ब्रह्म) में नहीं है। अतः ब्रह्म मिथ्या नहीं हो सकता है। महाभाष्योक्त सन्निपात परिभाषा का उदाहरण प्रकृत में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य है। अर्थात् दृष्टान्त में शि नुम् का निमित्त है अतः उसका विघात होने पर उक्त न्याय लगता है किन्तु दार्ष्टान्त में तात्त्विक प्रामाण्य श्रुति का निमित्त नहीं है, किन्तु व्यावहारिक प्रामाण्य निमित्त है। व्यावहारिक प्रामाण्य का विघात श्रुति के द्वारा होता नहीं है। अपितु तात्त्विक प्रामाण्य का विघात होता है। अतः उसका विघात होने पर भी उक्त न्याय नहीं लगता है। इसको विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ''शत'' प्रातिपदिक से ''जस्'' प्रत्यय करने पर ''जश्शसोः शिः'' (पा.सू. ७—१—२०)। इस सूत्र के द्वारा जस् के स्थान पर शि आदेश होता है और शि की सर्वनाम स्थान संज्ञा ''शि सर्वनामस्थानम्'' (पा.सू. १—१—४२) से होती है। ''लशक्वतद्धिते'' (पा.सू. १—३—८) से शकार की इत् संज्ञा और ''तस्य लोपः'' (पा.सू. १.३.९) से उसका लोप होकर शत+इ ऐसा आकार होता है। ''प्रत्ययलोपे प्रत्यय लक्षणम्'' (पा.सू. १.१.६१) से लुप्त शिसंज्ञक सर्वनामस्थान को निमित्त मानकर ''नपुंसकस्य झलचः'' (पा.सू. ७.१.७२) से नुम् का आगम होने पर शत+न्+इ ऐसा

लुमताङ्गस्य' इति लुमता लुप्तेऽङ्गकार्यनिषेधात्। तथा चालुप्तप्रत्ययत्वेन यत्र निमित्तता, तत्र सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, यत्र तु 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति न्यायेन लुप्तेऽपि प्रत्यये कार्यं भवति, तत्रालुप्तत्वविशेषणनैरपेक्ष्येण प्रत्ययत्वमात्रेणैव निमित्तत्वान्न सन्निपातलक्षणन्यायावतारः, प्रत्ययसद्भावस्य तत्रानुपजीव्यत्वात्॥ २॥

एवं स्थिते यद्यमिथ्याभूतत्वेन प्रत्यक्षादेर्निमित्तता स्यात्, तदा प्रत्ययस्यालुप्तत्वेन निमित्ततायामिव भवेदेतन्न्यायावतारः, प्रत्यक्षादेस्तु स्वरूपेणैव निमित्तता। स्वप्नाद्यर्थस्या—

सत्यानन्दप्रबोधिका

आकार होता है। इसके पश्चात् ''सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'' (पा.सू. ६.४.८) इस सूत्र से नान्त की उपधा दीर्घ होकर शतानि रूप बनता है। यदि ''ष्णान्ता षट्'' (पा.सू. १.१.२४) से शतन् की षट् संज्ञा मानकर ''षड्भ्यो लुक्'' (पा.सू. ७.१.२२) से षट्संज्ञक शतन् से परे जस् स्थानीभूत शि स्वरूप सर्वनाम स्थान का लुक् कर दिया जाता है, तब प्रत्यय का लोप होने पर ''निमित्तापाये नैमित्तिकस्यापि अपायः'' इस नियम के आधार पर प्रत्ययनिमित्तक नुम् तथा उपधा दीर्घ का अभाव होने पर ''शत'' ही रह जाता, शतानि रूप सिद्ध नहीं होता है। इसलिए सन्निपात परिभाषा के आधार पर यहाँ शि प्रत्यय का लुक् नहीं होता है, क्योंकि सर्वनामस्थानसंज्ञक शि प्रत्यय के सन्निपात (सम्बन्ध) से विहित नुम् का आगम है। अतः वही नुम् षट्संज्ञक होकर अपने ही उपजीव्यभूत शि प्रत्यय के लोप का निमित्त नहीं बन सकता है। जैसे पञ्च इत्यादि में लुक् का निमित्त होता है। यदि कहा जाय कि ''षड्भ्यो लुक्'' सूत्र से शि प्रत्यय का लोप कर दिया जाय और ''प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'' सूत्र से लुप्त शि प्रत्यय को निमित्त मानकर नुम् का आगम कर दिया जाय। इस पर कह रहे हैं कि लुप्त सर्वनामस्थान नुम् का निमित्त नहीं बन सकता है, किन्तु अलुप्त सर्वनामस्थान ही नुम् का निमित बनता है। इसमें हेतु देते हुए कहा रहे हैं कि ''न लुमताङ्गस्य'' (पा. सू. १.१.६३) इस सूत्र से लुमता शब्द से लुप्त होने पर तत् निमित्तक अङ्ग कार्य नहीं होता है। फलतः अलुप्त प्रत्ययत्वेन जहां निमित्तता होती है वहाँ पर सन्निपात परिभाषा के द्वारा उपजीव्य विरोध दिखाया जाता है और शतानि रूप की सिद्धि की जाती है। इसी प्रकार सहस्राणि के विषय में भी समझ लेना चाहिए। जब ''इकोऽचि विभक्तौ'' (पा. सू. ७.१.७३) इस सूत्र में अचिग्रहण के सामर्थ से ''न लुमताङ्गस्य'' को अनित्य माना जाता है तब ''प्रत्यय लोपे प्रत्ययलक्षणम्'' का बाध नहीं होता है। तब लुप्त प्रत्यय को निमित्त मानकर भी कार्य होता है। ऐसे स्थल पर अलुप्त विशेषण निरपेक्ष प्रत्ययत्वमात्र ही निमित्त माना जाता है। अतः ऐसे स्थल पर सन्निपात परिभाषा नहीं लगती है, क्योंकि लुप्त प्रत्यय भी कार्य का उपजीव्य बन जाता है। अतः ऐसे स्थल पर प्रत्यय का सद्भाव उपजीव्य नहीं होता है॥ २॥

एवं स्थिते—जिस रूप से जो जिसका उपजीव्य होता है, उस रूप से उस उपजीव्य का विनाश उपजीवक के द्वारा नहीं किया जा सकता है, ऐसा सन्निपात परिभाषा का स्वरूप निश्चित होने पर, प्रकृत में यदि सत्य विषयकत्वेन प्रत्यक्षादि को अद्वैतश्रुति का उपजीव्य माना जाता तब जैसे अलुप्तत्वेन शि प्रत्यय की निमित्तता होने पर सन्निपात परिभाषा अवतरित होती है, वैसे ही प्रत्यक्षादि को मिथ्यात्व से बचाने के लिए सन्निपात परिभाषा अवतरित हो सकती थी। परन्तु प्रत्यक्षादि अद्वैतश्रुति के प्रति प्रत्यक्षत्वेन, अनुमितित्वेन इत्यादिरूप से अर्थात् अपारमार्थिक (व्यावहारिक) रूप से उपजीव्य है। अर्थात् यदि सत्यविषयकत्वेन

प्यर्थक्रियाकारित्वदर्शनेन प्रागेवोपपादिता। अतो यद् बाध्यते तात्त्विकत्वं तन्नोपजीव्यम्, यच्चोपजीव्यमर्थक्रियासामार्थ्यलक्षणव्यावहारिकप्रामाण्यं तच्च न बाध्यत इति किं केन सङ्गतम्? तदुक्तं टीकाकृद्भिः'उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्'इति। अत एव–ज्योतिष्टोमादिविधेरुपजीव्या–ग्निविद्यावद्विषयत्वेनेव द्वैतनिषेधस्यापि स्वोपजीव्ययोग्यतादीतरविषयत्वेन सङ्कोचस्य वा सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वस्य वोपपत्तौ न तात्त्विकसर्वमिथ्यात्वपरत्वकल्पनं युक्तमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रत्यक्षादि अद्वैतश्रुति के स्वस्वरूप स्वप्रामाण्यादि का निमित्त होता तब अद्वैतश्रुति के द्वारा प्रत्यक्षादिगत सत्यविषयकत्व का विघात करने पर सन्निपात परिभाषा के द्वारा उक्त विघात को रोक दिया जाता। अर्थात् अद्वैतश्रुति के द्वारा प्रत्यक्षादिनिष्ठ सत्यविषयकत्व का बाध नहीं होता, किन्तु प्रत्यक्षादि जो निमित्त है वह अपारमार्थिकत्वेन निमित्त है न कि सत्यविषयकत्वेन। अतः उक्त परिभाषा यहाँ पर नहीं लगेगी। इस पर प्रश्न होता है कि जो प्रत्यक्षादि अपारमार्थिक है, वह पारमार्थिक विषयकश्रुति के प्रति निमित्त कैसे हो सकता है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि जैसे स्वाप्नदेवतावाक्य प्रातिभासिक है, किन्तु वह भी व्यावहारिक बोध का जनक (निमित्त) होता है। इसका प्रतिपादन पूर्व में तत्तत् स्थलों पर किया जा चुका है। अतः श्रुति से प्रत्यक्षगत जो तात्त्विकत्व (सत्य विषयकत्व) बाधित होता है वह अद्वैत श्रुति का उपजीव्य नहीं है और जो प्रत्यक्षादिगत अर्थक्रियाकारित्वरूप व्यावहारिक प्रामाण्य अद्वैतश्रुति का उपजीव्य है, वह अद्वैतश्रुति के द्वारा बाधित नहीं होता है, तब तो कौन किसके साथ संगत हुआ? अर्थात् विचार काल में प्रपञ्च का बाध होने पर भी विचार से पूर्व ब्रह्मज्ञानेतराबाध्यविषयकत्वरूप व्यावहारिकप्रामाण्य का बाध नहीं होता है। इस प्रकार से किसी प्रकार की अव्यवस्था नहीं है। इसको स्पष्ट करते हुए टीकाकार आचार्यप्रवर श्रीवाचस्पतिमिश्र ने भामती में प्रथम सूत्र की प्रस्तावना में कहा है–"प्रमितावनपेक्षत्वेऽपि उत्पत्तौ प्रत्यक्षापेक्षत्वात् तद् विरोधादनुत्पत्तिलक्षणमप्रामाण्यमिति चेन्न, उत्पादकाप्रतिद्वन्द्वित्वात्। न ह्यागमज्ञानं सांव्यावहारिकं प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपहन्ति येन कारणाभावान्न भवेदपि तु तात्त्विकम् न च तत्तस्योत्पादकम्। अतात्त्विकप्रमाणभावेभ्योऽपि सांव्यावहारिकप्रमाणेभ्यस्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। तथा च वर्णे ह्रस्वदीर्घत्वादयोऽन्यधर्माऽपि समारोपितास्तत्त्वप्रतिपत्तिहेतवः, नहि लौकिका नाग इति वा नग इति वा पदात् कुञ्जरं वा तरुं वा प्रतिपद्यमाना भवन्ति भ्रान्ताः।" अर्थात् पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि वेदजन्यज्ञाननिष्ठप्रमात्व की सिद्धि के लिए किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा न रखने पर भी वेदजन्यज्ञान की उत्पत्ति में प्रत्यक्ष की अपेक्षा होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष की सहायता के बिना पद का ज्ञान एवं उसका पदार्थ के साथ संगतिग्रहण न हो सकने के कारण शब्द अपना अर्थनिश्चयरूप कार्य सम्पन्न नहीं करा सकता है। अतः प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण अनुत्पत्तिरूप अर्थात् उत्पत्ति न होना रूप अप्रामाण्य श्रुति में आ जायेगा। इसका समाधान देते हुए भामतीकार कह रहे हैं कि वेदजन्यज्ञान का उत्पादक व्यावहारिक प्रामाण्य वाला प्रत्यक्ष है, न कि पारमार्थिक प्रामाण्य वाला प्रत्यक्ष और वेदजन्यज्ञान अपने उत्पादकीभूत प्रत्यक्षगत व्यावहारिक प्रामाण्य का विरोधी नहीं है, क्योंकि आगमप्रमाण (अद्वैत श्रुति) प्रत्यक्षगत पारमार्थिक प्रामाण्य का ही घातक है, व्यावहारिक प्रामाण्य का घातक नहीं होता है। यदि प्रत्यक्षगत व्यावहारिक प्रामाण्य का निराकरण आगमप्रमाण करता तब अपनी उत्पादक सामग्री का विघातक होता और तब उत्पादक सामग्री के बिना आगम का स्वरूप लाभ ही नहीं होता किन्तु आगम प्रत्यक्षगत जिस तात्त्विकत्व का निषेध करता है

अपास्तम्, दृष्टान्ते अग्निविद्यादेरिव दार्ष्टान्तिके योग्यतादेस्तात्त्विकस्यानुपजीव्यत्वात्। न हि योग्यता तात्त्विकयोग्यतात्वेन निमित्तम्, किन्तु योग्यतात्वेनैव। सकलद्वैताभावस्याधि–करणस्वरूपत्वेन तदधिकरणस्य च ब्रह्मणः 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'तत्सत्यं स आत्मा'इत्यादिश्रुत्या सत्यत्वप्रतिपादनात्, न सृष्ट्यादिश्रुतेरिव कल्पितविषयत्वोपपत्तिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

वह आगम का उत्पादक नहीं है। जिसमें तात्त्विक प्रामाण्य नहीं है किन्तु केवल व्यावहारिक प्रामाण्य है, ऐसे पदार्थों से भी यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे वर्णात्मक शब्दों में ह्रस्वत्व दीर्घत्वादि धर्म स्वयं (वर्णों)के नहीं हीते है किन्तु शब्द के व्यञ्जकीभूत ध्वनि के ह्रस्वत्वादि धर्म शब्द में आरोपित होने के कारण लोकप्रसिद्ध व्यावहारिक मात्र माने जाते है फिर भी वे तात्त्विक बोध के उद्भावक माने जाते है। जैसे दीर्घ नकाररूप वर्ण से घटित नाग शब्द के द्वारा हस्ति और ह्रस्वनकार गर्भित नग शब्द के द्वारा वृक्ष का बोध लोकव्यवहार में भ्रमात्मक नहीं माना जाता है। अपितु उस बोध वाले व्यक्ति को यथार्थज्ञान वाला ही माना जाता है। इस पर विशेष विचार भामती में देखना चाहिए। पूर्वपक्षी के द्वारा यह जो शङ्का की जाती है कि पूर्व मीमांसा के षष्ठ अध्याय के प्रथम पाद में विचार किया गया है कि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधियों में चारों वर्णों का अधिकार है, अथवा अपशूद्रों(त्रैवर्णिक) का, इस पर पूर्वपक्ष के द्वारा कहा गया कि किसी विशेष का उल्लेख न होने के कारण चारों ही वर्णों का अधिकार है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्त पक्ष के द्वारा कहा गया है कि सभी वैदिक कर्म के लिए आधान सिद्ध अग्नि और स्वाध्यायाध्ययन सिद्ध विद्या(वेदज्ञान) की नियमतः अपेक्षा है। अतः अग्नि और विद्या ये दोनों ज्योतिष्टोमादि विधि के उपजीव्य हो गये। ज्योतिष्टोम भी एक वैदिककर्म होने से उसका भी अधिकारी अग्नि और विद्या वाला पुरुष ही होगा। अग्नि का आधान करने वाला और स्वाध्यायाध्ययन के द्वारा वेद का ज्ञान करने में योग्य त्रैवर्णिक ही है। इसप्रकार से "ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि विधियाँ समान्यतः वर्ण से निरपेक्ष होकर निरूप्यमाण होती हुयी भी स्वोपजीव्य जो अग्नि और विद्या इन दोनों वाला जो स्वर्गकाम त्रैवर्णिक पुरुष है तद्विषयत्वेन ही सङ्कुचित होती है अर्थात् आहिताग्निविद्यावत् स्वर्गकाम त्रैवर्णिक पुरुष ही इनका अधिकारी होता है। इस प्रकार से अधिकारी का संकोच किया जाता है। इसी प्रकार प्रकृत में भी द्वैतनिषेधक श्रुतियां भी स्वोपजीव्य जो योग्यतादि तादृश योग्यतादीतर विषयत्वेन सङ्कुचित क्यों न मान ली जाए। अर्थात् उक्त द्वैतनिषेधक श्रुतियों का विषय सामान्यतः सम्पूर्ण द्वैत होने पर भी संकोच करके स्वोपजीव्य योग्यतादि से भिन्न द्वैतनिषेध को ही उक्त द्वैत निषेधक श्रुतियों का विषय बनाया जाय। अर्थात् "अद्वैतागमोपजीव्यं यद् द्वैतम्,तद्भिन्नं मिथ्या।" ऐसा अर्थ अद्वैतश्रुति का स्वीकार करने पर सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं होगी। अथवा जैसे सिद्धान्ती सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों का विषय कल्पित–अकल्पित उभयप्रकार द्वैत की सृष्टिको नहीं मानते है अपितु संकोच करके सृष्टि प्रतिपादक वाक्यों का विषय कल्पित द्वैत की सृष्टि मानते है उसी प्रकार श्रुति के द्वारा जो द्वैत का निषेध किया गया है उसके विषय के रूप से जो कल्पित–अकल्पित उभय प्रकार द्वैत प्राप्त है उसमें से अकल्पित को छोडकर कल्पित द्वैत ही उक्त निषेध का विषय है, इस प्रकार से संकोच करना चाहिए। ऐसा करने पर

तस्माद्योग्यतादेर्मिथ्यात्वेऽपि वेदान्तबोध्यं सत्यमेवेति स्थितम्। यथा चाविद्यातत्कार्यस्य स्वरूपतो निषेधेऽपि तुच्छवैलक्षण्यं, पारमार्थिकत्वाकारेण निषेधे वा पारमार्थिकत्वधर्मशून्यस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपेण सत्त्वं तथोपपादितमधस्तात्।। ३।।

ननु—तत्त्वमस्यादिवाक्येन प्रत्यक्षाद्यविरोधाय तत्त्वंपदलक्षितयोरैक्यमिव मिथ्यात्वश्रुत्यापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

अकल्पित (तात्त्विक) द्वैत के मिथ्यात्व की कल्पना करना उचित नहीं होगा। अर्थात् जिस ब्रह्म में सकल द्वैत भासता है उसी ब्रह्म में ही सकलद्वैत का तात्त्विक अत्यन्ताभाव रहता है, इसलिए सकल द्वैत में स्वसमानाधिकरणतात्त्विकात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व है ऐसा नहीं मान सकते हैं, यह पूर्वपक्षी का भाव है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टान्त दार्ष्टान्त में वैषम्य है, क्योंकि दृष्टान्त में ज्योतिष्टोम विधि का उपजीव्य जो अग्नि और विद्या है उसे पूर्वमीमांसक तात्त्विक मानते है किन्तु दार्ष्टान्त में अद्वैतश्रुति के जो उपजीव्य स्वस्वरूप स्वप्रामाण्य तथा योगयतादि है, उन्हें सिद्धान्ती के द्वारा तात्विक नहीं माना जाता है। अर्थात् दार्ष्टान्त में तात्विकत्वविशिष्टयोग्यतादिनिष्ठ उपजीव्यत्व का अभाव माना जाता है। इसलिए योग्यतादिनिष्ठ उपजीव्यता का अवच्छेदक तात्त्विकत्व नहीं है। अर्थात् तात्त्विकयोग्यतात्त्वेन योग्यता निमित्त नहीं है, अपितु योग्यतात्त्वेन ही योग्यता अद्वैतश्रुति से जन्य बोध के प्रति निमित्त मानी जाती है। अतः दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य सिद्ध हो गया। सिद्धान्तमत में सकल द्वैत के अभाव को अधिकरण (ब्रह्म) स्वरूप माना जाता है। उस अधिकरणीभूत ब्रह्म की सत्यता "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तै०उ०२—१—१) "तत्सत्यं स आत्मा"(छा०उ०६.८.७.) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित है। अतः द्वैत निषेधक श्रुति का विषय जो द्वैत निषेध, वह अधिकरण ब्रह्मस्वरूप होने के कारण सत्य है। अतः द्वैतनिषेधकश्रुति का द्वैत निषेध में ही परम तात्पर्य है। अतः द्वैत निषेधकश्रुति का विषय कल्पित नहीं हो सकता है। जबकि सृष्ट्यादि प्रतिपादक श्रुतियों का परम तात्पर्य सृष्ट्यादि के प्रतिपादन में नहीं है,किन्तु परमतात्पर्य सर्वाध्यासाधिष्ठानभूत ब्रह्म की सत्यता के प्रतिपादन में है, केवल अवान्तर तात्पर्य सृष्टिरूप अध्यारोप के प्रदर्शन मात्र में ही है। अतः सृष्ट्यादि श्रुति को कल्पित सृष्टि के प्रतिपादन में सङ्कोच किया जा सकता है। इसप्रकार से यह सिद्ध हो गया कि योग्यतादि के मिथ्या होने पर भी अद्वैतश्रुति से बोधित होने वाला अद्वैत सत्य ही होगा। जैसे अविद्या और अविद्या के कार्यों का स्वरूप से निषेध होने पर भी प्रपञ्च में असद्वैलक्षण्य है तथा पारमार्थिकत्व धर्म से रहित होने पर भी ब्रह्म स्वरूपतः सत्य है। इन सभी पर विचार प्रथममिथ्यात्व के प्रतिपादन के अवसर पर किया जा चुका है ।। ३ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सिद्धान्तमत में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध के भय से "तत्त्वमसि" के तत् और त्वम् पदों में लक्षणा कर लक्षित जो दो अर्थ निकलते हैं, उन दोनों में ऐक्य माना जाता है, वैसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अविरोध के लिए भी सिद्धान्ती को लक्षणा के द्वारा प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधकश्रुति का यह अर्थ करना चाहिए कि प्रत्यक्षादिप्रमाणों से सिद्ध घटादिप्रपञ्च से भिन्न पदार्थ मिथ्या हैं। यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध होने पर भी घटादिप्रपञ्च में उक्त मिथ्यात्वबोधकश्रुति के द्वारा मिथ्यात्व की सिद्धि का प्रतिपादन करेंगे तब तो प्रत्यक्षसिद्ध घटादि को अत्यन्तासत् मानने पर जो प्रत्यक्षविरोध आता है, उस विरोध से बचने के लिए जो

तदविरोधाय प्रत्यक्षादिसिद्धादन्यस्यैव मिथ्यात्वं बोध्यम्, अन्यथा प्रत्यक्षाद्यनुग्रहायव्यावहारिकमपि सत्त्वं न कल्प्येत, 'नेह नाना'इत्यादिनिषेधेनात्यन्तासत्त्वबोधनादिति चेन्न, विशिष्टयोरैक्ये विशेषणयोरप्यैक्यापातेन सर्वत्र विशिष्टाभेदपरवाक्यस्य लक्षितविशेष्यैक्यपरत्वनियमेन 'तत्त्वमसि'इत्यत्रापि तथाभ्युपगमात्। तदुक्तम्—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा न तरां तद्विपरीतरूपयोः।। इति।

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटादि में व्यावहारिकसत्त्व सिद्धान्ती के द्वारा माना जाता है, वह भी सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि प्रपञ्चमिथ्यात्वबोधक "नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ०उ०४.४.१९)इत्यादि श्रुतियों के द्वारा घटादिप्रपञ्च के अत्यन्तासत्त्व का ही प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् सिद्धान्ती को घटादिप्रपञ्च को व्यावहारिक न मानकर अलीक ही मानना चाहिए था, घटादि को जो व्यावहारिक माना गया, वह तो प्रत्यक्षविरोध से बचने के लिए ही माना गया है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे है कि जहाँ दो विशिष्ट पदार्थ अभिन्न होते हैं वहाँ विशेषण द्वय के अभिन्न होने का प्रसङ्ग आता है। जैसे जो वाच्यत्वविशिष्ट है वही प्रमेयत्वविशिष्ट है। इस प्रकार से दो विशिष्टों में ऐक्य बतलाए जाने पर उन दो विशिष्टों के जो दो विशेषण (वाच्यता और प्रमेयता) हैं, उनमें भी ऐक्य माना जाता है। प्रकृत में "तत्त्वमसि" स्थल पर तत् का वाच्यार्थ सर्वज्ञत्वविशिष्ट और त्वम् का वाच्यार्थ अल्पज्ञत्वविशिष्ट है। इन दो विशिष्टों का अभेद तत्त्वमसि वाक्य के द्वारा कहा जा रहा है किन्तु उन दोनों विशिष्टों में अभेद माना नहीं जा सकता है क्योंकि पूर्वोक्त नियम के आधार पर विशिष्टों में अभेद मानने पर दोनों विशेषणों (अल्पज्ञत्व और सर्वज्ञत्व) में भी अभेद मानना पड़ेगा, किन्तु दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण उक्त दोनों विशेषणों में अभेद नहीं माना जा सकता है। अत: ऐसा नियम है कि जहाँ कहीं भी दो विशिष्टों के अभेद का बोधक वाक्य आता है। वहाँ सर्वत्र लक्षितविशेष्यों के अभेद का प्रतिपादन उस वाक्य के द्वारा किया जाता है। इसी नियम का ही अनुसरण तत्त्वमसि वाक्य में भी हमारे द्वारा किया गया। अर्थात् तत् और त्वम् पद का जो वाच्यार्थ दो विशिष्ट है उनके विशेष्य(उभय साधारण चैतन्यमात्र) में उन दो पदों की लक्षणा की जाती है। इसप्रकार से जो लक्षणा की गयी है वह प्रत्यक्षादि के विरोध के भय से नहीं, किन्तु विशेषण द्वय का अभेद मानना सम्भव नहीं था। इसलिए लक्षणा मानी गयी है। इसको स्पष्ट करते हुए संक्षेपशारीरककार ने कहा है—

अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि विशिष्टयोर्द्वयोः।
घटते न यदैकता तदा न तरां तद्विपरीतरूपयोः।। संक्षेपशा.१/१६७

अन्वयः—यदा अविरुद्धविशेषणद्वयप्रभवत्वेऽपि द्वयोः विशिष्टयोः एकता न घटते, तदा तद् विपरीतरूपयोः नतराम् (एकता न घटते इति शेषः)

जब दो अविरुद्ध विशेषण वाले दो विशिष्ट पदार्थों की एकता नहीं घटती है, तब दो विरुद्ध विशेषण वाले दो विशिष्ट पदार्थों की एकता घटित नहीं हो सकती है। अर्थात् "दण्डी कुण्डली चैत्रः" इस स्थल पर यद्यपि दण्ड और कुण्डल दोनों विशेषण अविरुद्ध हैं, क्योंकि दोनों ही एक ही चैत्र में अन्वयी है। तथापि दण्डविशिष्ट और कुण्डलविशिष्ट का अभेद नहीं माना जा सकता है क्योंकि विशिष्ट में अभेद मानने पर विशेषणों में भी अभेद मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है। इसप्रकार से यह स्पष्ट हो गया कि अविरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट पदार्थों में भी जब अभेद

मिथ्यात्वबोधकश्रुतौ तु नास्ति प्रत्यक्षादिविरोधः, तात्त्विकत्वांशस्यानुपजीव्यत्वात्, व्यावहारिकसत्त्वस्य चोपजीव्यत्वान्नात्यन्तासत्त्वकल्पनमित्यस्याप्युक्तप्रायत्वात्।। ४।।

ननु—श्रुतेस्तात्पर्यं चैतन्यमात्रे वा? द्वितीयाभावविशिष्टे वा? तदुपलक्षिते वा ? नाद्यः, विश्वमिथ्यात्वासिद्धेरिष्टापत्तेः, तस्य स्वप्रकाशतया नित्यसिद्धत्वेन श्रुतिवैयर्थ्याच्च। न द्वितीयः, अखण्डार्थत्वहानात्। अत एव न तृतीयः, काकवदितिवद् द्वितीयाभाववदित्यनेनापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

नहीं माना जा सकता है, तब अल्पज्ञत्वादि और सर्वज्ञत्वादि विरुद्ध विशेषणों से विशिष्ट तत् और त्वम् पदार्थों में एकता की कल्पना करना सर्वथा ही असम्भव है। पूर्वपक्षी ने यह जो कहा कि प्रत्यक्षादि के विरोध के कारण मिथ्यात्वबोधकश्रुति में लक्षणा करनी चाहिए। यह उचित नहीं है क्योंकि मिथ्यात्वबोधकश्रुति के साथ प्रत्यक्षादि का कोई विरोध ही नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्षादिनिष्ठ तात्त्विक अंश मिथ्यात्वबोधकश्रुति का उपजीव्य ही नहीं है, किन्तु प्रत्यक्षादिनिष्ठ व्यावहारिक सत्त्व ही उपजीव्य है। उपजीव्यभूत प्रत्यक्षादिनिष्ठव्यावहारिकसत्त्व का अद्वैतश्रुति के द्वारा बाध किया ही नहीं जाता है, किन्तु जो उपजीव्य नहीं है ऐसे प्रत्यक्षादि निष्ठ तात्त्विक सत्त्व का ही बाध किया जाता है। अतः व्यावहारिकसत्त्व का बाध न होने से प्रपञ्च के अत्यन्त असत्त्व की कल्पना नहीं की गयी है। यह कई बार पूर्व प्रकरणों में कहा जा चुका है।। ४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि "नेह नानास्ति किञ्चन" "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि मिथ्यात्वबोधकश्रुति का तात्पर्य केवल चैतन्य में है? अथवा द्वितीयाभाव से विशिष्ट चैतन्य में है? अथवा द्वितीयाभाव से उपलक्षित चैतन्य में है? प्रथम पक्ष हमें भी अभीष्ट है, क्योंकि मिथ्यात्वबोधकश्रुति के द्वारा चैतन्यमात्र का बोधन होने पर भी द्वैतप्रपञ्चगत मिथ्यात्व का बोधन उक्तश्रुतियों के द्वारा नहीं किया गया है। प्रथम पक्ष में दूसरा दोष यह भी होगा कि शुद्ध चैतन्य स्वयम्प्रकाश होने से नित्यसिद्ध है। अतः उसका बोधन उक्त श्रुति के द्वारा करना व्यर्थ है। द्वितीयपक्ष भी समीचीन नहीं है क्योंकि मिथ्यात्वबोधकश्रुति के द्वारा द्वितीयाभाव से विशिष्टचैतन्य का बोधन मानने पर अखण्डार्थत्व की हानि होगी। अर्थात् पदवृत्तिस्मारित से अतिरिक्त विषयक न होता हुआ प्रमाजनकत्व ही श्रुतिगत अखण्डार्थत्व है। ऐसे अखण्डार्थत्व की सिद्धि श्रुति के द्वारा विशिष्टार्थ का प्रतिपादन करने पर सम्भव नहीं हो पायेगी, क्योंकि द्वितीयाभाव तो पदवृत्तिस्मारित जो चैतन्य उससे अतिरिक्त ही है। अखण्डार्थत्व की हानि होने के कारण ही तृतीयपक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि विशेषण के जैसे ही उपलक्षण को भी प्रकार माना जाता है। अतः "काकवद् गृहम्" यह वाक्य जैसे काकवत्त्व प्रकारकज्ञान का जनक माना जाता है। ठीक वैसे ही "द्वितीयाभाववत् चैतन्यम्" यह वाक्य भी द्वितीयाभाववत्त्व प्रकारकज्ञान का जनक होगा। सप्रकारकज्ञान होने से अखण्डार्थत्व की हानि होगी। दूसरी बात यह है कि द्वितीयाभाव चैतन्य का उपलक्षण हो ही नहीं सकता है, क्योंकि काक को गृह का उपलक्षण इसलिए माना जाता है, कि काक के द्वारा गृह निष्ठ संस्थानविशेष (ध्वजादि) का उपस्थापन किया जाता है। जिसके द्वारा उस गृह का बोधन होता है। अर्थात् जिस गृह के ध्वजादि पर काक बैठा था। वह ध्वजादि काक के उड़ जाने पर भी उस गृह के परिचायक होते है। अतः काक को गृह का उपलक्षण माना जाता है किन्तु प्रकृत में द्वितीयाभाव के द्वारा चैतन्य से अन्य उपलक्ष्य का बोधन होता नहीं है, क्योंकि मुमुक्ष को नित्यसिद्ध चिन्मात्र से भिन्न अन्य कोई भी ज्ञेय (जानने योग्य) नहीं है। यदि द्वितीयाभाव के द्वारा चैतन्य से अन्य उपलक्ष्य का बोधन होता तब द्वितीयाभाव को चैतन्य का उपलक्षण माना जाता किन्तु अन्य उपलक्ष्य का बोधन न होने से द्वितीयाभाव को उपलक्षण नहीं माना जा सकता

सप्रकारकज्ञानजननेनाखण्डार्थत्वायोगात्,चिन्मात्रस्य नित्यसिद्धत्वेन तदन्यस्य च मुमुक्ष्वज्ञेयत्वेन काकेन संस्थानविशेषस्येव द्वितीयाभावेनोपलक्ष्यस्यान्यस्याभावात् तस्योपलक्षणत्वायोगाच्चेति—चेन्न, काकस्य संस्थानविशेष इव द्वितीयाभावस्य स्वरूपमेवोपलक्ष्यमित्युपलक्ष्याभावनिबन्धनोपल—क्षणत्वानुपपत्तेरभावात्। उपलक्षणत्वे हि उपलक्ष्यसत्त्वमात्रं तन्त्रम्, न तु तस्य स्वरूपातिरिक्तत्वमपि, गौरवात्, उपलक्ष्यतावच्छेदकरूपाभावेऽपि स्वतोव्यावृत्तजातिवदुपलक्ष्यत्वसम्भवात्।। ५।।

अत एव न सप्रकारकत्वापत्तिः, काकवदित्यत्राप्युपलक्षणस्याप्रकारत्वात्, किन्तु स्वरूपातिरिक्तधर्मस्य तत्रोपलक्ष्यत्वेन सप्रकारत्वम्,इह तु तन्नेति वैषम्यम्। न चोपलक्षणवैयर्थ्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

है। सर्व प्रथम सिद्धान्ती तृतीयपक्ष को स्वीकार करके समाधान देते हुए कह रहे हैं कि जिस वस्तु को उपलक्षण माना जाता है, उसका कोई न कोई उपलक्ष्य होना चाहिए। चाहे वह वस्तुगत संस्थानविशेष हो या वस्तु का स्वरूप हो। यदि उपलक्ष्य है तब उस वस्तु को उपलक्षण मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इसलिए जैसे काक का उपलक्ष्य उत्तृणत्वादि से विशिष्ट गृह होता है वैसे ही प्रकृत में भी द्वितीयाभाव का भी उपलक्ष्य चैतन्य का अपना स्वरूप ही होता है। इसलिए पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि चैतन्य से भिन्न उपलक्ष्य के न होने के कारण द्वितीयाभाव को चैतन्य का उपलक्षण नहीं माना जा सकता है, उसका खण्डन हो गया। दूसरी बात यह है कि उपलक्षणत्व में उपलक्ष्य का सत्त्व मात्र ही अपेक्षित होता है न कि उपलक्ष्य को स्वरूप से अतिरिक्त होना। अर्थात् पूर्वपक्षी के मत में उपलक्षणत्व का प्रयोजक है—स्वरूपातिरिक्तोपलक्ष्यसत्त्व, जबकि सिद्धान्तमत में उपलक्षणत्व का प्रयोजक है—उपलक्ष्यसत्त्व। अतः सिद्धान्तपक्ष में लाघव और पूर्वपक्षी के मत में गौरवदोष है। यदि कहा जाय कि दृष्टान्त में उपलक्ष्य गृह है। उपलक्ष्यतावच्छेदक उत्तृणत्वादि है। परन्तु प्रकृत में उपलक्ष्य ब्रह्मस्वरूप है, किन्तु उपलक्ष्यतावच्छेदक कुछ भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मनिर्धर्मक होता है। अतः द्वितीयाभाव को चैतन्य का उपलक्षण नहीं माना जा सकता है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि अवच्छेदक का कार्य होता है, इतरव्यावृत्ति करना। कुछ ऐसे पदार्थ होते हैं जो किसी अवच्छेदक के द्वारा इतरव्यावृत्त न होकर स्वतः ही व्यावृत्त हाते है। जैसे घटगत घटत्वजाति। वह घटत्वजाति स्वेतर पटत्वादि जाति से व्यावृत्त है किन्तु वहां इतरव्यावर्तक कोई अन्य अवच्छेदक होता नहीं है, किन्तु घटत्व स्वतः स्वेतर से व्यावृत्त है। ठीक इसी प्रकार प्रकृत में उपलक्ष्य जो ब्रह्मस्वरूप, उसमें यद्यपि कोई उपलक्ष्यतावच्छेदकरूप धर्म नहीं है, तथापि वह ब्रह्म का स्वरूप स्वतः ही व्यावृत्त होता हुआ उपलक्ष्य हो ही सकता है।। ५।।

उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म का अभाव होने के कारण मिथ्यात्वबोधकश्रुति से जन्य बोध को सप्रकारक नहीं कहा जा सकता है, अपितु उक्तबोध को अखण्डार्थक ही मानना पडेगा। अर्थात् दृष्टान्त में काक उत्तृणत्व से विशिष्ट गृह का बोधन कराता हुआ सप्रकारकज्ञान को उत्पन्न करता है, किन्तु प्रकृत में उत्तृणत्व के जैसे ब्रह्मस्वरूप में रहने वाले किसी उपलक्ष्यतावच्छेदक धर्म का बोधन न होने के कारण अर्थात् केवल शुद्धब्रह्म का ही बोधन होने के कारण उस बोध को सप्रकारक नहीं कहा जा सकता है किन्तु अखण्डार्थक ही कहा जायेगा। पिछे पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था कि विशेषण के जैसे ही उपलक्षण भी प्रकार माना जाता है, इसलिए उपलक्षित वस्तु का ज्ञान भी सप्रकारकज्ञान होगा। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उपलक्षण को प्रकार नहीं माना जाता है। जैसे दृष्टान्त में "काकवद् गृहम्"इस वाक्य से जो सप्रकारकज्ञान होता है। वह ज्ञान काकप्रकारक नहीं होता है। किन्तु काक के द्वारा उपस्थापित जो उत्तृणत्व है, वही उस ज्ञान में

अनर्थनिवृत्तिहेतुत्वेन द्वितीयाभावद्वारकस्वरूपज्ञानस्योद्देश्यत्वात्, तस्य प्रागसिद्धत्वात्। न च मिथ्यात्वासिद्ध्येष्टापत्तिः, अवान्तरतात्पर्यस्य तत्रापि सत्त्वात्, तद्द्वारैव स्वरूपचैतन्ये महातात्पर्यात्। अत एव–श्रुतिबोध्यस्य विशेषणस्योपलक्षणस्य वा द्वितीयाभावस्य सत्त्वे अद्वैतहानिः, असत्त्वे चादण्डे दण्डीति वाक्यवत् काकहीने काकवदिति वाक्यवच्चाद्वैतवाक्यस्या–तत्त्वावेदकत्वापत्तिरिति–निरस्तम्, आद्ये द्वितीयाभावसत्त्वेन द्वितीयाभावासिद्ध्यापा–दनस्यानुचितत्वात्, अभावस्याधिकरणातिरेकानभ्युपगमाच्च। द्वितीये तु सृष्ट्यादिवाक्यव–

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रकार विधया भासित होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि उपलक्षण काक को प्रकार माना ही नहीं गया । किन्तु दृष्टान्त में गृह के स्वरूप से अतिरिक्त उत्तृणत्वादि धर्म को ही प्रकार माना गया। इसलिए उक्त वाक्यजन्यज्ञान सप्रकारक माना गया, किन्तु दार्ष्टान्त में द्वैताभावरूप उपलक्षण के द्वारा चैतन्य के स्वरूपमात्र का उपस्थापन किया जाता है, न कि स्वरूप से अतिरिक्त किसी प्रकार का। अतः मिथ्यात्वबोधक श्रुति से जन्य बोध अखण्डार्थक ही होगा। इस प्रकार से दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में वैषम्य दिखलाया गया। इस पर पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि द्वितीयाभावरूप उपलक्षण के द्वारा ब्रह्मस्वरूप का ही बोधन होता है। ऐसा मानने पर द्वितीयाभावरूप उपलक्षण मानना व्यर्थ है, क्योंकि केवल ब्रह्मस्वरूप को ही बोधन कराना है तब तो प्रथम विकल्प को ही मानना उचित था। द्वितीयाभाव को उपलक्षण मानना सार्थक तभी होगा यदि उपलक्षण के द्वारा स्वरूपनिष्ठ किसी धर्म का उपस्थापन होता, जो कि श्रुतिजन्यज्ञान से पूर्व में सिद्ध नहीं था और तादृशधर्म विशिष्टत्वेन ब्रह्म का बोध होने के कारण द्वितीयाभाव को उपलक्षण मानना सार्थक होता, किन्तु ऐसा आप नहीं मान रहे हैं। अतः उपलक्षण मानना व्यर्थ है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं, कि मिथ्यात्वबोधकश्रुति का पर्यवसित अर्थ शुद्ध ब्रह्म है और मध्य में द्वार के रूप से द्वितीयाभाववत्त्वेन ब्रह्म का बोधन होता है। वहाँ द्वितीयाभाव को जो द्वार के रूप से माना गया है, वह इसलिए सार्थक है कि आत्मा में द्वितीयाभाव का बोधन होने पर ही आत्मा में भासित होने वाले कर्तृत्वादि अनर्थों की निवृत्ति होती है। जो मुमुक्षुओं के द्वारा इच्छित है। इस प्रकार से केवल ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान पूर्व सिद्ध होने पर भी द्वितीयाभाव द्वारक ब्रह्म का स्वरूपभूतज्ञान पूर्व सिद्ध नहीं है। अतः द्वितीयाभाव को उपलक्षण मानना सार्थक है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि उक्त मिथ्यात्वबोधकश्रुतियों के द्वारा चैतन्य मात्र का बोधन होने पर विश्वगत मिथ्यात्व की सिद्धि उक्त श्रुतियों के द्वारा नहीं हो सकती। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि चैतन्यमात्र में ही उक्त श्रुतिवाक्यों का महातात्पर्य है, किन्तु उस चैतन्य में सम्पूर्ण प्रपञ्च का अभाव है ऐसे अर्थ में उक्त श्रुतिवाक्यों का अवान्तर तात्पर्य के रहने से प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधप्रतियोगित्वरूप मिथ्यात्व भी प्रपञ्च में सिद्ध हो जाने से प्रपञ्च का मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार मिथ्यात्व बोधन के द्वारा ही ब्रह्म चैतन्य में श्रुति का महातात्पर्य है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि उक्त श्रुतिवाक्यों से बोध्य जो द्वितीयाभाव है वह चाहे विशेषण हो या उपलक्षण, किन्तु प्रश्न होता है कि वह द्वितीयाभाव ब्रह्म में रहता है? या नहीं? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर अद्वैत की हानि होगी। द्वितीयपक्ष को स्वीकार करने पर अद्वैत श्रुति में तदभाववति तत्प्रकारक बोधरूप भ्रम की जनकता होने के कारण अतत्त्वावेदकता की प्रसक्ति होती है। जैसे दण्डरूप विशेषण से रहित पुरुष के लिए "अयं दण्डी" अथवा काकरूप उपलक्षण से रहित गृह के लिए प्रयुक्त "काकवद् गृहम्" इस वाक्य में अतत्त्वावेदकत्व माना जाता है। पूर्वपक्षी का यह आक्षेप इसलिए निरस्त हो जाता है कि यदि द्वितीयाभाव का सत्त्व मानते है तब

दुपलक्ष्यस्वरूपसत्यत्वमादायतत्त्वावेदकत्वात्,मुख्यतात्पर्यविषयस्यासत्यतायामेवातत्त्वावेदकत्वा—भ्युपगमात्। अत एव महातात्पर्याभिप्रायेण चैतन्यमात्रे तात्पर्यमित्याद्यपक्षेऽपि न दोषः, अवान्तरतात्पर्येण मिथ्यात्वसिद्धेरपि स्वीकारेणेष्टापत्तेरसम्भवात् ॥ ६॥

ननु—द्वितीयाभावे महातात्पर्याभावः किं प्रमाणान्तरप्राप्त्या, यथा वायुक्षेपिष्ठत्वादौ? उत तद्विरोधित्वेन, यथात्मवपोत्खननादौ? उतोद्देश्यविशेषणत्वादिना यथा ग्रहैकत्वादौ? नाद्यः,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

उस द्वितीयाभाव का अभाव ब्रह्म में नहीं माना जाता है। इसलिए सत्त्व पक्ष में द्वितीयाभाव के अभाव (द्वितीय अर्थात् अद्वैतहानि) का आपादन ब्रह्म में करना अनुचित है क्योंकि ब्रह्म में जब द्वितीय कुछ भी है नहीं, तब तो अद्वैत ही सिद्ध होने के कारण अद्वैतहानि की आपत्ति नहीं आती है। दूसरी बात यह है अभाव अधिकरण स्वरूप होने के कारण द्वितीयाभाव भी ब्रह्मस्वरूप ही होगा। अतः अद्वैत की हानि नहीं होगी। यदि द्वितीयाभाव का असत्त्व मानते है तब भी सृष्ट्यादि वाक्यों के समान अद्वैतश्रुति वाक्यों में तत्त्वावेदकता सिद्ध हो जायेगी। अर्थात् सृष्टि वाक्य का सृष्टि में जो अवान्तर तात्पर्य है, उसको लेकर उक्त वाक्य को तत्त्वावेदक प्रमाण यद्यपि नहीं माना जाता है, क्योंकि उसका विषय(सृष्टि) बाधित है, किन्तु शुद्ध ब्रह्म में सृष्टि वाक्य का जो महातात्पर्य है उसी को लेकर सृष्टिवाक्यगत तत्त्वावेदक प्रामाण्य माना जाता है। इस प्रकार अद्वैतश्रुतिवाक्यों का द्वितीयाभाववद् ब्रह्म के बोधन में जो अवान्तर तात्पर्य है, वह बाधित है। अतः उसको लेकर अद्वैतवाक्यों को तत्त्वावेदक न मानने पर भी उपलक्ष्यस्वरूप शुद्ध ब्रह्म जो कि सत्य है उसमें अद्वैतवाक्यों का जो महातात्पर्य है, उसको लेकर अद्वैतवाक्यों में तत्त्वावेदकत्व सिद्ध हो जायेगा। किसी वाक्य को अतत्त्वावेदकप्रमाण तभी माना जायेगा यदि उस वाक्य के मुख्य तात्पर्य का विषय असत्य (बाधित) हो। इसप्रकार से पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त तीन विकल्पों में से सिद्धान्ती तृतीय विकल्प का समर्थन करने के पश्चात कह रहे हैं कि प्रथम विकल्प को स्वीकार करने पर भी दोष नहीं होगा, क्योंकि महातात्पर्य के अभिप्राय से यह कहना भी उचित ही है कि अद्वैतवाक्यों का तात्पर्य चैतन्यमात्र में ही है। अद्वैतवाक्यों के अवान्तर तात्पर्य को लेकर प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाने से पूर्वपक्षी इष्टापत्ति भी नहीं कह सकता है ॥ ६॥

पूर्व में सिद्धान्ती के द्वारा यह कहा गया कि अद्वैतश्रुति का महातात्पर्य शुद्धब्रह्म में है, द्वितीयाभाव में नहीं है। इसका खण्डन करने के लिए पूर्वपक्षी विकल्प उठा रहा है। प्रथम विकल्प है— अद्वैतश्रुति का द्वितीयाभाव में मुख्यतात्पर्य का अभाव क्या इसलिए माना जाता है कि वह प्रमाणान्तर से प्राप्त है। अर्थात् द्वितीयाभाव श्रुतिभिन्न प्रमाणान्तर से प्राप्त है। इसलिए श्रुति का उसमें मुख्य तात्पर्य नहीं माना जाता है। जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अवगत वायुगत क्षिप्रगामिता के प्रतिपादन में "वायुर्वैक्षेपिष्ठा देवता" (तै०सं०२.१.१) इस अर्थवादवाक्य का महातात्पर्य नहीं स्वीकार किया जाता है किन्तु वायु देवताक कर्म की प्रशस्तता के बोधन में ही महातात्पर्य माना जाता है। द्वितीय विकल्प है— प्रमाणान्तर से विरोध होने के कारण क्या अद्वैतश्रुति का मुख्य तात्पर्य द्वितीयाभाव में नहीं माना जाता है? अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वैत को बतला रहे हैं और अद्वैत श्रुति उसके विरुद्ध द्वैताभाव को बतला रही है। अतः प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने के कारण अद्वैतश्रुति का मुख्यतात्पर्य द्वैताभाव में नहीं है। जैसे "स प्रजापतिरात्मनो वपामुदक्खिदत्" (तै०सं०२.१.२) इस वाक्य का प्रमाणान्तर से विरोध होने के कारण यथाश्रुतार्थ में महातात्पर्य नहीं है। अर्थात् उक्त अर्थवाद का यथाश्रुतार्थ यह होगा कि प्रजापति ने अपने शरीर की चर्बी

त्वयैव द्वितीयाभावस्य प्रमाणान्तरप्राप्त्यनभ्युपगमात्। द्वितीयेऽपि विरोधिमानं न तावत्प्रत्यक्षादि द्वैतग्राहि, त्वन्मते तस्यैव श्रुतिबाध्यत्वात्, नाद्वैतवाक्यान्तरम्, तस्यात्ममात्रपरत्वे द्वितीयाभावाविरोधित्वात्, न हि विशेष्यविषयं 'अग्निहोत्रं जुहोति'इति वाक्यं विशिष्टविषयेण 'दध्ना जुहोति'इति वाक्येन विरुध्यते, द्वैताभावपरत्वे त्वेकविषयत्वेन सुतरामविरोधात्। नापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

निकालकर अग्नि में डाल दिया, तब उससे तूपर (बिना सींग का छाग) उत्पन्न हुआ और उससे तूपरयाग किया गया। किन्तु चर्बी निकालने पर यजमान के जीवन का ही अन्त हो जायेगा, जब कि यजमान को ही याग पूर्ण करना है। अत: उक्त अर्थवाद वाक्य का यथा श्रुतार्थ में तात्पर्य न मानकर कर्म की प्रशस्तता के बोधन में ही तात्पर्य माना जाता है। तृतीय विकल्प है— "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस विधि वाक्य के द्वारा ग्रहरूप पात्र के उद्देश्य से सम्मार्जन क्रिया का विधान किया गया है। वहाँ ग्रहरूप उद्देश्य का विशेषण (एकवचन) एकत्व है। उस एकत्व में उक्त विधि वाक्य का तात्पर्य नहीं है, क्योंकि ग्रह (पात्र) दश होते हैं, और सभी पात्रों के सम्मार्जन में ही उक्त विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, न कि एक पात्र के सम्मार्जन में। इस पर विशेष विचार पूर्वमीमांसा में इस प्रकार से किया गया है—"य एवं विद्वान् सोमेन यजेत" (जो विद्वान् इसप्रकार सोम से यजन करता है।) इस सोमयाग में कहा गया है—"दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" पवित्र सोमरस छानने के वस्त्र का नाम दशापवित्र है। ग्रह वह पात्र है जिसमें सोमरस छाना जाता है। पात्र के मुख पर दशापवित्र वस्त्र को रखकर जब सोमरस छाना जाता है। तब जो कुछ बूंदे पात्र पर गिर जाती है उन्हे उक्त वस्त्र से पोछ दिया जाता है। यहाँ पर संशय होता है कि क्या एक ग्रह के सम्मार्जन के लिए कहा गया है? अथवा सभी ग्रहों के सम्मार्जन के लिए कहा गया है ? इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि उक्त वाक्य में एकवचन का प्रयोग देखे जाने से एक ही ग्रह के सर्म्माजन का कथन है। इसको सूत्रकार ने पूर्वपक्ष के इस सूत्र से कहा "एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्" (जै०सू०३.१.१३) (उक्त ग्रहरूप कर्म एक वचन से युक्त है। अत: एक ही ग्रह का सम्मार्जन होना चाहिए, क्योंकि उक्त ग्रह के एकवचन का श्रुति से संयोग है।) पूर्वपक्ष की शङ्का का समाधान देते हुए सूत्रकार ने कहा—"सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् " (जै०सू०३.१.१४) अर्थात् एक ग्रह का ही सम्मार्जन नहीं करना है अपितु सभी ग्रहों का सम्मार्जन करना चाहिए। एकवचन के द्वारा जातिरूप लक्षण का कथन किया गया है। अर्थात् एकवचनान्त जो निर्देश है वह जाति की भावना से किया गया है। सभी समान जातीय व्यक्तियों में जाति एक ही रहती है। अत: ग्रहत्व जाति सभी ग्रहों में होने से सभी ग्रहों का सम्मार्जन करना चाहिए। इसप्रकार उक्त विधि वाक्य में उद्देश्य का विशेषणीभूत एकत्व में उक्त विधि वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जाता है। वैसे ही प्रकृत में अद्वैतश्रुति का उद्देश्यभूत शुद्धब्रह्म का विशेषण द्वितीयाभाव के होने से अद्वैतश्रुति का मुख्यतात्पर्य द्वितीयाभाव में क्या आप नहीं मान रहे हैं? प्रथम पक्ष का खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि श्रुति भिन्न अन्यप्रमाण (प्रत्यक्षादि प्रमाण) से द्वितीयाभाव की प्राप्ति ही नहीं है, अपितु द्वैत की ही प्राप्ति है। अत:प्रमाणान्तर से द्वितीयाभाव की प्राप्ति है, इसलिए अद्वैत श्रुति का मुख्यतात्पर्य द्वितीयाभाव में नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। द्वितीयपक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि द्वैतग्राहिप्रत्यक्षादिप्रमाण द्वितीयाभाव का विरोधी प्रमाण नहीं हो सकता हैं, क्योंकि अद्वैतमत में प्रत्यक्षादि अद्वैतश्रुति से बाधित माने जाते हैं। अद्वैत प्रतिपादक वाक्यान्तर (एको द्रष्टा अद्वैतो भवति) को भी द्वितीयाभाव का विरोधी प्रमाण नहीं माना जा सकता है,

तृतीयः, 'ग्रहं संमार्ष्टि'इत्यत्र सम्मार्जनस्येवाखण्डार्थपरे वाक्ये विधेयान्तरस्याभावेन विशेष्यस्य शास्त्रगम्यस्य चिन्मात्रस्याप्राप्तत्वेनोद्देश्यत्वायोगाच्च, द्वितीयाभावस्योद्देश्यविशेषणत्वानुपपत्तेः, अविवक्षाहेतोरनुवाद्यत्वस्याप्यभावाच्चेति—चेत्।। ७।।

न,स्वयमेव स्वबोधितमपि द्वितीयाभावं द्वितीयत्वादेव निषेधतीति स्वविरोधादेव श्रुतेस्तत्रातात्पर्यात्। मानविरोधीत्वमात्रस्य तात्पर्याभावे प्रयोजकत्वात् स्वविरोधेऽपि न क्षतिः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

क्योंकि उक्त वाक्यान्तर से क्या आत्मा मात्र का बोधन होता है? अथवा द्वितीयाभाव का भी बोधन होता है? प्रथम पक्ष में आत्ममात्र का बोधक अद्वैत वाक्यान्तर द्वितीयाभाव का विरोधी वैसे ही नहीं हो सकता है, जैसे कि होममात्र का बोधक "अग्निहोत्रं जुहोति" वाक्य दधिविशिष्ट होम का बोधक "दध्ना जुहोति" इस वाक्य का विरोधी नहीं माना जाता है। यदि अद्वैतवाक्यान्तर को द्वितीयाभावपरक मानते हैं तब तो अद्वैतश्रुति और अद्वैतवाक्यान्तर दोनों ही एक विषय (द्वितीयाभाव) के बोधक हो जाने के कारण उन दोनों में विरोध हो ही नहीं सकता है। अतः द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है। तृतीयपक्ष भी समीचीन नहीं है, क्योंकि जैसे "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस श्रुतिवाक्य के द्वारा ग्रहरूप उद्देश्य से अतिरिक्त सम्मार्जनरूप विधेय है, वैसे ही प्रकृत में अखण्डार्थबोधक अद्वितीयवाक्य के द्वारा शुद्ध ब्रह्मरूप उद्देश्य से अतिरिक्त अन्य कोई विधेय न होने से द्वितीयाभाव को शुद्धब्रह्मरूप उद्देश्य का विशेषण नहीं माना जा सकता है। दूसरी बात यह है कि उद्देश्य सदैव प्रमाणान्तर से ज्ञात होता है। जैसे "ग्रहं सम्मार्ष्टि" यहाँ पर उद्देश्यभूत ग्रह प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तर से ज्ञात है, किन्तु प्रकृत में शुद्ध ब्रह्मशास्त्रैकगम्य होने के कारण प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं है। अतः वह द्वितीयाभाव के प्रति उद्देश्य नहीं बन सकता है। अविवक्षा के प्रतिहेतु अनुवाद्यत्व भी होता है अर्थात् यदि श्रुतिवाक्यगत कोई पदार्थ प्रमाणान्तर से प्राप्त होने के कारण उस पदार्थ का उस श्रुतिवाक्य के द्वारा अनुवाद किया गया हो, तब उस पदार्थ में उस श्रुतिवाक्य की विवक्षा नहीं मानी जाती है। इस प्रकार का भी हेतु द्वितीयाभाव में नही है, क्योंकि द्वितीयाभाव प्रमाणान्तर से प्राप्त ही नहीं है। यदि प्राप्त होता तब अद्वैतश्रुति के द्वारा उसका अनुवाद माना जाता, किन्तु ऐसा न होने से अद्वैतश्रुति के द्वारा उसका अनुवाद किया गया है— ऐसा भी नहीं माना जा सकता है। द्वितीयाभाव में अनुवाद्यत्वरूप हेतु के न रहने के कारण द्वितीयाभाव की अविवक्षा (मुख्यतात्पर्य का अभाव) नहीं मानी जा सकती है। अतः अद्वैतश्रुति का मुख्यतात्पर्य द्वितीयाभाव में भी मानना चाहिए। द्वितीयाभाव में मुख्यतात्पर्य मानने पर पूर्वोक्त अद्वैतहानि आदि दोष आयेंगे।। ७।।

द्वितीय विकल्प को स्वीकार कर सिद्धान्ती समाधान देते हुए कह रहे हैं कि अवान्तर तात्पर्य के रूप से अद्वैतश्रुति के द्वारा बोधित द्वितीयाभाव का अद्वैतश्रुति के द्वारा ही द्वितीयत्वेन निषेध किया गया है, क्योंकि द्वितीयाभाव अधिकरण से भिन्न द्वितीय वस्तु है। (यहां पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सिद्धान्ती द्वितीयाभाव को अधिकरणस्वरूप न मानकर समाधान दे रहे हैं।) अर्थात् अद्वैतश्रुति के द्वारा उन सभी का निषेध किया गया है जिसमें द्वितीयत्व है। अतः द्वितीयाभाव में भी द्वितीयत्व के रहने के कारण द्वितीयाभाव का भी अद्वैतश्रुति के द्वारा निषेध किया गया है। ऐसी स्थिति में द्वितीयाभाव में यदि अद्वैतश्रुति का मुख्य तात्पर्य माना जाय तो उसी श्रुति के द्वारा द्वितीयाभाव का निषेध असङ्गत हो जाएगा। अतः द्वितीयाभाव में अद्वैतश्रुति का मुख्यतात्पर्य मानने में स्वयम् अद्वैतश्रुति ही विरोधी है। इस प्रकार स्वविरोध आने से अर्थात्

ननु—एकेनैव प्रमाणेनैकस्य प्राप्तिनिषेधावनुपपन्नौ, न, रूपभेदेनाविरोधात्। द्वितीयाभावस्वरूपं हि शास्त्रेण प्राप्यते। तस्य च प्राप्यतावच्छेदकरूपं द्वितीयाभावत्वम्, तच्च न निषेध्यतावच्छेदकम्, किन्तु द्वितीयत्वमेव निषेध्यमात्रानुगतम्। तत्र तदनभ्युपगमे तु न तस्य निषेध्यत्वम्, न वा तेनात्मनः सद्वितीयत्वापत्तिरिति न कोऽपि दोषः। यत्र तु प्राप्यतावच्छेदकमेव निषेध्यतावच्छेदकम्, तत्र प्राप्तिनिषेधशास्त्रयोरतुल्यविषयत्वे विशेषशास्त्रविषयपरित्यागेन सामान्यशास्त्रप्रवृत्तिः, तुल्यविषयत्वे त्वगत्या विकल्प इति न निषेधस्यासङ्कोचेन प्रवृत्तिः, यथा 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति निषेधशास्त्रस्य 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इत्यादिप्राप्तिशास्त्रविषयेतरविषयत्वम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

अद्वैतश्रुति स्वयं विरोधी होने के कारण अद्वैतश्रुति का द्वितीयाभाव में तात्पर्य नहीं माना जाता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि प्रमाणान्तर अर्थात् प्रकृत श्रुतिवाक्य से भिन्न प्रमाण से विरोध होने पर ही तात्पर्य का अभाव माना जाता है न कि स्वविरोध होने से। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी के उक्त कथन को हम नहीं मानते हैं, क्योंकि किसी भी प्रमाण से विरोध होने मात्र से ही तात्पर्याभाव माना जाता है, चाहे वह स्वयं अद्वैतश्रुतिरूप प्रमाण से विरोध हो या उससे भिन्न दूसरे प्रमाण के साथ विरोध हो। यदि कहा जाय कि एक पदार्थ का एक ही प्रमाण से प्राप्ति तथा निषेध अनुपपन्न है। ऐसा कथन भी उचित नहीं है क्योंकि यदि यद्रूपेण प्राप्ति है तद्रूपेण ही निषेध करते तब तो विरोध होता किन्तु जिस रूप से प्राप्ति है। उससे भिन्न रूप से निषेध करने पर विरोध नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि अद्वैतश्रुति के द्वारा द्वितीयाभाव की प्राप्ति है। अतः उसकी प्राप्यता का अवच्छेदक द्वितीयाभावत्व है। यह द्वितीयाभावत्व निषेध्यता का अवच्छेदक नहीं है, किन्तु निषेध्य मात्र (सम्पूर्ण प्रपञ्च) में अनुगत द्वितीयत्व ही निषेध्यता का अवच्छेदक है। इस प्रकार से प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक के भिन्न—भिन्न होने से एक पदार्थ का भी एक ही प्रमाण से प्राप्ति और निषेध उपपन्न हो जायेगा। यदि द्वितीयाभाव को अधिकरण (ब्रह्म)स्वरूप माना जाता है। तब उसमें द्वितीयत्व(ब्रह्म भिन्नत्व) ही नहीं रहेगा और न उसके निषेध करने की आवश्यकता ही होती है, क्योंकि उस द्वितीयाभाव से द्वैतापत्ति नहीं हो सकती है। जहाँ प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक एक ही हैं ऐसे स्थल दो प्रकार के होते है। प्रथम स्थल है—जहाँ प्राप्तिशास्त्र और निषेधशास्त्र के विषय तुल्य (समान) नहीं है। जैसे अग्नीषोमीयवाक्य (अग्नीषोमीयमालभेत) इस विशेषशास्त्र के द्वारा हिंसा की प्राप्ति होती है और "न हिंस्यात् सर्वभूतानि" इस सामान्यशास्त्र के द्वारा हिंसा का निषेध होता है। इसलिए दोनों के विषय भिन्न—भिन्न है। अर्थात् एक का विषय हिंसा की प्राप्ति और दूसरे का विषय हिंसा का निषेध होने से विषय भिन्न—भिन्न है, किन्तु प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक हिंसात्व ही है। द्वितीय स्थल यह है—जहाँ प्राप्तिशास्त्र और निषेधशास्त्र का विषय तुल्य(समान)है। जैसे प्राप्तिशास्त्र है—"अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" और निषेध शास्त्र है—"नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" इन दोनों शास्त्रों का विषय अतिरात्रयाग है। जो कि दोनों में तुल्य है। किन्तु प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक षोडषीग्रहत्व एक ही है। प्रथमस्थल पर जिन दो शास्त्रों के विषय भिन्न—भिन्न है और प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक एक ही है। वहाँ विशेषशास्त्र का विषय (यज्ञीय हिंसा) को छोडकर अन्य हिंसाओं को निषेध करने में सामान्य शास्त्र (न हिंस्यात् सर्वाभूतानि) की प्रवृत्ति होती है। द्वितीयस्थल पर जिन दो शास्त्रों के विषय एक ही है। जैसे "अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" और "नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"इस स्थल पर दोनों का विषय एक ही अतिरात्रयाग है और प्राप्यतावच्छेदक और निषेध्यतावच्छेदक एक ही

अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इत्यादिप्राप्तिनिषेधशास्त्रयोस्तु विकल्पेनैकविषयत्वम्, एकस्यैव हिंसात्वस्य षोडशिग्रहत्वस्य च प्राप्तिनिषेधयोरवच्छेदकत्वात्, तत्र निषेधशास्त्रस्यासंकुचद्वृत्तित्वे प्राप्तिशास्त्रस्य सर्वात्मना वैयर्थ्यापत्तिः, प्रकृते च द्वितीयत्वेन रूपेण निषेधस्यैव शास्त्रार्थत्वान्न कस्यापि वैयर्थ्यशङ्का।। ८।।

अत एव—द्वितीयाभावनिषेधे पुनर्द्वितीयोन्मज्जनापत्तिरिति—निरस्तम्। उपपादितमेतन्मिथ्यात्व—मिथ्यात्वसाधने। यथा प्रतियोग्यभावयोर्निषेध्यतावच्छेदकैक्ये नैकनिषेधेऽपरसत्त्वापत्तिरिति। न

सत्यानन्दप्रबोधिका

षोडशी ग्रहत्व है। ऐसे स्थल पर यदि निषेध शास्त्र की निरङ्कुश प्रवृत्ति मानी जायेगी तब प्राप्तिशास्त्र सर्वथा ही व्यर्थ हो जयेगा। इसलिए निषेध का क्षेत्र सङ्कुचित किया जाता है, अथवा विकल्प माना जाता है। प्रकृत में द्वितीयत्वरूप से अद्वैतश्रुति का अवान्तर तात्पर्यविषयीभूत निषेध (द्वितीयाभाव) का प्रतिपादन होने से किसी के भी वैयर्थ्य की आपत्ति नहीं होगी। अर्थात् द्वितीयाभाव की प्राप्ति और द्वितीयाभाव के निषेध दोनों में से किसी के भी व्यर्थ होने की शङ्का नहीं की जा सकती है। कहने का आशय यह है कि प्रकृत में एक ही शास्त्र (अद्वैतश्रुति) के द्वारा द्वितीयाभाव की प्राप्ति और द्वितीयाभाव का निषेध यद्यपि होता है फिर भी द्वितीयाभावत्वेन द्वितीयाभाव की जो प्राप्ति होती है वह तो द्वैत मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए सार्थक है और द्वितीयत्वेन द्वितीयाभाव का निषेध जो उसी शास्त्र के द्वारा किया जाता है वह तो द्वितीयाभाव को लेकर पूर्वपक्षी के द्वारा जो द्वैतापत्ति की शङ्का की जाती है उस शङ्का का निवारण करने के लिए होने के कारण सार्थक है।। ८।।

"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि अद्वैत वाक्यों के सर्वद्वैतनिषेध में तात्पर्य होने के कारण पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि द्वितीयाभाव का निषेध होने पर पुनः द्वितीय की स्थिति माननी पड़ेगी, क्योंकि घटाभाव का अभाव करने पर घट की स्थिति मानी जाती है। पूर्वपक्षी का यह आक्षेप इसलिए निरस्त हो जाता है कि प्रतियोगी और अभाव इन दोनों में निषेध्यतावच्छेदक का ऐक्य होने के कारण एक का निषेध होने पर अपर के सत्त्व की आपत्ति नहीं होती है। अर्थात् द्वैत का ब्रह्म में निषेध और द्वैताभाव का ब्रह्म में निषेध उभयत्र निषेध्यतावच्छेदक एक ही द्वैतत्व है। अतः अन्यतर (द्वैताभाव) का निषेध करने पर अन्य (द्वैत) के सत्त्व की आपत्ति नहीं होगी "द्वितीयाभावो ब्रह्मणि नास्ति" इत्याकारक निषेध का पर्यवसान होने से द्वितीय के उन्मज्जन की आपत्ति दी जा सकती थी, किन्तु द्वितीयाभाव और द्वितीय कुछ भी ब्रह्म में नहीं है इत्याकारक पर्यवसान होने पर सुन्दोपसुन्दन्याय से दोनों का ही निषेध हो जाने से किसी भी एक के उन्मज्जन की आपत्ति नहीं होगी। इस पर विशेष विचार विगत मिथ्यात्व मिथ्यात्वनिरुपण के अवसर पर किया जा चुका है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जैसे "द्वैतवति ब्रह्मणि द्वैतं नास्ति" इस स्थल पर द्वैतवत् का अर्थ द्वैतविशिष्ट ब्रह्म अथवा द्वैतोपलक्षित ब्रह्म हो सकता है। किन्तु जैसे एक बार द्वैतवति कह कर द्वैत का विधान कर देने पर पुनः "द्वैतं नास्ति" इस प्रकार से उपपादन करना उक्तस्थल पर अयुक्त माना जाता है। ठीक उसी प्रकार अद्वैतश्रुति के द्वारा ब्रह्म में द्वितीयाभाव का प्रतिपादन करके पुनः द्वितीयाभाव वाले ब्रह्म में द्वितीयत्वेन द्वितीयाभाव का भी निषेध करना उचित नहीं है। अर्थात् चाहे द्वितीयाभाव को ब्रह्म का विशेषण माने अथवा उपलक्षण, किन्तु "द्वितीयाभाववति ब्रह्मणि द्वितीयाभावो नास्ति" ऐसा नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसे वाक्य से शाब्दबोध होता नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "इदं रजतम्" इस भ्रमस्थल पर जब "नात्र रजतम्" इस प्रकार से निषेध किया जाता है तब रजत निषेध करते समय

च—स्वेनैव निषिद्धस्य द्वितीयाभावस्य द्वितीयस्येव विशेषणत्वेनोपलक्षणत्वेन वा पुनरुपादानं न युक्तमिति—वाच्यम्, अभावबुद्धौ निषिद्धस्यापि प्रतियोगिनः 'सा शुक्तिः' इत्यत्र प्रतिषिद्धस्यापि (प्रसिद्धस्यापि) पूर्वं प्रतीतरजतस्योपलक्षणतयोपादानदर्शनात्, असङ्कीर्णज्ञानप्रयोजकत्वस्य प्रकृतेऽपि तुल्यत्वात्। तस्मात् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादिश्रुतिर्विश्वमिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम्।। ९।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

यह शङ्का होती है कि वहाँ रजत नहीं है तो क्या है? इसका समाधान करने के लिए निषेध वाक्य "नात्र रजतम्" के साथ में "सा शुक्तिः" यह जोड़ा जाता है। अब यहाँ "सा शुक्तिः" में सा पद जो है वह इस शुक्ति को इतर शुक्तियों से व्यावृत्त करने के लिए दिया गया है। अतः "सा शुक्तिः" का अर्थ होता है "यत् पूरोवर्तिवस्तु रजततया प्रतीतं सा शुक्तिः"। इस प्रकार से "नात्र रजतम्" वाक्य के द्वारा प्रतिषिद्ध रजत को उपलक्षणतया पुनः ग्रहण करते हुए देखा गया है। प्रतिषिद्धस्य के स्थान पर पाठान्तर प्रसिद्धस्य लेने पर अर्थ होगा कि भ्रमकाल में प्रसिद्ध रजत को उपलक्षणतया पुनः ग्रहण करते हुए देखा गया है। अर्थात् "नात्र रजतम्" में जिस रजत का निषेध हुआ है उसी रजत का "सा शुक्तिः" में सा पद के द्वारा पुनः उपादान किया गया है। इसी प्रकार प्रकृत में भी जो ब्रह्म द्वितीयाभाव से उपलक्षित हो कर प्रतीत हो रहा था, उसमें द्वितीयाभाव नहीं है। ऐसा अर्थ करने पर किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। दृष्टान्त में शुक्ति का असङ्कीर्णतया (इतर व्यावृत्तरूपेण) जो ज्ञान होता है उसमें प्रयोजक "सा" पद का अर्थ है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त में भी ब्रह्म का जो असङ्कीर्णतया ज्ञान अद्वैतश्रुति से होता है उसका भी प्रयोजक द्वितीयाभाव है। इस प्रकार से "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि अद्वैतश्रुतियां विश्व के मिथ्यात्व में प्रमाण है। यह सिद्ध हो गया।। ९।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सामान्येन मिथ्यात्वश्रुत्युपपत्तिः n

9

अद्वैतश्रुतेर्बाधविचारः

ननु—आपातप्रतिपन्न एव न तावच्छ्रुत्यर्थः, 'कश्छन्दसां योगमावेद धीरः' इति श्रुत्या 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदः'इति स्मृत्या च वेदार्थस्यातिगहनतोक्तेः, मीमांसावैयर्थ्यप्रसङ्गाच्च, किन्तु मानान्तरेण पूर्वोत्तरेण चाविरुद्ध एवार्थः, अविरोधग्रहणार्थं च मीमांसासाफल्यम्, अत एव 'आज्यैः स्तुवते' 'आकाशादेव समुत्पद्यन्ते' इत्यादावापातप्रतीतघृतगगनादिपरित्यागेनाज्याकाशा— दिपदानां सामपरमात्माद्यर्थत्वं स्थापितं पूर्वोत्तरमीमांसयोश्चित्राकाशाद्यधिकरणेषु, अन्यथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियां द्वैतमिथ्यात्व में प्रमाण नहीं हो सकती हैं, क्योंकि पूर्वापरपरामर्शशून्य श्रवणमात्र से उपस्थित अर्थ श्रुति का वास्तविक अर्थ नहीं होता है। जैसा कि कहा गया है—"कश्छन्दसां योगमावेद धीरः" अर्थात् कौन धीर व्यक्ति वेद वाक्यों का योग(तात्पर्य) को जानता है? अर्थात् कोई एक विचारवान् व्यक्ति ही जानता है। इसी प्रकार महाभारत के आदिपर्व के प्रथम अध्याय के श्लोक संख्या २६७ के अन्तिम दो चरणों में और श्लोक संख्या २६८ के प्रारम्भ के दो चरणों में कहा गया है।—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।।

अर्थात् इतिहास और पुराणों की सहायता से ही वेदों के अर्थ का विस्तार एवं समर्थन करना उचित होता है। जो इतिहास और पुराणों से अनभिज्ञ है और अल्प विद्या वाला पुरुष है। उससे वेद डरते हैं कि कही यह मुझ पर प्रहार करेगा। अर्थात् अर्थ का अनर्थ कर डालेगा। इस प्रकार श्रुति और स्मृति के द्वारा वेदार्थ को अतिगहन बतलाया गया है। यदि आपाततः प्रतीयमान अर्थ को ही मुख्यार्थ मान लिया जाता है तब तो मीमांसा शास्त्र (विचार शास्त्र) ही व्यर्थ हो जायेगा। इसलिए प्रमाणान्तर से अविरुद्ध अर्थ ही श्रुति का मुख्य अर्थ हो सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रमाणान्तरों से अविरोध की स्थापना होने पर ही मीमांसाशास्त्र चरितार्थ भी हो जाता है। इसलिए "आज्यैः स्तुवते" और "आकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (छा०उ०१.९.१) इत्यादि श्रुति वाक्यों के आज्य और आकाश पदों के द्वारा आपाततः प्रतीयमान अर्थ घृत और गगन को छोड़कर पूर्वमीमांसा के चित्राधिकरण (जै०सू०१.४.३) में आज्य पद का अर्थ सामस्तोत्र किया गया है और उत्तर मीमांसा के आकाशाधिकरण (ब्र०सू०१.१.२२) में आकाश पद का परमात्मा अर्थ किया गया है। आपाततः प्रतीयमान अर्थ को ही मुख्यार्थक मानने पर तत्तद् अधिकरणों में आपाततः प्रतीयमान अर्थ को स्वीकार कर लेने पर पूर्वपक्षी के कथन को ही स्वीकार करने की आपत्ति होगी। जबकि पूर्वपक्षी का खण्डन करके सिद्धान्त पक्ष को ही स्वीकार किया जाता है। (जै०सू०१.१.५) के शावरभाष्य में कहा गया है—"शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" अर्थात् शब्दविषयक श्रावणप्रत्यक्ष के बाद जो असन्निकृष्ट अर्थविषयक विज्ञान उत्पन्न होता है उसको शास्त्र (शब्द प्रमाण) कहते हैं। इस शावर भाष्य की पंक्ति को उद्देश्य कर पूर्वोक्त प्रकार का अर्थ ही वार्तिककार के द्वारा इन वार्तिकों के माध्यम से कहा गया है।

१. (अत्र) शब्द प्रमाण के लक्षण में असन्निकृष्ट इस पद से दो का परित्याग भाष्यकार करना चाहते हैं। प्रथम—तादूरूप्येण परिच्छेदः=जिस रूप से अर्थगत वाक्यबोध्यता है उस रूप से पूर्व प्रमितत्त्व अर्थात् अधिगतत्व । द्वितीय— जिस रूप से अर्थगतवाक्यबोध्यता है उस रूप से

तत्तत्पूर्वपक्षाभ्युपगमापत्तेः, तथाचोक्तं वार्तिककारैः "शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्"इत्यत्र–

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम्। ताद्रूप्येण परिच्छेदस्तद्विपर्ययतोऽपि च।।
विषयाविषयौ ज्ञात्वा तेनोत्सर्गापवादयोः। बाधाबाधौ विवेक्तव्यौ न तु सामान्यदर्शनात्।।
अन्य एवैकदेशेन शास्त्रस्यार्थः प्रतीयते। अन्यस्तु परिपूर्णेन समस्ताङ्गोपसंहृतौ।।' इति।
अन्यत्राप्युक्तम्–
विरुद्धवत्प्रतीयन्त आगमा यत्र ये मिथः। तत्र छ्ष्टानुसारेण तेषामर्था विवक्षिताः।।'इति।

तथा च प्रत्यक्षादिविरोधात् पूर्वोत्तरविरोधाच्च नाद्वैतपरत्वमेकमेवेत्यादिवाक्यानामिति–चेन्न, द्वैतप्रत्यक्षस्य चन्द्रप्रादेशिकत्वप्रत्यक्षवत् सम्भाविताप्रामाण्यतया अद्वैतश्रुतिविरोधित्वाभावात्। यथा च श्रुत्या प्रत्यक्षं बाध्यते, तथा प्रपञ्चितमधस्तात्। किञ्च प्रत्यक्षं नियतविषयम्, श्रुतिः

सत्यानन्दप्रबोधिका

विपरीतरूप से प्रमितत्त्व अर्थात् बाधितत्त्व। अर्थात् प्रमाणान्तर से अनधिगत और अबाधित जो अर्थ तादृश अर्थ विषयक वाक्य का नाम शब्द प्रमाण है।

२. किसका बाध करना है? किसका बाध नहीं करना है? इसका निर्णय सामान्यदर्शन (आपात दर्शन) से नहीं करना चाहिए, किन्तु उत्सर्ग और अपवाद के विषय और अविषय को जानकर ही बाध और अबाध का निर्णय करना चाहिए।

३. शास्त्र के सम्पूर्ण प्रकरण को न देखकर प्रकरण के केवल एक भाग को देखने से मुख्यार्थ से भिन्न आपात अर्थ की ही प्रतीति होती है और मुख्यार्थ का बोध तो उपक्रमोपसंहारानुसंधानपूर्वक समस्त शास्त्र के देखने से ही होता है।

४. इसी प्रकार स्मृतिपादीय वार्तिक में भी वार्तिककार ने कहा है कि जहां पर जो आगम परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं, वहां पर पूर्वापर वाक्यों के अनुसार उन सभी आगमों का अर्थ विवक्षित होता है।

प्रकृत में विश्वसत्यत्वविषयक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होने के कारण और श्रुति के पूर्वोत्तर वाक्यों (मृत्तिकेत्येव सत्यम्–इत्यादि वाक्यों)से विरोध होने के कारण "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों का मुख्यार्थ अद्वैतपरक नहीं माना जा सकता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे चन्द्रधर्मिक प्रादेशिकत्वप्रकारक प्रत्यक्ष में भ्रमत्व उभयवादि सम्मत है। इसलिए भ्रमत्वसमानाधिकरण प्रत्यक्षत्व के ज्ञान से सत्त्व प्रकारक अथवा भेदप्रकारक प्रत्यक्ष में अप्रामाण्य का संशय उत्पन्न होता है। जब कि अनाप्ताप्रणीतत्वेन प्रमात्वेन कार्यकारणभाव के ज्ञान से श्रुतिजन्य जो प्रपञ्च धर्मिक मिथ्यात्वप्रकारकज्ञान, उस ज्ञान में अप्रामाण्य संशय उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए अनाहार्य अप्रामाण्यसंशयानास्कन्दित श्रुतिजन्य ज्ञान से अप्रामाण्य–संशयाऽऽस्कन्दित प्रत्यक्ष का ही बाध मानना उचित है। अद्वैतश्रुतियों के द्वारा प्रत्यक्ष का बाध क्यों होता है? इस पर विस्तार से चर्चा आगमबाध्यत्त्व प्रकरण में की जा चुकी है। दूसरी बात यह है कि भेदग्राहि प्रत्यक्ष का क्षेत्र सीमित है जबकि अभेद बोधिका श्रुति का क्षेत्र व्यापक है। अतः प्रत्यक्ष के द्वारा जहां पर भेद सिद्ध नहीं किया जा सका, वहां अभेद श्रुति निराबाध होकर अभेद का बोधन करेगी। अर्थात् "घटः पटो न" इत्याकारक प्रत्यक्ष घटानुयोगिक पटप्रतियोगिक भेद को विषय करता है किन्तु "घटः पटो न" इत्याकारक प्रत्यक्ष उक्त प्रत्यक्ष प्रतियोगिक घटानुयोगिक या घटप्रतियोगिक उक्त प्रत्यक्षानुयोगिक अथवा उक्त प्रत्यक्षप्रतियोगिक पटानुयोगिक या पटप्रतियोगिक उक्त प्रत्यक्षानुयोगिकभेद को विषय नहीं करता है। फलतः श्रुति उक्त प्रत्यक्ष के साथ घट के अभेद

सर्वविषया, तथा च यत्र प्रत्यक्षेण भेदो न गृहीतः, तत्रैवाभेदश्रुतेरवकाशः।। १।।

ननु—ययोरैक्यं श्रुत्या बोध्यते तयोर्भेदः प्रसक्तो? न वा? नान्त्यः, अप्रसक्तप्रतिषेधापातात्, नाद्यः, प्रसञ्जकप्रमाणविरोधेनैक्यस्य बोधयितुमशक्यत्वादिति—चेन्न, अन्त्यपक्षाभ्युपगमे दोषाभावात्। अप्रसक्तप्रतिषेध इति च किमप्रसिद्धप्रतियोगित्वम्? किं वा निष्प्रयोजनत्वमिति विवेचनीयम्।

सत्यानन्दप्रबोधिका

का बोधन करेगी और उक्त प्रत्यक्ष के साथ पट के अभेद का भी बोधन करेगी। और तब तो "घटो न पटः" इस ज्ञान को घट धर्मिक पट प्रतियोगिक भेद विषयकत्व विशिष्ट प्रत्यक्षात्मक भी माना नहीं जायेगा। क्योंकि "स्वाभिन्नाभिन्नस्य स्वाभिन्नत्वम्" इस न्याय से श्रुति घट पट के भी अभेद को सिद्ध करेगी। स्व पद से घट लिया, उससे अभिन्न हुआ उक्त भेद ग्राहिप्रत्यक्ष, उस प्रत्यक्ष के साथ अभिन्न हुआ पट, उस पट के साथ घट का अभेद उक्त न्याय के बल पर सिद्ध हो जायेगा ।। १।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतश्रुति के द्वारा जिन दो पदार्थों में अभेद का बोधन किया जाता है। उन दोनों पदार्थों में भेद प्राप्त है अथवा नहीं? अन्तिम पक्ष तो माना नहीं जा सकता क्योंकि अप्राप्त वस्तु का निषेध करने पर अप्रसक्त के प्रतिषेध की आपत्ति आयेगी। प्रथम पक्ष को भी समीचीन नहीं कहा जा सकता है क्योंकि भेद के प्रापक प्रमाण से अभेद बोधक श्रुति का विरोध हो जाने से अभेद बोधक श्रुति अभेद का बोधन नहीं करा सकती है। जैसा कि कहा गया है—

प्रत्यक्षाप्रसक्तं चेदप्रसक्तनिषेधता।
श्रुतेः स्यात्तत्प्रवृत्तं चेत्तद्बाधः सुस्थिरः श्रुतेः।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अन्तिमपक्ष स्वीकार करने पर कोई भी दोष नहीं आयेगा, क्योंकि अप्रसक्त प्रतिषेध से आप को क्या विवक्षित है? अप्रसिद्ध प्रतियोगिकत्व अथवा निष्प्रयोजनत्व। अर्थात् जिसका निषेध किया गया है उसका प्रतियोगी प्रसिद्ध न होने के कारण अप्रसक्त प्रतिषेध कह रहे हो अथवा अप्रसक्त प्रतिषेध करना व्यर्थ है। इसलिए अप्रसक्त प्रतिषेध कह रहे हो। प्रथमपक्ष उचित नहीं है, क्योंकि जैसे भ्रमकाल में जो रजत का स्मरण होता है। उस समय किस देश में किस काल में इतः पूर्व रजत देखा था, उस देशकाल का स्मरण नहीं होता है, किन्तु केवल रजत का ही स्मरण होता है और उसी स्मृत रजत के संस्कार के उद्‌बोध होने के कारण शुक्ति में रजत का भ्रम होता है। उस रजत का ही निषेध पूरोवर्ति देश रूप अधिकरण में होता है, जो कि हट्टस्थ देश रूप अधिकरण से भिन्न अधिकरण है। इसी प्रकार प्रकृत में जिस अधिकरण में भेदप्रसिद्ध है, उस अधिकरण में भेद का जो अनुयोगी और प्रतियोगी था, तादृश अनुयोगी—प्रतियोगी से विशिष्टत्वेन भेद निषेधकाल में उपस्थित नहीं होता है किन्तु केवल भेदत्वेन भेदरूप से उपस्थित होता है और उसी प्रसक्त भेद का अन्य (ब्रह्म) अनुयोगि—(प्रपञ्च) प्रतियोगि से विशिष्टत्वेन अद्वैतश्रुति के द्वारा निषेध किया जाता है। इस प्रकार किसी अधिकरण में यदि भेद प्राप्त था और भेदत्वेन वह भेद निषेधकाल में उपस्थित होता है। तब उसका अद्वैतश्रुति के द्वारा निषेध अन्याधिकरण में किये जाने पर अप्रसक्त प्रतिषेधरूप दोष नहीं दिया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि निषेध के लिए यह नियम है कि जहां निषेध करना है, उसी निषेधाधिकरण में प्रतियोगी की प्रसिद्धि होनी चाहिए। जबकि सिद्धान्ती यह दिखला रहे हैं कि पटानुयोगिक घट प्रतियोगिकभेद पट में प्राप्त है। अर्थात् अद्वैतश्रुति से बोधित निषेधाधिकरण से भिन्न अधिकरण में प्राप्त होता है। किन्तु उसका निषेध अद्वैतश्रुति के द्वारा प्रसक्ताधिकरण में होता नहीं है। अपितु ब्रह्मानुयोगिक प्रपञ्चप्रतियोगिकभेद का निषेध होता है।

नाद्यः, अन्यत्र प्रसिद्धस्यैव भेदस्य भेदत्वेनोपस्थितस्य परस्परप्रतियोग्यनुयोगिभावेनान्यत्र निषेधसम्भवात्। न च तत्रैव प्रसिद्धिस्तन्त्रम्, निषेधप्रमामात्रोच्छेदप्रसङ्गात्। न द्वितीयः, अनर्थनिवृत्तेरेव प्रयोजनत्वात्, 'नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्यः' इत्यादौ स्तुतिमात्रप्रयोजनेनाप्यप्रयोजनेनाप्यप्रसक्तनिषेधदर्शनाच्च॥ २॥

अथ श्रुत्या ययोरभेदो बोध्यते तयोरुपस्थितिरस्ति? न वा? नान्त्यः, अनुपस्थितयोर्भेदबोधनायोगात्। आद्ये सा किं श्रुतिजन्या, प्रत्यक्षादिजन्या वा। नाद्यः, श्रुतेर्मानान्तरागोचराभेदमात्रपरत्वेन घटाद्युपस्थितेस्तज्जन्यत्वाभावेन सर्वाद्वैतासिद्धेः, श्रुतिस्थकिंचनेत्यादिपदा–

सत्यानन्दप्रबोधिका

इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्रतियोगी की प्रसिद्धि का अर्थ होता है प्रतियोगी का ज्ञान। इस पर प्रश्न होता है कि प्रतियोगी का ज्ञान भ्रमात्मक लेना है? अथवा प्रमात्मक? यदि प्रतियोगी का ज्ञान भ्रमात्मक लेते है तब निषेधज्ञान प्रमा हो जायेगा और प्रतियोगी के भ्रमात्मक ज्ञान के द्वारा निषेध प्रमा का विरोध करना सम्भव नहीं होगा, तब तो पूर्वपक्षी ने यह जो कहा था–"प्रसञ्जकप्रमाणविरोधेनैक्यस्य बोधयितुमशक्यात्" इसका खण्डन हो जायेगा। यदि प्रतियोगी के ज्ञान को प्रमा माना जाय तब तो निषेधज्ञान कहीं पर भी प्रमा नहीं हो पायेगा, अर्थात् निषेधज्ञान को सर्वत्र भ्रमात्मक ही मानना पड़ेगा, क्योंकि जहां पर घट का यथार्थज्ञान हो रहा है, वहां पर घट के अभाव का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता है अपितु घटाभाव का भ्रमात्मकज्ञान ही होता है। अत: निषेधाधिकरण में ही भेद की प्रसिद्धि मानी नहीं जा सकती है। द्वितीयपक्ष (निष्प्रयोजनत्व) भी उचित नहीं है, क्योंकि भेद निषेध का परम प्रयोजन है अनर्थ की निवृत्ति। अब कह रहे हैं कि निष्प्रयोजन निषेध मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि "नान्तरिक्षेऽग्निश्चेतव्य:" इस स्थल पर अन्तरिक्ष में इष्टिका चयन प्राप्त ही नहीं है किन्तु फिर भी उसका निषेध किया गया है। अत: अप्रसक्तप्रतिषेध मानने पर भी कोई दोष नहीं माना जाता है किन्तु वहां पर निषेध का कोई प्रयोजन होना चाहिए। जैसे दृष्टान्त स्थल पर स्तुतिमात्र प्रयोजन से भिन्न कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् स्तुतिमात्र प्रयोजन है। अर्थात् "सुवर्णं निधाय चेतव्यम्" इति विधिवाक्य के द्वारा चयन के धरातल पर सोना रखकर उस पर इष्टि का चयन का जो विधान किया गया, उस विधान की स्तुति मात्र ही उक्त निषेध का प्रयोजन है। अत: अप्रसक्त प्रतिषेध माना गया है। इसी प्रकार दार्ष्टान्त स्थल पर भी अनर्थ निवृत्ति रूप प्रयोजन होने से अप्रसक्त प्रतिषेध मानने पर भी कोई दोष नहीं होगा। अर्थात् निष्प्रयोजन अप्रसक्त का प्रतिषेध नहीं होता है किन्तु प्रतिषेध का कोई प्रयोजन होने पर तो अप्रसक्त का भी प्रतिषेध हो ही सकता है, यह सिद्धान्ती का भाव है।। २।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि श्रुति के द्वारा जिन घट पट में अभेद का बोधन किया जाता है। किसी प्रमाण के द्वारा उन घट पट की उपस्थिति अभेद बोधनकाल में सिद्धान्ती मानते हैं अथवा नहीं? अन्तिमपक्ष तो सर्वथा ही अनुचित है, क्योंकि अनुपस्थित अप्रामाणिक खपुष्पवन्ध्यापुत्रादि पदार्थों में अभेद का बोधन सम्भव ही नहीं है। प्रथम पक्ष पर प्रश्न होता है कि घट पटादि की उपस्थिति क्या श्रुतिजन्य है? अथवा प्रत्यक्षादि से जन्य है? प्रथमपक्ष उचित नहीं है, क्योंकि सिद्धान्ती अद्वैतश्रुति से प्रमाणान्तरागोचर अभेद मात्र का बोधन ही मानते हैं। इसलिए प्रत्यक्षादि के गोचरीभूत घटपटादि की उपस्थिति अद्वैतश्रुति के द्वारा नहीं हो सकती है। घट पटादि की उपस्थिति न होने पर उनमें अभेद का बोधन भी नहीं हो सकता है, क्योंकि अनुपस्थित पदार्थों में अभेदबोधन सम्भव नहीं होता है। घटपटादि में अभेद बोधन न होने पर सर्वाद्वैत जो कि सिद्धान्ती को अभीष्ट है उसकी सिद्धि भी नहीं हो पायेगी। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि

नामनुवादकत्वाभ्युपगमात्। द्वितीये तु तयोर्भेदोऽपि प्रत्यक्षादिसिद्ध इति क्वाद्वैतश्रुत्यवकाश:? मैवम्, यत् प्रत्यक्षादिना गृह्यते, तद्भेदोऽपि तेन गृह्यत एवेति नियमाभावात्। तथा हि—न तावत्पदार्थस्वरूपज्ञानमेव भेदज्ञानम्, अभेदभ्रमोच्छेदप्रसङ्गात्। स्वरूपभेदवादिनामपि स्वरूपज्ञानाद् घटत्वादिप्रकारकाद् भेदत्वप्रकारकं भेदज्ञानं विलक्षणमेव, अन्यथा भेदाग्रहनिबन्धनव्यवहारानुद—यप्रसङ्गात्। अत एव स्वरूपज्ञानोत्तरकालमवश्यं भेदज्ञानमित्यपि न, अनवस्थाप्रसङ्गाच्च। तथा हि—'घटपटौ भिन्नौ जानामि'इति घटपटभेदधी: स्वप्रकाशा वा, अनुव्यवसायसिद्धा वा,

सत्यानन्दप्रबोधिका

"नेह नानास्ति किञ्चन" में किञ्चन पद से घटादि सहित सम्पूर्ण प्रपञ्च की उपस्थिति होती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा उपस्थित जो घटादि उन्ही घटादि का श्रुतिस्थ किञ्चन पद के द्वारा अनुवाद किया गया है न कि उपस्थापन (अर्थात् प्रतिपादन) किया गया है। अत: घटादि की उपस्थिति प्रत्यक्षादि के द्वारा होती है, यही मानना पड़ेगा। प्रत्यक्षादि से घटादि की उपस्थिति मानने पर द्वितीय विकल्प मानना पड़ेगा। द्वितीय विकल्प स्वीकार करने पर अर्थात् घट और पट की उपस्थिति प्रत्यक्षादि से मानने पर प्रत्यक्षादि से सिद्ध घट और पट का भेद भी प्रत्यक्षादि से सिद्ध मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर घट और पट में अभेद का प्रतिपादन श्रुति के द्वारा नहीं किया जा सकेगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जो—जो पदार्थ प्रत्यक्षादि से गृहीत होते हैं उन—उन पदार्थों का भेद भी प्रत्यक्षादि से गृहीत होता है—ऐसा नियम नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जिस "अयं घट:" ज्ञान के द्वारा घट के स्वरूप का बोधन होता है। उसी ज्ञान के द्वारा घट में रहने वाले पटादि के भेद का ज्ञान नहीं हो सकता है। यदि घट को देखकर "यह घट पटादि से भिन्न है"—ऐसा बोध हो जाता है तब तो शुक्ति को देखकर "पूरोवर्ति वस्तु रजत से भिन्न है"—ऐसा ज्ञान होगा। ऐसा होने पर "इदं रजतम्" यह अभेद भ्रम (पूरोवर्तिवस्तु रजताभिन्नम्) नहीं होगा। यदि कहा जाय कि जो लोग अभाव को अधिकरण स्वरूप मानते हैं। उनके मत से घट में रहने वाला पट भेद घटस्वरूप है। अत: घटस्वरूप होने के कारण उनके मत से पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान ही भेद का ज्ञान है। यह मत भी उचित नहीं हैं, क्योंकि जो लोग भेद को अधिकरण स्वरूप मानते हैं उनके मत में भी स्वरूपज्ञान से भेदज्ञान भिन्न ही है, क्योंकि "अयं घट:" इस प्रकार से होने वाला स्वरूपज्ञान घटत्वप्रकारक होता है जबकि "घट: पटात् भिन्न:" इस प्रकार से होने वाले भेदज्ञान भेदत्वप्रकारक होता है। अत: भिन्न—भिन्न प्रकार वाला होने से ये दोनों ज्ञान भिन्न—भिन्न है। स्वरूपज्ञान को ही भेदज्ञान मानने पर वस्तु का स्वरूपज्ञान होते ही भेदज्ञान हो जाने से भेद का अग्रहण कहीं होगा ही नहीं। ऐसा होने पर अख्यातिवाद में भेदाग्रहनिबन्धन जो "इदं रजतम्" इत्यादि व्यवहार होता है उसकी सिद्धि ही नहीं हो पायेगी। अत एव—भेदाग्रहनिबन्धन व्यवहार के अनुदय के प्रसङ्ग से ही पूर्वपक्षी का यह कथन भी खण्ड़ित हो गया कि स्वरूपज्ञान से उत्तरकाल में अवश्य ही भेदज्ञान होता है। अर्थात् जब पदार्थ के स्वरूपज्ञान के उत्तरकाल में अवश्य ही भेदज्ञान मानेंगे तब तो प्रभाकर के मत में जब इदम्ज्ञान और रजतज्ञान होंगे तब उसके उत्तरकाल में ही दोनों का भेदज्ञान भी हो जायेगा। ऐसा होने पर भेदाग्रह न रहने से अभेद व्यवहार नहीं हो पायेगा। दूसरी बात यह है कि स्वरूपज्ञान हो जाने के अव्यवहित उत्तरकाल में इस प्रथमज्ञान के विषय निष्ठ इतरभेद का ज्ञान हो जाता है।, ऐसा मानने पर उक्त द्वितीयज्ञान (विषयनिष्ठ इतरभेदज्ञान) के अव्यवहित उत्तरकाल में द्वितीयज्ञान के विषयनिष्ठ इतरभेद का ज्ञान मानना पडेगा। इस प्रकार अनवस्था दोष आयेगा। इसी को आगे स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "घटपटौ भिन्नौ जानामि" इत्याकारिका जो घट पट भेद

साक्षिसिद्धा वा, न स्वप्रतियोगिकभेदविषया, भेदधियः प्रतियोगिधीजन्यत्वनियमेन प्रतियोगिधीव्यक्तिभिन्नव्यक्तित्वावश्यकत्वात्, स्वस्या एव स्वजन्यत्वानुपपत्तेः। ज्ञानान्तरेण च तद्भेदग्रहे क्वचिद् भेदधीधाराविश्रान्तिरवश्यं वाच्या, अन्यथा सुषुप्तिविषयान्तरसञ्चारादिकं न स्यात्। अतः तत्रापि चरमभेदधीरेवोदाहरणम्। तथा च बाधकत्वाभिमता या घटपटभेदधीः स्वभेदाविषया भासते, तया सह बाध्यत्वाभिमताया ऐक्यधिय ऐक्यं बोधयित्वा निर्बाधा सती श्रुतिः सर्वाभेदे पर्यवस्यति। न ह्यभेदेऽपि बाध्यबाधकभाव, स्वस्यापि स्वबाधकतापत्तेः।

सत्यानन्दप्रबोधिका

विषयिका धी है, वह चाहे प्राभाकर मतानुसार स्वयं प्रकाश हो अथवा न्यायसम्मत अनुव्यवसाय सिद्ध हो या अद्वैतमतानुसार साक्षी सिद्ध हो। उक्त धी घट में पट का भेद और पट में घट का भेद तो बतला सकती है, किन्तु उक्त ज्ञान के घट पट निष्ठ भेद को नहीं बतला सकती है, क्योंकि भेदज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है अतः प्रकृत में "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारकज्ञान का घटपटनिष्ठ जो भेद है। उस भेद का प्रतियोगी—"घटपटौ भिन्नौ" इत्याकरकज्ञान। अतः प्रतियोगी का ज्ञान "घटपटौ भिन्नौ"इत्याकारक ज्ञान का ज्ञान। प्रतियोगी का ज्ञान भेदज्ञान के प्रति कारण होता है। अतः प्रतियोगी का ज्ञान (घटपटौ भिन्नौ"इत्याकारकज्ञान का ज्ञान) घटपटनिष्ठ "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारक ज्ञान के भेद का ज्ञान यदि पहले से होता तब "घटपटौ भिन्नौ जानामि" इस ज्ञान का भेद घटपट में सिद्ध हो पाता। पूर्व में होने वाले प्रतियोगी ज्ञानरूप व्यक्ति से उत्तरवर्ती भेदज्ञानरूप व्यक्ति भिन्न होना आवश्यक है। अन्यथा एक मानने पर स्वयं स्वयं से जन्यत्व की आपत्ति होगी। इस प्रकार से घटज्ञान घट और घटज्ञान के भेद का ग्राहक न होने के कारण ज्ञानान्तर (द्वितीयज्ञान) को ही घट और घटज्ञान के भेद का ग्राहक मानना पड़ेगा। इसी प्रकार द्वितीयज्ञान और द्वितीयज्ञान के विषयनिष्ठभेद का ग्राहक तृतीयज्ञान को मानना पड़ेगा। इस प्रकार से भेदग्राहकज्ञान की जो धारा है। इसके कारण होने वाली अनवस्था दोष से बचने के लिए उसकी विश्रान्ति कहीं न कहीं अवश्य ही माननी पड़ेगी। विश्रान्ति न मानने पर न सुषुप्ति होगी और न विषयान्तर में सञ्चार हो पायेगा। अर्थात् विषयान्तर का ज्ञान न होने से विषयान्तर में इच्छा और प्रवृत्ति न होगी। सभी लोग भेदबुद्धि की धारा में ही दिन रात लगे रहेंगे। आदि पद से अनुभव लेना चाहिए। अर्थात् ऐसी अनन्त भेदज्ञान गर्भित धारा किसी के अनुभव में नहीं आती है। अतः जहां पर भेद धी धारा की विश्रान्ति होगी। ऐसे चरमभेदज्ञान का अपने विषय से भेद किसी के द्वारा सिद्ध होगा नहीं। अतः अद्वैतश्रुति को चरमज्ञान और चरमज्ञान के विषय में अभेद बोधन का अवकाश मिल जायेगा। अर्थात् प्रत्यक्ष अद्वैतश्रुति को उक्त अभेद बोधन कराने से रोक नहीं सकता है। इस प्रकार अद्वैतश्रुति की बाधक के रूप से मानी गयी पूर्वपक्षी को अभिमत जो घटपटभेद विषयिणी धी, वह अद्वैतश्रुति से अपने भेद को विषय न करती हुयी भासित होती है। इसलिए उक्त धी और अद्वैतश्रुति में भेद का ज्ञान सिद्ध न होने के कारण श्रुति के द्वारा उनमें अभेद सिद्ध कर दिया जायेगा। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उक्त धी के साथ बाध्यत्वेन अभिमत अद्वैतश्रुति के ऐक्य को बोधन कर निर्बाध हुयी अद्वैतश्रुति सर्व के अभेद में पर्यवसित हो जाती है। अर्थात् पूर्वपक्षी के अनुसार अद्वैतश्रुति का बाधक के रूप से "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारक धी है, किन्तु घटपट भेद को विषय करने वाली धी, घट और पट के भेद को तो बतलाती है किन्तु अद्वैतश्रुति से उक्त धी भिन्न है, इसको नहीं बतलाती है। अतः अद्वैतश्रुति और उक्त धी में अभेद बोधन के समय कोई भी बाधक न होनें के कारण अद्वैतश्रुति उक्त धी के साथ

तदुक्तं खण्डनकृद्भिः—

'सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते।।' इति।। ३।।

न च—सिद्धान्ते घटतद्धीभेदग्राहिणा स्वप्रकाशेन साक्षिणा स्वस्मिन्नितरभेदस्यापि ग्रहणान्नानवस्था, अन्यथा स्वस्य घटादिभ्योऽभेदसंशयः स्यादिति—वाच्यम्, साक्षिणः

सत्यानन्दप्रबोधिका

अपना अभेद बोधन करती हुयी सम्पूर्ण पदार्थों में अभेद का बोधन करा देती है। प्रश्न होता है कि अभेदश्रुति और उक्त धी में अभेद हो जाने पर भी "घटपटौ भिन्नौ" इत्यकारिका भेद विषयक धी अभेदश्रुति का बाधक क्यों नहीं बनती है? और अभेदश्रुति और उक्त धी में अभेद हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थों में अभेद कैसे सिद्ध हो जाता है? इस पर कह रहे हैं कि उक्त धी और अभेदश्रुति में अभेद सिद्ध हो जाने पर दोनों अभिन्न हो जाने से भेद विषयिका उक्त धी अभेदश्रुति का बाधक नहीं बन सकती है, क्योंकि उसे अपना ही बाधक मानना पड़ेगा जबकि स्वयं स्वयं का कोई भी बाधक नहीं बनता है। इसी को स्पष्ट करते हुए खण्डनकार ने कहा है—

सुदूरधावनश्रान्ता बाधबुद्धिपरम्परा।
निवृत्तावद्वयाम्नायैः पार्ष्णिग्राहैर्विजीयते।।

भेदज्ञानरूपी बाधबुद्धि अनवस्था और सुषुप्त्यादि के अभावापत्ति के भय से चरम धी को त्यागकर उपान्त्य धी पर्यन्त धावन कर विश्रान्त या निवृत्त हो जाती है तब उस चरम धी में अपने विषय के साथ अपने भेद को और अद्वैतश्रुति के साथ अपने भेद को बोधन करने की अयोग्यता आ जाने के कारण उक्त प्रकार से अद्वैतश्रुति के बाधकत्व की भी अयोग्यता आ जाने पर तद् विरुद्धार्थ ग्राहिका जो अद्वैतश्रुति है उस अद्वैतश्रुति से वह जीत ली जाती है। जैसे शत्रु देश के भीतर के विस्तृत लम्बे क्षेत्र में दौड़ते—दौड़ते थकी हुयी सेना शत्रु की पृष्ठलग्न सेना के द्वारा जीत ली जाती है। यह जो प्रश्न था कि अभेद श्रुति और उक्त धी में अभेद हो जाने पर सम्पूर्ण पदार्थों में अभेद कैसे सिद्ध होता है? इसका समाधान इसी प्रकरण के खण्ड संख्या १ में किया गया है ।। ३ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के मत से अनवस्था दोष और अद्वैतश्रुति के द्वारा सर्वाभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि घट और वृत्तिरूप घटज्ञान को ग्रहण करने वाला जो साक्षी वह स्वयंप्रकाश होने के कारण घट और घटज्ञान के भेद को ग्रहण करता हुआ वह साक्षी तत्काल में ही अपने में रहने वाला अपने विषय के भेद (घट और घटज्ञान और इन दोनों का भेद) को भी ग्रहण कर लेता है। अतः इनमें अभेद सिद्ध करने का अवकाश अद्वैतश्रुति को नहीं मिलेगा और न तो अनवस्था का प्रसङ्ग ही आयेगा। अर्थात् घटविषयक वृत्तिज्ञान का साक्षी निष्ठ जो भेद है उस भेद का और घट का साक्षिनिष्ठ जो भेद है उस भेद का यदि कोई ग्राहक न होता तब तो अद्वैतश्रुति घटविषयक वृत्तिज्ञान का और साक्षी का तथा घट का और साक्षी का अभेद बोधन करा सकती थी, किन्तु ऐसा होता नहीं है क्योंकि साक्षी स्वयं ही घटविषयक ज्ञान प्रतियोगिक स्वानुयोगिक भेद को तथा घट प्रतियोगिक स्वानुयोगिक भेद को ग्रहण करता है। अतः उक्त भेद को ग्रहण करने के लिए साक्षी से आगे अन्य ज्ञान के अन्वेषण की अपेक्षा न होने से अनवस्था नहीं होगी और अद्वैतश्रुति सर्व के अभेद का प्रतिपादन नहीं कर सकती है। यदि स्वानुयोगिक भेद का ग्रहण साक्षी से ही नहीं मानेंगे तब तो साक्षी का घट के साथ अभेद का संशय होना चाहिए। अर्थात् मैं घट से अभिन्न हूँ या नहीं? ऐसा संशय साक्षी को होने की आपत्ति

स्वप्रकाशत्वेऽपि स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेदग्रहे इतरप्रतियोग्युपस्थितिसापेक्षत्वात्। अन्यथा स्वस्यान्तःकरणाद्यभेदभ्रमो न स्यात्। स्वप्रकाशेन भेदाग्रहेऽपि मानान्तरेण भेदग्रहान्न घटाद्यभेदसंशय इति न किञ्चिदेतत्।। ४।।

स्यादेतत् 'घटपटौ भिन्नौ'इति प्रत्यक्षं स्वस्याद्वैतज्ञानादिना भेदं विनानुपपत्तेस्त–मप्याक्षिपतीति सर्वत्र भेदस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि नाद्वैतश्रुतेरवकाशः। अत्रोच्यते—आक्षेपो हि

सत्यानन्दप्रबोधिका

होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि साक्षी के स्वयंप्रकाश होने पर भी साक्षी स्वनिष्ठ इतरप्रतियोगिकभेद का ग्रहण तभी कर सकता है, जब उससे पहले उसके प्रतियोगीभूत इतर पदार्थ का ग्रहण करे, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। इससे सिद्धान्ती को यह लाभ मिला कि घट का पहले साक्षी से ज्ञान हो (यह प्रथम ज्ञान होगा) उसके पश्चात् मैं घट से भिन्न हूँ इस प्रकार साक्षी से ज्ञान होगा, यह दूसरा ज्ञान है। उसी युक्ति से ही मैं घट से भिन्न हूँ इस दूसरे ज्ञान काल में ही मुझमें दूसरे ज्ञान का भेद है इसका ज्ञान नहीं होगा। पुनः तीसराज्ञान (दूसरे ज्ञान का साक्षिनिष्ठ भेद का ज्ञान) मानना पड़ेगा। इस प्रकार से अनवस्था आयेगी। जहां अनवस्था के भय से अन्य ज्ञान नहीं मानेंगे वहीं पर अद्वैतश्रुति आकर पूर्वोक्त प्रकार से सभी में अभेद को सिद्ध कर देगी। साक्षी के द्वारा स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिकभेद को ग्रहण करने में प्रतियोगीभूत इतर पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा रहती है, ऐसा यदि नहीं मानोंगे तब तो स्वनिष्ठान्तःकरणादि का भेदज्ञान भी साक्षी को सदा ही रहेगा, ऐसा होने पर मैं अन्तःकरण से अभिन्न हूँ ऐसा भ्रम साक्षी को कभी भी नहीं हो पायेगा। पूर्वपक्षी ने घटादि के साथ साक्षी के अभेद संशय की जो आपत्ति दी थी, उस पर कह रहे हैं कि साक्षी के स्वप्रकाश होने पर भी स्वनिष्ठेतरप्रतियोगिक भेद का ज्ञान साक्षी के द्वारा न होने पर भी अन्य प्रमाण के द्वारा भेदज्ञान हो जायेगा। वह अन्य प्रमाण होगा—"अहं घटादिभ्यो भिन्नः चेतनत्वात्, देवदत्तवत्।" इस प्रकार अनुमान प्रमाण के द्वारा साक्षिनिष्ठेतरभेद का ज्ञान हो जाने से मैं घटादि से अभिन्न हूँ या नहीं? ऐसा संशय नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी की पूर्वोक्त शङ्का तुच्छ है।। ४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारक प्रत्यक्ष अद्वैतज्ञानादि से अपने भेद के बिना अनुपपन्न होकर अपने भेद का आक्षेप कर लेता है। अर्थात् "घटपटौ भिन्नौ" यह प्रत्यक्ष अद्वैतज्ञान से और स्वविषय से अपने भेद के बिना अनुपपन्न होता हुआ अद्वैतज्ञानादि से अपने भेद का आक्षेप कर लेता है। अनुपपन्न इसलिए है कि अभी पीछे सिद्धान्ती के द्वारा यह सिद्ध कर दिया गया कि वह प्रत्यक्ष अपने विषय से अपने भेद को बतला नहीं सकता। अतः अद्वैतश्रुति उस प्रत्यक्ष का अपने विषय से अभेद सिद्ध कर देगी, और तब घट पट में अभेद सिद्ध हो जायेगा। तब तो घट पट के भेद का ग्राहक प्रत्यक्ष अनुपपन्न हो जायेगा। अतः प्रत्यक्ष का अद्वैतज्ञानादि के साथ जो भेद है उसका प्रत्यक्ष न होने पर भी आक्षेप से वह भेद सिद्ध हो जायेगा। इसलिए अद्वैतश्रुति के द्वारा उक्त प्रत्यक्ष के साथ अभेद स्थापन करके सर्वत्र अभेद की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आक्षेप क्या अनुमानरूप है? अथवा अर्थापत्तिरूप है? आक्षेप को अनुमानरूप मानने पर अनुमान का आकार होगा—"घटपटौ भिन्नौ इत्याकारिका बुद्धिः सर्वतो भिन्ना, बुद्धित्वात्, इतरबुद्धिवत् ।" किन्तु इस अनुमान के द्वारा सभी से भेद का भान नहीं हो सकता है क्योंकि बुद्धि को पक्ष बनाकर उसमें सभी से भेद को साध्य बनाया गया है और सभी में उक्त बुद्धि भी है। अतः स्व से स्व के भेद

अनुमानमर्थापत्तिर्वा? तत्र विवादाध्यासिता बुद्धिः सर्वतो भिन्नेति नानुमानं सम्भवति, स्वतोऽपि भेदसाधने बाधाद्, दृष्टान्तस्य च साध्यविकलत्वात्। यतः कुतश्चिद् भेदसाधने त्वनुमानाविषये लब्धावकाशा श्रुतिरभेदं बोधयिष्यति। न च स्वव्यतिरिक्तात् सर्वतो भिन्नेति साध्यम्, अद्वैतवादिनं प्रत्यप्रसिद्धविशेषणत्वात्। एतेन—सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति वाक्यमपि निरस्तम्, तदुक्तम्—

'हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः।।' इति।

सत्यानन्दप्रबोधिका

की भी सिद्धि उक्त अनुमान से माननी पड़ेगी, जबकी स्व से स्व का भेद बाधित है। इसी प्रकार दृष्टान्त में भी साध्य का समन्वय नहीं हो पायेगा क्योंकि दृष्टान्त में सभी से भेद मानने पर सभी के अन्तर्गत दृष्टान्त भी है। अतः स्व (दृष्टान्त) का ही स्व (दृष्टान्त)से भेद मानना पड़ेगा जो कि माना नहीं जा सकता है। यदि बाधदोषादि से बचने के लिए उक्त अनुमान में सर्व के स्थान पर यत् किञ्चित् घटादि वस्तु लेंगे तब उक्त अनुमान के द्वारा पक्ष में घटादि से भेद ही सिद्ध हो पायेगा और जो इस अनुमान के साध्य कोटि में नहीं है उनसे भेद पक्ष में सिद्ध नहीं होगा। अतः अद्वैतश्रुति के द्वारा उनसे पक्ष का अभेद सिद्ध कर दिया जायेगा। यदि पूर्वपक्षी पूर्वोक्त दोषों से बचने के लिए साध्य के विशेषण के रूप से "स्वव्यतिरिक्तात्" (स्वभिन्नात्) विशेषण जोड़ता है तब सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अद्वैतवादी के प्रति स्वभिन्नत्वविशेषण अप्रसिद्ध है,क्योंकि सिद्धान्तमत में सभी में अभेद माना जाता है। सर्व के अन्तःपाती स्वयं भी होता है। अतः सर्व,सर्व से भिन्न है यह वाक्य भी अद्वैतश्रुति का बाध करके सभी से सभी का भेद सिद्ध नहीं कर पायेगा, क्योंकि सर्व में उक्त वाक्य भी है। अतः अपने से भी उक्त वाक्य के द्वारा ही अपना भेद मानना पड़ेगा जबकि स्व से स्व का भेद मानने पर बाधदोष होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त सभी अर्थों को स्पष्ट करते हुए खण्डनकार ने भी कहा है—

हेत्वाद्यभावसार्वज्ञ्ये सर्वं पक्षयताऽऽस्थिते।
किञ्चित्तु त्यजता दत्ता सैव द्वारद्वयश्रुतेः।।

अर्थात् परार्थानुमान के घटक प्रतिज्ञावाक्य का आकार यदि "सर्वं सर्वस्माद्भिन्नम्" माना जाता है तब तो सभी के पक्ष कोटि में ही प्रविष्ट हो जाने से साध्य हेतु दृष्टान्त का अभाव हो जायेगा। सर्वरूप पक्ष का असर्वज्ञव्यक्ति के द्वारा ज्ञान भी नहीं हो सकता है। इसलिए अनुमान करने वाले पूर्वपक्षी में सर्वज्ञता की आपत्ति होगी। यदि साध्य हेतु और दृष्टान्त के स्वरूप की सिद्धि के लिए कुछ पदार्थों को पक्ष कोटि से बाहर रखा जाता है तब उनमें इस अनुमान के द्वारा भेद सिद्ध नहीं हो पायेगा और वही अद्वैतश्रुति के लिए अद्वैत सिद्ध करने में द्वार (उपाय) मिल जायेगा। इस प्रकार से वहीं दत्तपदा श्रुति क्रमशः सभी से सभी का अभेद सिद्ध कर देगी। इस प्रकार से उक्त आपेक्ष को अनुमानरूप नहीं मान सकते है। यदि उक्त आक्षेप को अर्थापत्ति रूप मानते है तो भी उचित नहीं है क्योंकि अर्थापत्ति का आकार होगा—"घटपटौ भिन्नौ इत्याकारिकाबुद्धिः सर्वतो भेदं विनाऽनुपपन्ना।" यह अर्थापत्ति भी उक्त बुद्धि को सर्व से भेद का विषय करने वाली नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि सर्व के अन्तर्गत स्वयं उक्त अर्थापत्ति भी है। इसलिए उक्त अर्थापत्ति के द्वारा स्व से स्व का भेद मानना पडेगा जो कि बाधित है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि जिन दो पदार्थो के भेद के बिना जहां अनुपपत्ति गृहीत है। वहां पर अर्थापत्तिप्रमाण के द्वारा उन दोनों के भेद का ज्ञान हो

नाप्यर्थापत्तिः सर्वभेदविषया, स्वाविषयत्वात्। ययोर्हि भेदं विना यत्रानुपपत्तिर्गृहीता, तयोस्तत्र भेदग्रहेऽप्यनुपपत्तावनुपपत्त्यन्तराग्रहणात्। सर्वत्र तद्ग्रहणे तु धाराविश्रान्तौ चरमधीरुदाहरणम्। तदुक्तम्—

'आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्।।' इति।। ५।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकता है। अर्थात् "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारक प्रत्यक्ष और अद्वैतज्ञान इन दोनों का अभेद होने पर प्रथम ज्ञान को घट पट भेद विषयक नहीं माना जा सकेगा, अपितु प्रथमज्ञान को भी अद्वैत विषयक मानने की आपत्ति आयेगी। अतः घटपट विषयकत्व की उपपत्ति के लिए अर्थात् "घटपटौ भिन्नौ" इस ज्ञान में प्रमात्व की उपपत्ति के लिए, इन दोनों ज्ञानों में भेद माना जा सकता है। किन्तु अनुपपत्तौ—घटपटविषयकत्वान्यथानुपपत्ति के द्वारा "घटपटविषयकत्वाश्रयस्य (प्रत्यक्षज्ञानस्य) अद्वैतज्ञानाद् भेदं कल्पयामि"इत्याकारिका जो अर्थापत्ति प्रमा है, उस अर्थापत्ति प्रमा में, अनुपपत्यन्तराग्रहणात्—अद्वैतज्ञानाद् अर्थापत्तिप्रमायाः भेदमन्तरा इदम्(उक्तप्रत्यक्षस्य घटपटभेदविषयकत्वम्)अनुपपन्नम्" इस प्रकार से अनुपपत्यन्तर (द्वितीय अर्थापत्ति) का ग्रहण नहीं किया जाता है, क्योंकि भेदज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है। प्रकृत में प्रतियोगी है अर्थापत्तिप्रमा। उसी अर्थापत्ति से स्वप्रतियोगिकभेदज्ञान नहीं हो सकता है। इसलिए उक्तार्थापत्ति प्रमा और अद्वैतज्ञान में श्रुति के द्वारा अभेद सिद्ध होता हुआ विषय तक अभेद की धारा चली जायेगी। यदि प्रथम अर्थापत्ति से अद्वैतज्ञानादि के भेद की सिद्धि के लिए अन्य अर्थापत्ति मानते हैं, और उस द्वितीय अर्थापत्ति से अद्वैतज्ञानादि के भेद की सिद्धि के लिए अन्य अर्थापत्ति मानते रहने पर सुषुप्त्यादि का अभाव एवं अनवस्थादि दोष आयेंगे। उन दोषों से बचने के लिए जहां पर अर्थापत्ति की धारा की विश्रान्ति मानेंगे, वहीं पर अद्वैतश्रुति आकर उक्त अर्थापत्ति और उसके विषय में अभेद का बोधन करती हुयी सर्वत्र अभेद को सिद्ध कर देगी। इसको स्पष्ट करते हुए खण्डनकार ने कहा है—

आद्यधीवेद्यभेदीयाप्यन्यथानुपपन्नता।
स्वज्ञानापेक्षणादन्ते बाधते नाद्वयश्रुतिम्।।

"घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारिका प्रत्यक्षात्मक आद्य धी है। उसका विषय जो घटानुयोगिक पटप्रतियोगिकभेद तादृशभेद सम्बन्धिनी जो अर्थापत्ति है, वह अद्वैतश्रुति को अभेदसिद्ध करने में बाधित नहीं करती है, क्योंकि जब अद्वैतश्रुति उक्त अर्थापत्ति और प्रत्यक्षादि में अभेद को सिद्ध करने जायेगी, तब उस अर्थापत्ति से अपने(अर्थापत्ति)का स्फुरण नहीं होता है। इसलिए उस अर्थापत्ति के द्वारा अपने से प्रत्यक्षादि के भेद की सिद्धि भी नहीं होगी, क्योंकि प्रतीयमान अनुपपन्नता के द्वारा ही अपने से प्रत्यक्षादि के भेद सिद्ध किया जा सकता है, अप्रतीयमान अनुपपन्नता के द्वारा नहीं। अतः अद्वैतश्रुति के द्वारा उक्त अर्थापत्ति और प्रत्यक्षादि में अभेद का प्रतिपादन होता हुआ सर्वत्र अभेद की सिद्धि कर दी जाती है।। ५।।

जिसके बिना अन्य पदार्थ में अनुपपन्नत्व जाना जाता है। उसे उपपादक कहते हैं और जो अनुपपन्न है, उसे उपपाद्य कहा जाता है। जैसे रात्रिभोजन के बिना पीनत्व अनुपपन्न है। अतः रात्रिभोजन उपपादक है और पीनत्व उपपाद्य है। उपपादक (रात्रिभोजन) की सिद्धि अर्थापत्ति प्रमाण

ननु यावदुपपादकं तत्सर्वमर्थापत्तेर्विषयः, न तु यत्किञ्चिदुपपादकम्, तथा चार्थापत्तेरितरस्माद् भेदाभावे तत्रैवाभेदश्रुतेर्लब्धावकाशत्वाद् घटपटभेदासिद्ध्यापत्तेरर्थापत्तिभेदस्यापि घटपटभेदोपपादकत्वेनार्थापत्तिविषयत्वं वाच्यम्, अन्यथा दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तिर्ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तिश्च स्वमिथ्यात्वविषया न स्यात्, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इति श्रुतिः 'नेह नाना'इति ब्रह्मणि भेदमात्रनिषेधानुपपत्तिश्च स्वाभेदविषया न स्यात्, तथा च तत्रापि श्रुत्यन्तरमर्थापत्त्यन्तरं वा वाच्यमिति तवाप्यनवस्थापत्तिरिति।। ६।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा हो जाने से उपपाद्य(पीनत्व)की उपपत्ति हो जाती है। प्रकृत में पूर्वपक्षी ने जो अर्थापत्ति प्रमाण दिया था। उसमें उपपादक था अद्वैत ज्ञानादि से प्रत्यक्ष का भेद और उपपाद्य घटपट भेद प्रत्यक्ष था। किन्तु प्रत्यक्ष का उपपादक एक ही भेद नहीं है अपितु जितने भेद के बिना वह प्रत्यक्ष अनुपपन्न है, वे सभी भेद उपपादक हैं। जैसे प्रत्यक्ष का अपने विषयों से भेद और प्रत्यक्ष का दूसरे प्रमाणों और उनके विषयों से भेद इत्यादि ये सभी उपपादक है। इस पर सिद्धान्ती का कहना था कि अर्थापत्ति के जितने भेद उपपादक है, उन सभी भेदों(उपपादकों)की सिद्धि किसी एक अर्थापत्ति के द्वारा नहीं हो सकती है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि घटपट भेद प्रत्यक्ष के जितने उपपादक है, उन सभी की सिद्धि एक ही अर्थापत्ति के द्वारा हो जायेगी न की कुछ ही उपपादकों की। यदि उक्त अर्थापत्ति के द्वारा अपने से अद्वैतज्ञानादि के भेद का ग्रहण नहीं मानोगे तब तो अद्वैतश्रुति को उनके अभेद सिद्ध करने का अवसर प्राप्त हो जाने से अद्वैतश्रुति उक्तार्थापत्ति और अद्वैतज्ञानादि में अभेद सिद्ध कर देगी। जबकि उक्त अर्थापत्ति का अद्वैतज्ञानादि से भेद के बिना भी तो उक्त प्रत्यक्ष अनुपपन्न है। इसलिए यह मानना ही होगा की उक्त अर्थापत्ति के द्वारा जैसे अद्वैतज्ञानादि से प्रत्यक्ष का भेद सिद्ध होता है। उसी प्रकार उक्त अर्थापत्ति से ही अर्थापत्ति निष्ठ अद्वैत ज्ञानादि का भेद भी सिद्ध होता है। अर्थात् घटपट भेद प्रत्यक्ष का उपपादक उक्त अर्थापत्तिनिष्ठ अद्वैतज्ञानादि का भेद भी है। अतः प्रथम अर्थापत्ति के द्वारा ही अपने में अद्वैतज्ञानादि का भेद सिद्ध करने के लिए अन्य अर्थापत्ति मानने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि उक्त अर्थापत्ति से ही उक्त अर्थापत्तिनिष्ठ जो अद्वैतज्ञानादि काभेद है उसकी सिद्धि नहीं मानेंगे तो दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्ति (सम्पूर्णप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना दृग्दृश्यसम्बन्धो अनुपपन्नः)और ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्ति (सम्पूर्णप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना ज्ञाननिवर्त्यत्वमनुपपन्नम्) स्व निष्ठ मिथ्यात्व को विषय नहीं कर पायेगी। अर्थात् जैसे सिद्धान्ती के द्वारा उक्त दोनों अनुपपत्तियां प्रपञ्च में तथा स्व में भी मिथ्यात्व सिद्ध करती है। वैसे ही पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त अर्थापत्ति भी अद्वैतज्ञानादि से प्रत्यक्ष के भेद को ग्रहण करती हुयी स्व धर्मिकभेद को भी ग्रहण करती है। अन्यथा सिद्धान्ती के द्वारा उक्त अनुपपत्ति द्वय से प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होने पर भी उक्त अनुपपत्तिद्वय में मिथ्यात्व के सिद्ध न होने से सिद्धान्ती के मत में द्वैतापत्ति होगी। इसी प्रकार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"(छा०उ०३.१४.१)यह श्रुति ब्रह्म के साथ सर्वाभेद का प्रतिपादन करती हुयी ब्रह्म के साथ अपने अभेद का जो प्रतिपादन करती है। वह भी सिद्ध नहीं हो पायेगा। इसी प्रकार"नेह नानास्ति किञ्चन" (बृ०उ०४.४.१९) इस श्रुति के द्वारा जो ब्रह्म में भेद मात्र के निषेध की अनुपपत्ति (ब्रह्मणा सर्वाभेदं विना नेह नानास्ति किञ्चन इति श्रुत्या भेदमात्रनिषेधोऽनुपपन्नः) के द्वारा ब्रह्म में भेद मात्र का निराकरण करती हुयी अपने भेद का भी जो निराकारण करती है, वह भी सिद्ध नहीं हो पयेगा, क्योंकि उक्त स्थलों में भी मिथ्यात्व को बतलाने वाली पूर्वोक्त अर्थापत्तियों में भी मिथ्यात्व बोधन के लिए अर्थापत्त्यन्तर मानने से अनवस्थादि दोष होगा और इसी प्रकार ब्रह्म के साथ सर्वाभेद को बतलाने वाली श्रुति का भी ब्रह्म के साथ अभेद बोधन के लिए श्रुत्यन्तर मानने से अनवस्थादि दोष होंगे।। ६।।

मैवं वोचः, वस्तुत उपपादकत्वं नार्थापत्तिविषयत्वे तन्त्रम्, किन्तूपपादकत्वेन ज्ञातत्वम्, अन्यथा अर्थापत्तिभ्रमानुपपत्तेः, तथा च येन रूपेणोपपादकत्वं गृहीतं, तद्रूपावच्छिन्नमुपपादकमर्थापत्तेर्विषयः। तत्र यद्यर्थापत्तिगतभेदसाधारणमुपपादकतावच्छेदकमेकं भवेत्, तथा सोऽपि भायादेव। न चैवमस्ति, तदनिरूपणात्। तथा हि—घटपटभिन्नत्वमुपपाद्यम्, तदुपपादकं च न सर्वभिन्नत्वम्, स्वतोऽपि भेदापत्त्या तदसम्भवात्। नापि स्वातिरिक्तसर्वभिन्नत्वम्; अद्वैतवादिनं

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी का उक्त कथन उचित नहीं है। क्योंकि जहां—जहां उपपादकत्व है वहां—वहां अर्थापत्ति विषयत्व है— ऐसा नियम नहीं माना जाता है। अपितु जहां—जहां उपपादकत्वेन ज्ञातत्व रहता है वहां—वहां अर्थापत्ति विषयत्व रहता है। अर्थात् पीछे पूर्वपक्षी ने कहा था कि किसी एक अर्थापत्ति से किस —किस उपपादक की सिद्धि होगी, इसके लिए नियम है कि उपपाद्य के जितने उपपादक होते है, उन सबकी सिद्धि उसी अर्थापत्ति से हो जायेगी। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि वस्तुतः कोई भी पदार्थ उपपादक होने मात्र से उसकी सिद्धि उसी अर्थापत्ति से हो जाती है, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु जो पदार्थ उपपादक के रूप से ज्ञात है, उसकी सिद्धि उस अर्थापत्ति से हो सकती है। अतः कोई पदार्थ यदि वस्तुतः उपपादक हैं किन्तु उपपादक के रूप से ज्ञात नहीं हैं, तब तो उसकी सिद्धि उस अर्थापत्ति से नहीं हो सकती है। ऐसा होने से सिद्धान्ती को यह लाभ मिला, कि अर्थापत्ति का अद्वैतज्ञानादि से भेद तो उपपादक है। इसे हम भी मानते हैं, किन्तु अर्थापत्तिकाल में उक्त भेद का ज्ञान नहीं हैं क्योंकि अर्थापत्ति को पूर्वपक्षी स्वयंप्रकाश नहीं मानता है। अतः उक्त भेद के ज्ञान के लिए दूसरी अर्थापत्ति माननी पड़ेगी। तब तो अनवस्था आयेगी और जहां अनवस्था के भय से भेद की सिद्धि के लिए अन्य अर्थापत्ति नहीं मानेंगे, वहीं अद्वैतश्रुति अभेद को सिद्ध करती हुयी विषय पर्यन्त अभेद को सिद्ध कर देगी। अन्यथा— वस्तुतः कोई उपपादक है किन्तु उसका उपपादक के रूप से ज्ञान नहीं है तो भी वह उपपादक अर्थापत्ति से सिद्ध हो जाता है, ऐसा मानने पर कहीं पर भी अर्थापत्तिभ्रम नहीं होगा, क्योंकि अर्थापत्तिभ्रम वहीं पर होता है। जहां वस्तुतः जो उपपादक है, उसका अर्थापत्ति से अनुपपादक के रूप से ज्ञान हो जाता है। किन्तु पूर्वपक्षी का कथन है कि वस्तुतः जो उपपादक है, उसका ज्ञान सर्वत्र अर्थापत्ति से हो जाता है और जब उपपादक का उपपादक के रूप से ज्ञान हो गया, तब कहीं पर भी अर्थापत्तिभ्रम का अवसर ही नहीं आयेगा। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि उपपादक का ज्ञान चाहिए किन्तु उपपादक जब अनेक है, तब यह नियम मानना पड़ेगा कि यद् धर्मावच्छिन्न होकर उपपादक का ज्ञान होता है तद्धर्मावच्छिन्न उपपादक ही अर्थापत्ति का विषय होगा। अब अर्थापत्तिगत जो भेद (अर्थापत्ति का अद्वैतज्ञानादि से भेद) है वह भी जब उपपादक है तब उसको लेकर और भी जितने उपपादक है उन सभी उपपादकों में रहने वाला कोई उपपादकतावच्छेदक एक धर्म यदि हो तभी उक्त अर्थापत्तिगत भेद भी उक्त अर्थापत्ति से सिद्ध हो जायेगा। अर्थात् जो सभी उपपादको में रहने वाला उपपादकतावच्छेदक होगा, उस अवच्छेदक से अवच्छिन्नत्वेन जैसे उक्त अर्थापत्ति के द्वारा अन्य उपपादकों का भान होगा वैसे ही उक्त अर्थापत्तिगत भेदरूप उपपादक का भी भान हो जायेगा किन्तु सकल उपपादकों(अर्थापत्तिगत भेद, अद्वैतज्ञानादि का प्रत्यक्षगत भेद) में रहने वाला कोई एक अवच्छेदक ही नहीं है। जिससे कि उससे अवच्छिन्न होकर अर्थापत्तिगतभेदरूप उपपादक का भान हो सके। यदि पूर्वपक्षी कहता है कि उक्त प्रकार का उपपादकतावच्छेदक है। तब कह रहे हैं, कि सकल उपपादकों में रहने वाला कोई एक उपपादकतावच्छेदक का निरुपण पूर्वपक्षी नहीं कर सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं,

प्रति स्वातिरेकविशेषणासिद्धेः, स्वत्वाननुगमाच्च। तथा च तेन तेन रूपेण तत्तद्भिन्नत्वमेव उपपादकमुपेयम्। अत उपपादकतावच्छेदकनानात्वान्न सर्वमुपपादकमर्थापत्तेर्विषय इति पृथक्पृथगनुपपत्तिज्ञानापेक्षायां सर्वत्रानुपपत्तिज्ञाने अनवस्थानात् क्वचिद्धाराविश्रान्तौ तत्रैव लब्धावकाशा श्रुतिः सर्वाद्वैते पर्यवस्यतीति किमनुपपन्नम्? दृष्टान्ते च सर्वत्र स्वसाधारणमुप– पादकतावच्छेदकमेकमेवेति तदवच्छिन्नतया स्वस्यापि भानमिति वैषम्यम्। तथा हि–दृश्यत्वावच्छिन्नमिथ्यात्वं विना दृक्सम्बन्धानुपपत्तिग्रहात्तदवच्छिन्नमिथ्यात्वमर्थापत्तेर्विषय इति स्वमिथ्यात्वमपि स्वविषयः, एवमेव ज्ञाननिवर्त्यत्वानुपपत्तेरपि स्वविषयत्वम्, तत्रापि

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि घटपट का भेद उपपाद्य है। उस उपपाद्य का उपपादक सर्वभिन्नत्व (सकल भेद) नहीं हो सकता है। अर्थात् सिद्धान्ती का कहना है कि भेदत्व उपपादकतावच्छेदक नहीं बन सकता, क्योंकि तब तो घटपट के भेद का प्रत्यक्ष सब से भिन्न हुए बिना अनुपपन्न है, यही अर्थापत्ति का आकार होगा, क्योंकि सर्वभेद को ही उपपादक बनाया गया है और घटपटभेद के प्रत्यक्ष को उपपाद्य बनाया गया है। अब सर्वभेद के अन्तर्गत उक्त अर्थापत्ति का अपने से भेद भी है। अतः इस अर्थापत्ति से "अर्थापत्ति अपने से भी भिन्न है" ऐसा सिद्ध होगा, जबकि स्व का स्व में भेद माना नहीं जाता हैं। यदि कहो कि स्व (अर्थापत्ति)से अतिरिक्त सर्वभेद को उपपादक बनायेगें तो ऐसा भी नहीं कह सकते हो क्योंकि अद्वैतवादी के प्रति स्वातिरिक्तरूप विशेषण ही असिद्ध है। यह पीछे कहा जा चुका है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि स्वातिरिक्त विशेषण देने से स्व में स्व के भेद मानने की आपत्ति नहीं आती है। ऐसी आपत्ति का वारक होने के कारण उक्त विशेषण को सार्थक मानना चाहिए। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि सभी स्व में रहने वाला स्वत्व नामक कोई अनुगत धर्म नहीं माना जाता हैं अर्थात् स्व=व्यक्ति,स्वत्व=व्यक्तित्व जो कि सभी व्यक्तियों में रहने वाला कोई एक व्यक्तित्व नहीं रहता किन्तु तद्–तद् व्यक्ति में तत्तद् भिन्न–भिन्न व्यक्तित्व रहता है। अतः तत्तद् व्यक्तित्वेन तत्तद् भेद को ही उपपादक मानना पड़ेगा। इस प्रकार उपपादकतावच्छेदक के नाना होने के कारण सभी उपपादक एक ही अर्थापत्ति के विषय नहीं हो सकते हैं। अर्थात् एक अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा तद् व्यक्तित्वेन एक ही उपपादक (भेद) का ज्ञान होगा, न कि सकल उपपादकों (भेदों)का, क्योंकि तद् व्यक्तित्व केवल एक ही उपपादक में रहता है न कि सकल उपपादकों में। अतः अर्थापत्तिगत अद्वैतज्ञानादि के भेदरूप उपपादक की सिद्धि के लिए दूसरी अर्थापत्ति और दूसरी अर्थापत्तिगत अद्वैतज्ञानादि के भेद रूप उपपादक की सिद्धि के लिए तृतीय अर्थापत्ति मानने से अनवस्था आयेगी। इस धारा की जहां पर विश्रान्ति मानेंगे,वहीं पर अद्वैतश्रुति आकर अभेद सिद्ध करती हुयी विषयपर्यन्त सर्वाद्वैत को सिद्ध कर देगी–ऐसा मानने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। दृष्टान्तस्थल पर सम्पूर्ण प्रपञ्च और उक्त अर्थापत्ति उभयसाधारण उपपादकतावच्छेदक एक (दृश्यत्व) ही है। इस लिए उक्त उपपादकतावच्छेदक से अवच्छिन्न होकर जैसे प्रपञ्चगतमिथ्यात्व का भान होता है उसी प्रकार उक्त अर्थापत्तिगत मिथ्यात्व का भी भान हो जाता है जबकि दार्ष्टान्त स्थल पर पूर्वोक्त प्रकार से उभय साधारण उपपादकतावच्छेदक एक न होकर नाना है। अतः अर्थापत्तिगत इतरभेद और अद्वैतज्ञानादि का प्रत्यक्षगतभेद का एक साथ भान नहीं हो सकता है। दृष्टान्त स्थल को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "दृश्यत्वावच्छिन्नं सर्वमिथ्यात्वं विना दृग्दृश्यसम्बन्धोऽनुपपन्नः" इस अर्थापत्ति से जैसे सम्पूर्ण प्रपञ्च में मिथ्यात्वसिद्ध होता है वैसे ही इस अर्थापत्ति में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि यहां पर अवच्छेदक दृश्यत्व प्रपञ्च और अर्थापत्ति दोनों में एक ही है। पूर्व दृष्टान्त के अनुरूप ही "दृश्यत्वावच्छिन्नं सर्वमिथ्यात्वं बिना ज्ञाननिवर्त्यत्वमनुपपन्नम्।" इस स्थल पर भी जैसे इस अर्थापत्ति

दृश्यत्वादेरेकस्यैवावच्छेदकत्वात्। एवं च ब्रह्मणि सर्वाभेदबोधिकायाः श्रुतेर्भेदमात्रनिषेधान्यथानुपपत्तेश्च स्वाभेदविषयत्वमविरुद्धम्। न हि सर्वभेदे स्वभेदापत्तिरिव सर्वाभेदे स्वाभेदो दोषाय। तस्मादद्वैतश्रुतिर्बाध्यबाधकयोरैक्यबोधनेन निराबाधा सर्वाद्वैतं प्रतिपादयति।। ७।।

ननु—शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावात्, कथमादावल्पविषया बुद्धिः पश्चाद् बहुविषयाऽपि भवतीत्युच्यत इति—चेन्न, श्रुतितो प्रागेव जाताया: सर्वविषयाया अद्वैतबुद्धेः प्रामाण्यं व्यवस्थापयन्तीनामस्मद्बुद्धीनामेव क्रमेण जायमानत्वात्। अयोग्यताज्ञानं च न शाब्दबोधे

सत्यानन्दप्रबोधिका

के द्वारा सकल प्रपञ्च में मिथ्यात्व सिद्ध होता है उसी प्रकार इसी अर्थापत्ति के द्वारा इसी अर्थापत्ति में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है, क्योंकि उपपादकतावच्छेदक उभयसाधारण दृश्यत्व एक ही है। अत: अर्थापत्तिगत मिथ्यात्व भी अर्थापत्ति का विषय बन जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में सर्वाभेदबोधिका "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस श्रुति के द्वारा और "नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति की अनुपपत्ति अर्थात् "ब्रह्मणा सर्वाभेदं विना नेह नानास्ति किञ्चन इतिश्रुत्या भेदमात्रनिषेधोऽनुपपन्नः" इस श्रुति की अनुपपत्ति के द्वारा ब्रह्म के साथ सभी के अभेद का बोधन होता हुआ उक्त श्रुत्यादि से भी ब्रह्म के अभेद का बोधन हो जायेगा। जैसे सर्वभेद को उपपादक मानने पर स्व में स्व के भेद मानना पड़ रहा था जो कि दोषपूर्ण है। प्रकृत में सर्वाभेद को उपपादक मानने पर कोई भी दोष नहीं होगा क्योंकि स्व से स्व का अभेद मानने पर कोई भी दोष नहीं होता है। इस प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि अद्वैतश्रुति पूर्वपक्षी को अभिमत बाध्य (अद्वैतागम) और बाधक (भेदावगाही प्रत्यक्षादि) में अभेद बोधन करती हुयी निर्बाध गति से सर्व के अभेद का प्रतिपादन करती है।। ७।।

पूर्वपक्षी का कहना है कि सिद्धान्ती के अनुसार भी अद्वैतश्रुति सम्पूर्ण प्रपञ्च में एक साथ अभेद प्रतिपादन नहीं कर रही है, किन्तु सबसे पहले केवल चरम बुद्धि का अपने विषय के साथ अभेद बतलाती है, उसके बाद कई क्रमों के पश्चात् सर्वाभेद का प्रतिपादन करती है। इस प्रकार से अद्वैतश्रुति आदि में अल्पविषयक होती है। इसके पश्चात् बहुविषयक होती है। किन्तु यह उचित नहीं है क्योंकि शब्द—ज्ञान और क्रिया में विरम्य (रुक—रुक कर) व्यापार (कार्यकारित्व) नहीं देखा जाता है। अर्थात् एक ही शब्द के द्वारा प्रथम क्षण में कुछ का प्रतिपादन किया जाय और द्वितीय क्षण में उसी शब्द के द्वारा कुछ अन्य का प्रतिपादन किया जाय यह सम्भव नहीं होता है अपितु शब्द एक ही बार स्वबोध्य अर्थविषयक ज्ञातसङ्गतिक पुरुष में ज्ञान उत्पन्न करता है। इसी प्रकार ज्ञान से एक ही बार वस्तु का प्रकाशन होता है न कि घटज्ञान से पहले आधे घट का प्रकाशन होता है और पश्चात् पूर्ण घट का प्रकाशन होता है। इसी प्रकार कर्म भी एक ही बार संयोग तथा विभागादि को उत्पन्न करता है। अत: प्रथम जो अल्पविषयक ज्ञान है वही कालान्तर में अधिक विषयक हो जाय यह मानना अनुचित है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सर्वविषयक अद्वैतबुद्धि एक काल में ही होती है किन्तु अद्वैतबुद्धि के प्रामाण्य को व्यवस्थापित करने वाली श्रोता की सर्वविषयक अद्वैत बुद्धि सहसा उत्पन्न न होकर प्रत्यक्षादि के विरोध का विचार करके उसका परिहार करती हुयी क्रमशः उत्पन्न होती है। अत: सिद्धान्तमत में भी शब्दादि के विरम्य व्यापार को नहीं माना जाता है। अत: पूर्वपक्षी का उक्त कथन खण्डित हो गया। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि "घटपटौ भिन्नौ" इत्यादि प्रत्यक्ष के द्वारा भेद सिद्ध होने के कारण सम्पूर्णप्रपञ्च में अभेद रूप अर्थ का बाध हो रहा है। अत: अयोग्यता का ज्ञान रहने से अर्थात् अर्थाबाधरूप योग्यता का ज्ञान न होने से अद्वैतविषयक शाब्दबोध नहीं हो

प्रतिबन्धकम्, न वा योग्यताज्ञानं हेतुः, येन प्रथमं सर्वाद्वैतबुद्धिर्न स्यात्। तदुक्तम्—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्।।' इति।

वेदान्तकल्पलतिकायामस्यार्थस्य प्रपञ्चो द्रष्टव्यः। एतेन—चरमज्ञानमिथ्यात्वेऽपि न तद्विषयस्य मिथ्यात्वम्, ज्ञानमिथ्यात्वस्य विषयमिथ्यात्वासाधकत्वात्, अद्वैतज्ञाने

सत्यानन्दप्रबोधिका

सकता है क्योंकि शाब्दबोध में अयोग्यता का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम अयोग्यता ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति प्रतिबन्धक नहीं मानते हैं। अर्थात् अयोग्यताज्ञान के रहने पर भी शाब्दबोध हो ही जायेगा, किन्तु वह शाब्द बोध प्रमा तभी होगा यदि उसके अर्थ का बाध न होता हो। यदि अर्थ का बाध हो जाता है तब उसको भ्रम माना जायेगा। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि अयोग्यता ज्ञान को प्रतिबन्धक आप न भी माने किन्तु योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति हेतु मानना चाहिए। प्रकृत में सम्पूर्णप्रपञ्च में अभिन्न होने की योग्यता है, ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण नहीं है। अतः योग्यता ज्ञानरूप हेतु के न रहने से शाब्दबोधरूप कार्य भी नहीं हो सकता है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम योग्यताज्ञान को शाब्दबोध के प्रति हेतु नहीं मानते हैं, क्योंकि योग्यता ज्ञान न रहने पर भी शाब्दबोध होता है, किन्तु वह प्रमा है, या अप्रमा है। यह उसके विषय के अबाध या बाध को देखकर निश्चित किया जाता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर श्री कुमारिलभट्ट ने कहा है—

अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोति हि।
अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतः प्रामाण्यनिश्चलाम्।।

अर्थात् कलहादि स्थल पर देखा गया है कि अत्यन्त असत् अर्थ विषयक शब्द भी ज्ञान को उत्पन्न करता है। अर्थात् कभी—कभी असभ्य पुरुषादि के द्वारा बहुत ही रहस्यभेद वाक् कलह उपस्थित होता है। उस कलह में वे कलह प्रिय लोग इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि हम जिन शब्दों को दूसरे के लिए प्रयोग कर रहे हैं उनके अर्थ का इस व्यक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और मेरे विषय में भी दूसरा व्यक्ति जो शब्द प्रयोग कर रहा है वह भी अधिकांश बाधित ही है फिर भी दोनों को शाब्दबोध बराबर होता रहा है। इसमें प्रमाण यह है कि पूर्वोक्त प्रकार के शाब्दबोध के कारण ही उन दोनों में कलह आगे—आगे गगनस्पर्शी प्रचण्डरूप को धारण करते चला जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि अत्यन्त असदर्थविषयक शाब्दबोध को भी शब्द उत्पन्न करता है। किन्तु उक्त कलह स्थल पर शब्द गत अनाप्तप्रणीतत्व होने से उस शाब्दबोध में प्रमात्व नहीं रहता है। श्रौतार्थ स्थल पर तो प्रमाणान्तर से अर्थ का बाध न होने से स्वतः सिद्ध प्रामाण्य के रहने से अप्रामाण्य ज्ञान से अनास्कन्दित प्रमा को शब्द उत्पन्न करता है। इस पर विस्तार से विचार वेदान्तकल्पलतिका में किया गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जहां भेद बुद्धि की धारा की विश्रान्ति होगी उस भेद विषयक चरमज्ञान का मिथ्यात्व भले ही "नेह नानास्ति किञ्चन"इत्यादि अद्वैतश्रुतियों के द्वारा कर दिया जाय, फिर भी चरमज्ञान का विषय जो भेद है। उसमें मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इस पर यदि सिद्धान्ती अनुमान करते हैं—"चरमज्ञानविषयो मिथ्या,मिथ्याभूतज्ञानविषयत्वात्, शुक्तिरजतवत्" पक्षीभूत चरमज्ञान से उस ज्ञान को लेना है जहां पर अनवस्थादि के भय से भेद को सिद्ध करने के लिए उससे आगे अन्य ज्ञान नहीं लिया जाता है, न कि चरमज्ञान से अखण्डाकार चित्तवृत्ति लेना है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि यह अनुमान अखण्डाकार चित्तवृत्ति के विषय में व्यभिचरित है, क्योंकि अखण्डाकार चित्तवृत्ति के विषय ब्रह्म

व्यभिचारादिति—निरस्तम्, श्रुत्यैव द्वैतमात्रनिषेध्यत्व(मिथ्यात्व)बोधनात्। अद्वैतज्ञानविषये च मिथ्यात्वबोधकाभावादेव सत्यत्वम्, न तु ज्ञानमिथ्यात्वादिति न किञ्चिदेतत्।। ८।।

ननु—द्वैतज्ञानाद्वैतज्ञानयोरभेदे कथं बाध्यबाधकभावः? न च व्यावहारिकभेदमात्रेण सः, द्वैतज्ञानस्यापि बाधकत्वापत्तेः—इति चेन्न, व्यावहारिकभेदमात्रस्य बाधकत्वाप्रयोजकत्वात्। यद्धि परीक्षितप्रमाणभावत्वेन बलवत्, तद् बाधकम्, यत्तु सन्दिग्धप्रमाणभावत्वेन दुर्बलं तद् बाध्यमिति व्यवस्थायां द्वैतज्ञानस्य दुर्बलत्वेनाबाधकत्वस्याद्वैतज्ञानस्य च बलवत्त्वेन बाधकत्वस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

में हेतु है किन्तु साध्य नहीं है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार अनुमान का आकार होगा—"चरमज्ञान विषयीभूतभेदः सत्यः, मिथ्याज्ञानविषयत्वात्, अखण्डाकारचित्तवृत्तिविषयवत्।" इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अद्वैतश्रुति के द्वारा ही जब द्वैतमात्र के सत्यता का निषेध किया जा रहा है तब द्वैत अन्तःपाती भेद सत्य कैसे हो सकता है? जबकि अद्वैतज्ञान के विषयगत मिथ्यात्वबोधक प्रमाण का अभाव होने के कारण अद्वैतज्ञान के विषयगत सत्यत्व सुस्थिर रहता है। मिथ्याज्ञान की विषयता के कारण अद्वैतज्ञान के विषयगत सत्यत्व रहता है यह हम नहीं मानते हैं। अतः पूर्वोक्त पूर्वपक्षी कृत दोषारोपण तुच्छ है। (द्वैतमात्रनिषेध्यत्व के स्थान पर द्वैतमात्रमिथ्यात्व ऐसा पाठान्तर भी है।) पूर्वपक्षी के कथनानुसार जो अनुमान है उसमें "अबाधितत्व" उपाधि है। दृष्टान्त में अबाधितत्व के रहने से साध्यव्यापकत्व और पक्ष में अबाधितत्व के न रहने से साधनाव्यापकत्व के रहने से उक्त हेतु सोपाधिक है। अतः अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।। ८।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि अद्वैतश्रुति के द्वारा जब सम्पूर्ण प्रपञ्च में अभेद सिद्ध कर दिया गया तब उस श्रुति जनित अभेदज्ञान के द्वारा द्वैतज्ञान(भेदज्ञान)बाधित हो जायेगा, ऐसा जो सिद्धान्ती का कथन है वह उचित नहीं है, क्योंकि अद्वैतश्रुति के द्वारा सर्वत्र अभेद सिद्ध होने से द्वैतज्ञान और अद्वैतज्ञान में भी अभेद सिद्ध हो जायेगा। अभिन्न पदार्थों में बाध्य बाधकभाव न होने से उक्त दोनों ज्ञानों में भी बाध्य बाधक भाव सिद्ध नहीं होगा। बाध्य बाधकभाव न होने से द्वैतज्ञानगत मिथ्यात्व ही सिद्ध नहीं होगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि उक्त दोनों ज्ञानों में वास्तविक भेद का बाध यद्यपि अद्वैतश्रुति के द्वारा कर दिया जाता है फिर भी उक्त दोनों ज्ञानों में रहनें वाले व्यावहारिक भेद का बाध होता नहीं है। अतः उन दोनों ज्ञानों में व्यावहारिक भेद के रहने से बाध्यबाधकभाव बन जायेगा। इसपर पूर्वपक्षी कह रहा है कि जैसे द्वैतज्ञान में व्यावहारिकत्व है वैसे ही अद्वैतज्ञान में भी व्यावहारिकत्व है। अतः एकतर पक्षपातिनी युक्ति के अभाव के कारण द्वैतज्ञान को ही अद्वैतज्ञान का बाधक क्यों न मान लिया जाय? इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वपक्षी यह जो अनुमान करना चाहता हैं कि "द्वैतज्ञानं बाधकं व्यावहारिकभेदवत्त्वात्, अद्वैतवेदान्ताभिमताद्वैतज्ञानवत्।" इसमें उपाधि है—परीक्षितप्रमाणभावत्व। अतः उक्त अनुमान का हेतु सोपधिक होने से अपने साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है। इसी को स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि "यद् यद् व्यावहारिकभेदवत् तत्तद्बाधकम्" ऐसी व्याप्ति सिद्धान्ती के द्वारा नहीं मानी जाती है अपितु जो परीक्षित प्रामाण्य वाला होता है वह बलवान होता है और वही बाधक होता है। अर्थात् "यद् यत् परीक्षितप्रामाण्यवत् तत् तद्बाधकम्" ऐसी व्याप्ति मानी जाती है। इसी प्रकार जो सन्दिग्ध प्रामाण्य वाला होता है वह दुर्बल होता है और वही बाध्य होता है। अर्थात् "यद् यत् सन्दिग्धप्रामाण्यकं तत्तद् बाध्यम्" ऐसी व्याप्ति बाध्य स्थल पर मानी जाती है। इसलिए सन्दिग्ध प्रामाण्य वाला होने से द्वैतज्ञान दुर्बल है। अतः उसको बाधकज्ञान नहीं माना जा सकता है, और परीक्षित प्रामाण्य वाला होने से अद्वैतज्ञान बलवान है। अतः उसको ही बाधक माना जाता है। यह बात प्रकृत विचार में तथा शब्द और प्रत्यक्ष के

शब्दप्रत्यक्षबलाबलविचारे दर्शितत्वात्। यत्तु—'आपो वा इदं सर्वं भूतम्' इत्यादिश्रुतिः 'विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात् जलवत्' इत्यनुमानं वा स्वबाधकस्य जलाभेदं गृहीत्वा निर्बाधं सत् त्वदुक्तन्यायेन सर्वस्य जलाभेदं बोधयेद्—इति, तन्न, जलाभेदबोधनेऽपि बाध्यबाधकयो—रैक्याबोधनाद् बाधकस्य बाधकत्वोपपत्तेः, ऐक्यज्ञानभेदज्ञानयोर्बाध्यबाधकभावस्य जलाभेदज्ञानेनानपायात्। बाधकाभेदो हि बाधकत्वाभावे प्रयोजकः, बाधकस्य स्वबाधकत्वादर्शनात्। अतो न बाध्यबाधकैक्यज्ञानस्य जलाभेदज्ञानसाम्यम्। एतेन—सर्वं सर्वस्माद्भिन्नमिति मद्वाक्यमद्वैतवाक्यतज्ज्ञानतद्विषयाणां तेभ्यो भेदमादौ गृहीत्वा निर्बाधं सत्सर्वभेदे

सत्यानन्दप्रबोधिका

बलाबल विचार के प्रसङ्ग में भी अनेक बार कही जा चुकी है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जैसे "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि अद्वैतबोधकश्रुति और उसका साधक "प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात् ,शुक्तिरूप्यवत्" इत्यादि मिथ्यात्वबोधक अनुमान के द्वारा सिद्धान्ती पूर्वोक्त प्रकार से "घटपटौ भिन्नौ" इत्याकारिका धी जो की अभेद की बाधिका है। उसके साथ अभेदश्रुति अपने अभेद को स्थापित कर सर्वाभेद की सिद्धि कर रही है ऐसा मान रहे हैं, ठीक इसी प्रकार जलाभेद बोधक आगम "आपो वा इदं सर्वं भूतम्"(महा० नारा०उप०१४.१) और उसका साधक "विमतं जलाभिन्नं प्रतीतत्वात्, जलवत्" यह जो अनुमान है। इसका बाधक जो जलभेद प्रत्यक्ष है, उसके साथ उक्त जलाभेद बोधक आगम अपना अभेद स्थापित कर निर्बाधरूप से विश्व में ब्रह्माभेद के समान ही सर्वत्र जलाभेद सिद्ध कर देगा। अर्थात् बाध्य बाधक व्यवस्था की अनुपपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि पूर्वोक्त प्रकार से जलाभेद बोधक आगम और अनुमान के द्वारा सर्वत्र जलाभेद का बोधन तो हो सकता है किन्तु बाध्य और बाधक में अभिन्नता का बोधन नहीं हो सकता है। अत: वस्तुत: घटादि भेद प्रत्यक्ष का अद्वैतश्रुतिगत जो बाधकत्व है उसका खण्डन जलाभेदरूप उक्त दृष्टान्त के सहारे नहीं किया जा सकता है, क्योंकि पूर्वपक्षी के द्वारा उक्त श्रुति और अनुमान के माध्यम से प्रदर्शित जो जलाभेद का ज्ञान और जलभेद प्रत्यक्ष में जो बाध्य बाधकभाव है, उसका निवारण जलाभेदज्ञान से हो नहीं रहा है। प्रश्न होता है कि बाध्य बाधकभाव कहां पर नहीं माना जाता है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि जहाँ बाध्य और बाधक का अभेद हो जाता है। वहां पर बाधक बाध्यपदार्थ का बाध नहीं कर पाता है क्योंकि अभेद होने के कारण स्वयं—स्वयं का बाधक मानने की आपत्ति आती है। अत: दार्ष्टान्त में जो बाध्य बाधक में अभिन्नता दिखलायी गयी है उसकी समानता जलाभेद रूपदृष्टान्त के साथ नहीं की जा सकती है। यहां पर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित पूर्वोक्त श्रुति और अनुमान के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से सर्वत्र जलाभेद सिद्ध होने पर भी बाध्य बाधक की एकता क्यों नहीं सिद्ध हो रही है। इसका समाधान यह है कि जैसे ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है वैसे ही जल सर्वाधिष्ठान नहीं है। अत: जल में सभी का अभेद सिद्ध न होकर केवल व्यावहारिक दृष्टि से जल के अपने विकारभूत फेनबुद्बुद् तरङ्गादि का अभेद सिद्ध होता है किन्तु जल से अभिन्न तरङ्गादि के ज्ञानों में परस्पर बाध्य बाधक भाव लोक में देखा जाता है। अत: उससे बाध्य बाधक की एकता भी सिद्ध नहीं होती है। बाध्य बाधक का अभेद ही बाधकाभाव का प्रयोजक होता है अर्थात् जिन दोनों में परस्पर अभेद है, वहां उन दोनों में बाध्य बाधक भाव नहीं माना जाता है, क्योंकि कहीं भी बाधक को अपना ही बाधक होते हुए देखा नहीं जाता है। ऐसा होने के कारण ही पूर्वपक्षी का यह कथन भी निरस्त हो गया कि अद्वैत वाक्य तथा अद्वैतवाक्य जन्य अद्वैतज्ञान और अद्वैतज्ञान का विषय अद्वैत इन तीनों का इन्हीं तीनों से भेद (वाक्य

पर्यवस्यतीति—निरस्तम्, बाध्यबाधकयोरभेदे बाधकत्वाभाववत् भेदेऽपि बाधकत्वं न स्यादित्यत्र हेत्वभावात् पूर्वोक्तदोषाच्चेति दिक्। सर्वासत्त्वं सर्वमिथ्यात्वान्नातिरिच्यते, अतः 'सर्वमसत्'इति प्रत्यवस्थानमनवकाशम्।। ९।।

ननु श्रुत्या सर्वस्य मिथ्यात्वं वा बोध्यते, ब्रह्माभिन्नत्वं वा। आद्ये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'इति सामानाधिकरण्यं न स्यात्, सत्यानृतयोरैक्यायोगात्। द्वितीये 'इदं रजतम्'

सत्यानन्दप्रबोधिका

का वाक्य से भेद, ज्ञान से ज्ञान का भेद और विषय का विषय से भेद) का बोधन, सभी का सभी सें अभेदबोधन कराने में अद्वैतश्रुति के प्रवृत्त होनें से पहले ही "सर्वं सर्वस्माद् भिन्नम्"यह हमारा (द्वैतवादी) वाक्य ही करा देगा। अत: हमारे वाक्य को कोई भी बाध नहीं कर पायेगा, क्योंकि हमारे वाक्य से उक्तभेदज्ञान पहले हुआ और वही भेदज्ञान वाद में होने वाले अद्वैतश्रुतिजन्य अद्वैतज्ञान को बाध कर देगा। इस प्रकार से निर्बाध होकर उक्त वाक्यजन्य भेदज्ञान सभी में भेद को सिद्ध कर देगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन भी निरस्त हो गया, क्योंकि जैसे सिद्धान्ती के अनुसार बाध्य और बाधक में अभेद सिद्ध हो जाने पर बाधकता का अभाव सिद्ध हो जाता है वैसे ही बाध्य और बाधक में भेद सिद्ध हो जाने पर बाधकता का अभाव सिद्ध हो जाता है, इसमें पूर्वपक्षी कोई हेतु नहीं दे सकता है। दूसरी बात यह है कि दो ज्ञानों में से पूर्व में होने वाला ज्ञान बाधक होता है, इस नियम का व्यभिचार रजत भ्रमस्थल पर देखा गया है। बाध्य बाधकभाव में भेद के रहने पर भी अद्वैतज्ञान ही बाधक होता है क्योंकि वह परीक्षित प्रामाण्य वाला होने से बलवान होता है जबकि सन्दिग्ध प्रामाण्य वाला होने से भेद प्रत्यक्ष दुर्बल होता है। अत: भेद प्रत्यक्ष ही बाध्य होता है। दूसरी बात यह है कि उक्त वाक्य से सर्व का भेद सिद्ध करने पर सर्व के अन्तर्गत उक्त वाक्य भी है। अत: उक्त वाक्य के द्वारा स्व से स्व के भेद की भी सिद्धि माननी पड़ेगी। जब कि स्व से स्व के भेद का साधन बाधित है। इस पर विस्तार से विचार खण्ड संख्या पञ्चम में किया जा चुका है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जैसे सिद्धान्ती "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा और प्रपञ्च मिथ्यात्वानुमान के द्वारा सर्वमिथ्यात्व की सिद्धि करते हैं वैसे ही "असदेवेदमग्र आसीत्" (छा०उ०६.२.१) इस श्रुति के द्वारा और "विमतमसत्, ज्ञेयत्वात्, शुक्तिरजतवत्" इस अनुमान के द्वारा सर्वासत्त्व की भी सिद्धि की जा सकती है। इसके निराकरण में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ब्रह्मभिन्न सर्वासत्त्व से ब्रह्मभिन्न सर्वमिथ्यात्व अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का अन्यतम लक्षण ही है—प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्त्वम्, और असत् का भी किसी काल में सत्त्व माना नहीं जाता है। अत: सर्वासत्त्व की सिद्धि हो जाने से सिद्धान्ती को कोई हानि नहीं है। अत: पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का अनादरणीया है।। ९।।

पूर्वपक्षी सिद्धान्ती से पूछ रहा है कि क्या "एकमेवाद्वितीयम्" (छा०उ०६.२.१) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सर्व के मिथ्यात्व का बोधन कराया जाता है? अथवा सर्व के ब्रह्माभिन्नत्व का? यदि सिद्धान्ती प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तब तो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यहां पर सर्व और इदम् का ब्रह्म के साथ अभेद में सामानाधिकरण्य नहीं हो पायेगा क्योंकि अभेद में सामानाधिकरण्य "नीलमुत्पलम्" इत्यादि अभिन्न स्थलों में ही देखा जाता है। जब कि प्रकृत में ब्रह्म सत्य है और सर्व मिथ्या है। अत: सर्व और इदम् का ब्रह्म के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो पायेगा। द्वितीयपक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्म के साथ सर्ववस्तुओं के अभिन्न होने से सभी वस्तुओं को सर्वात्मक अर्थात् एक दूसरे से अभिन्न ही मानना पड़ेगा। तब तो अभेद बोधन कराने वाले सभी ज्ञान ही प्रमा हो जायेंगे और

'गौरोऽहम्'इत्यादिभ्रमाणां प्रमात्वं स्यात्, आत्मनि देहादिभेदस्यानृताद्व्यावृत्तेश्च बोधकानां वेदान्तानां 'नेदं रजतम्'इत्यादिबाधकस्य चाप्रामाण्यं स्यात्, घटज्ञानेनैव तदभिन्नब्रह्मतदभेदादेः सर्वस्यापि वस्तुतो ज्ञातत्वेन सार्वज्ञ्यम्, वेदान्तानां वैयर्थ्यम्, सद्यो मोक्षश्च स्यात्, सुखदुःख–बन्धमोक्षभेदाऽभेददूषणभूषणजयपराजयभ्रान्तिप्रमादेरपि वस्तुतो भेदाभावेन सर्वसङ्करापत्त्या स्वक्रियास्वन्यायस्ववचनविरोधाश्च स्युरिति–चेन्न, आद्ये 'मृद् घटः', 'इदं रजतम्'इत्यादाविव उपादानोपादेयभावेनापि सामानाधिकरण्योपपत्तेः। द्वितीये वस्तुतो भेदाभावेऽपि आविद्यकभेदमादाय सर्वव्यवस्थोपपत्तेः। न च–भेदस्याप्यनाविद्यकब्रह्माभिन्नत्वेनाविद्यकत्वायोग इति–वाच्यम्,

सत्यानन्दप्रबोधिका

जितने भेद को बोधन कराने वाले ज्ञान है वह सभी भ्रम सिद्ध हो जायेंगे। जैसे "इदं रजतम्" यह ज्ञान पूरोवर्ति वस्तु से रजत के अभेद का बोधन कराता है। ''गौरौऽहम्'' यह ज्ञान आत्मा में गौरतादि के अभेद का बोधन कराता है। अतः भ्रम के रूप से प्रसिद्ध ज्ञान भी प्रमा हो जायेगा क्योंकि उस ज्ञान ने अभेद का बोधन कराकर श्रुति का समर्थन ही किया है। इसी प्रकार जब सर्व का एक दूसरे के साथ अभेद ही सिद्ध है तब भेद ग्राहक ज्ञान का अप्रामाण्य मानना अनिवार्य हो जायेगा। ऐसा होने पर आत्मा में देहादि भेद बोधक "देहत्रयातिरिक्तोऽहम्" (तेज०वि०उ०४.२) इत्यादि वेदान्त वाक्यों, अनृत से ब्रह्म के भेद का बोधक "स एष नेति नेति" (बृह०उ०३.९.२६) इत्यादि वेदान्त वाक्यों तथा "नेदं रजतम्" इत्यादि बाधक वाक्यों में अप्रामाण्य आ जायेगा। अर्थात् जैसे "नेदं रजतम्" इस स्थल पर जिन दोनों में भेद का बोधन उक्त वाक्य के द्वारा कराया गया। उन दोनों में भेद तो है नहीं, क्योंकि श्रुति के अनुसार सर्व का ब्रह्म से अभेद है। अतः इदम् से अभिन्न ब्रह्म और ब्रह्म से अभिन्न रजत होने के कारण इदम् से भी रजत अभिन्न होगा। जब कि "नेदं रजतम्" यह बाधक वाक्य इदम् और रजत में भेद का बोधन करा रहा है। इसी प्रकार घटज्ञान से ही घटाभिन्न ब्रह्म और ब्रह्म से अभिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च का ज्ञान हो जाने से जीवगत सर्वज्ञता की आपत्ति होगी और घटज्ञान मात्र से ही घटाभिन्न ब्रह्म का ज्ञान हो जाने से तुरन्त मोक्ष प्राप्ति की आपत्ति होगी तथा घटज्ञान से ही मोक्ष मिल जाने पर मोक्ष के लिए वेदान्त का श्रवणादि करना निरर्थक हो जायेगा। दूसरी बात यह है कि श्रुति के द्वारा ब्रह्माभेद का बोधन मानने पर सुख–दुःख, बन्ध–मोक्ष, भेद–अभेद, दुषण–भूषण, जय–पराजय, भ्रम–प्रमादि सहज विरोधी पदार्थ भी ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण परस्पर अभिन्न हो जायेंगे। ऐसे होने से सर्वसाङ्कर्य की आपत्ति होगी। जब कि सिद्धान्ती जो कुछ क्रिया करते हैं अथवा जो कुछ अपने पक्ष में युक्ति देते है अथवा अपने मत के समर्थन में जो कुछ बोलते है वह सब भेद घटित है। अतः ब्रह्म से अभेद का बोधन श्रुति करा रही है ऐसा मानने पर स्वकीय क्रिया, न्याय और वचन से विरोध उपस्थित होता है। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि दोनों ही पक्षों में कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि यदि प्रथम पक्ष स्वीकार करते हैं तब जैसे घट का परिणामी उपादान कारण मिट्टी के साथ कार्यभूत घट का "मृद् घटः" इस प्रकार से सामानाधिकरण्य होता है और रजत का विवर्तोपादान कारणभूत इदम् (इदमवच्छिन्न चैतन्य) के साथ कार्य भूत रजत का "इदं रजतम्" इस प्रकार से सामानाधिकरण्य होता है। ऐसे ही "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इस स्थल पर भी सर्व का विवर्तोपादान कारण ब्रह्म का कार्यभूत सर्व के साथ सामानाधिकरण्य है, ऐसा यदि श्रुति द्वारा कहा गया है, यह माना जाय तो भी कोई भी दोष नहीं है, द्वितीय पक्ष को स्वीकार करने पर भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रपञ्च का ब्रह्म के साथ वास्तविक भेद न होने पर भी आविद्यकभेद को लेकर सर्वव्यवस्था की उपपत्ति हो जाने से स्वक्रियास्ववचनादि विरोध भी नहीं होगा। प्रश्न होता है कि जब सिद्धान्त मत

आविद्यकत्वस्याप्याविद्यकस्यैवाङ्गीकारात्, अथाविद्यकत्वस्यापि ब्रह्माभिन्नत्वात् कथमाविद्यकत्वमिति चेत्, तस्मिन्नपि तस्य कल्पितत्वादिति गृहाण।। १०।।

ननु—मुक्तावाविद्यकस्यापि भेदस्याभावेनानन्दस्य दुःखाभिन्नत्वेनापुरुषार्थत्वापातः, तत्तदसाधारणस्वभावस्य तत्र तत्राभावेऽपि तत्तदभेदे पारिभाषिकोऽयमभेदो भेदे पर्यवस्येत्, असाधारणरूपेण भेदमभ्युपेत्य सद्रूपेण भेदनिषेधेऽपि इष्टापत्तिरप्रसक्तनिषेधश्चेति—चेन्न, एकस्यामेव ब्रह्मव्यक्तौ तत्तदसाधारणस्वभावानां कल्पितत्वेनासत्त्वात् सर्वकल्पनानिषेधकाले कल्पितधर्मावच्छिन्न—

सत्यानन्दप्रबोधिका

में सम्पूर्ण प्रपञ्च अनाविद्यक ब्रह्म से अभिन्न है तब प्रपञ्च अन्तःपाती भेद भी ब्रह्म से अभिन्न ही होगा। अतः अनाविद्यकब्रह्म से अभिन्न होने के कारण भेद को आविद्यक मानना उचित नहीं है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि भेद में रहने वाला आविद्यकत्व को वास्तविक न मानकर हम लोग आविद्यक ही मानते है। अर्थात् भेद में काल्पनिक आविद्यकत्व रहता है अतः कोई भी विरोध नही होगा। पुनः प्रश्न होगा कि आविद्यकत्व भी ब्रह्म से अभिन्न है और ब्रह्म में आविद्यकत्व माना नहीं जाता है। अतः अनाविद्यक ब्रह्म से अभिन्न होकर आविद्यकत्व भी अनाविद्यक हो जाता है अतः उस में आविद्यकत्व कैसे रहेगा? इसके समाधान में कह रहे हैं कि अनाविद्यक ब्रह्म से अभिन्न आविद्यकत्व में वास्तविक आविद्यकत्व नहीं माना जाता है अपितु कल्पित आविद्यकत्व ही माना जाता है, ऐसा समझना चाहिए।। १०।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि मोक्षावस्था में जो आत्मस्वरूप आनन्द है। उसका आविद्यक भेद भी दुःख में नहीं रह सकता है, क्योंकि मोक्षावस्था में अविद्या के न रहने के कारण अविद्याकृत (आविद्यक)भेद भी नहीं रहेगा। अतः आत्मस्वरूप आनन्द भी दुःख से अभिन्न हो जाने के कारण उसकी प्राप्ति के लिए कोई इच्छा नहीं करेगा। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि बद्धकाल में दुःख का जो असाधारण स्वभाव है—अनौपाधिक प्रतिकूल वेदनीयता और सुख का असाधारण स्वभाव है—अनौपाधिक अनुकूल वेदनीयता। इसप्रकार के सुख और दुःख के असाधारण स्वभाव बद्धकाल में रहने के कारण बद्धकाल में सुख दुःख में भेद माना जाता है, वह असाधारण स्वरूप मोक्षावस्था में न रहने के कारण मोक्षकालीन साधारणस्वभाव वाले आनन्द और दुःख में अभेद माना जाता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उस प्रकार से सुख और दुःख में अभेद मानने पर वह अभेद पारिभाषिक अभेद कहा जायेगा। अर्थात् जिसे पूर्वपक्षी भेद कह रहा है उसी को सिद्धान्ती अभेद कह रहे हैं, क्योंकि मोक्षकाल में सुख और दुःख का असाधारण स्वभाव न होने पर भी सुख और दुःख रूप दो व्यक्ति होने के कारण उन सुख और दुःख में भेद ही माना जायेगा। जैसे यदि देवदत्त सन्मुखस्थ एक जैसे दो घटों को देखकर उन दोनों घटों के असाधारण स्वभावों को यदि किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं कर पाया तब देवदत्त की दृष्टि से उन दो घटों में असाधारणस्वभाव नहीं है,तो भी वह दोनों घटों में अभेद नहीं समझता है। अतः सिद्धान्ती ने जो मुक्ति में असाधारण स्वभाव से रहित सुख दुःख में अभेद मान रहे हैं। वह अभेद भेद का ही नामान्तर मात्र है। यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दुःख का जो असाधारण स्वरूप है—अनौपाधिक प्रतिकूल वेदनीयता। उस रूप से दुःख का मोक्षकालीन आनन्द से भेद होने पर भी सद्रूप से उन दोनों में भेद नहीं है। अर्थात् अभेद है। इस पर पूर्वपक्षी इष्टापत्ति दे रहा है, क्योंकि "सर्वं सत्" इस प्रकार से सत्त्वेन अभेद पूर्वपक्षी भी मानता है। दूसरी बात यह है कि भेद असाधारण रूप से प्राप्त है और निषेध सद् रूप से कर रहे हो। इसलिए यद्रूप से प्राप्त है तद् रूप से निषेध न होने से अप्राप्त का निषेध मानना पड़ेगा। इसका

भेदाभेदादिप्रसक्तेरयोगात्। अत एव नाप्रसक्तप्रतिषेध इष्टापत्तिर्वा, 'सद् द्रव्यम्' 'सन् गुणः' इत्यादिप्रतीत्या प्रसक्तानां तत्तद्धर्माणां ब्रह्मणि प्रतिषेधात्। अतः सर्वधर्मशून्याया एकस्या एव सद्व्यक्तेश्चिदानन्दरूपायाः प्रतिपादनान्न पारिभाषिकोऽयमभेद इति सिद्धम्। तदेवम् 'सर्वं ब्रह्माभिन्नम्'इति मते मिथ्याभूतस्य ब्रह्मभेदेऽपि सन्मात्रमेव ब्रह्माभिन्नमिति मते वा न प्रत्यक्षादिविरोधः, नापि पूर्वोत्तरविरोधः।। ११।।

इत्यद्वैतश्रुतेर्बाधोद्धारः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि एक ही ब्रह्म व्यक्ति में दुःखत्व, अपुरुषार्थत्वादि असाधारण स्वभाव (धर्म) अविद्या के द्वारा कल्पित है। अतः दुःखत्वादि निषेध के ही योग्य भी है। अतः सर्वकल्पनानिषेधकालोपलक्षित मुक्ति अवस्था में कल्पित धर्मावच्छिन्न भेदाभेदादि की प्रसक्ति ही नहीं है। अर्थात् मोक्षावस्था में अविद्या के न रहने के कारण अविद्याकृत भेद प्राप्त ही नहीं है। अतः मोक्षावस्था में कल्पित धर्मावच्छिन्न भेद रहता है अथवा अभेद रहता है, ऐसा प्रश्न ही अनुचित है। इसप्रकार से धर्म मात्र के सद्रूप ब्रह्म में कल्पित होने से ही अप्रसक्त का प्रतिषेध अथवा इष्टापत्ति भी पूर्वपक्षी नहीं कह सकता है, क्योंकि "सद् द्रव्यम्" "सन् गुणः" इत्यादि प्रतीतियों से प्रसक्त संसारावस्था में जो तत्तद् धर्म (द्रव्यत्व गुणत्वादि) हैं, उनका प्रतिषेध ब्रह्म में होता है। अर्थात् संसार काल में ही भेदादि प्रपञ्च की प्राप्ति और उसी का ही निषेध होता है। अतः अप्रसक्त प्रतिषेध नहीं है और सभी धर्म ब्रह्म में कल्पित होने से पूर्वपक्षी इष्टापत्ति नहीं दे सकता है क्योंकि वह द्रव्यत्वादि सभी धर्मों को सत् मानता है। सर्वधर्मशून्य एक ही आनन्दरूप ब्रह्म व्यक्ति का अद्वैत श्रुति के द्वारा प्रतिपादन होने से अभेद को पारिभाषिक अभेद भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि मोक्षावस्था में न अविद्या रहती है, न कोई अविद्याकृत धर्म। अतः मोक्षावस्था में ब्रह्मभिन्न कोई भी पदार्थ के न रहने के कारण अर्थात् एक मात्र ब्रह्म के ही रहने के कारण वस्तुतस्तु अभेद ही रहता है। यदि ब्रह्मभिन्न कोई पदार्थ रहता तब भेद मानने का प्रश्न उठता। अतः मोक्षावस्था में सिद्धान्ती के द्वारा माना गया अभेद भेद का नामान्तर मात्र है,यह कहा नहीं जा सकता है। इसी प्रकार "सर्व ब्रह्म से अभिन्न है।" इस मत में और मिथ्याभूत पदार्थों का ब्रह्म से भेद होने पर भी सन्मात्र ही ब्रह्माभिन्न है इस मत में भी प्रत्यक्षादि के साथ श्रुति का विरोध नहीं है, और पूर्वोत्तर का विरोध भी नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षादि से जो घटपटादि पदार्थ ज्ञात होता है, वे घटपटादि वास्तविक कोई पदार्थ नहीं है, किन्तु जिस ब्रह्म में घटत्व पटत्वादि कल्पित है उन कल्पित धर्मों से युक्त होकर वह ब्रह्म ही घटपटादि के रूप से प्रत्यक्षादि के द्वारा ज्ञात होता है। जैसे कल्पित रजतत्वधर्मावच्छिन्न के रूप से शुक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञात होने के कारण भ्रान्त व्यक्ति शुक्ति को रजत समझता है, भ्रम से जिसको रजतरूप से देखा जाता है वह तो वस्तुतस्तु शुक्ति ही है। वैसे ही ब्रह्म भिन्न सभी पदार्थ ब्रह्म मात्र ही है। द्वितीय मत में पूर्वोत्तर विरोध इसलिए नहीं है कि जो श्रुति आपातदृष्टि से भेदबोधक लगती है, वह मिथ्याभूत पदार्थ का पारमार्थिक सत्यस्वरूप ब्रह्म से जो आविद्यकभेद है उसका बोधक है, और अभेद बोधकश्रुति अधिष्ठानरूप से सभी पदार्थों का ब्रह्म से अभेद का प्रतिपादन करती है। अर्थात् घट का दो अंश है—प्रथम कल्पित घटत्वांश है और द्वितीय अधिष्ठानांश है। कल्पित घटत्वांश को लेकर घट तो ब्रह्म से भिन्न हैं और अधिष्ठानांश को लेकर घट ब्रह्म से अभिन्न है ।। ११।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायामद्वैतश्रुतेर्बाधविचारः n

एकमेवाद्वितीयमिति श्रुत्यर्थविचारः

ननु–यद्यपि 'सलिल एको द्रष्टा अद्वैतः' इत्यत्र सलिलशब्दस्य तत्सादृश–यस्वच्छत्वमात्रपरत्वात् तस्य च सर्वमलासंसर्गित्वस्वरूपस्याद्वैतेऽप्युपपत्तेः, ''सदेवसोम्येदमग्र आसीत्" इत्यत्र चाग्रपदस्य "तदैक्षत नामरूपे व्याकरोत्" इत्यादेश्च कालेक्षणनामरू–पात्मकप्रपञ्चप्रापकस्याविद्यकद्वैतविषयकत्वेन वास्तवाद्वैतविरोधित्वाभावः। तथापि "सदेव सोम्ये–

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी ने पीछे "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि अद्वैतबोधक श्रुतियों के साथ मानान्तर विरोध दिखलाया था। अब पूर्वोत्तर विरोध दिखलाते हुए कह रहा है कि "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ०उ०४.३.३२) {जैसे जल स्वच्छ (सर्वमलासंस्पर्शित्वरूप) और एक है वैसे ही सुषुप्ति में अद्वैत आत्मारूप निर्मल द्रष्टा एक ही है। हे राजन् यही ब्रह्म लोक है। इस प्रकार से याज्ञवल्क्य ने जनक को उपदेश दिया। यही इस पुरुष की परम गति है। यह इसकी परम सम्पत्ति है, यह इसका परमलोक है, यह इसका परमानन्द है। इसी आनन्द की कला (मात्रा) के आश्रित होकर दूसरे जीव जीते रहते हैं।} इस मन्त्र के भाष्य में भगवान् भाष्यकर ने कहा है–"सलिल्वत्स्वच्छीभूतः सलिल इव सलिल एको द्वितीयस्याभावात्। अविद्यया हि द्वितीयः प्रविभज्यते। सा च शान्ताऽत्रात एको द्रष्टा दृष्टेरविपरिलुप्तत्वादात्मज्योतिः स्वभावाया अद्वैतो द्रष्टव्यस्य द्वितीयस्याभावात्।"इस प्रकार इस श्रुति और श्रुति के भाष्य के अनुसार सलिल वाचक शब्द सलिल के सादृश्य से स्वच्छत्व मात्र का बोधक है। यहां पर प्रश्न होता है कि सलिल शब्द जल वाचकत्वेन नपुंसकलिङ्ग होता है तो यहां पर पुंलिङ्ग कैसे ? इसका समाधान यह है कि स्वच्छशब्द पुंलिङ्ग है। अतः जब सलिल का स्वच्छ अर्थ लेंगे तो पुंलिङ्ग होगा। शेष लघुचन्द्रिका में इसका समाधान देखें। इस प्रकार से सलिल शब्द से बोधित सर्वमलासंस्पर्शित्वरूप स्वच्छता अद्वैत ब्रह्म में भी घट जाती है। अर्थात् पूर्वपक्षी के कहने का भाव यह है कि "एकमेवाद्वितीयम्" इस अद्वैत बोधक श्रुति के साथ यद्यपि "सलिलो एको द्रष्टा अद्वैतो भवतिः" इस द्वैतबोधक श्रुति के साथ विरोध है क्योंकि चेतनतत्त्व के साथ–साथ उससे भिन्न सलिलतत्त्व भी है। अतः अद्वैत अर्थ न लेकर द्वैतपरक अर्थ लेना चाहिए। तथापि सिद्धान्ती सलिल का अर्थ स्वच्छता करके विरोध का निवारण कर सकते हैं। इसी प्रकार पूर्वपक्षी "सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्" में काल वाचक अग्र पद के साथ में "एकमेवाद्वितीयम्" का विरोध जो दिखलाया कि सृष्टि के पूर्व में ब्रह्म के साथ–साथ काल भी था। अतः द्वैतापत्ति होगी। पूर्वपक्षी के अनुसार इसका भी समाधान सिद्धान्ती इस प्रकार से कर सकते हैं कि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" (छा०६.२.१) इस श्रुति में अग्रपद से जो काल कहा गया है और "तदैक्षत" में "ऐक्षत" पद से जो इक्षण कहा गया है तथा "नामरूपे व्याकरोत्" इससे नामरूपात्मकप्रपञ्च जो कहा गया है वह काल–इक्षण–नामरूपात्मक प्रपञ्च आविद्यक है। इसलिए उक्त श्रुति आविद्यक द्वैतपरक होने के कारण वास्तिविक अद्वैतबोधक श्रुतियों का विरोधी नहीं है। किन्तु "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इस वाक्य में सत् और इदम् इन दो पदों में समान विभक्ति, वचन और लिंग देखे जाने से इस वाक्य के घटक "इदम्" शब्द से सद्–अभेद प्रयुक्त विश्व के सत्त्व को कह करके फिर "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के घटक अद्वितीय शब्द के द्वारा सद्–अभिन्न विश्व का

दमग्र आसीत्" इत्यनेन इदं शब्दोदितस्य विश्वस्य सदभेदेन सत्त्वमुक्त्वा पुनरद्वितीयपदेन तन्निषेधे व्याघातः, न हि 'सदासीत्' इत्यस्यासदासीदित्यर्थ इति–चेत्।। १।।

न, सद्व्यतिरेकेण नासीदित्यर्थस्यैव निषेधार्थत्वात्। विवृतं चैतत् भाष्यकारादिभिरारम्भणाधिकरणे। न च–सद्व्यतिरेकेणासत्त्वोक्तौ सदात्मना सत्यत्वमागच्छतीति–वाच्यम्, आगच्छतु नाम, को हि ब्रह्माभिन्नस्यासत्त्वसाधनाय प्रवृत्तो यो बिभीयात्। अद्वैतवाक्यस्य च षड्विधतात्पर्यलिङ्गवत्तया बलवत्त्वेनाविद्यकद्वैतप्रतिपादकत्वं सृष्ट्यादिवाक्यानामिति श्रवणस्वरूपनिरूपणे वेदान्तकल्पलतिकायामभिहितमस्माभिः। इहाप्यभिधास्यते षड्विधतात्पर्यलिङ्गानि प्रदर्शयद्भिः। अत एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञयोपक्रमात् "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" इत्युपसंहाराच्च अद्वैतस्यैव महाप्राकरणिकतया तदनुसारेण तद्वाक्यस्थपदानां व्याख्येयत्वावधारणात्,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

निषेध करने पर व्याघात होगा, क्योंकि "एकमेवाद्वितीयम्" इस वाक्य के घटक अद्वितीय शब्द के द्वारा सद् अभिन्नविश्व का निषेध करने पर "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" के "सद् आसीत्" का अर्थ "असद् आसीत्" ऐसा करना पड़ेगा, जो असंगत है ।। १।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के घटक एव और अद्वितीय पद के द्वारा "सद्रूप से भिन्न होकर जगत् नहीं था" अर्थात् सद्ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त सत्ता जगत् की नहीं थी। इस प्रकार का ही निषेध बोधित किया गया है। श्रुति के उक्त अर्थ को ही "आरम्भणाधिकरण" (ब्र०सू०२.१.१४) में भगवान् भाष्यकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है– "कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः कार्यस्यावगम्यते।" अर्थात् आकाशादि बहुत विस्तृत प्रपञ्च कार्य है और परब्रह्म कारण है। उस कारण से कार्य के पृथक्त्व का अभाव ही बोधित होने से ही वास्तव में कारण के साथ कार्य का अनन्यत्व अवगत होता है। उसका तात्पर्य है कि सत् कारणरूप ब्रह्म से भिन्नत्वेन कार्य प्रपञ्च का कोई अस्तित्व नहीं था। उक्त भाष्य की व्याख्या के अवसर पर भामतीकार ने कहा है–न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं व्यासेधामः ततश्च नाभेदाश्रयदोषप्रसङ्गः। अर्थात् अनन्यत्व शब्द के माध्यम से अभेद का कथन श्रुति के द्वारा नहीं किया गया है। किन्तु भेद का प्रतिषेध किया गया है। अतः अभेद मानकर दिया गया दोष उपस्थित नहीं होगा। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि सद् भिन्नत्वेन जगत् को मिथ्या मानने पर भी सदात्मना जगत् में सत्यता आ जायेगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हम अधिष्ठान(ब्रह्म) से भिन्न को असत् मानते हैं और अधिष्ठान ब्रह्म से अभिन्न को सत् मानते हैं। अर्थात् घटत्वेन घट पटत्वेन पट मिथ्या होने पर भी स्वरूपेण सद् ब्रह्म से अभिन्न घट–पट सत् ही हैं। अतः पूर्वपक्षी की उक्त शङ्का से भयभीत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। अद्वैत प्रतिपादक वाक्य तात्पर्यग्राहक उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों से युक्त होने के कारण बलवान माने जाते हैं। उनकी अपेक्षा सृष्ट्यादि प्रतिपादक वाक्य तात्पर्यग्राहक उपक्रमादि षड्लिङ्गों से रहित होने के कारण दुर्बल होते हैं और मिथ्याद्वैत के बोधन के माध्यम से अद्वैत के प्रतिपादन में ही उनका तात्पर्य माना जाता है। यह स्वयं ही हमने "वेदान्तकल्पलतिका" के श्रवण स्वरूप निरूपण के प्रकरण में विस्तार से कहा है और इस ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में भी षड्विध तात्पर्यग्राहक लिङ्गों के ऊपर विशेषरूप से चर्चा की जायेगी। अतः "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातम्" (छा०उ०६.१.२)इस प्रकार एक विज्ञान से सर्वविज्ञान विषयिणी प्रतिज्ञा से उपक्रम कर "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा" (छा०उ०६.१६.३) इत्याकारक

नानार्थपदानामर्थान्तरोपस्थापकत्वसम्भवेऽपि प्रकृतवाक्यार्थानन्वयितया तत्परित्यागेन प्रकृतवाक्यार्थानुकूलपदार्थोपस्थितिपरत्वमेवास्थेयम्॥ २॥

तत्र न द्वितीयमद्वितीयमिति तत्पुरुषाभ्युपगमे न द्वितीयम्, किन्तु प्रथमं तृतीयं चेत्यर्थः स्यात्, स च न सम्भवति, तयोरपि किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वात्। अतो न विद्यते द्वितीयं यत्रेति बहुव्रीहिरेवादरणीयः। न च—एकेनैवाद्वितीयपदेन भेदत्रयनिषेधसम्भवे एकावधारणपदयोर्वैयर्थ्यमिति वाच्यम्, विजातीयं किञ्चिदपेक्ष्य द्वितीयत्वावच्छिन्ननिषेधस्याद्वितीयशब्दार्थत्वात्। अयं चात्र सङ्कोचो बलीवर्दपदसन्निधानाद् गोपद इव सजातीयस्वगतभेदनिषेधकैकावधारणपदसन्निधिप्रयुक्त एव। तदुक्तम्—

सत्यानन्दप्रबोधिका

उपसंहार से यह निश्चित है कि अद्वैततत्त्व ही महाप्राकरणिक (प्रधान प्रतिपाद्य) वस्तु है। अतः महाप्राकरणिकाद्वैतानुसार ही प्रकरणस्थ पदों की व्याख्या करना उचित है। यद्यपि अद्वैतप्रकरण में आये हुए नानार्थक पदों के द्वारा अद्वैतरूप अर्थ से भिन्न अर्थ की भी उपस्थिति हो सकती है, तथापि उन अर्थों का महाप्राकरणिक अद्वैतरूप प्रकृत अर्थ से अन्वय न होने के कारण परित्याग कर वाक्यस्थ सभी पदों से अद्वैतरूप अर्थ के अनुकूल ही पदार्थ की उपस्थिति मानी जाती है।। २।।

अतः "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति के घटक "अद्वितीयम्" पद में "न द्वितीयमद्वितीयम्" इस प्रकार से नञ्तत्पुरुष समास करने पर अर्थ होगा—ब्रह्म किसी की अपेक्षा से द्वितीय नहीं है। किन्तु प्रथम और तृतीय का निषेध न किये जाने से ब्रह्म किसी की अपेक्षा से प्रथम या तृतीय है, ऐसा भी अर्थ हो ही जायेगा, किन्तु वह अर्थ सम्भव नहीं होगा, क्योंकि जो किसी की अपेक्षा से प्रथम और तृतीय है वह भी अन्य किसी की अपेक्षा से द्वितीय भी होगा और तब नञ्समास से लभ्य अर्थ (द्वितीय नहीं है) के साथ विरोध होगा। इसलिए "अद्वितीयम्" पद में नञ्तत्पुरुष समास न करके बहुव्रीहि समास किया जाता है। अर्थात् "न विद्यते द्वितीयं यत्र" इसप्रकार से बहुव्रीहि समास करके अर्थ होगा—ब्रह्म से भिन्न कोई भी नहीं है। यहां पर यह जो शङ्का की जाती है कि "अद्वितीयम्" पद से ही जब सजातीय—विजातीय और स्वगतभेद का निषेध हो जाता है तब श्रुतिस्थ एक और अवधारणार्थक एव पद व्यर्थ है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे है कि विजातीयत्वविशिष्ट द्वितीयत्वावच्छिन्न का निषेध ही अद्वितीय का शब्दार्थ है। अर्थात् विजातीयभेद मात्र का ही निषेध अद्वितीय शब्द से होता है न कि भेदत्रय का। यद्यपि अद्वितीयशब्द भेदत्रय का निषेध करने में समर्थ है फिर भी सजातीयभेद का निषेध करने वाला एक शब्द और स्वगतभेद का निषेध करने वाला एव शब्द के सन्निधान के कारण अद्वितीय शब्द के अर्थ में संकोच करके केवल विजातीय निषेध का बोधक अद्वितीय शब्द को माना जाता है। जैसे "गामानय वलीवर्दं च" इस वाक्य के घटक गो शब्द से यद्यपि गाय और बैल दोनों ही अर्थों की उपस्थिति होती है किन्तु बलीवर्द शब्द से बैल अर्थ की उपस्थिति जब हो रही है, तब बलीवर्द के सन्निधान के कारण गो शब्द का गाय अर्थ में ही संकोच किया जाता है। सजातीयभेद का निषेधक एक शब्द और स्वगत भेद का निषेधक एव शब्द होता है—इसमें श्री स्वामी विद्यारण्यजी के कथन को उद्धृत कर रहे हैं। —

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः।।
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्।। इति।

स्वगतभेदः नानात्वरूपजीवेश्वरभेदः। सजातीयभेदोऽत्र द्रव्यत्वादिना सजातीय–पृथिव्यादिभेदः। विजातीयभेदो गुणादिभेदः। अथवा जडभेदो विजातीयभेदः, चैतन्यभेदः सजातीयभेदः। ज्ञानानन्दादिधर्मभेदः स्वगतभेदः। यदि च "अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते नाश्वो न गर्दभः" इति महाभाष्यानुसारात् समानजातीयद्वितीयपरत्वं द्वितीयशब्दस्य, तदा अद्वितीयशब्दस्य सजातीयभेदनिषेधपरत्वम्, विजातीयस्वगतभेदनिषेधपरत्वं तु एकावध

सत्यानन्दप्रबोधिका

वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादिभिः।
वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः।।
तथा सद्वस्तुनो भेदत्रयं प्राप्तं निवार्यते।
एकावधारणद्वैतप्रतिषेधैस्त्रिभिः क्रमात्।। {पञ्चदशी प्रकरण.२ श्लो०२०—२१}

अर्थात् वृक्ष का (अवयवी का) अपने पत्र पुष्पफलादि अवयवों से स्वगतभेद होता है। इस वृक्ष का दूसरे वृक्ष से सजातीय भेद होता है। शिलादि विजातीय पदार्थों से विजातीय भेद होता है। इसी प्रकार सद्रूप आत्मवस्तु में प्रसक्त स्वगतादि तीनों भेदों का निवारण एकम्—एव—अद्वितीयम्—इन तीनों पदों के द्वारा क्रम से किया जाता है। सद्रूप वस्तु में उक्त तीनों भेद कैसे प्रसक्त है? इसे स्वयं ही आचार्यप्रवर स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि चिद्वस्तु में नानात्वरूप जीवेश्वर भेद स्वगतभेद है। पूर्वपक्षी के मत में ब्रह्म द्रव्य है। अतः ब्रह्म का द्रव्यत्वेन सजातीय पृथिव्यादि है। इसलिए ब्रह्म में पृथिव्यादि का भेद सजातीयभेद कहा जाता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के अनुसार ब्रह्म में द्रव्यत्व और रूपादि में गुणत्व माना जाता है। अतः रूपादि ब्रह्म के विजातीय है। इसलिए ब्रह्म में रूपादि का भेद विजातीयभेद कहा जाता है। अथवा अविद्यादि जड़ पदार्थों का ब्रह्म चैतन्य में जो भेद है, वह विजातीयभेद है और ब्रह्मचैतन्यगत जीव ईश्वररूप चैतन्य से सजातीय भेद है। ब्रह्मगत ज्ञानानन्दादि धर्म के भेद को स्वगत भेद कहते है। जैसा कि पञ्चपादिकाकार ने कहा है— "आनन्दो विषयानुभवो नित्यत्वं चेति सन्ति धर्माः। अपृथक्त्वेऽपि चैतन्यात् पृथगिवावभासन्ते।।"इस प्रकार अब तक यह दिखलाया गया कि "अद्वितीयम्" इस पद के द्वारा ब्रह्मगत विजातीयभेद का निषेध किया गया है। अब यह दिखलाने जा रहे हैं कि "अद्वितीयम्" इस पद से ब्रह्मगत सजातीयभेद का निषेध मानने पर भी कोई दोष नहीं है। महाभाष्य में कहा है—"अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽन्विष्यते, नाश्वो न गर्दभः।" अर्थात् इस बैल का कोई द्वितीय (दूसरा) खोजा जाय—इत्याकारक कथन होने पर द्वितीय शब्द से बैलरूप सजातीय द्वितीय का ही ग्रहण किया जाता है, विजातीय अश्व अथवा गर्दभ का नहीं। इसप्रकार पातञ्जल महाभाष्य के अनुसार द्वितीय शब्द सजातीय द्वितीय का बोधक माना जाता है। अतः इस मत के अनुसार "अद्वितीयम्" इस पद से सजातीयभेद का निषेध किया गया है और एक और एव शब्द के द्वारा विजातीयभेद और स्वगतभेद का निषेध यथेष्ट मान लेना चाहिए। प्रश्न होता है कि एक और एव शब्द से यथेष्ट विजातयभेद और स्वगतभेद का निषेध क्यों मान रहे हैं? इसका समाधान यह है कि विनिगमना का विरह होने के कारण दोनों शब्दों

ारणपदयोर्यथेष्टं व्याख्येयम्। अथवा अद्वितीयपदेनैव भेदत्रयनिषेधः,एकावधारणपदे तु सङ्कोचशङ्कापरिहाराय।। ३।।

यत्तु केनचित् प्रलपितं—द्वितीयशब्दः सहायवाची, 'असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्'इति प्रयोगात्। 'असिद्वितीयः —असिसहायः' इति महाभाष्योक्तेश्च। तथा चाद्वितीयमसहायमित्यर्थोऽस्तु। एवमेकशब्दस्यापि नानार्थत्वेनाविरुद्धार्थमादायोपपत्तौ न मिथ्यात्वपर्यवसायिताऽऽस्थेया। तथा च 'एके मुख्यान्यकेवला' इत्यमरः, 'एकशब्दोऽयमन्यप्रधानासहायसङ्ख्याप्रथमसमानवाची'इति 'एको गोत्रे' इति सूत्रे कैयटः। "ष्णान्ता षट्" इति सूत्रे महाभाष्यकारोऽपि एकशब्दोऽयं बह्वर्थः, अस्ति सङ्ख्यार्थः, अस्त्यसहायवाची, अस्त्यन्यार्थ इत्यादि व्याख्यातवान्, तथा च जीवादिभ्योऽन्यत्वं प्राधान्यं वा एकशब्दार्थोऽस्तु। एवमन्यान्यपि श्रुतिपदानि व्याख्येयानि—इति,

सत्यानन्दप्रबोधिका

(एक और एव) में से किसी के भी द्वारा स्वगतभेद अथवा विजातीयभेद का निषेध मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है। अथवा "अद्वितीयम्" पद के द्वारा ही सजातीय विजातीय और स्वगतभेद का निषेध कर दिया गया है। एकम् और एव पद के द्वारा क्रमशः संकोच शङ्का और उसका परिहार किया गया है। अर्थात् यदि केवल "अद्वितीयम्" पद ही देते तब शङ्का होती कि सजातीय—विजातीय द्वितीय का निषेध नहीं किया गया है। इस शङ्का का परिहार एकम् और एव पद के द्वारा किया गया है।।३।।

एकदेशी पूर्वपक्षी का यह जो प्रलाप है कि "असिद्वितीयोऽनुससार पाण्डवम्" इस प्रयोग के अनुसार द्वितीय शब्द सहाय अर्थ का बोधक है, क्योंकि वहां "असिद्वितीयः" का अर्थ "असिसहायः" किया जाता है। पतञ्जलिमहाभाष्य में भी कहा है—असिद्वितीयः असिसहायः। अतः अद्वितीयम् का अर्थ होगा असहाय। इस प्रकार "एकमेवाद्वितीयम्" का अर्थ यह होगा कि ब्रह्म अपने जगत् जन्मादिरूप कार्य की सिद्धि के लिए किसी भी दूसरे की अपेक्षा नहीं रखता है। स्वयं ही अपने सभी कार्यो को करने में समर्थ है। अतः इस श्रुति के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार एक शब्द भी नानार्थक होने के कारण उनमें से प्रपञ्चसत्यत्वसाधक किसी अर्थ को लेकर श्रुत्यर्थ की उपपत्ति हो जायेगी। तब एक शब्द के द्वारा भी प्रपञ्चगतमिथ्यात्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। एक शब्द नानार्थक है, इसको स्पष्ट करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि अमरकोशकार ने कहा है—एक शब्द मुख्य—अन्य—केवल इन तीन अर्थों को कहने वाला होता है। इसी प्रकार "एको गोत्रे" (पा०सू०४.१.९३) के महाभाष्य की व्याख्या में आचार्य कैयट ने कहा है कि एक शब्द अन्य, प्रधान,असहाय, संख्या, प्रथम, समान इन अर्थो का बोधक होता है। इसी प्रकार महाभाष्यकार ने स्वयं ही "ष्णान्ता षट्" (पा०सू०१. १.२४) के महाभाष्य में कहा है—यह एक शब्द बहुत अर्थ वाला है—संख्यार्थक है, असहायवाची है, अन्यार्थक है इत्यादि। अतः "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुतिस्थ एक शब्द से यह कहा जा रहा है कि ब्रह्म जीव जगत् आदि से अन्य है, अथवा जीवादि की अपेक्षा से प्रधान(मुख्य) है। इसी प्रकार श्रुति घटक अन्य शब्दों की भी व्याख्या द्वैतगत सत्यत्व पोषक के रूप से की जा सकती है। इस प्रकार के एकदेशी पूर्वपक्षी के प्रलाप का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उपक्रम—उपसंहारादि षड्विध तात्पर्यलिङ्गों के अद्वैत के पक्ष में रहने से "एकमेव" इत्यादि पदों का भी वही अर्थ लिया जायेगा जो अद्वैत के अनुरूप है। जो अद्वैत के अननुरूप है उस अर्थ को महाप्राकरणिकार्थ से विरोध होने के कारण नहीं लिया जा सकता है। अतः पूर्वपक्षी उक्त प्रलाप के द्वारा द्वैतगत सत्यत्व सिद्ध नहीं कर सकता है। इस पर विशेषरूप से विचार

तत् पूर्वोक्तयुक्तिभिरपास्तम्। विस्तरेण च वक्ष्यते तात्पर्यनिरूपणे। तदेवं सद्रूपे ब्रह्मणि पदत्रयेण भेदत्रयनिषेधात् तद्भिन्नमिथ्यात्वे पर्यवसितम् 'एकमेवाद्वितीयम्' इति वाक्यम्। एवमन्या अपि श्रुतयः स्मृतयश्च ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः। स्वयेमेव सूरिभिराकरे द्रष्टव्याः।। ४।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ सर्वाद्वैतश्रुतेरद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रौत–तात्पर्य निरूपण के अवसर पर किया जायेगा। फलतः सद्रूप ब्रह्म में "एकमेवाद्वितीयम्" यह श्रुतिवाक्य अपने तीनों पदों के द्वारा सजातीय–विजातीय–स्वगतभेद का निरास कर के ब्रह्म भिन्न सकल प्रपञ्च के मिथ्यात्व का बोधन कराता है। इसी प्रकार अन्य श्रुति और स्मृति वाक्यों की भी व्याख्या कर लेनी चाहिए। ग्रन्थ विस्तार के भय के कारण अन्य श्रुति–स्मृति वाक्यों को प्रकृत प्रसङ्ग में उद्धृत नहीं किया गया है। विद्वानों को चाहिए कि पूर्वपक्षी के द्वारा उद्धृत वाक्यों का अर्थ भाष्यादि में देख ले। कहने का आशय यह है कि न्यायामृतकार ने अद्वैतपरक अनेक श्रुतिवाक्यों एवं स्मृति वाक्यों तथा पुराण वाक्यों का अर्थ द्वैतपरक करके प्रपञ्चगत सत्यत्व को सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। उसकी तरफ संकेत करके आचार्यप्रवर ने कहा कि "एकमेवाद्वितीयम्" इस श्रुति में प्रदर्शित युक्तियों के द्वारा ही पूर्वपक्षी की असद् युक्तियों का खण्डन करके पूर्वपक्षी का मानमर्दन किया जा सकता है। उसके लिए अलग से युक्ति देने की आवश्यकता नहीं है ।। ४।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां सर्वाद्वैतश्रुतेरद्वैततात्पर्यकत्वनिर्णयः n

9

ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथोपपत्तिविचारः

"तरति शोकमात्मवित्" तथा "विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।" इत्यादिश्रुतिबोधितज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिरपि बन्धमिथ्यात्वे प्रमाणम्, सत्यत्वे ब्रह्मवदनिवर्त्यत्वापत्तेः। तथा हि—शुक्तिरूप्यरज्जुसर्पादौ ज्ञाननिवर्त्ये न तावत्तत्तद्रूपवत्त्वं ज्ञाननिवर्त्यतावच्छेदकम्, अननुगमात्, किन्तु सर्वानुगतं मिथ्यात्वमेवाज्ञा–नकल्पितत्वापरपर्यायमवच्छेदकम्। एवं ज्ञानस्यापि तन्निवर्तकत्वे न शुक्त्यादिविषयत्वमवच्छेदकम्, अननुगमात्, किन्तु सर्वानुगतमधिष्ठानप्रमात्वमेव। तथा च यत्र ज्ञानस्याधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र मिथ्यात्वेनैव निवर्त्यतेति नियमः सिध्यति। एतादृशनियमानभ्युपगमे चानन्तनियमकल्पनागौरवरूपो

सत्यानन्दप्रबोधिका

सिद्धान्ती के द्वारा पूर्व प्रकरणों में मिथ्यात्व साधक अनुमान के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की सिद्धि की गयी। अब अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा प्रपञ्चगत मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्ति प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। "तरति शोकमात्मवित्" (छा०उ०७. १.३) अर्थात् अकृतार्थबुद्धिरूपमन के ताप को अर्थात् भीतिहेतु द्वैत को आत्मवेत्ता ही अत्यन्त दूर कर पाता है। "विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" (मु०उ०३.२.८) अर्थात् तत्त्ववेत्ता अविद्याकृत नामरूपादि सम्पूर्ण संसार से मुक्त होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त कर लेता है। "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।।" (मु०उ०२.२.८) अर्थात् जो कारण रूप से पर है और कार्यरूप से अपर है ऐसे परापर ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार हो जाने पर अर्थात् उपादानोपादेयात्मक प्रपञ्च के अधिष्ठानभूत ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार हो जाने पर इस जीव की आत्मानात्माध्यासरूप हृदय की ग्रन्थि (अहङ्काराध्यास) छिन्न–भिन्न हो जाती है, आत्मविषयक सभी संशय समाप्त हो जाते हैं और इसके प्रारब्ध कर्म से भिन्न सभी कर्म समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उक्त श्रुतियों से बोधित जो बन्धगत ज्ञाननिवर्त्यत्व उस ज्ञाननिवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्ति भी बन्ध के मिथ्यात्व में प्रमाण है। अर्थात् सर्वप्रथम इन श्रुतियों के द्वारा प्रपञ्चगत (बन्धगत) ज्ञाननिवर्त्यत्व सिद्ध होता है। पुनः "प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना श्रुतिसिद्धं ज्ञाननिवर्त्यत्वमनुपपन्नम्" इस अर्थापत्ति प्रमाण से बन्धगत मिथ्यात्व सिद्ध होता है। यदि प्रपञ्च को मिथ्या नहीं मानेंगे तब तो जैसे ब्रह्म में ज्ञान से निवर्त्यत्व नहीं है वैसे ही प्रपञ्च में भी ज्ञान निवर्त्यत्व नहीं रहेगा। ज्ञाननिष्ठ निवर्तकता निरूपित शुक्तिरूप्यादिनिष्ठ निवर्त्यता का अवच्छेदक और ज्ञाननिष्ठ निवर्तकता का अवच्छेदक क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ज्ञाननिवर्त्य शुक्तिरूप्य, रज्जुसर्पादि सभी पदार्थों में अनुगत अज्ञानकल्पितत्व है दूसरा नाम जिसका ऐसा जो मिथ्यात्व, वहीं ज्ञाननिवर्त्यता का अवच्छेदक है न कि शुक्तिरूप्यत्व–रज्जुसर्पत्वादि, क्योंकि तत्तद् शुक्तिरूप्यत्वादि सभी ज्ञाननिवर्त्य पदार्थों में अनुगत नहीं है और उनको अवच्छेदक मानने से गौरव भी होगा। इसी प्रकार यह जो शुक्तिरूप्य का निवर्तकज्ञान शुक्तिज्ञान, रज्जुसर्प का निवर्तकज्ञान रज्जुज्ञानादि है, उन सभी निवर्तकज्ञानों में रहने वाला निवर्तकतावच्छेदक अधिष्ठानप्रमात्व है न कि शुक्तिविषयकत्व, रज्जुविषयकत्वादि, क्योंकि शुक्तिविषयकत्वादि सभी निवर्तकज्ञानों में अनुगत नहीं है और उनको ज्ञाननिष्ठ निवर्तकता का अवच्छेदक मानने में गौरव भी होगा। इस प्रकार यह नियम बना कि जहाँ ज्ञानगत अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता है वहाँ मिथ्यात्वेन प्रपञ्चगत निवर्त्यता है। अर्थात् "यत्र यत्र ज्ञानस्य अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता, तत्र तत्र अध्यस्तस्य मिथ्यात्वेन निवर्त्यता।" न्यायमत में ज्ञान के प्रागभाव की निवृत्ति

बाधकस्तर्कः। तथा हि—यन्निष्ठा यदाकारा प्रमारूपान्तःकरणवृत्तिरुदेति, तन्निष्ठं तदाकारमज्ञानं नाशयतीति नियमस्य सिद्धत्वात्, उपादाननाशस्य चोपादेयनिवर्तकत्वात्, शुक्त्यादिज्ञानेन तत्तदाकाराज्ञाननाशे तदुपादेयानां रजतादीनां निवृत्तिरौचित्यावर्जितैवेति नियमान्तराकल्पनेन लाघवमनुकूलस्तर्कोऽस्मत्पक्षे। अज्ञानोपादेयत्वं च शुक्तिरजतादीनामन्वयव्यतिरेकसिद्धमग्रे स्थास्यति। एवं स्थिते कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्यात्मप्रमानिवर्त्यत्वे तदज्ञानकल्पितत्वमेव तत्रावच्छेदकं कल्प्यते, न त्वननुगतमाकाशत्वादि, न वा ब्रह्मभिन्नत्वं सद्भिन्नत्वं वा सर्वानुगतमपि, तुच्छेऽतिप्रसक्तेः, तद्वारकविशेषणप्रक्षेपे तु सदसद्विलक्षणत्वरूपमिथ्यात्वमेव निवर्त्यताप्रयोजकं पर्यवसितम्। अन्यथा नियमान्तरकल्पनागौरवापत्तेः तथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य येन रूपेण

सत्यानन्दप्रबोधिका

ज्ञान से होती है। इसलिए ज्ञान के प्रागभाव में ज्ञाननिवर्त्यत्व जा रहा है किन्तु न्यायमत में ज्ञान के प्रागभाव को मिथ्या नहीं माना जाता है। इसलिए कहा गया कि जिस ज्ञान से किसी पदार्थ की निवृत्ति होगी उसमें अधिष्ठान प्रमात्व रहना चाहिए। तभी उस पदार्थ को मिथ्या माना जायेगा। जबकि ज्ञान के प्रागभाव का निवर्तकीभूत ज्ञान,ज्ञान के प्रागभाव के अधिष्ठान की प्रमारूप नहीं है। अतः कोई दोष नहीं है। यदि पूर्वपक्षी उक्त नियम को नहीं मानते हैं तब तो शुक्तिज्ञानत्वेन शुक्तिज्ञान शुक्तिरजतत्वेन शुक्तिरजत का निवर्तक है। इसी प्रकार रज्जुज्ञानत्वेन रज्जुज्ञान रज्जु सर्पत्वेन रज्जुसर्प का निवर्तक है। इस प्रकार अनन्त धर्मगर्भित निवर्त्य—निवर्तकभाव कल्पना प्रयुक्त गौरवरूप बाधक तर्क उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार यत् पुरुषनिष्ठ यद् विषयाकार प्रमारूपान्तःकरण की वृत्ति उत्पन्न होती है वह वृत्ति, तत्पुरुषनिष्ठ तद् विषयाकार अज्ञान को नष्ट करती है—यह सर्व तन्त्र सिद्ध है। इस प्रकार अब तक यह दिखाया गया कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति कैसे होती है। आगे यह दिखलाने जा रहे हैं कि ज्ञान के द्वारा अज्ञान के विषय की निवृत्ति कैसे होती है। इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि उपादान (कारण) का नाश उपादेय (कार्य) का निवर्तक होता है—ऐसा नियम सर्वतन्त्र सिद्ध है। इसलिए शुक्त्यादि के ज्ञान से शुक्त्याद्याकार अज्ञान का नाश होने पर उन अज्ञानों के उपादेयभूत रजतादि की निवृत्ति औचित्य से विशिष्ट ही है। इस प्रकार सिद्धान्तमत में सर्वतन्त्र सिद्ध जो नियम है उसको स्वीकार किये जाने से और सर्वतन्त्र सिद्ध जो नियम नहीं है उसकी कल्पना न किये जाने से लाघवरूप अनुकूल तर्क हमारे पक्ष(सिद्धान्त पक्ष) में है। शुक्तिरूप्यादि का अन्वयव्यतिरेक सिद्ध अज्ञानोपादेयत्व का निरूपण आगे किया जायेगा। इस प्रकार "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सम्पूर्ण प्रपञ्च में जो आत्मप्रमा के द्वारा निवर्त्यता कही गयी है, वहाँ निवर्त्यता का अवच्छेदक आत्मविषयक अज्ञान कल्पितत्त्व ही निश्चित होता है न कि अननुगत आकाशत्व, वायुत्व ,तेजस्त्वादि। यद्यपि ब्रह्मभिन्नत्व और सद्भिन्नत्व ये दोनों धर्म सभी निवर्त्यों (सम्पूर्ण प्रपञ्च) में अनुगत रूप से रहता है तथापि उक्त दोनों धर्मों को आत्मप्रमानिर्वत्यता का अवच्छेदक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उक्त दोनों धर्म यद्यपि सभी निवर्त्यों में रहने के कारण अन्यूनधर्म तो है तथापि जो आत्मप्रमा के द्वारा निवर्त्य नहीं है ऐसा जो खपुष्पादि असत् पदार्थ उसमें भी उक्त दोनों धर्म हैं। अतः उक्त दोनों धर्म अतिप्रसक्त धर्म हो गये। जबकि अवच्छेदक धर्म वही होता है जो अन्यूनानतिप्रसक्त हो। यदि खपुष्पादि तुच्छ पदार्थों की व्यावृत्ति के लिए विशेषण(तुच्छावृत्तित्वे सति) दिया जाता है। अर्थात् आत्मप्रमा निवर्त्यता का अवच्छेदक तुच्छावृत्तित्वे सति ब्रह्मभिन्नत्वादि को माना जाता है। तब उक्त अवच्छेदक का अर्थ होगा—सदसद् विलक्षणत्व। जो कि मिथ्यात्व का लक्षण है। इस प्रकार से मिथ्यात्व में ही निवर्त्यता की प्रयोजकता पर्यवसित होती है। एक

निवर्तकत्वं, तेन रूपेणात्मज्ञानस्य निवर्तकत्वम्। रूप्यादौ येन रूपेण निवर्त्यत्वम्, प्रपञ्चे तद्रूपं विनानुपपद्यमानं स्वोपपादकतया तत्र तत् कल्पयतीति सिद्धं मिथ्यात्वम्॥ १॥

ननु—भवेदेतदेवम्, यद्यात्मज्ञानस्य प्रपञ्चे निवर्त्ये शुक्त्यादिज्ञानसाधारणमधिष्ठान प्रमात्वमेवावच्छेदकमित्यत्र किञ्चिन्मानं भवेद्, रूपान्तरेणापि निवर्तकत्वसम्भवात्। श्रुतिस्तु द्वैतप्रपञ्चस्याद्वितीयात्मज्ञानं निवर्तकमित्येतावन्मात्रे प्रमाणम्, न त्ववच्छेदकविशेषेऽपि। न च ज्ञाननिवर्त्यतामात्रान्मिथ्यात्वसिद्धिः। सेतुदर्शनादिनिवर्त्यदुरितादिषु व्यभिचारात्। तत्र विहितक्रियात्वादिना निवर्तकत्वान्न व्यभिचार इति चेत्, प्रकृतेऽपि रूपान्तरं नावच्छेदकमिति

सत्यानन्दप्रबोधिका

ही मिथ्यात्व को निवर्त्यता का प्रयोजक न स्वीकार कर निवर्त्यता के अनन्त प्रयोजकों को स्वीकार करने पर गौरवापत्ति होगी—इसे पिछे दिखाया जा चुका है। इस प्रकार शुक्त्यादि ज्ञानों में जिस रूप से (अधिष्ठान प्रमात्व रूप से) शुक्तिरजतादि की निवर्तकता होती है, आत्मज्ञान में भी उसी रूप से (अधिष्ठान प्रमात्वरूप से) ही प्रपञ्च की निवर्तकता रहती है। इसी प्रकार शुक्तिरजतादि पदार्थों में जिस (मिथ्यात्व) रूप से अधिष्ठान प्रमा निवर्त्यत्व है। प्रपञ्च में उस (मिथ्यात्व) रूप के बिना आत्मप्रमा निवर्त्यत्व अनुपपन्न होकर आत्मप्रमा निवर्त्यत्व का जो उपपादक (मिथ्यात्व) है, उसकी कल्पना प्रपञ्च में हो जाती है। अर्थात् प्रपञ्च का आत्मप्रमा निवर्त्यत्व प्रपञ्च के मिथ्यात्व के बिना अनुपपन्न होकर वह आत्मप्रमा निवर्त्यत्व अपने उपपादक के रूप से प्रपञ्च गत मिथ्यात्व की कल्पना कर देता है। इस प्रकार से प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ॥ १॥

सिद्धान्ती ने पिछे कहा था कि यह नियम है—जहाँ ज्ञानगत अधिष्ठानप्रमात्वेन निवर्तकता है वहाँ मिथ्यात्वेन निवर्त्यता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि सिद्धान्ती के उक्त नियम को हम भी मानते है। अर्थात् जहाँ उक्त नियम घटित होगा वहाँ निवर्त्य पदार्थ मिथ्या होगा, किन्तु उक्त नियम प्रकृत में घटित हो रहा है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए मूल में पूर्वपक्षी के द्वारा कहा जा रहा है कि सिद्धान्ती के उक्त नियम को तभी माना जा सकता है यदि शुक्त्यादि ज्ञान में रहने वाला निवर्तकता का अवच्छेदक जो अधिष्ठान प्रमात्व है, वह प्रपञ्च रूप निवर्त्य का निवर्तक जो आत्मज्ञान है उसमें रहता है,इसमें कोई प्रमाण हो, क्योंकि आगे पूर्वपक्षी के द्वारा अनेक उदाहरण दिये जा रहे हैं, जहाँ ज्ञान किसी न किसी का निवर्तक है किन्तु वह ज्ञान अधिष्ठान प्रमात्वेन निवर्तक नहीं है अपितु प्रतियोगित्व, उत्तरविरोधिगुणत्व, विषयदोषदर्शनत्वादि रूप से ज्ञान निवर्तक है। "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुतियाँ "द्वैतप्रपञ्च का अद्वितीय आत्मज्ञान निवर्तक है।" इतने मात्र में ही प्रमाण है। उक्त श्रुतियों के द्वारा अधिष्ठानप्रमात्व में आत्मज्ञाननिष्ठ निवर्तकतावच्छेदकता है,इस की सिद्धि नहीं की जा सकती है, क्योंकि अधिष्ठानप्रमात्व अथवा अन्य कोई भी अवच्छेदक विशेष का उल्लेख उक्त श्रुतियों के द्वारा नहीं किया गया है। द्वैतप्रपञ्चगतज्ञान निवर्त्यत्व मात्र के आधार पर द्वैत प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अर्थात् "यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वम्" ऐसी व्याप्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि सेतु दर्शनादि से निवर्त्य दुरितादि में व्यभिचार है। मुलस्थ 'सेतुदर्शनादि' में आदि शब्द से इस स्मृतिवाक्य में दर्शित स्थलों को ग्रहण लेना चाहिए—

अग्निचित् कपिला सत्री राजा जिष्णुर्महोदधिः।
दृष्टमात्राः पुनन्त्येते तस्मात् पश्येद्धि नित्यशः॥

सेतु दर्शन से दुरित क्षय होता है, इसमें यह स्मृति वाक्य प्रमाण है—"सेतुं दृष्ट्वा समुद्रस्य ब्रह्महत्यां व्यपोहति।" इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि सेतुदर्शनादि अधिष्ठानप्रमात्वेन

कुतो निरणायि? ज्ञानस्य हि स्वप्रागभावं प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता, पूर्वज्ञानादिकं प्रति तु उत्तरविरोधिगुणत्वेन, संस्कारं प्रति फलत्वेन, रागादिकं प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन, विषं प्रति गरुडध्यानत्वेन, सेत्वादिदर्शनस्य दुरितं प्रति विहितक्रियात्वेन, एवञ्च मिथ्यात्वं विनापि ज्ञाननिवर्त्यत्वदर्शनात् न तन्मिथ्यात्वस्य साधकम्।। २।।

उदाहृतेष्वपि सत्यत्वासंप्रतिपत्त्या मिथ्यात्वमेवास्तीति चेत्, अस्तु वा मास्तु, ज्ञाननिवर्त्यत्वमात्रं तु न तस्य साधकमिति ब्रूमः, हेत्वन्तरेण सिद्धौ चैतदुपन्यासो व्यर्थः। शुक्तिरूप्यादौ कथमिति चेच्छृणु, अधिष्ठानज्ञानत्वेन तत्र ज्ञानस्य निवर्तकत्वात्। अधिष्ठानज्ञानत्वं हि

सत्यानन्दप्रबोधिका

दुरितादि का निवर्तक होता तब तो उसके द्वारा दुरितादिगत मिथ्यात्व सिद्ध न होने के कारण उक्त व्याप्ति में व्यभिचार आता किन्तु सेतु दर्शनादि विहित क्रियात्वेन दुरितादि के निवर्तक है। अत: उक्त व्याप्ति में व्यभिचार दोष नहीं दिया जा सकता है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि प्रकृत में द्वैतप्रपञ्च का निवर्तक जो आत्मज्ञान है उसमें निवर्तकता का अवच्छेदक अधिष्ठानप्रमात्व से भिन्न अन्य कोई धर्म नहीं है—यह सिद्धान्ती ने किस प्रमाण के आधार पर निर्णय कर लिया? ज्ञानगत निवर्तकता के अवच्छेदक अधिष्ठानप्रमात्व से भिन्न धर्म भी होते हैं और जो निवर्त्य होता है वह मिथ्या भी नहीं होता है, इसे पूर्वपक्षी दिखला रहा है। जैसे ज्ञानगत स्वकीय प्रागभाव के प्रति प्रतियोगित्वेन निवर्तकता है और पूर्वोत्पन्न ज्ञानादि के प्रति उत्तरविरोधिगुणत्वेन ज्ञानगत निवर्तकता है। संस्कार से स्मृति होती है और स्मृति होने से संस्कार की निवृत्ति होती है ऐसी नैयायिक की मान्यता है। यहाँ निवर्तक है स्मृतिज्ञान और निवर्त्य है संस्कार। इस प्रकार यहाँ पर स्मृतिज्ञान फलत्वेन (कार्यत्वेन) संस्कार का निवर्तक है। रागादि के प्रति विषयदोषदर्शनत्वेन ज्ञानगत निवर्तकता है और विष के प्रति गरुड़ध्यानत्वेन ज्ञानगत निवर्तकता है। दुरितादि के प्रति विहितक्रियात्वेन सेत्वादि दर्शनगत निवर्तकता है। इस प्रकार पूर्वोक्त स्थलों पर देखा गया कि ज्ञानगत जो निवर्तकता है, वह अधिष्ठान प्रमात्वेन नहीं है अपितु भिन्न रूपेण है और जो निवर्त्य पदार्थ हैं, वे मिथ्या भी नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञाननिवर्त्यत्व मिथ्यात्व के बिना भी सिद्ध हो जाने से मिथ्यात्व के बिना ज्ञान निवर्त्यत्व अनुपपन्न है—ऐसी अनुपपत्ति नहीं दिखायी जा सकती है और जो ज्ञान से निवर्त्य होता है वह मिथ्या होता है—ऐसी व्याप्ति भी नहीं मानी जा सकती है।। २।।

यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि दुरित,ज्ञान का प्रागभाव, पूर्वज्ञान ,संस्कार, राग, विष इत्यादि में सत्यत्व है, यह हम नहीं मानते हैं अपितु उसमें मिथ्यात्व ही है। इसलिए ज्ञाननिवर्त्यत्व को मिथ्यात्व का साधक मानने में व्यभिचार दोष नहीं है। इस पर पूर्वपक्षी कह रहा है कि उदाहृत स्थलों पर ज्ञान से निवर्त्य दुरितादि में मिथ्यात्व उभयमत सम्मत न होने के कारण दुरित में मिथ्यात्व हो अथवा न हो किन्तु ज्ञान निवर्त्यत्व मात्र निवर्तनीयपदार्थगत मिथ्यात्व का साधक नहीं है—यह हम कह रहे हैं। यदि सिद्धान्ती उदाहृत निवर्तनीय पदार्थगत मिथ्यात्व की सिद्धि अन्य (दृश्यत्वादि) हेतुओं से करते हैं तब पूर्वपक्षी दोष देते हुए कह रहा है कि सिद्धान्ती के द्वारा पहले उदाहृत दुरितादि स्थलों पर दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा मिथ्यात्व सिद्ध कर व्यभिचार हटाया जाए और तब ज्ञान के द्वारा निवर्त्य होने के कारण प्रपञ्च मिथ्या है, इस प्रकार से उपन्यास किया जाय तो यह प्रयास व्यर्थ है क्योंकि जब दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा ही उदाहृत दुरितादि स्थलों पर मिथ्यात्व सिद्ध कर दिया गया तब उसी दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा ही प्रपञ्चगत मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जायेगा। मिथ्यात्व साधक के रूप से ज्ञाननिवर्त्यत्व का उपन्यास करना व्यर्थ है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि मिथ्या पदार्थ के निवर्तकज्ञान को यदि अधिष्ठान प्रमात्वेन निवर्तक नहीं

अज्ञाननाशकज्ञानत्वं वा, अज्ञानसमानविषयकप्रमात्वं वेति? तेन रूपेण निवर्तकत्वे तन्निवर्त्यस्य तज्ज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्वं सिद्ध्यतीति युक्तं शुक्त्यादिज्ञानस—मानविषयकाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादेर्मिथ्यात्वम्। सेत्वादिदर्शनादि निवर्त्यदुरितादेस्तु न निवर्तकज्ञानसमानविषयकाज्ञानोपादानकत्वमिति न मिथ्यात्वम्। एवं चात्मज्ञानस्यापि विहितक्रियात्वेन निवर्तकत्वसम्भवादधिष्ठानज्ञानत्वेन च निवर्तकत्वे मानाभावान्नात्माज्ञानोपादानकत्वरूपमिथ्यात्व—सिद्धिः प्रपञ्चस्येति—प्राप्तम्।। ३।।

अत्रोच्यते—आत्मज्ञानस्याप्यधिष्ठानज्ञानत्वेनैव प्रपञ्चं प्रति निवर्तकत्वम्, प्रकारान्तरासम्भवात्। तथाहि प्रतियोगित्वं तावन्नावच्छेदकम्,प्रपञ्चस्य भावरूपत्वात्, ज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

मानोंगे, तब शुक्तिरूप्यादि कि निवर्तक शुक्ति के ज्ञान को किस रूप से निवर्तक मानोंगे। इसके समाधान में पूर्वपक्षी कह रहा है कि अधिष्ठान ज्ञानत्वेन शुक्त्यादि ज्ञान में निवर्तकता है। अतः निवर्तनीय शुक्तिरजतादि में मिथ्यात्व है, परन्तु जिस आत्मज्ञान से प्रपञ्च की निवृत्ति होती है। उस आत्मज्ञान में अधिष्ठान ज्ञानत्व नहीं है। इसलिए आत्मज्ञान के द्वारा निवर्त्य प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी सिद्ध नहीं होता है। अधिष्ठानज्ञानत्व का अर्थ है। भ्रमोपादानाज्ञाननाशकज्ञानत्व अथवा भ्रमोपादानाज्ञानसमानविषयकप्रमात्व। जैसे "इदं रजतम्' इस स्थल पर भ्रम का उपादान शुक्ति का अज्ञान, उसका नाशकज्ञान—शुक्ति का ज्ञान। अतः शुक्तिज्ञान में भ्रमोपादानाज्ञाननाशकज्ञानत्वरूप अधिष्ठानज्ञानत्व है। इसी प्रकार "इदं रजतम्" इस स्थल पर भ्रम का उपादान शुक्ति का अज्ञान,उसका विषय शुक्ति है और उसके ही समान विषयक प्रमाज्ञान है शुक्ति का ज्ञान। अतः शुक्तिज्ञान में भ्रमोपादानाज्ञानसमानविषयकप्रमात्व रूप अधिष्ठानज्ञानत्व है। इस प्रकार से भ्रमोपादानाज्ञाननाशकज्ञानत्वरूप से अथवा भ्रमोपादानाज्ञानसमानविषयकप्रमात्वरूप से ज्ञानगत निवर्तकत्व के होने से उक्तज्ञान निवर्त्यगत तज्ज्ञानसमानविषयक जो अज्ञान तादृशाज्ञानोपादानकत्व रूप मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। इसलिए यह उचित ही है कि शुक्त्यादि विषयक जो ज्ञान तादृशज्ञान समान विषयक जो अज्ञान तादृशाज्ञानोपादानकत्वेन रजतादिगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है। पूर्वोक्त उदाहृत स्थल पर सेत्वादि विषयक जो दर्शनादि तादृश दर्शनादि से निवर्त्य जो दुरितादि, तादृशदुरितादि का निवर्तक जो ज्ञान, तादृशज्ञान समान विषयक जो अज्ञान तादृ शाज्ञानोपादानकत्व तादृश दुरितादि में नहीं है। इसलिए दुरितादि में मिथ्यात्व भी नहीं है। इसी प्रकार आत्मज्ञान में भी विहितक्रियात्वेन निवर्तकत्व सम्भव हो जायेगा। अधिष्ठानज्ञानत्वेन आत्मज्ञान में निवर्तकता मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। इसलिए आत्माज्ञानोपादानकत्वरूप मिथ्यात्व की सिद्धि प्रपञ्च में नहीं की जा सकती है।। ३।।

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे अधिष्ठान ज्ञानत्वेन शुक्तिज्ञान शुक्तिरजत का निवर्तक होता है। वैसे ही अधिष्ठानज्ञानत्वेन आत्मज्ञान भी प्रपञ्च का निवर्तक होता है न कि प्रकारान्तर से आत्मज्ञान प्रपञ्च का निर्वतक होता है। प्रकारान्तर से आत्मज्ञान प्रपञ्च का निवर्तक क्यों नहीं होता है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि प्रतियोगित्वेन आत्मज्ञान प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मज्ञान प्रपञ्च का प्रतियोगी नहीं है, क्योंकि प्रपञ्च अभाव रूप नहीं है अपितु भाव रूप है। दूसरी बात यह है कि ज्ञान प्रतियोगी के रूप से अपने प्रागभाव का निवर्तक होता है ऐसा जो पूर्वपक्षी का कथन है वह भी असिद्ध है क्योंकि ज्ञान प्रागभाव की निवृत्ति स्वरूप ही है न कि प्रागभाव का निवर्तक। निवर्तक का अर्थ होता है निवृत्ति जनक। अतः ज्ञान जब अपने प्रागभाव की निवृत्ति स्वरूप सिद्ध

प्रागभावनिवृत्तिरूपत्वेन प्रतियोगित्वेन प्रागभावनिवर्तकत्वासिद्धेश्च। नाप्युत्तरगुणत्वम्, आकाशादेरात्मविशेषगुणत्वाभावात्, इच्छादेरपि प्रपञ्चनिवर्तकत्वापाताच्च। नापि फलत्वम्, संस्कारस्य स्मरणजनकत्ववदाकाशादेरात्मज्ञानजनकत्वाभावात्। संस्कारस्य स्मृत्यनाश्यत्वेनोदाहरणासिद्धेश्च। विषयदोषदर्शनस्य तु रागादिनिवर्तकत्वं (रागादिकारणीभूत)बलवदनिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्व—भ्रमरूपतत्कारणनिवर्तकत्वेनेति न प्रकृतोदाहरणादतिरिच्यते, शुक्तिरूप्यतुल्यत्वात्। गरुडध्यानं तु न प्रत्युदाहरणम्, ध्यानस्य रागादेरिव ज्ञानत्वानभ्युपगमात्। ज्ञानस्येच्छानधीनत्वेन

सत्यानन्दप्रबोधिका

हो गया तब वह निवृत्ति का जनक हो ही नहीं सकता। इसलिए ज्ञान जब प्रागभाव का निवर्तक ही नहीं है तब प्रतियोगी के रूप से निवर्तक होना सर्वथा ही असिद्ध है। इसी प्रकार उत्तरकालीन गुणत्व भी आत्मज्ञाननिष्ठ निवर्तकता का अवच्छेदक नहीं हो सकता है, क्योंकि आकाशादि को आत्मा का विशेष गुण नहीं माना जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान से निवर्त्य जो आकाशादि हैं वे यदि आत्मा के गुण होते तो आत्मगत ज्ञानरूप गुण के द्वारा पूर्ववृत्ति आकाशादि रूप गुण की निवृत्ति मानी जाती,और तब आत्मज्ञानगत उत्तर विशेष गुणत्वेन निवर्तकता कहीं जा सकती थी, किन्तु ऐसा नहीं है। अत: आत्मज्ञानगत निवर्तकता का अवच्छेदक उत्तरकालीनगुणत्व नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि यदि प्रपञ्च को आत्मा का संकल्प मानकर गुणस्वरूप मान लिया जाय और तब आत्मज्ञान में उत्तरगुणत्व के सिद्ध हो जाने से यह कहा जाय कि आत्मज्ञान उत्तर विशेष गुणत्वेन प्रपञ्च रूपगुण का निवर्तक है तब तो आत्मज्ञान से भिन्न प्रपञ्च को इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादि गुणों से भी प्रपञ्च रूप गुण की निवृत्ति उत्तर विशेष गुणत्वेन माननी पड़ेगी। जबकि प्रपञ्च की इच्छादि से प्रपञ्च की निवृत्ति होती नहीं है। फलत्वेन (कार्यत्वेन) आत्मज्ञानगत निवर्तकता भी नहीं मानी जा सकती है क्योंकि स्मृति को जैसे पूर्वपक्षी के मत में संस्कार का कार्य माना जाता है वैसे ही सिद्धान्ती के मत में आत्मज्ञान को आकाशादि प्रपञ्च का कार्य नहीं माना जाता है। अत: आत्मज्ञान कार्य (फल) के रूप से प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि स्मृति से संस्कार का नाश होता है यह भी हम नहीं मानते हैं क्योंकि स्मृति से संस्कार सुदृढ़ होता है न कि संस्कार का नाश होता है। अत: फलत्वेन निवर्तकता के उदाहरण के रूप से उसको प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। विषयदोषदर्शनगत जो रागादि की निवर्तकता मानी जाती है वह तो रागादि के कारणीभूत बलवद् अनिष्ट का अजनकत्व से विशिष्ट जो इष्टसाधनत्व का भ्रम उस भ्रम की निवर्तकता के कारण मानी जाती है। अत: प्रकृत शुक्तिरजतादि उदाहरणों से उसे भिन्न नहीं माना जा सकता है। अर्थात् सुरापानादि में किसी व्यक्ति को जो राग देखा जाता है। उसका कारण यह है कि वस्तुत: सुरापानादि अनिष्ट का साधन है किन्तु उस व्यक्ति को उस सुरापानादि में अनिष्ट साधनता का यथार्थज्ञान न होकर उसमें इष्ट साधनता का भ्रम हो जाता है। उस इष्ट साधना भ्रम के कारण सुरापानादि में उस व्यक्ति को राग हो जाता है। जब सुरापानादि में अनिष्ट साधनता का प्रमा ज्ञान होता है तब इष्ट साधनता का भ्रम निवृत्त हो जाता है और इष्ट साधनता रूप भ्रम का कार्य रागादि भी निवृत्त हो जाते हैं। जैसे अधिष्ठानप्रमात्वेन शुक्ति के ज्ञान से रजतभ्रम का कारणीभूत शुक्ति का अज्ञान निवृत्त हो जाता है और शुक्ति के अज्ञान के निवृत्त होने पर उसका कार्य शुक्तिरजत भी निवृत्त हो जाता है। अत: शुक्तिरजत के उदाहरण से उक्त उदाहरण को भिन्न नहीं माना जा सकता है। अधिष्ठान प्रमात्वेन आत्मज्ञान प्रपञ्च का निवर्तक है। इसके प्रत्युदाहरण में पूर्वपक्षी ने कहा था कि विष के प्रति गरुड़ ध्यानत्वेन गरुड़ध्यान निवर्तक है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि गरुड़ध्यान को प्रत्युदाहरण नहीं बनाया जा सकता है। क्योंकि जैसे राग को ज्ञान नहीं माना जाता

तदधीनध्यान(ज्ञान)पेक्षया वैलक्षण्यात्। स्पष्टं चैतदाकरे। ज्ञानत्वेऽपि तस्य सेतुदर्शनपक्षान्नातिरेकः। शास्त्रविहितत्वाविशेषात्। केवलं सेत्वादिदर्शनवद्विहितक्रियात्वमवशिष्यते। तच्च न सम्भवति, ज्ञानस्य कर्तुमकर्तु(मन्यथाकर्तु)मशक्यत्वेन विधेयत्वायोगात्। विस्तरेण च ज्ञाने विधिराकरेषु निराकृतः। निराकरिष्यते चेहापि।। ४।।

सेतुदर्शने कथमिति चेत्? विशिष्टाकारेण विधेयत्वोपपत्तिः। न हि सेतुदर्शनमात्रस्य दुरितनाशकत्वम्, तत्रत्यम्लेच्छानामपि दुरितनाशप्रसङ्गात्, किन्तु परराष्ट्रादुपस्थानादिपूर्वकव्रत–

सत्यानन्दप्रबोधिका

है वैसे ही ध्यान को भी ज्ञान नहीं माना जाता है, क्योंकि जैसे ज्ञान इच्छा के अधीन नहीं होता है वैसे ही ध्यान इच्छा के अधीन नहीं होता है ऐसी बात नहीं है अपितु ध्यान इच्छा के अधीन होता है। अतः ज्ञान और ध्यान में अन्तर होने के कारण गरुड़ ध्यान को प्रत्युदाहारण नहीं बनाया जा सकता है। शारीरकभाष्य में ज्ञान को ध्यानरूपता का सन्देह उठाकर खण्डन किया गया है– ''ननु ज्ञानं नाम मानसी क्रिया, न, वैलक्षण्यात्। क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च। यथा ''यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां मनसा ध्यायेद् वषट् करिष्यन्'' इति ''सन्ध्यां मनसा ध्यायेत्'' (ऐ०ब्रा० ३.८.१) इति चैवमादिषु। ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यम्, प्रमाणं च यथाभूतवस्तुविषयम्। अतो ज्ञानं कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमशक्यम्, केवलं वस्तुतन्त्रमेव तत्–(ब्र०सू० १.१.४)। 'तुष्यतु दुर्जनः'' इस न्याय का अनुसरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि अन्तःकरण की ज्ञानाख्य वृत्ति का सजातीय प्रवाह ही ध्यान है, इस आशय से यदि ध्यान को ज्ञान मान लिया जाय तब भी जैसे सेतु दर्शन शास्त्र विहितत्वेन दुरित का निवर्तक होता है वैसे ही शास्त्रविहितत्वेन ही गरुड़ध्यान विष का निवर्तक हो पायेगा। अतः सेतुदर्शन रूप प्रत्युदाहरण का खण्डन करने से गरुड़ध्यान रूप प्रत्युदाहरण का भी खण्डन हो जायेगा। केवल सेत्वादिदर्शनवत् विहित क्रियात्व पक्ष ही अवशिष्ट रहा है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने जितने प्रत्युदाहरण दिये थे उनमें से केवल एक ही प्रत्युदाहरण की चर्चा शेष है। वह इस प्रकार है कि जैसे सेत्वादिदर्शन विहित क्रिया के रूप से दुरित का निवर्तक है वेसे ही आत्मज्ञान विहित क्रिया के रूप से प्रपञ्च का निवर्तक है अथवा नहीं। इस पर आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि आत्मज्ञान विहित क्रियात्व के रूप से प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञानवस्तु तन्त्र है। पुरुष तन्त्र न होने के कारण ज्ञान का विधान नहीं हो सकता है। ज्ञानगत विधेयत्व का निराकरण ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य (१.१.४) तथा अद्वैत वेदान्त के प्रायः सभी ग्रन्थों में किया गया है। इस ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में भी इस पर विशेष चर्चा की जायेगी। अतः ज्ञान में विहितक्रियात्व नहीं माना जा सकता है। इस प्रकार से सिद्ध हो गया कि आत्मज्ञान जो प्रपञ्च का निवर्तक है वह अधिष्ठानप्रमात्व से भिन्न अन्य किसी भी प्रकार से प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो सकता है। अतः पूर्वपक्षी को भी गलेपादुका न्यायेन बाध्य होकर यह मानना ही पड़ेगा कि आत्मज्ञान अधिष्ठान प्रमात्वेन प्रपञ्च का निवर्तक है। ऐसा मानने पर मिथ्यात्व साधक ज्ञान निवर्त्यत्व की अन्यथानुपपत्ति के बल पर प्रपञ्चगत मिथ्यात्व सिद्ध हो जायेगा।। ४।।

यहाँ पर प्रश्न होता है कि यदि आत्मज्ञान में विधेयत्व नहीं होता है तब सेतुदर्शनरूप ज्ञान में विधेयत्व कैसे? अर्थात् विहित क्रियात्वेन सेतुदर्शनरूप ज्ञान दुरित का निवर्तक कैसे होता है? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि व्रत क्रियाकलाप से विशिष्ट होकर के सेतु ज्ञान में विधेयत्व माना जाता है। अर्थात् यद्यपि सेतुज्ञान विधेय नहीं है तथापि सेतुज्ञान का विशेषण व्रत–क्रियाकलाप विधेय होने के कारण, उससे विशिष्ट सेतु ज्ञान को भी विधेय माना जाता है।

कलापविशिष्टस्य, तथा च छत्रपादुकादिवर्जनदोषोद्घोषणदूरदेशगामित्वभिक्षाभोजित्वादिनियमानां कृतिसाध्यत्वात् तद्विशिष्टं सेतुदर्शनमपि कृतिसाध्यमिति विशिष्टरूपेण विधानोपपत्तिः। आत्मज्ञाने तु नास्ति किञ्चिद्विशेषणमपि कृतिसाध्यम्, येन तद्विशिष्टत्वेनापि विधेयत्वं स्यात्। कर्मसमुच्चयस्य निराकरिष्यमाणत्वात्। बन्धस्याज्ञानमात्रहेतुकत्वेन ज्ञानातिरिक्तनिवर्तकानपेक्षणाच्च। बन्धस्याज्ञानहेतुकत्वं च 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धम्। वक्ष्यते चाग्रे।। ५।।

अज्ञाननिवर्तकज्ञानस्य चोत्पत्तिमन्तरेणान्यापेक्षा नास्तीति शुक्त्यादिज्ञाने दृष्टम्। तथा

सत्यानन्दप्रबोधिका

केवल सेतु दर्शन को विधेय न मानकर व्रतादि से विशिष्ट सेतु दर्शन को विधेय क्यों माना जाता है? इसके समाधान में कह रहे हैं कि केवल सेतु दर्शन को दुरित का नाशक नहीं माना जा सकता है अन्यथा सेतुबन्ध रामेश्वर में निवास करने वाले म्लेच्छादि के भी पाप नष्ट हो जायेंगे, क्योंकि वे तो सेतुदर्शन करते ही रहते हैं। अतः धर्मशास्त्र में कथित विशेष पद्धति के अनुसार दूरस्थ पर राष्ट्र से जो व्यक्ति पैदल चलकर व्रत कलापादि का पालन करता हुआ सेतु दर्शन करता है। उसी व्यक्ति के ही पाप निवृत्त होते हैं अन्य व्यक्ति के नहीं। व्रतकलापादि क्या है? इसको स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि छत्र पादुकादि का त्यागकर और अपने किये हुए पापों का उद्घोष करते हुए दूर देश से चलकर भिक्षा के द्वारा प्राप्त भोजन को ग्रहण करते हुए सेतुदर्शन करना चाहिए। सेतु दर्शन के प्रकार के विषय में मिताक्षरा के प्रायश्चित्ताध्याय में कहा गया है—

चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवत् ब्रह्मघातके। समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।।
सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वण्यात् समाहरेत्। वर्जयित्वा विकर्मस्थान् छत्रोपानद्विवर्जितः।।
अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः। गृहद्वारेषु तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः।।
गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च। तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च।।
एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम्। ब्रह्महाऽपि प्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन् महोदधौ।।
ततो पुतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम्। दत्त्वा वस्त्रं पवित्राणि पूतात्मा प्रविशेद् गृहम्।।
गवा वापि शतं दद्यात् चातुर्विद्याय दक्षिणम्। एवं शुद्धिमवाप्नोति चातुर्विद्यानुमोदितः।।

इस प्रकार से उक्त व्रतकलापादि नियमों में कृतिसाध्यत्व होने से उक्त नियमविशिष्ट सेतु दर्शन में भी कृतिसाध्यत्व है। अतः व्रतकलापादि नियम से विशिष्ट सेतुदर्शन भी विधेय माना जाता है। प्रकृत में आत्मज्ञान का कोई ऐसा विशेषण नहीं है जिसमें कृति साध्यत्व हो और उससे विशिष्ट होकर आत्मज्ञान में विधेयत्व माना जा सके। यदि पूर्वपक्षी कहे कि कर्म से विशिष्ट होकर ही आत्मज्ञान प्रपञ्च का निवर्तक होता है। कर्म पुरुष तन्त्र होने के कारण उससे विशिष्ट आत्मज्ञान भी पुरुष तन्त्र (विधेय) हो जायेगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि ज्ञान के साथ कर्म के समुच्चय का निराकरण भाष्यादि आकर ग्रन्थों में अच्छी प्रकार से किया गया है और इस ग्रन्थ के साधन परिच्छेद में भी किया जायेगा। अतः प्रपञ्चनिवर्तक आत्मज्ञान को कर्म से विशिष्ट मानकर उसमें विधेयत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है। दूसरी बात है कि प्रपञ्च रूपी बन्ध अज्ञान हेतुक होने से अपनी निवृत्ति में ज्ञान से अतिरिक्त कर्मादि की अपेक्षा नहीं करता है क्योंकि ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है। अतः कर्मादि से विशिष्ट आत्मज्ञान को प्रपञ्च का निवर्तक मानना असङ्गत है। प्रपञ्चरूपी बन्ध का मूल कारण अज्ञान मात्र ही है इसमें ''मायां तु प्रकृतिं विद्यात्'' (श्वेता० २/१०) तथा ''अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'' (गी० ५/१५) इत्यादि श्रुति स्मृति वाक्य प्रमाण है। इस ग्रन्थ में भी बन्धगत अज्ञान हेतुकता का वर्णन आगे किया जायेगा।। ५।।

चोक्तं वार्तिककृद्भिः—

'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।' इति
'प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्।
सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद्ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते।।' इति च।

अत एव 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति। यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केनकं दपश्येत्'इत्यादिश्रुतिः। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।' इत्यादिस्मृतिश्चाविद्यावस्थायां संसारोपलम्भं विद्यावस्थायां च तदनुपलम्भं दर्शयति। तस्मादधिष्ठानप्रमात्वेनात्मज्ञाननिवर्त्यत्वाच्छुक्तिरूप्यादिष्विव बन्धेऽपि मिथ्यात्वं सिद्धम्।। ६।।

यत्त्वीश्वरज्ञानेन सत्यं घटादि निवर्तत इति प्रत्युदाहरणम्। तन्न, ईश्वरज्ञानस्य तार्किकमतेऽपि उपादानगोचरापरोक्षज्ञानत्वेनैव कारणत्वात्, अभावस्य च निरुपादानत्वात्, अभावं प्रति कारणत्वे

सत्यानन्दप्रबोधिका

धर्मज्ञान यद्यपि स्वर्गादि का जनक है किन्तु धर्मज्ञान की उत्पत्ति मात्र से स्वर्गादि की सिद्धि नहीं होती है अपितु धर्मज्ञान स्वर्गादि को सिद्ध करने के लिए धर्मानुष्ठान की अपेक्षा रखता है किन्तु ज्ञान अज्ञान को निवृत्त करने के लिए अपनी उत्पत्ति मात्र की अपेक्षा रखता है। उत्पत्ति से भिन्न किसी भी अनुष्ठानादि की अपेक्षा नहीं रखता है। यह शुक्ति के ज्ञान से शुक्ति के अज्ञान की निवृत्ति स्थल पर देखा गया है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य ने भी कहा है—

''तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः।
अविद्या सह कार्येण नासीदस्ति भविष्यति।।''

अर्थात् तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों से जन्य प्रमारूप अखण्डाकार चित्तवृत्ति विशेष के उत्पत्ति मात्र के द्वारा अतीत—वर्तमान और भाविकार्य के सहित अविद्या का "नासीत्, नास्ति, न भविष्यति" इस प्रकार से त्रैकालिक अत्यन्ताभाव हो जाता है।

प्रत्यग्याथात्म्यधीरेव प्रत्यगज्ञानहानिकृत्।
सा चात्मोत्पत्तितो नान्यद् ध्वान्तध्वस्तावपेक्षते।।

अर्थात् प्रत्यगात्मा विषयक यथार्थज्ञान ही प्रत्यगात्मा के अज्ञान की निवृत्ति करने वाला होता है। उक्त ज्ञान अन्धकार रूप अज्ञान की निवृत्ति में अपनी उत्पत्ति से अन्य किसी को भी अपेक्षा नहीं करता है।

इस प्रकार ज्ञानोत्पत्ति मात्र से ही संसार रूप बन्ध का उच्छेद हो जाने के कारण 'यत्र हि द्वैतमिव भवति'' (बृ० ४.५.१५) इत्यादि श्रुति और 'या निशा सर्वभूतानाम्'' (गी० २.६९) इत्यादि स्मृति अविद्यावस्था में अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व संसार के उपलम्भ को दिखलाती है और विद्यावस्था में अर्थात् ज्ञान की उत्पत्ति के पश्चात् संसार के अनुपलम्भ को दिखलाती है। इसलिए जैसे अधिष्ठानज्ञानत्वेन शुक्तिज्ञान से निवर्त्य होने से शुक्तिरूप्यादि में मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है ठीक उसी प्रकार अधिष्ठानज्ञानत्वेन आत्मज्ञान से निवर्त्य प्रपञ्च रूप बन्ध में भी मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है।। ६।।

ईश्वरज्ञान को नैयायिक लोग कार्यमात्र के प्रति साधारण कारण मानते हैं। अतः घटध्वंस रूप कार्य के प्रति भी ईश्वर ज्ञान कारण होगा। इसलिए घट की निवृत्ति ईश्वर ज्ञान से जनित है ऐसा माना जायेगा, किन्तु ईश्वरज्ञान से निवर्त्य जो घट है वह मिथ्या नहीं है। अतः प्रपञ्च में ज्ञाननिवर्त्यत्वेन मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो सकता है। इस अभिप्राय से पूर्वपक्षी के द्वारा कथित

मानाभावात्। सोपादानत्वे तु समवेतत्वेन तस्यापि भावत्वापत्तेः, अत्यन्ताभावादिवच्च तदजन्यत्वेऽपि ध्वंसस्य तद्विषयत्वोपपत्तेः। न च तादृगीश्वरज्ञाने संप्रतिपत्तिरप्यन्येषामिति न काप्यनुपपत्तिः। यथा च शुक्त्यादिज्ञानस्य रूप्यादिनिवर्तकत्वमप्रामाण्यज्ञानविरहमपेक्ष्यैव, एवमात्मज्ञानस्यापि श्रवणादिनिर्वृत्तासम्भावनादिनिवृत्तिरूपाप्रामाण्यज्ञानविरहापेक्षत्वमिति न किञ्चिदप्यधिकं कल्पितम्। आत्मज्ञानस्य सर्वसुकृतसाध्यत्वं शुक्त्यादिज्ञानापेक्षया विलक्षणमिति तु दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैधर्म्यमात्रोद्भावनाद् वैधर्म्यसमा जातिः। अज्ञानस्य च समानाधिकरणसमानाकारज्ञाननिवर्त्यत्वम्, जीवन्मुक्तौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

जो प्रत्युदाहरण है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि न्यायमत में भी ईश्वरज्ञान को उपादानविषयक अपरोक्षज्ञानत्वेन घटादि भाव कार्यों के प्रति कारण माना जाता है। किन्तु ध्वंसरूप अभाव का तो कोई उपादान कारण (समवायिकारण) होता ही नहीं। इसलिए ध्वंस के उपादान कारण का अपरोक्ष ज्ञान भी ईश्वर को नहीं हो सकता है। इसलिए ईश्वरज्ञान को अभाव के प्रति कारण मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है। यदि अभाव का उपादान कारण माना जाता है तब अभाव अपने उपादान में समवाय स्म्बन्ध से रहता है—यह भी मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर अभाव को समवेत मानना पड़ेगा और उसमें समवेतत्त्व होने से उसको भावपदार्थ भी मानना पड़ेगा क्योंकि "यत्र यत्र समवेतत्त्वं तत्र तत्र भावत्त्वम्'' ऐसी व्याप्ति नैयायिक लोग मानते हैं। यहाँ पर प्रश्न होता है कि ईश्वर को सर्वज्ञ माना जाता है। अर्थात् ईश्वर का ज्ञान सर्वपदार्थ विषयक होता है। इसलिए ईश्वर ज्ञान की विषयता अभाव में भी माननी पड़ेगी। यदि ईश्वर ज्ञान से अभाव जन्य नहीं है तब वह ईश्वर ज्ञान का विषय भी नहीं होगा। जैसे पट ज्ञान घट विषय से जन्य नहीं है। अत: पटज्ञान की विषयता घट में नहीं मानी जाती है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे नित्य अत्यन्ताभाव में ईश्वरज्ञान की जन्यता न होने पर भी ईश्वर ज्ञान की विषयता नित्य अत्यन्ताभाव में मानी जाती है वैसे ही ध्वंस में भी ईश्वर ज्ञान की जन्यता न होने पर भी ईश्वर ज्ञान की विषयता मानी जा ही सकती है। दूसरी बात यह है कि नैयायिक लोग जिस प्रकार से ईश्वर ज्ञान को कार्यमात्र का जनक मानते हैं। उस प्रकार से सिद्धान्तमत में ईश्वर ज्ञान नहीं माना जाता है। अत: नैयायिक सम्मत ईश्वरज्ञान को ग्रहण कर पूर्वोक्त प्रकार से प्रत्युदाहरण नहीं दिया जा सकता है। अर्थात् सिद्धान्ती सम्मत नियम में व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि शुक्तिज्ञान सर्वथा निरपेक्ष होकर रजतादि का निवर्तक होता है जबकि आत्मज्ञान श्रवणादि सापेक्ष होकर प्रपञ्च का निवर्तक माना जाता है। अत: दृष्टान्त के अनुरूप दार्ष्टान्त नहीं है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यदि शुक्तिज्ञान में अप्रामाण्य का संशय या भ्रम हो तब उस शुक्तिज्ञान से रूप्यादि की निवृत्ति नहीं होती है। अत: यह मानना पड़ेगा कि शुक्तिज्ञान रूप्यादि का निवर्तक होने में अप्रामाण्यज्ञान के अभाव की अपेक्षा करता है। ठीक वैसे ही आत्मज्ञान भी प्रपञ्च का निवर्तक होने में असम्भावनादि प्रयुक्त अप्रामाण्यज्ञान के अभाव की अपेक्षा करता है। उक्त असम्भावना—विपरीतभावना रूप अप्रामाण्य की निवृत्ति श्रवणादि के द्वारा होती है। अत: शुक्तिज्ञानरूप दृष्टान्त की अपेक्षा से आत्मज्ञान रूप दार्ष्टान्त में कुछ भी अधिक की कल्पना हमारे द्वारा नहीं की गयी है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि लोक में शुक्त्यादि ज्ञानगत पापनाशनिरपेक्षरूप से ही अज्ञानकार्यनिवर्तकत्व देखा जाता है और तादृशज्ञान से निवर्त्य शुक्तिरूप्यगत मिथ्यात्व माना जाता है। प्रकृत में आत्मज्ञानगत पापनाश निरपेक्ष रूप से अज्ञान कार्य निवर्तकत्व नहीं है किन्तु पापनाशक सर्व पुण्य पुञ्ज से प्रसूत आत्मज्ञान में अज्ञान कार्य निवर्तकत्व है। अत: आत्मज्ञान से निवर्त्य प्रपञ्च में मिथ्यात्व भी नहीं माना जा सकता है। अर्थात् यदि पापनाश निरपेक्ष आत्मज्ञान से प्रपञ्च निवर्त्य होता तब उसमें

च प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धेन बन्धनाशविलम्ब इत्यादि सर्वमुपरिष्टादुपपादयिष्यते। सत्यस्य ज्ञाननिवर्त्यत्वे त्वाश्रयविषयोभयसम्बन्धित्वादिना अतिप्रसङ्गो विवरणकारैर्वर्णितः। तस्मादधिष्ठानज्ञानत्वेन ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वे प्रमाणमिति सिद्धम्।। ७।।

।। इत्यद्वैतसिद्धौ ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

मिथ्यात्व माना जाता, किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मज्ञान पापनाशक सर्व पुण्य–पुज्य से प्रसूत है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इस प्रकार से दृष्टान्त दार्ष्टान्त में वैधर्म्योद्भावन वैधर्म्यसमाजाति (एक प्रकार का असदुत्तर) मात्र है। अर्थात् "पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यथा महानसम्" यहाँ पर भी पर्वत और महानस में भी सर्वथा साम्य नहीं है। अतः यहाँ पर भी दृष्टान्त–दार्ष्टान्त ये यत्किञ्चित् वैषम्य दिखलाया जा सकता है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार का दोषोद्भावन सर्वथा नगण्य है। यद् विषयक अज्ञान जिस पुरुष में रहता है। उस पुरुष को होने वाले तद्विषयक ज्ञान से ही उक्त अज्ञान की निवृत्ति होती है। और पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि यदि ज्ञान से अज्ञान और तत्कार्य की निवृत्ति होती है तब चरमसाक्षात्कार के द्वारा ही जीवन्मुक्ति दशा में अनुवृत्त अविद्यालेश अथवा अज्ञान संस्कार और प्रारब्धकर्मादि की निवृत्ति क्यों नहीं होती हैं? क्योंकि ये भी अज्ञान, तत्कार्य के अन्तःपाती ही है। इसके समाधान में कह रहे हैं कि जीवन्मुक्ति में प्रारब्ध कर्मरूप प्रतिबन्धक के कारण बन्ध निवृत्ति में विलम्ब होता है, इत्यादि सभी सिद्धान्त रहस्यों का प्रतिपादन चतुर्थ परिच्छेद के जीव मुक्ति–उपपत्तिप्रकरण में किया जायेगा। अर्थात् जैसे सर्पभ्रम निवृत्त हो जाने के पश्चाद् भी उस भ्रम का कार्यभूत संस्कार और भयकम्पादि कुछ समय तक बने रहते हैं। वैसे ही तत्त्वज्ञान से अज्ञान का नाश हो जाने के पश्चाद् भी उस अज्ञान का कार्य अज्ञान का संस्कार (अविद्यालेश) और प्रारब्धकर्मादि बने रहते है। सत्यपदार्थ को ज्ञाननिवर्त्य मानने में, आश्रय सम्बन्ध से विषयसम्बन्ध से और उभय सम्बन्ध से नाश मानने पर अति प्रसङ्ग का वर्णन विवरणाकार ने किया है। अर्थात् जो लोग ज्ञान से सत्य की निवृत्ति होती है ऐसा मानते हैं उनको यह बतलाना होगा कि ज्ञान का जो आश्रय उस आश्रय से सम्बद्ध जो सत्य उस सत्य की निवृत्ति होती है, अथवा ज्ञान का जो विषय उस विषय से सम्बद्ध जो सत्य उस सत्य की ज्ञान से निवृत्ति होती है, अथवा ज्ञान के विषय तथा आश्रय इन दोनों के साथ सम्बद्ध जो सत्य उस सत्य की ज्ञान से निवृत्ति होती है। प्रथम पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकते हो, क्योंकि अहम् इत्याकारक जो ज्ञान होता है उस ज्ञान से स्वाश्रय से सम्बद्ध धर्मादि का नाश नहीं होता है। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि नीलपीत अवयवी का जो नीलत्वेन ज्ञान होता है उस ज्ञान से पीतिमा की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् यहाँ पर निवर्तक ज्ञान=नीलविशिष्टद्रव्य का ज्ञान, उसका विषय द्रव्य। उस द्रव्य स्वरूप विषय से सम्बद्ध वस्तु पीतिमा है। उसकी निवृत्ति नहीं होती है। तृतीय पक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि देह विषयक ज्ञान से देह और आत्मा के तादात्म्य की निवृत्ति नहीं होती है। अर्थात् यहाँ पर निवर्तक ज्ञान देह का ज्ञान। उसका आश्रय=आत्मा और विषय देह। इन दोनों से सम्बद्ध वस्तु=देह और आत्मा का तादात्म्य। उसकी निवृत्ति देह के ज्ञान से नहीं होती है। सिद्धान्त मत के अनुसार ज्ञान से मिथ्या पदार्थ की निवृत्ति मानने पर ज्ञान से ज्ञान के समानाश्रय विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है और अज्ञान की निवृत्ति होने पर तत्प्रयुक्त कार्य की भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार से अधिष्ठानज्ञानत्वेन–ज्ञाननिवर्त्यत्व मिथ्यात्व में प्रमाण है–यह सिद्ध हो गया।। ७।।

n इति सत्यानन्दप्रबोधिकायां ज्ञाननिवर्त्यत्वान्यथानुपपत्तिः।। n

दृष्टिसृष्टिविचारः

शुक्तिरूप्यस्वप्नादिवद् दृष्टिसृष्ट्यन्यथानुपपत्त्यापि जगतो मिथ्यात्वसिद्धिः। अथ केयं दृष्टिसृष्टिः?(१) दृष्टिरेव सृष्टिरिति वा?(२) दृष्टिव्यतिरिक्तसृष्ट्यभावो वा?(३) दृष्टिव्यतिरेकेण सृज्याभावो वा?(४) दृष्टिसामग्रीजन्यत्वं वा?(५) दृष्टिसमानकालीनसृष्टिर्वा?(६) दृष्टिसमानसत्ताकसृष्टिर्वा?(७) सदसद्विलक्षणत्वं वा?(८) त्रिविधसत्त्वबहिर्भूतत्वे सत्यसद्विलक्षणत्वं वा?(९) अज्ञातसत्त्वाभावो वा?(१०) ज्ञातैकसत्त्वं वा? आद्ये वृत्तिरूपा? चैतन्यरूपा वा? दृष्टिरभिमता। प्रथमे चरमवृत्तिविषयब्रह्मणोऽपि दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः। द्वितीये सर्वदापि सृष्ट्यापत्तिः। न द्वितीयः, चैत्रेण सृष्टो मया दृष्ट इति वैलक्षण्येन व्यवहारानुपपत्तेः। न तृतीयः,'ज्ञातो घटो

सत्यानन्दप्रबोधिका

दृष्टिसृष्टि प्रक्रिया श्रुतिसूत्रादि सम्मत है और प्रपञ्चमिथ्यात्व सिद्धि के अनुकूल है। इसलिए इस प्रक्रिया में पूर्वपक्षी के द्वारा उत्प्रेक्षित दोषों के समाधान के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। इस प्रकरण में आये हुए दृष्टि शब्द का अर्थ है ज्ञान और सृष्टिशब्द का अर्थ है उत्पत्तिरूप क्रिया और जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह है सृज्यमान पदार्थ। यह प्रकरण अद्वैतमत का पोषक है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि जैसे दृष्टिसृष्टि की अन्यथानुपपत्ति से शुक्तिरजतगत और स्वप्नादिगत मिथ्यात्व सिद्ध होता है। वैसे ही दृष्टिसृष्टि की अन्यथानुपपत्ति से प्रपञ्चगतमिथ्यात्व सिद्ध होता है। दृष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति का आकार होगा—"स्वाप्निकपदार्थस्य मिथ्यात्वं विना स्वाप्निकपदार्थस्य दृष्टिसृष्टिरनुपपन्ना।" दार्ष्टान्त में अन्यथानुपपत्ति का आकार होगा—"प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना प्रपञ्चस्य दृष्टिसृष्टिरनुपपन्ना" इस पर पूर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि दृष्टिसृष्टि से क्या अर्थ आप को विवक्षित है? क्या (१) दृष्टि ही सृष्टि (उत्पत्तिरूप क्रिया) है? अथवा (२) दृष्टि से भिन्न सृष्टि का अभाव? अथवा(३) दृष्टि से भिन्न सृज्यमान पदार्थ (जिसकी सृष्टि होती है उस पदार्थ) का अभाव? अथवा(४) दृष्टि की सामग्री से सृष्टि जन्य है? अथवा(५) दृष्टि समानकालीन सृष्टि? अथवा(६) दृष्टि की सत्ता के समानसत्ताकसृष्टि ? अथवा (७) सदसद् भिन्नत्व?अथवा(८) त्रिविधसत्त्व से शून्य होकर असद् भिन्नत्व?अथवा(९)अज्ञात सत्त्व का अभाव? अथवा (१०) ज्ञातैकसत्त्व? प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर प्रश्न होता है कि यहां पर वृत्तिरूप दृष्टि विवक्षित है? अथवा चैतन्यरूप? अर्थात् दृष्टि शब्द से वृत्तिरूपज्ञान लेना चाहते हैं अथवा चैतन्यरूपज्ञान। प्रथम पक्ष को स्वीकार करने पर ब्रह्म की दृष्टि (चरमवृत्ति) ही ब्रह्म की सृष्टि हो जायेगी, जब कि ब्रह्म की सृष्टि (उत्पत्ति) होती नहीं है। दृष्टि का अर्थ चैतन्यरूपज्ञान करने पर दृष्टिसृष्टिका अर्थ होगा—चैतन्यरूपसृष्टि। ऐसा होने पर चैतन्य के समान ही सृष्टि को भी सर्वदा मानना पडेगा,क्योंकि चैतन्य विभु और नित्य है। इस प्रकार से दृष्टि का अर्थ वृत्तिरूपज्ञान या चैतन्यरूपज्ञान में से किसी भी पक्ष को ग्रहण करने पर दोष आने के कारण प्रथमपक्ष खण्डित हो गया। द्वितीय पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि यदि दृष्टि से अतिरिक्त सृष्टि न माना जाय अर्थात् दोनों में अभेद माना जाय तब तो दृष्टि और सृष्टि इन दोनों के भेद का व्यवहार नहीं होना चाहिए किन्तु दोनों का भेद व्यवहार देखा जाता है। जैसे चैत्र के द्वारा सृष्ट जो घट वह मेरे द्वारा दृष्ट है। इस प्रकार से सृष्टि और दृष्टि का भेद व्यवहार होता है। तृतीयपक्ष स्वीकार करने पर दोष यह होगा कि दृष्टि(ज्ञान) और सृज्य पदार्थ (ज्ञेय) में अत्यन्त अभेद होने से दृष्टि और सृज्यपदार्थों में भेद का अनुभव नहीं होना चाहिए,

न ज्ञानम्'इति अनुभवविरोधात्। न चतुर्थः, एकसामग्रीप्रसूतत्वेन घटादेर्दृष्ट्यभिन्नत्वेनानन्तरोक्तदोषात्। न पञ्चमः, शाब्दादिज्ञानसमकालोत्पन्नघटादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरतापत्तेश्च। न षष्ठः, उभयसत्त्वेऽप्युपपत्तेः। सिद्धसाधनात्। न सप्तमः, अस्यैव मिथ्यात्वरूपत्वेन तत्साधनायैव तदुपन्यासानुपपत्तेः। नाष्टमः, त्रिविधसत्त्वमध्ये प्रातिभासिकसत्त्वस्याप्यन्तर्भावेन दृष्टिसृष्टिपक्षे तद्वति जगति तद्बहिर्भावानुपपत्तेः। न नवमः, तुच्छसाधारण्यात्। न दशमः, सुखादौ सिद्धसाधनात्, तद्वदन्यत्रार्थान्तराच्चेति—चेत्।। १।।,

---

सत्यानन्दप्रबोधिका

किन्तु भेद का अनुभव होता है। जैसे घट तो ज्ञात है किन्तु घटज्ञान ज्ञात नहीं है। यहाँ पर सृज्य पदार्थ घट और दृष्टि (घटज्ञान) में भेद स्पष्ट दिखायी दे रहा है। चतुर्थ पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि एक ही सामग्री के द्वारा यदि सृज्यपदार्थ और दृष्टि की उत्पत्ति मानेंगे तब तो सृज्यपदार्थ (घटादि) और दृष्टि (घटादि का ज्ञान) इन दोनों में अभेद मानना पड़ेगा। ऐसा होने पर उन दोनों में भेद का अनुभव नहीं होगा, जब कि दोनों में भेद का अनुभव होता है। अतः अनन्तर—अव्यवहित पूर्वोक्त तृतीयपक्ष का दोष चतुर्थपक्ष में भी है। पञ्चम पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि घटोत्पत्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में उच्चरित "अयं घटः" इस शब्द के द्वारा घटोत्पत्ति काल में ही घट का शाब्दज्ञान हो जायेगा। इस प्रकार से घट को सत्य मानने वाले के मत में भी दृष्टि समकाल सृष्टि की उपपत्ति हो जाने से सिद्धसाधन दोष होगा। इसी प्रकार घट के समान ही घट से भिन्न सम्पूर्ण प्रपञ्च में दृष्टि समानकालिन सृष्टि का प्रतिपादन हो जोने से अर्थान्तर की आपत्ति होगी। अर्थात् जिस दृष्टिसृष्टि के आधार पर प्रपञ्चगतमिथ्यात्व सिद्ध करना चाह रहे थे। उसी दृष्टिसृष्टि को मानने पर भी प्रपञ्चगतमिथ्यात्व सिद्ध न होकर सत्यत्व ही सिद्ध हो रहा है। षष्ठ पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि दृष्टि और सृष्टि दोनों को सत्य मान कर के दृष्टि के समान सत्ताक सृष्टि की उपपत्ति हो जाने से सिद्धसाधन दोष होगा और पञ्चम—पक्षोक्त अर्थान्तरता की भी प्रसक्ति होगी। सप्तम पक्ष भी सङ्गत नहीं है क्योंकि सदसद्विलक्षणत्व तो मिथ्यात्वरूप ही है। अतः मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए दृष्टिसृष्टि—सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व को साधन नहीं बनाया जा सकता है। अर्थात् सिद्धान्ती ने कहा था कि "प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना प्रपञ्चस्य दृष्टिसृष्टिरनुपपन्नाः'' में दृष्टिसृष्टि का अर्थ सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व करने पर उक्त अर्थापत्ति आकार होगा—"प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वं विना प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमनुपपन्नम्।" जो असङ्गत है। अष्टम पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि त्रिविधसत्त्व के अन्तर्गत प्रातिभासिक सत्त्व भी माना जाता है। जब कि दृष्टिसृष्टिवाद में प्रपञ्च प्रातिभासिकसत्ता वाला माना जाता है। अतः प्रातिभासिकसत्त्व के अधिकरण प्रपञ्च में प्रातिभासिक सत्त्व का बहिर्भाव नहीं दिखाया जा सकता है, क्योंकि प्रातिभासिकसत्त्व का अनधिकरण होना ही प्रातिभासिकसत्त्व से बहिर्भाव है। इस प्रकार से त्रिविधसत्त्व से बहिर्भूत प्रपञ्च के सिद्ध न होने से उसमें दृष्टिसृष्टि का उक्त लक्षण जाता ही नहीं है। अतः प्रपञ्चगत मिथ्यात्व उक्त दृष्टिसृष्टि के लक्षण के अनुसार उक्त अर्थापत्ति के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। नवम पक्ष स्वीकार करने पर तुच्छपदार्थों में अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि बन्ध्यासुतादि असत् पदार्थ अज्ञात सत्ता के अभाव वाले होते हैं, क्योंकि असत् पदार्थ का अज्ञातसत्व माना नहीं जाता है। दशम पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि प्रपञ्चसत्यत्ववादी के मत में भी सुखादि की ज्ञातैकसत्ता मानी जाती है। अतः सिद्धसाधनदोष होगा। दूसरी बात यह है कि जैसे सत्य सुखादि की ज्ञातैकसत्ता मानी जाती है वैसे ही सत्य घटादि की भी ज्ञातैकसत्ता मानी जा सकती है। अर्थात् ज्ञातैकसत्ता के आधार पर सुखादिगत सत्यत्व के जैसे ही घटादिगत सत्यत्व भी माना ही जा सकता है। इस प्रकार से अर्थान्तरदोष प्रसक्त होता है।। १।।

न,दोषप्रयुक्तत्वनिबन्धनस्य ज्ञातैकसत्त्वस्याज्ञातसत्त्वाभावस्य वा, प्रतिपन्नोपाधिदृष्टि–जन्यज्ञातैकसत्त्वस्य वा, द्रष्टन्तरावेद्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वस्य वा विवक्षितत्वात्। तथा च न सुखाद्यंशे सिद्धसाधनम्, तद्वदन्यत्रार्थान्तरं वा।। २।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टिसृष्टिशब्द से दोषप्रयुक्त ज्ञातैकसत्त्व विवक्षित है। अर्थात् जिस पदार्थ के ज्ञातैकसत्त्व का कारण दोष प्रयुक्तत्व हो, अर्थात् जिस पदार्थ की सत्ता दोष से प्रयुक्त होने के कारण ज्ञात होती है, अर्थात् जिसका स्वाभाविक सत्त्व न हो, उस पदार्थ को दृष्टिसृष्टिशब्द से कहा जाता है। प्रकृत में प्रपञ्चगत सत्त्व जो ज्ञात है वह दोष(अज्ञान) प्रयुक्त होने के कारण है। अतः दृष्टिसृष्टि का उक्त लक्षण प्रपञ्च में चला जायेगा। और दृष्टिसृष्टि के आधार पर प्रपञ्चगत मिथ्यात्व भी सिद्ध हो जायेगा। दृष्टिसृष्टि शब्द का दूसरा अर्थ करते हुए कह रहें है कि दृष्टिसृष्टि शब्द से दोषप्रयुक्त अज्ञातसत्त्वाभाव विवक्षित है। ऐसा अर्थ करने पर तुच्छ पदार्थों में अतिव्याप्ति नहीं होगी, क्योंकि तुच्छ में यद्यपि अज्ञातसत्त्व का अभाव माना जाता है, तथापि वह अभाव दोष के कारण है ऐसा नहीं माना जाता है। अपितु तुच्छ में अज्ञातसत्त्वाभाव को स्वाभाविक ही माना जाता है। दृष्टिसृष्टि शब्द का तृतीय अर्थ कर रहे हैं। दोषप्रयुक्त निबन्धनत्वरूप विशेषण के स्थान पर "प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यत्व" को ज्ञातैकसत्त्व के विशेषण के रूप से दिया गया है। अतः लक्षण का आकार होगा– "प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यत्वे सति ज्ञातैकसत्त्वम्।" यहाँ पर उपाधि शब्द से अधिष्ठान का सामान्यांश लेना है। अतःप्रतिपन्नोपाधिदृष्टि का अर्थ होगा कि आरोप्य पदार्थ के अधिष्ठान के सामान्य अंश का वृत्तिज्ञान। सभी आरोप्य पदार्थ का हेतु अधिष्ठान के सामान्य अंश की दृष्टि(वृत्तिज्ञान) होती है। अतः सभी लक्ष्यीभूत आरोप्यपदार्थ में प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यत्व चला जायेगा। दृष्टिसृष्टिवाद में सम्पूर्ण प्रपञ्च ज्ञातैकसत्ता वाला होने से लक्षण का विशेष्यभाग भी प्रपञ्च में चला जायेगा। दृष्टिसृष्टि शब्द का चतुर्थ अर्थ करते हुए कह रहे हैं कि अन्य द्रष्टा के द्वारा अवेद्य होकर जिस पदार्थ में ज्ञातैकसत्त्व हो। यही दृष्टिसृष्टि शब्द से विवक्षित है। अर्थात् दृष्टिसृष्टि पक्ष में देवदत्तनिष्ठ जो सुखादि हैं ,उसकी ज्ञातैकसत्ता तो मानी ही जाती है, और साथ–साथ देवदत्तनिष्ठ जो सुखादि हैं, उसका ज्ञान यज्ञदत्तादि में नहीं माना जाता है। अर्थात् देवदत्त में जब तक सुख रहेगा तब तक वह सुख देवदत्त को ज्ञात भी रहेगा। पूर्वोक्त प्रकार से दृष्टिसृष्टि शब्द का अर्थ करने पर पूर्वपक्षी के द्वारा दिये गये पूर्वोक्त दोष नहीं होंगे, क्योंकि पूर्वपक्षी के मत में सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व होने पर भी उस सत्त्व में दोष प्रयुक्त निबन्धनत्व नहीं माना जाता है। अर्थात् पूर्वपक्षी जो सुखादि में ज्ञातैकसत्त्व मानता है, वह किसी दोष के कारण मानता है, ऐसी बात नहीं है। दूसरी बात यह है कि पूर्वपक्षी के मतानुसार सुखादिगत ज्ञातैकसत्त्व में प्रतिपन्नोपाधिदृष्टिजन्यत्व भी नहीं माना जाता है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी के मत में दूसरे के सुखादि का अनुमान होता है। अतः सुखादिगत द्रष्ट्रन्तर वेद्यत्व ही है न कि अवेद्यत्व जब कि दृष्टिसृष्टिवाद में अपने से भिन्न द्रष्टा होता ही नहीं है। अतः इस मत में देवदत्तनिष्ठ सुखादि में द्रष्ट्रन्तरवेद्यत्व आ नहीं सकता है। इस प्रकार से सुखादिगत सिद्धसाधनदोष का वारण हो जाने से सुखादि के जैसे ही सुखादि से भिन्न पदार्थों में अर्थान्तर दोष भी नहीं दिया जा सकता है। अर्थात् पूर्वपक्षी ने पिछे कहा था कि जैसे सुखादिगत ज्ञातैकसत्त्वादिरूप दृष्टिसृष्टि के होने पर भी सुखादि को सत्य ही माना जाता है वैसे ही सुखादि से भिन्न घटादि की भी दृष्टिसृष्टि मान लेने पर भी घटादिगत मिथ्यात्व सिद्ध न होकर सत्यत्व ही सिद्ध हो जाने से अर्थान्तर दोष होगा। सिद्धान्ती के पूर्वोक्त प्रकार के समाधान से सुखादिगत सिद्धसाधन और सुखादि के समान घटादिगत अर्थान्तर दोष का वारण हो गया।। २।।

ननु–जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः।।

इति प्राचां वचनेन बौद्धं प्रति प्रत्यभिज्ञानादिना विश्वस्य स्थायित्वप्रतिपादकेन च सूत्रभाष्य–(वार्तिक)विवरणादिग्रन्थेन विरोध इति–चेन्न, अनाद्यतिरिक्ते सृष्टिविषय एव दृष्टिसृष्टिस्वीकारात्, कारणात्मना स्थायित्वस्वीकराच्च। तावतैव बौद्धाभिमतक्षणिकत्वनिराकरणोपपत्तेर्नाकरविरोधः, प्रत्युताकरेषु बहुशो दृष्टिसृष्टिरुपपादितैव।। ३।।

नन्वेवं–प्रतीतिमात्रशरीरत्वेन नियतकारणाजन्यत्वे श्रुतिषु स्वर्गाद्यर्थं ज्योतिष्टोमादिविधेः

सत्यानन्दप्रबोधिका

पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती दृष्टिसृष्टि मानेंगे तब तो दृष्टिसृष्टि पक्ष में कोई भी पदार्थ ,अनादि और स्थायी सिद्ध नहीं हो पायेगा, क्योंकि दृष्टिसृष्टिपक्ष में जिस समय पदार्थ का ज्ञान होता है उसी समय वह पदार्थ अस्तित्व को प्राप्त करता है। अर्थात् वह पदार्थ दृष्टि के पूर्व अथवा पश्चात् में रहता ही नहीं है। जब कि अद्वैतसिद्धान्त के प्राचीन आचार्यों ने (१)जीव(२) ईश्वर (३)विशुद्ध चेतन(४) जीव और ईश्वर का भेद (५) अविद्या तथा (६) अविद्या का चित् के साथ सम्बन्ध को अनादि माना है। अतः दृष्टिसृष्टि मानने पर प्राचीन आचार्यों के कथन से विरोध होगा। इसी प्रकार दृष्टिसृष्टि मानने पर क्षणिकवादी बौद्ध के निराकरणार्थ "सोऽयं घटः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञादिरूप प्रमाण के उपस्थापन के द्वारा जो विश्वगत स्थायित्व का प्रतिपादन सूत्र–भाष्य–वार्तिक और विवरणादि ग्रन्थों में किया गया है, उसके साथ विरोध होगा। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि प्राचीन आचार्यों के द्वारा कथित षड् अनादि पदार्थो को छोडकर शेष प्रपञ्च में दृष्टिसृष्टित्व माना जाता है। अर्थात् सृज्यमान पदार्थों में ही दृष्टिसृष्टिवाद माना जाता है, अनादि में नहीं। अनादि में मिथ्यात्व की सिद्धि दृश्यत्वादि हेतुओं के द्वारा की जाती है। अतः षड् पदार्थों को अनादि मानने पर भी दोष नहीं होगा। दृष्टिसृष्टि पक्ष में यद्यपि पदार्थ स्थायी नहीं माना जाता है, किन्तु कारणात्मना स्थायी माना जाता है। अतः कारणात्मना स्थायित्व स्वीकार करने से बौद्ध अभिमत क्षणिकत्व के निराकरण की भी उपपत्ति हो जायेगी, क्योंकि बौद्ध लोग तो घटादि का कारणात्मना स्थायित्व नहीं मानते हैं। जब कि सिद्धान्ती मत में सर्व सृष्टि में अनुस्यूत कारण तत्त्व को स्थायी माना जाता है और उसका ही प्रतिपादन सूत्र–भाष्य–विवरणादि में किया गया है। अतः सूत्र–भाष्य–विवरणादि से विरोध भी नहीं है। अपितु गौड़पादकारिका,योगवासिष्ठादि आकर ग्रन्थों में अनेकत्र बहुत प्रकार से दृष्टिसृष्टि का प्रतिपादन उपलब्ध होता है।। ३।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टिसृष्टिवाद में प्रपञ्च प्रतीतिमात्र शरीरवाला होता है और नियत कारण से जनित नहीं होता है क्योंकि दृष्टिसृष्टिमत में घट पटादि पदार्थ मृत्तिका–तन्त्वादि भिन्न–भिन्न कारणों से उत्पन्न नहीं होते हैं, अपितु सभी पदार्थों की उत्पत्ति एक ही माया से होती है। अतः दृष्टिसृष्टि पक्ष को स्वीकार करने पर श्रुतियों में जो स्वर्गादि के लिए ज्योतिष्टोमादि विधि का प्रतिपादन है और ब्रह्म साक्षात्कार के लिए श्रवणादि विधि का प्रतिपादन है तथा आकाशादिगत वाय्वादि की कारणता का प्रतिपादन, जो भिन्न–भिन्न रूप से है, वह सभी असङ्गत हो जायेगा,क्योंकि स्वर्गादि की दृष्टि (ज्ञान) होने पर ही स्वर्गादि की सृष्टि हो जायेगी, फिर तो स्वर्गादि के लिए ज्योतिष्टोमादि विधि का प्रतिपादन करना और ज्योतिष्टोमादि याग करना व्यर्थ हो जायेगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे स्वप्न में होने वाला जो कार्य कारणभाव है, वह मिथ्या है और उसका बोधक स्वाप्न वाक्य भी वस्तुतः मिथ्या है, परन्तु

ब्रह्मसाक्षात्कारार्थं श्रवणादिविधेराकाशादेर्वाय्वादिहेतुत्वस्य चोक्तिरयुक्तेतिचेन्न, स्वाप्नकार्यकारणभावबोधकवाक्यवदुपपत्तेः। न चैवं वेदान्तवाक्यस्य तन्मीमांसायाश्च स्वप्नवाक्यतन्मीमांसातुल्यतापत्तिः, विषयबाधाबाधाभ्यां विशषोपपत्तेः। अत एव तृप्त्यर्थभोजने परप्रत्यायनार्थं शब्दादौ च प्रवृत्तेरयोगेन स्वक्रियाव्याघात इति—निरस्तम्, स्वाप्नव्यवहारवदुपपत्तेः।। ४।।

अथैवं—घटादेः स्वज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन प्रतिकर्मव्यवस्थानुपपत्तिः,अधिष्ठानस्यापि शुक्तीदमंशस्य रूप्यादिवद् 'इदं रजतम्' इति ज्ञानात्प्रागसत्त्वेन संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्या—

सत्यानन्दप्रबोधिका

स्वविषय में ज्ञान उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार स्वर्गादिरूपफल और ज्योतिष्टोमादिरूप साधन यें दोनों मिथ्या ही हैं और इनके कार्यकारणभावबोधक श्रुति वाक्य भी वास्तविक नहीं है फिर भी स्वप्न वाक्यवत् कार्यकारण का बोध श्रुति से हो ही सकता है। एवं स्वप्न में जैसे मिथ्या घट के लिए मिथ्या मृत्तिका का उपयोग किया जाता है। ऐसे ही मिथ्या स्वर्गादि के लिए मिथ्या ज्योतिष्टोमादियाग का अनुष्ठान हो ही सकता है। परन्तु ऐसा मानने पर जाग्रत वेदान्तवाक्य स्वाप्निक वेदान्त वाक्य के तुल्य हो जायेंगे और जाग्रत वेदान्तमीमांसा स्वाप्किकवेदान्तमीमांसा के तुल्य हो जाने की आपत्ति होगी। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि स्वाप्नवाक्यादि के विषय का बाध होता है और वेदान्त वाक्यों के मुख्यतात्पर्य के विषय का बाध नहीं होता है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में और दोनों मीमांसाओं में भिन्नता होने के कारण दोनों में तुल्यता की आपत्ति नहीं होगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दृष्टिसृष्टि पक्ष को मानने पर तृप्ति के लिए भोजन करने की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए अपितु "मैं भौजन करता हूँ" ऐसी कल्पना मात्र से ही तृप्ति हो जानी चाहिए और दृष्टिसृष्टि पक्ष में अपने से भिन्न सभी व्यक्ति कल्पित होने के कारण उनको समझाने के लिए शब्दादि के प्रयोग करने की भी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए। जब कि उक्त प्रकार की प्रवृत्ति सिद्धान्ती करते हैं। अतः दृष्टिसृष्टि मानने पर स्वक्रिया व्याघात होगा। ऐसा पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है क्योंकि स्वप्नादि में होने वाले व्यवहार के समान ही दृष्टिसृष्टिवाद में भी सभी व्यवहारों की उपपत्ति हो जायेगी। अर्थात् जैसे स्वप्न में दृष्टिसृष्टि के होने पर भी सभी व्यवहारों की उपपत्ति हो जाती है वैसे ही जाग्रतकाल में दृष्टिसृष्टि मानने पर भी सभी व्यवहारों की उपपत्ति हो जायेगी, अर्थात् स्वाप्निक व्यवहार के जैसे ही जाग्रत व्यवहार भी दृष्टिसृष्टिवाद में भ्रम के आधार पर ही होता रहता है।। ४।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि सिद्धान्ती दृष्टिसृष्टिवाद को स्वीकार करेगें तब तो प्रतिकर्म व्यवस्था की उपपत्ति नहीं हो पायेगी, क्योंकि विषयेन्द्रिय सन्निकर्षादि के द्वारा ही प्रतिकर्मव्यवस्था की सिद्धि होती है। जबकि दृष्टिसृष्टि पक्ष में घटादि पदार्थ ज्ञातैकसत्त्व वाले होने के कारण उसकी सत्ता उसके ज्ञान के पूर्व में मानी नहीं जाती है। अतः विषेयेन्द्रिय सन्निकर्षादि के अभाव के कारण प्रतिकर्मव्यवस्था भङ्ग हो जायेगी। इसी प्रकार अधिष्ठानभूत शुक्तीदमंश का भी शुक्तिरजत के जैसे ही "इदं रजतम्" इत्याकार भ्रमज्ञान से पूर्व में असत्त्व मानना पडेगा। अर्थात् दृष्टिसृष्टि पक्ष में शुक्ति का इदमंश भी उक्त भ्रम ज्ञान के पहले नहीं रह सकता है। जब कि भ्रमज्ञान से पहले से विद्यमान पदार्थ ही सत्य अधिष्ठान होता है। भ्रमज्ञान से पूर्व सत्य अधिष्ठान के न रहने पर अधिष्ठान के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष, संस्कार और दोषरूप त्रिविध कारण जन्यत्वरूप रजतादि अध्यास के तटस्थलक्षण की और सत्यवस्तु का मिथ्यावस्तु के साथ जो अभेदावभासरूप अध्यास का स्वरूप लक्षण है, उसकी उपपत्ति नहीं हो पायेगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि आचार्यों के द्वारा अधिकारी के भेद से भिन्न—भिन्न प्रक्रियाओं की कल्पना की जाती है। जिससे

सतटस्थलक्षणस्य, सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इत्यस्य स्वरूपलक्षणस्य चायोग इति—चेन्न, प्रतिकर्मव्यवस्थायाः संप्रयोगादिहेतुत्रयजन्यत्वरूपाध्यासतटस्थलक्षणस्य च मन्दाधिकारिविषयत्वात्। सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदावभास इति स्वरूपलक्षणं तु दृष्टिसृष्टिपक्षेऽप्यविरुद्धम्, न हीदमंशावच्छिन्नं चैतन्यं न वस्तु, न वा मिथ्यारूप्यस्य तेन सह न सम्भेदावभासः।। ५।।

न च—'इदं रूप्यम्' इति ज्ञानकाले शुक्तित्वादेरभावेनाध्यासस्य तदज्ञानकार्यत्वादिप्रक्रियाविरोध इति—वाच्यम्, 'इदं रूप्यम्'इति ज्ञानकाले शुक्तित्वस्याभावेऽपि तदज्ञानस्थित्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

कि सभी प्रकार के अधिकारीयों को बोध हो सके। जैसा कि कहा गया है—

यया यया भवेत् पुंसो व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि।
सा सैव प्रक्रिया ज्ञेया साध्वी सा चानवस्थिता।।

प्रकृत में प्रतिकर्मव्यवस्था तथा अधिष्ठानेन्द्रिय सन्निकर्ष—संस्कार और दोषरूप त्रिविध कारण जन्यत्वरूप रजतादि अध्यास के तटस्थ लक्षण का प्रतिपादन मन्द अधिकारी के उद्देश्य से किया गया है। अर्थात् दृष्टिसृष्टिवाद उत्तम अधिकारी के लिए है। अतः इसमें मन्द अधिकारी के लिए कथित प्रक्रियाओं का समावेश करना उचित नहीं है। दूसरी बात यह भी है कि उक्त अध्यास का तटस्थ लक्षण अनादि पदार्थों में नहीं जाता है, क्योंकि अनादि पदार्थ जन्य नहीं होते है। जबकि उक्त अध्यास का तटस्थ लक्षण जन्यत्व से घटित है। सत्यवस्तु का मिथ्यावस्तु के साथ अभेद का अवभासरूप जो अध्यास का स्वरूपलक्षण है। वह तो दृष्टिसृष्टि पक्ष में भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि सिद्धान्तमत में शुक्ति के इदमंश को अधिष्ठान नहीं माना जाता है, अपितु इदमंशावच्छिन्न चैतन्य को अधिष्ठान माना जाता है। उसमें इदमंशरूप अवच्छेदक के मिथ्या होने पर भी अवच्छेद्य चैतन्य अंश तो सत्य ही है और भ्रम से पूर्व विद्यमान भी है। अतः अध्यास के स्वरूप लक्षण की उपपत्ति हो जायेगी। इसी को स्पष्ट करते हुए मूल में कहा गया कि इदमंशावच्छिन्न चैतन्य सत्य वस्तु नहीं है, ऐसी बात नहीं। अर्थात् इदमंशावच्छिन्न चैतन्य सत्य वस्तु है। अतः उसके साथ मिथ्यारूप्य का अभेदावभास नहीं है, ऐसी बात नहीं। अर्थात् उसके साथ अभेदावभास हो जाने से अध्यास के स्वरूप लक्षण की उपपत्ति हो जायेगी।। ५।।

पूर्वपक्षी की शङ्का है कि सिद्धान्ती की यह प्रक्रिया है कि अधिष्ठान विषयक अज्ञान के कार्य को अध्यास कहते हैं परन्तु यह कथन दृष्टिसृष्टि की प्रक्रिया से विरुद्ध है, क्योंकि "इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञानकाल में शुक्तिरूप अधिष्ठान का ज्ञान तो किसी के मत में नहीं रह सकता है। अतः दृष्टिसृष्टि पक्ष में भी शुक्तिरूप अधिष्ठान का ज्ञान नहीं रहेगा। दृष्टिसृष्टि पक्ष में जिस वस्तु का ज्ञान जिस समय नहीं रहता है, उस समय वह वस्तु भी नहीं रहती है। अतः भ्रमज्ञान काल में अधिष्ठान भी नहीं रह सकता है। अतः अधिष्ठान विषयक अज्ञान भी भ्रमकाल में नहीं रह सकता है। अधिष्ठान के अज्ञान के न रहने पर अज्ञान के कार्य अध्यास की सिद्धि नहीं हो सकती है। इस शङ्का के समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "इदं रजतम्" इत्याकारक ज्ञान काल में शुक्तित्वरूप अधिष्ठान के न रहने पर भी शुक्तित्व के अज्ञान की स्थिति को मानने में कोई भी विरोध नहीं है, क्योंकि दृष्टिसृष्टिपक्ष में विषय के सत्ताकाल की तरह विषय के सत्ताविरहकाल में विषय के अज्ञान को मानने पर विरोध नहीं होता है। अर्थात् दृष्टिसृष्टि पक्ष में ज्ञानकाल में ही वस्तु की सत्ता मानी जाती है। अतः जिस समय कोई वस्तु है, उस समय उसके ज्ञान के रहने के कारण उसके अज्ञान का रहना उस वस्तु के सत्ताकाल में सम्भव नहीं है, किन्तु जिस समय

विरोधात्। न हि सत्ताकाल इव सत्ताविरहकालेऽपि अज्ञानं विरुध्यते। न च—'इदं रूप्यं नेदं रूप्यम्'इति ज्ञानयोर्भिन्नविषयत्वेन बाध्यबाधकभावानुपपत्तिरिति—वाच्यम्, भिन्नविषयत्वेऽपि विषययोः सारूप्यात् स्वप्नबाध्यबाधकयोरिव बाध्यबाधकभावोपपतेः। न च—रूप्यादिबाधस्यापि दृष्टिसृष्टित्वे तेन रूप्यादेर्मिथ्यात्वासिद्धिरिति—वाच्यम्, बाध्यान्यूनसत्ताकत्वमेव बाधकत्वे प्रयोजकम्, न त्वधिकसत्ताकत्वमित्यस्योपपादितत्वेन व्यावहारिकेण व्यावहारिकबाधवत् प्रातिभासिकेन प्रातिभासिकबाधाविरोधात्।। ६।।

न च—सुषुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मविभागस्याप्रतीतत्वेनाविद्यमानतया प्रतिसुषुप्ति प्रतिप्रलयं

सत्यानन्दप्रबोधिका

कोई वस्तु नहीं है उस समय उस वस्तु का अज्ञान रहता है, ऐसा मानने में कोई भी विरोध नहीं हो सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दृष्टिसृष्टिवाद में "इदं रजतम्" इस भ्रम का विषयीभूत रजत तो "इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञान काल में ही रहेगा। भ्रमज्ञान के पश्चात् में जब "नेदं रजतम्" इस प्रकार से प्रमाज्ञान होगा, उस समय "इदम् रजतम्" का विषयीभूत रजत नहीं रहेगा, अपितु उस समय "नेदं रजतम्" इस प्रकार ज्ञान का विषयीभूत रजत रहेगा। अतः "नेदं रजतम्" इस प्रमाज्ञान के द्वारा जिस रजत का बाध किया गया, वह रजत तो "इदं रजतम्" इस भ्रमज्ञान के विषयीभूत रजत से भिन्न ही है। अतः भ्रम और प्रमा इन दोनों ज्ञानों के विषय भिन्न—भिन्न होने के कारण इन दोनों ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव नहीं बन सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि "इदं रजतम्" और "नेदं रजतम्" इन दोनों ज्ञानों के विषय रजत भिन्न—भिन्न है, तथापि उन दोनों ज्ञानों के विषयीभूत रजतों में रजतत्वेन सादृश्य रहने के कारण उन दानों ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव की उपपत्ति हो जायेगी। जैसे कि स्वप्नकालीन "इदं रजतम्" और "नेदं रजतम्" इन दोनों ज्ञानों के विषयीभूत रजत भिन्न—भिन्न होने पर भी उन दोनों ज्ञानों में बाध्यबाधकभाव देखा जाता है। इस पर पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करते हुए कह रहा है कि "इदं रजतम्" इस ज्ञान के जैसे "नेदं रजतम्" इस बाधकज्ञान में भी दृष्टिसृष्टि मानने पर दोनों ज्ञानों की प्रातिभासिकसत्ता हो जायेगी। ऐसा होने पर "नेदं रजतम्" इस ज्ञान के द्वारा"इदं रजतम्"इस ज्ञान का बाध नहीं हो पायेगा, क्योंकि सिद्धान्तमत में बाधकज्ञान बाध्यज्ञान की अपेक्षा से अधिकसत्तावाला होता है।। जबकि दृष्टिसृष्टिवाद में दोनों ज्ञानों की एक ही प्रातिभासिकसत्ता है। इसलिए "नेदं रजतम्"इस ज्ञान के द्वारा"इदं रजतम्"इस ज्ञान का बाध न हो पाने के कारण रजतादिगत मिथ्यात्व की सिद्धि भी नहीं हो पायेगी। पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि बाधक को बाध्य की अपेक्षा से अधिक सत्तावाला ही होना चाहिए ऐसा नियम नहीं है, अपितु बाधक को बाध्य की अपेक्षा से न्यूनसत्ता वाला नहीं होना चाहिए। इस पर विस्तार से चर्चा द्वितीय मिथ्यात्व निरुपण के अवसर पर की जा चुकी है। अतः जैसे व्यावहारिक दीपक के प्रकाश से व्यावहारिक अन्धकार का बाध होता है, वैसे ही प्रातिभासिकरजत के ज्ञान का प्रातिभासिक रजताभाव के ज्ञान से बाध मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है, क्योंकि उक्त स्थलों पर बाध्य की अपेक्षा से बाधक समान सत्ता वाला होने के कारण अन्यूनसत्तावाला ही है।। ६।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टिसृष्टिवाद में जिस वस्तु का ज्ञान जिस समय रहता है उसी समय वह वस्तु रहती है—ऐसा माना जाता है। अतः सुषुप्ति और प्रलयकाल में "मैं ब्रह्म से भिन्न हूं"ऐसा ज्ञान तो किसी जीव को रहता नहीं है। अतः जीव ब्रह्म का भेद भी सुषुप्ति और प्रलय काल में नहीं रह सकता है। अतः सभी उन दोनों अवस्थाओं में ब्रह्मसे अभिन्न हो जाने के कारण

च मुक्तस्य पुनरावृत्त्यापत्तिरिति—वाच्यम्,जीवब्रह्मविभागादेरनादित्वेन दृष्टिसृष्टित्वानुभ्य—पगमस्योक्तत्वात्। न च सुषुप्तं प्रति संस्कारादेरप्यभावेन तस्य पुनः प्रबोधायोगः, कारणात्मना संस्कारादेः सत्त्वात्। न च मोक्षस्य दृगन्यत्वेन स्वाप्नमोक्षवद् दृष्टिसृष्ट्यापत्तिः, मोक्षस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन दृग्भिन्नत्वासिद्धेः।। ७।।

न च—चैतन्यमात्ररूपा दृष्टिर्न सृष्टिः, किन्तु वृत्तिविशिष्टचैतन्यरूपा वा, वृत्तिरूपा वा, दृष्टिः सृष्टिरिति वाच्यम्, तथा च तस्या अपि दृष्ट्यन्तरं सृष्टिरित्यनवस्थेति वाच्यम्, चैतन्यमात्रस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

उन दोनों अवस्थाओं में सभी जीव मुक्त रहेंगे और जाग्रतादि काल में जब जीव ब्रह्म के भेद का ज्ञान होगा तब भेद ज्ञान के कारण फिर बद्ध हो जायेंगे। यही बार—बार होता रहेगा। अर्थात् मुक्त पुरुष भी बार—बार बद्धावस्था को प्राप्त होते रहेंगे। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि षड् अनादि पदार्थों में जीव ब्रह्मका विभाग (भेद) भी माना जाता है। जो अनादि पदार्थ है उसकी दृष्टिसृष्टि नहीं मानी जाती है। यह पीछे खण्ड संख्या(३)में कहा जा चुका है। अतः पूर्वपक्षी के द्वारा अनादिपदार्थों के माध्यम से दिया गय दोष अकाण्डताण्डव मात्र है। इसी प्रकार पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दृष्टिसृष्टिपक्ष में सुषुप्ति में संस्कार का ज्ञान न रहने से संस्कार भी नहीं रहेगा। अतः सुषुप्त पुरुष के पुनः प्रबोध की अनुपपत्ति होगी। ऐसा भी पूर्वपक्षी का कथन अनुचित है क्योंकि अज्ञान अनादि होने के कारण अज्ञान में दृष्टिसृष्टि तो मानी नहीं जाती है। अतः सुषुप्तिकाल में अज्ञान तो रहेगा ही। उस अज्ञान को ही संस्कार का कारण माना जाता है। अतः कारणरूपेण संस्कार सुषुप्तिकाल में भी रहने के कारण सुषुप्ति के पश्चात् प्रबोध होने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है। पूर्वपक्षी की यह जो शङ्का है कि दृष्टिसृष्टि उन्हीं पदार्थों की मानी जाती है, जो दृक् (ब्रह्म) से भिन्न है। अतः मोक्ष भी दृक् से भिन्न होने के कारण मोक्ष की भी दृष्टिसृष्टि माननी पडेगी। अर्थात् मोक्ष भी मिथ्या हो जायेगा, जैसे स्वप्न में किसी को होने वाला मोक्ष भी मिथ्या होता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मोक्ष ब्रह्मस्वरूप ही माना जाता है, न कि दृक् से भिन्न मोक्ष होता है। ब्रह्मस्वरूप मोक्ष होने के कारण वह अनादि पदार्थों में माना जायेगा। अनादि पदार्थ की दृष्टिसृष्टि नहीं मानी जाती है। अतः मोक्ष के मिथ्या होने का प्रसङ्ग ही नहीं आयेगा।। ७।।

दृष्टिसृष्टि के घटक दृष्टि पद से क्या चैतन्यमात्र अर्थ विवक्षित है? अथवा वृत्ति विशिष्ट चैतन्य अर्थ विवक्षित है? अथवा वृत्ति ही विवक्षित है? इस प्रकार से विकल्प उठाकर पूर्वपक्षी दृष्टिसृष्टिपक्ष का खण्डन करते हुए कह रहा है कि दृष्टि शब्द से सिद्धान्ती चैतन्य मात्ररूप ज्ञान तो ले नहीं सकते हैं, क्योंकि तब तो सृष्टि भी चैतन्य मात्र समानसत्ताक हो जाने से सत्य हो जायेगी। यदि दृष्टि शब्द से वृत्ति विशिष्ट चैतन्य या वृत्तिरूप अर्थ को लेते हैं तब तो उक्त दोनों प्रकार की दृष्टियों के अनित्य या सृष्ट्यात्मक होने के कारण उनकी सृष्टि के लिए दूसरी दृष्टि माननी पडेगीं। दूसरी दृष्टि के भी अनित्य होने के कारण उसकी सृष्टि के लिए तीसरी दृष्टि माननी पडेगी। इस प्रकार से अनवस्था आयेगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि दृष्टि शब्द से चैतन्यमात्र अर्थ लेने पर यद्यपि घटादि सृष्टि भी चैतन्यमात्र समानसत्ताक हो जाने से घटादि सृष्टिगत सत्यत्व की आपत्ति आती है, तथापि दृष्टि शब्द का अर्थ वृत्युपहित चैतन्य करने पर अनवस्थादि दोष नहीं होंगे, क्योंकि घटरूप सृष्टि की दृष्टि शब्द के द्वारा घटाकार वृत्ति से उपहित चैतन्य जैसे लिया जाता है, वैसे घटाकार वृत्तिरूप सृष्टि की दृष्टि शब्द के द्वारा

दृष्टित्वे यद्यपि तत्समानसत्ताकतया घटादेः सदातनत्वापत्तिः, तथापि वृत्त्युपहितचैतन्यमेव दृष्टि—शब्दार्थः। वृत्तावपि वृत्तिरेव स्वस्वरूपा चैतन्योपाधिरिति नानवस्था। अत एव—दोषाज्ञानादृष्टदेहेन्द्रियादीनामभावे न भ्रम इति तेषामपि दृष्टिसृष्टित्वे अनवस्थेति—निरस्तम्, स्वाप्नभ्रमवद् देहेद्रियादिनैरपेक्ष्येणाप्युपपत्तेः। अन्वयव्यतिरेकानुविधानं च तद्वदेव। न च—दृष्टिसृष्टेरपि दृष्टिसृष्टित्वेन घटादेरदृष्टिसृष्टित्वापत्तिरिति—वाच्यम्, ज्ञानस्य ज्ञेयत्वेऽपि विषयस्याज्ञेयत्वाभाववद् दृष्टिसृष्टेर्दृष्टिसृष्टित्वेऽपिघटादेर्दृष्टिसृष्टित्वोपपत्तेः।। ८।।

ननु—ऐक्यप्रत्यभिज्ञाविरोधः, पूर्वकालप्रतीतस्येदानीमभावात्,न चैषा भ्रान्तिः, दीपादौ

सत्यानन्दप्रबोधिका

घटाकारवृत्ति के आकार की वृत्ति से उपहित चैतन्य नहीं लिया जाता है, क्योंकि वृत्ति को स्व पर निर्वाहक माना जाता है। अर्थात् घटाकार वृत्ति की दृष्टि शब्द से घटाकार वृत्ति से ही उपहित चैतन्य लिया जाता है,अतः अनवस्था नहीं होगी। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि दोष—अज्ञान—अदृष्ट—देह तथा इन्द्रियादि के अभाव होने से भ्रम नहीं हो सकता है। यदि दोषादि की सत्ता के लिए दोषादि की दृष्टिसृष्टि मानते हैं, तब दोषादि की दृष्टिसृष्टि भ्रमरूप ही होगी। अतः एक दोषादि की दृष्टिसृष्टिगत भ्रमत्व की सिद्धि के लिए भ्रमकारणीभूत दूसरे दोषादि की अपेक्षा होगी और दूसरे दोषादि की सत्ता के लिए दूसरे दोषादि की जब दृष्टिसृष्टि मानेंगे तब द्वितीयदोषादि की दृष्टिसृष्टिगतभ्रमत्व की सिद्धि के लिए तीसरे दोषादि की अपेक्षा होगी। इस प्रकार से अनवस्था दोष की प्रसक्ति होगी। यह पूर्वपक्षी का कथन उचित नहीं है, क्योंकि जैसे स्वाप्निकभ्रम में देहेन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं होती है, ठीक वैसे ही दृष्टिसृष्टिवाद में जाग्रत् कालीन भ्रम भी देहेन्द्रियादि के बिना उपपन्न हो जायेगा। जाग्रतकाल में जो देहादि का भ्रम के प्रति अन्वयव्यतिरेक है, अर्थात् "देहादिसत्त्वे भ्रमसत्त्वम्। तदभावे तदभावः।" इस अन्वयव्यतिरेक की उपपत्ति स्वप्नवत् हो जायेगी। अर्थात् स्वप्न में भी देहादि का भ्रम के प्रति अन्वयव्यतिरेक देखने में आता है, किन्तु समान कालीन होने से जैसे वह वस्तुतः अनुपपन्न है, क्योंकि कार्यकारणभाव स्थल पर कार्य से अव्यवहित पूर्वक्षण में कारण को माना जाता है। वैसे ही जाग्रत में भी समझना चाहिए। पूर्वपक्षी की शङ्का है कि यदि दृष्टिसृष्टि के कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च मिथ्या है। तब प्रपञ्च अन्तःपाती दृष्टिसृष्टि भी मिथ्या होगी। अतः घटादि की दृष्टिसृष्टि होने पर भी घट सत्य ही रहेगा। इसके समाधान में सिद्धान्ति कह रहे हैं कि जैसे पूर्वपक्षी के मत में अनुव्यवसाय स्थल पर घट विशेषित ज्ञान ज्ञेय होने पर घट अज्ञेय नहीं होता है अर्थात् ज्ञेय ही होता है, वैसे ही घट विशेषित दृष्टिसृष्टि के दृष्टिसृष्टि होने पर घट सत्य नहीं होगा। अर्थात् जैसे पूर्वपक्षी के मत में घटज्ञान का ज्ञेय घट होता है किन्तु जब घटज्ञान का अनुव्यवसायज्ञान होता है तब घटज्ञान भी ज्ञेय हो जाता है, किन्तु उस समय घट को भी घटज्ञान के जैसे ज्ञेय ही माना जाता है न कि अज्ञेय। वैसे ही प्रकृत में भी दृष्टिसृष्टि के मिथ्या होने पर दृष्टिसृष्टि का विषय भी मिथ्या ही होगा।। ८।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टिसृष्टिपक्ष को स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से विरोध होगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञाप्रमाण के बल पर पूर्वज्ञानकाल में प्रतीत वस्तु वर्तमान ज्ञानकाल में मानी जाती है। जब कि दृष्टिसृष्टिवाद में पूर्वज्ञानकाल में प्रतीतवस्तु वर्तमान ज्ञानकाल में मानी नहीं जाती है। अपितु वर्तमानज्ञानकाल में ही प्रतीत वस्तु वर्तमानज्ञानकाल में मानी जाती है। इस पर यदि सिद्धान्ती कहते हैं कि "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादि प्रयभिज्ञा भ्रमात्मकरूप है। अतः प्रत्यभिज्ञा

परिणामभेदस्येवेह बाधकस्याभावात्, तदभावेऽपि भ्रान्तित्वे घटादेरप्येकस्मिन् क्षणे भेदस्यात्मनोऽपि प्रतिक्षणं भेदस्य च प्रसङ्ग इति–चेन्न, 'नेह नाना'इत्यादिश्रुतिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वेऽवधृते रज्जुसर्पादिवत् प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव प्रतिभासकालातिरिक्तकालसत्त्वे बाधकम्, अतो भिन्नकालानामात्मभिन्नानां प्रत्यभिज्ञा भ्रान्तिः। आत्मन्येकप्रतीतिरेककालावच्छेदेन घटादौ चैक्यप्रत्यभिज्ञा न भ्रान्तिः। एककालावच्छिन्नघटादावात्मनि चाभेदे बाधकाभावात्। पुरुषान्तरप्रतीतेन सहैककालावच्छेदेनापि घटादौ प्रत्यभिज्ञानं भ्रम एव,प्रतिभासस्य भेदात्। यथा एकस्यामेव

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमाण से विरोध नहीं दिखाया जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि "सेयं ज्वाला" ऐसी जो ऐक्य विषयिणी प्रत्यभिज्ञा होती है, वह भ्रमात्मकरूप इसलिए मानी जाती है कि उसका बाधक प्रमाण है। वह बाधक प्रमाण यही है कि वायु चलने पर अथवा तेल कम होने पर दीपशिखा का परिणाम(प्रकाश) कम होता रहता है। जब कि वायु के न चलने पर या तेल डालने पर वह परिणाम अधिक होता है। इस प्रकार का जो भेद प्रत्यक्ष है वही "सेयं ज्वाला" इस ऐम्यविषयिणी प्रत्यभिज्ञा का बाधक होता है। अत: ऐसी प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक माना जाता है किन्तु "सोऽयं देवदत्त,सोऽयं घट:" इत्यादि प्रत्यभिज्ञास्थल पर कोई बाधक उपलब्ध नहीं है। अत: उक्त प्रकार की प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक नहीं माना जा सकता है। यदि बाधक का अभाव होने पर भी उक्त प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक मानेंगे तब तो एककालावच्छिन्न घट में जो ऐक्य का ज्ञान होता है और आत्मा में "योऽहं बाल्ये पितरौ अन्वभूवं सोऽहं स्थविरे नप्तृननुभवामि।" इस प्रकार से जो ऐक्यविषयिणी प्रत्यभिज्ञा होती है, उसमें यद्यपि कोई बाधक प्रमाण नहीं है, तथापि उक्तज्ञान द्वय को भ्रम मान कर एककालावच्छिन्न घट में भी भेद अर्थात् एक ही घट को अनेक घट मानने की आपत्ति होगी और आत्मा में भी प्रतिक्षण भेद अर्थात् आत्मा प्रतिक्षण भिन्न है ऐसा मानने की आपत्ति होगी। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "नेह नानास्ति किञ्चन" (वृ०उ०४.४.१९) इत्यादि श्रुतियों से प्रपञ्चनिष्ठ मिथ्यात्व का निश्चय ही घटादि प्रपञ्चनिष्ठ प्रतिभासमात्र शरीरत्व का साधक है। जैसे रज्जुसर्पादि में मिथ्यात्व का निश्चय ही रज्जुसर्पादि के प्रतिभासमात्र शरीरत्व का साधक होता है। इस प्रकार से जब घटादिप्रपञ्च का प्रतिभासमात्र शरीरत्व सिद्ध हो गया तब घटादि प्रपञ्च की प्रतीतिकाल से भिन्नकाल में सत्ता मानने पर उक्त श्रुतियों के द्वारा निश्चित घटादिप्रपञ्चनिष्ठमिथ्यात्व के आधार पर सिद्ध घटादिप्रपञ्चनिष्ठ प्रतिभासमात्र शरीरत्व ही उसका बाधक हो जायेगा। अत: आत्मा से भिन्न घटादि पदार्थों की प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक ही मानना होगा। अर्थात् पूर्वोक्त प्रकार से घटादि के प्रतिभास मात्र शरीर वाले होने से पूर्वदिन में देखा गया घट आज के दिन देखे गये घट से भिन्न है। किन्तु भिन्न होने पर भी "सोऽयं घट:" ऐसी प्रत्यभिज्ञा हो रही है। अत: उस प्रत्यभिज्ञा को भ्रमात्मक ही माना जायेगा। पूर्वापरादिरूप से काल में भेद होने पर भी आत्मा में जो एकत्व की प्रत्यभिज्ञा है और घटादि में एक कालावच्छेदेन ऐक्यविषयिणी जो प्रत्यभिज्ञा है, वह भ्रमात्मकरूप नहीं है, क्योंकि आत्मगत सदा एकता और घटादिगत एक काल में एकता का कोई बाधक प्रमाण विद्यमान नहीं है। जब दो व्यक्ति एक ही क्षण में पूरोवर्तिवस्तु (घट) को देखते है तब दोनों को ऐसा ज्ञान होता है कि हम दोनों ने एक ही घट को देखा है किन्तु वैसा ज्ञान भ्रमात्मकरूप होता है, क्योंकि एक पुरुष के द्वारा देखा गया पूरोवर्ति देशस्थ घट अन्य पुरुष के द्वारा देखे गये तद्देशस्थ घट से भिन्न ही होता है, क्योंकि दोनों को होने वाला ज्ञान (दृष्टि) भिन्न–भिन्न है। अत: दोनों ज्ञानों का विषयीभूत घट भी भिन्न–भिन्न ही मानना पडेगा। जैसे मन्द–अन्धकार में स्थित एक ही रज्जु में

रज्ज्वां मन्दान्धकारवर्तिन्यां दशानां युगपत् सर्पभ्रमेण पलायमानानां परस्परसंवादेनैक एव सर्पः सवैरनुभूयत इति प्रत्यभिज्ञा भ्रमः, अन्यभ्रमसिद्धस्यान्येन ज्ञातुमशक्यत्वात्।। ९।।

ननु—अत्र कथमभेदभ्रमः? तत्कारणस्य सादृश्यादेः कस्याप्यभावादिति—चेन्न, स्वप्नाभेदभ्रमवद् दृष्टिसृष्टिसिद्धसादृश्यादिसंभवात्। न चैवं—अभेद एवोत्पद्यतामिति—वाच्यम्, इष्टापत्तेः, रज्जुसर्पादिवदुत्पन्नस्यैव ग्रहणनियमात्। न च क्वचिदुत्पद्यते क्वचिन्नेत्यत्र नियामकाभावः, मायाया विचित्रशक्तिकत्वाभ्युपगमात्।। १०।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

दश व्यक्तियों को एक साथ "अयं सर्पः" इत्याकारक भ्रान्ति होती है और उस भ्रान्ति के परिणाम स्वरूप वे सभी भाग खड़े होते हैं। उन पलायमान दशपुरुषों के सम्वाद पर आधारित "स एव सर्पः" इस प्रकार की जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भ्रमात्मक मानी जाती है, क्योंकि अन्य पुरुषीय भ्रम से सिद्ध पदार्थ का ज्ञान अन्य पुरुष को हो नहीं सकता है।। ९।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि मन्द अन्धकार में स्थित रज्जु में जो दश व्यक्तियों को होने वाले सर्पभ्रम में जो ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है कि जो तुम्हारे द्वारा सर्प देखा गया वही सर्प मेरे द्वारा भी देखा गया। इस प्रकार की ऐक्यविषयिणी प्रत्यभिज्ञा को भ्रमरूप नहीं माना जा सकता है, क्योंकि भ्रम में प्रसिद्ध जो कारण सादृश्यदोषादि हैं, उसका अभाव उक्त स्थल पर है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जैसे स्वप्न में दृष्टिसृष्टि से सिद्ध काल्पनिक सादृश्यादि से अभेद भ्रम होता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत में भी दृष्टिसृष्टि से सिद्ध काल्पनिक सादृश्यादि से उक्त अभेदभ्रम हो ही सकता है। उक्त अभेदभ्रम के लिए वास्तविक सादृश्यादि की आवश्यकता नहीं है। यहाँ पर सादृश्य शब्द से दश पुरुषों के द्वारा देखा गये दश सर्पों में परस्पर सादृश्य को लेना है। इस पर पूर्वपक्षी का कथन है कि जैसे सिद्धान्ती रज्जुसर्प भ्रमस्थल पर अनिर्वचनीय सर्प की उत्पत्ति मानते हैं वैसे ही उक्त अभेदभ्रम स्थल पर उक्त अभेद भ्रम की सिद्धि के लिए दश सर्पों में परस्पर काल्पनिक सादृश्य मानने की अपेक्षा से अनिर्वचनीय अभेद उत्पन्न होता है—ऐसा ही क्यों न मान लेते है? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि भ्रमस्थल में अधिष्ठान और कल्पित पदार्थ का जो तादात्म्य प्रतीत होता है, उसका हम निषेध नहीं करते हैं, क्योंकि जैसे भ्रमकाल में उत्पन्न हुए ही अनिर्वचनीय रज्जुसर्पादि गृहीत होते हैं, वैसे ही प्रकृत में भी भ्रमकालोत्पन्न अभेद ही गृहीत होता है, अर्थात् उक्त अभेद भ्रम का विषय बनता है। इस पर पूर्वपक्षी का प्रश्न है कि दश पुरुषों को जहाँ एक ही रज्जु में दश सर्पों का भ्रम हुआ और भ्रम के पश्चात् दशों व्यक्ति जब एकत्र हुए तब भ्रम होता है कि हम लोगों ने एक ही सर्प देखा। किन्तु जब दशों व्यक्ति किसी कारणवश आपस में मिले ही नहीं अपितु दशों व्यक्ति भिन्न—भिन्न दिशा में भाग गये तब तो अभेद भ्रम हुआ नहीं और उन दशों सर्पों में अभेद भ्रम उत्पन्न भी नहीं हुआ। अथवा किसी व्यक्ति को शुक्ति में रजत का भ्रम होने पर उसको ऐसा ज्ञान होता है कि यह पूर्वदृष्टरजत से अभिन्न है और कभी—कभी केवल रजत का ही भ्रम होता है, अभेद का भ्रम नहीं होता है। इस प्रकार प्रथम भ्रमस्थल पर अभेद भ्रम उत्पन्न होता है और द्वितीयभ्रम स्थल पर अभेदभ्रम उत्पन्न नहीं होता है—ऐसा क्यों? इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि इसका कारण मायानिष्ठ अघटनघटनपटीयसी विचित्र शक्तियाँ है।। १०।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि दृष्टिसृष्टिवाद में जैसे "सः"और "अयम्" इन पदार्थों के विशेषण जो तद्देशकाल और एतद्देशकाल है, उन दोनों का अभेद बाधित है, वैसे ही धर्मिद्वय—विशेष्यद्वय—तत्कालीनदेवदत्त का शरीर और एतत्कालीन देवदत्त का शरीर भी

न च—"सोऽयं देवदत्तः" इति दृष्टान्तेन तत्त्वमस्यादिवाक्ये जहदजहल्लक्षणयैक्यप-रत्वोक्त्ययोग इति वाच्यम्, यद्यपि धर्मवद्धर्म्यभेदोऽपि बाधित एवेति जहदजहल्लक्षणापि न युज्यते, तथापि यदा धर्माभेदो बाधान्न गृहीतः, किन्तु धर्म्यभेद एव, तदा 'सोऽयम्' इत्यादौ जहदजहल्लक्षणासम्भवेन दृष्टान्तत्वोपपत्तिः। न चाभेदस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन तज्ज्ञानस्य बाधकत्वायोगः, आत्माभेदस्यात्मरूपत्वेन दृष्टिसृष्टित्वाभावात्,अन्यूनसत्ताकत्वमात्रेण बाधकत्वोपपत्तेश्च ॥ ११॥

न च—साक्षात्कारस्यापि दृष्टिसृष्टित्वेन प्रमाणजन्यत्वाभावात् तत्त्वज्ञानत्वाभावेन ततो

सत्यानन्दप्रबोधिका

भिन्न—भिन्न होने के कारण धर्मिद्वय का अभेद भी बाधित है। अतः उस बाधित अभेद में लक्षणा नहीं की जा सकती है, क्योंकि जो अर्थ बाधित है उसे लक्षणा से ग्रहण करना व्यर्थ होता है। अतः "सोऽयं देवदत्तः" इस असङ्गत दृष्टान्त का आलम्बन करके तत्त्वमस्यादि महावाक्यों में लक्षणा के द्वारा अभेद का बोधन मानना उचित नहीं है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि यद्यपि तद्देशकाल और एतद्देशकालादि धर्मों के समान देवदत्तादि धर्मिगत अभेद भी दृष्टिसृष्टिरूप होने के कारण बाधित है, इसलिए भागत्यागलक्षणा भी युक्त नहीं है, तथापि जिस काल में किसी व्यक्ति को तद्देशकाल और एतद्देशकालरूप धर्म का अभेद मानने में बाध का स्फुरण होने के कारण धर्म के अभेद का ग्रहण नहीं हो पाया किन्तु पूर्वोत्तर पिण्डद्वयरूप धर्मी में अभेद के बाध का स्फुरण न होने से अभेद गृहीत हो जाता है—ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति के लिए उक्त दृष्टान्त स्थल पर लक्षणा मानना सम्भव हो जाने के कारण "सोऽयं देवदत्तः" को दृष्टान्त माना ही जा सकता है, और उसके आधार पर दार्ष्टान्त तत्त्वमस्यादि वाक्यों में भी भागत्यागलक्षणा के द्वारा अभेद का प्रतिपादन किया ही जा सकता है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन है कि जैसे जीव चैतन्य और ईश्वरचैतन्यगत भेद दृष्टिसृष्टिरूप होने के कारण बाधित है, वैसे ही भागत्यागलक्षणा से बोधित उक्त अभेद भी दृष्टिसृष्टिरूप होने के कारण बाधित है। बाधित होने के कारण अभेदज्ञान मिथ्या होगा। अतः मिथ्यारूप अभेदज्ञान को जीवब्रह्म के भेदज्ञान का बाधक नहीं माना जा सकता है। इसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि लक्षणा से बोधित आत्मगत अभेद शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही होता है। अतः उक्त अभेद आत्मस्वरूप हो जाने के कारण षड् अनादि पदार्थों में प्रविष्ट हो जाता है। अनादि पदार्थों की दृष्टिसृष्टि मानी नहीं जाती है। अतः उक्त अभेदज्ञान को बाधित नहीं माना जाता है। अतः अबाधित होने के कारण उक्त अभेदज्ञान जीवब्रह्म के भेदभ्रम का बाधक हो ही सकता है। दूसरी बात यह है कि "तुष्यतु दुर्जनः" इस न्याय से अभेद को प्रातिभासिक भी यदि माना जाय अर्थात् दृष्टिसृष्टि के अन्तर्गत माना जाय, तब भी अभेद और भेद दोनों की प्रातिभासिक सत्ता होगी। अतः अभेदज्ञान भेदज्ञान की अपेक्षा से न्यून सत्ता वाला न होने के कारण बाधक बन जायेगा। अन्यूनसत्ताक विषयत्वेन बाधकत्व को पिछे कहा जा चुका है।। ११।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि चरमवृत्ति रूप ब्रह्मसाक्षात्कार भी प्रपञ्च अन्तःपाती होने के कारण उसको भी दृष्टिसृष्टिरूप मानना पड़ेगा। दृष्टिसृष्टिरूप होने के कारण चरमवृत्ति भी मिथ्या होगी। अतः उसे प्रमाण जनित नहीं कहा जा सकता है। प्रमाणजनित न होने के कारण उसको तत्त्वज्ञान (प्रमाज्ञान) भी नहीं माना जा सकता है। अतः उसके द्वारा प्रपञ्चभ्रम की निवृत्ति नहीं हो सकती है। अर्थात् उस साक्षात्कार के द्वारा जीव को मुक्ति नहीं मिल सकती है। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि चरमसाक्षात्कार का विषय अनधिगत और अबाधित होने के कारण

मुक्तिर्न स्यादिति–वाच्यम्,अबाधितविषयत्वेनैव तत्त्वज्ञानत्वोपपत्तेः, तस्य च दृष्टिसृष्टित्वेऽप्यक्षतेः। न च 'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवं विश्वमिदं जगत्'इत्यादिश्रुतिविरोधः, अनित्यतावादिभिरपि ध्रुवेत्यस्यान्यथानयने आवश्यके दृष्टिसृष्टिप्रतिपादकश्रुत्यनुरोधेन आकल्पं संतानाविच्छेदपरत्वस्यैव युक्तत्वात्, अन्यथा 'ध्रुवो राजा' इत्यादावगतेः। दृष्टिसृष्टौ च 'एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे वेदाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानो व्युच्चरन्ति'इति श्रुतिः सुप्तोत्थितजीवात् प्राणादिसृष्टिं प्रतिपादयन्ती प्रमाणम्।। १२।।

न च–सुषुप्तौ प्राणादिप्रपञ्चस्य सत्त्वात्किमर्थं पुनः सृष्टिरिति–वाच्यम्,'न तु

सत्यानन्दप्रबोधिका

प्रमा का लक्षण उसमें चले जाने से उसको तत्त्वज्ञान (प्रमाज्ञान) मानना उचित है। अर्थात् चरमसाक्षात्कार को दृष्टिसृष्टिरूप मानने पर इतना ही होगा कि चरमज्ञान प्रमाण जन्य नहीं होगा किन्तु प्रमाणजन्य न होने मात्र से चरमज्ञान के तत्त्वज्ञान होने में कोई क्षति नहीं है, क्योंकि चरमज्ञान को प्रमाणजन्यत्वेन तत्त्वज्ञान नहीं कहा जाता है अपितु अनधिगत अबाधित विषयत्वेन तत्त्वज्ञान कहा जाता है। दृष्टिसृष्टिवाद में ऋचा से विरोध दिखलाते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है–

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे।
ध्रुवं विश्वमिदं जगद् ध्रुवो राजा विशामयम्।।(ऋक्–सं०८.८.३२.४)

अर्थात् जैसे द्युलोक–पृथिवी और ये पर्वत ध्रुव(स्थिर) है वैसे ही यह सम्पूर्ण जगत् भी ध्रुव हैं इसी प्रकार (विशां पतिः) प्रजा पालक स्वामी भी ध्रुव रहें। यदि घटादि प्रपञ्च की दृष्टिसृष्टि मानेंगे तब उक्त ऋचा से विरोध होगा, क्योंकि दृष्टिसृष्टिपक्ष में ब्रह्मभिन्न सभी पदार्थ ज्ञानकाल मात्र स्थायी माने जाते हैं। इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि यदि ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य करेंगे तब तो जगत् को अनित्य मानने वाले नैयायिकादि के मत में भी सम्पूर्ण जगत् नित्य न होने के कारण उनके मत में भी उक्त विरोध होगा। अतः पूर्वपक्षी को भी ध्रुव शब्द का जो नित्यरूप मुख्यार्थ है, उससे भिन्न चिरस्थायित्वरूप अर्थ ही मानना आवश्यक होगा। अतः सिद्धान्ती के मत में भी दृष्टिसृष्टिप्रतिपादक श्रुति के अनुरोध से उक्त ध्रुव शब्द को कल्पपर्यन्त सन्तानाविच्छेद प्रतिपादनपरक मानना युक्ति सङ्गत ही है। यदि ध्रुव शब्द का अर्थ नित्य करेंगे तब "ध्रुवो राजा" इस वाक्य के द्वारा किसी राजा की नित्यता का प्रतिपादन पूर्वपक्षी को भी मान्य नहीं होगा। दृष्टिसृष्टि में "एवमेवास्मादात्मन सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मनो व्युच्चरन्ति"(वृह०उ० २.१.२०) यह श्रुति सुषुप्ति से व्युत्थित जीव के द्वारा प्रत्येक बार प्राणादि की सृष्टि का प्रतिपादन करती हुयी प्रमाण मानी जाती है।। १२।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सुषुप्ति अवस्था में प्राणदिप्रपञ्च का व्यापार देखा जाता है। इसलिए जब प्राणदिप्रपञ्च विद्यमान है तब सुप्तोत्थितजीव के द्वारा पुनः प्राणदिप्रपञ्च की सृष्टि मानना व्यर्थ है। इस शङ्का का निराकरण करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्" (बृ०उ०४.३.२३) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा सुषुप्ति अवस्था में सकल कार्यरूप प्रपञ्च के लय का श्रवण होने से सुषुप्ति अवस्था में प्राणदिप्रपञ्च का लय और जाग्रत् अवस्था में सुप्तोत्थित जीव के द्वारा पुनः प्राणदिप्रपञ्च की सृष्टि मानी जाती है। यहाँ पर प्रश्न होता है कि जो पुरुष सो रहा है उसको जब दूसरा जाग्रत पुरुष देखता है, तब उसे उसमें प्राणादि दिखायी पड़ते है, जब कि आप कह रहे हैं कि उसके प्राणादि का लय हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि दूसरे जाग्रत पुरुष को जो सुषुप्त पुरुष

तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्'इत्यादिना सुषुप्तौ सकलकार्यप्रपञ्चलयश्रवणात्। न च सुषुप्तौ"हिता नाम नाड्यः" इति नाडीसत्त्वप्रतिपादकवाक्यविरोधः, केन क्रमेण सुषुप्तौ भवतीत्यपेक्षायां "हिता नाम नाड्यो हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते" इत्यादिना सुषुप्त्यव्यवहितकाले क्रमोक्तये नाडीसत्त्वं प्रतिपाद्यते, न तु सुषुप्तिकालेऽपि, वाक्यान्तरविरोधात्, प्राक् सत्त्वमात्रेण च क्रमाभिधानपर्याप्तेः।। १३।।

ननु—'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्' इति यच्छब्देन सुप्ताधारत्वेनोक्तस्य ब्रह्मण एवास्मादात्मान

सत्यानन्दप्रबोधिका

के प्राणों की प्रतीति होती है, वह उस पुरुष की अपनी दृष्टिसृष्टि मानी जाती है। इस पर पुनः पुर्वपक्षी शङ्का करते हुए कह रहा है कि सुषुप्ति अवस्था में सकल कार्य प्रपञ्च का लय मानना उचित नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति अवस्था में "हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते" (बृ०उ०२.१.१९) इस नाड़ी सत्त्व प्रतिपादक वाक्य से विरोध होगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि उक्तश्रुति के द्वारा सुषुप्ति अवस्था में नाडियों के सत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है अपितु किस क्रम से सुषुप्ति को जीव प्राप्त होता है। ऐसी अपेक्षा होने पर कहा गया कि हिता नामक नाडियाँ हृदय से पुरीतति तक प्रतिष्ठित है। उन नाडियों से जीव गमन कर जीव पुरीतति नाड़ी में प्रवेश कर सोता है। इस प्रकार से सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में उक्त क्रम के कथन के लिए नाड़ियों के सत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। सुषुप्ति में नाडियों का सत्त्व है, इस अभिप्राय से नाडियों के सत्त्व का प्रतिपादन उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा नहीं किया गया है। यदि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा पूर्वपक्षी के मतानुसार सुषुप्ति में नाडियों के सत्त्व का प्रतिपादन माना जायेगा तब तो सकल कार्यरूपप्रपञ्च के लय का प्रतिपादक "न तु तद् द्वितीयमस्ति" (बृ०उ०४.३.२३) इस श्रुतिवाक्य से विरोध होगा। सुषुप्तिक्रम के कथन के लिए सुषुप्तिकाल में नाडियों का सत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं है, उसके लिए सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में नाडियों का विद्यमान रहना पर्याप्त है। अतः सिद्धान्तमत से प्रतिपादित यह व्यवस्था ही उचित है कि सुषुप्तिकाल में नाडियों की सत्ता न मानकर सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में विद्यमान नाडियों को लेकर क्रम विशेष का प्रतिपादन उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा किया गया है। ऐसा मानने पर उक्त दोनों वाक्यों में विरोध भी नहीं होगा और सुषुप्ति में सकल कार्यरूप प्रपञ्च के लय की भी सिद्धि हो जायेगी।। १३।।

सिद्धान्ती के द्वारा दृष्टिसृष्टिवाद में प्रमाण के रूप से "एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणा. ....व्युच्चरन्ति" (बृ०उ०२.१.२०) इस श्रुति को दिया गया। इसमें "अस्मात्" पद से जीव का ग्रहण किया गया। इसका खण्डन करते हुए पूर्वपक्षी कह रहा है कि "यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूत्" (बृ०उ०२.१.१७) इस श्रुति में विद्यमान यत् पद से सुप्त का आधारत्वेन श्रुत जो ब्रह्म है, उसी ब्रह्म का ही "एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः........." (बृ०उ०२.१.२०) इस श्रुति के घटक "अस्मात्" पद से परामर्श किया गया है। इसलिए सुप्ताधार ब्रह्मकर्तृक ही प्राणादि की सृष्टि है न कि सुप्तोत्थित जीवकर्तृक। इस प्रकार से जब जीवकर्तृका सृष्टि उक्त श्रुति से नहीं कही गयी है, तब तो जीव के द्वारा प्रत्येक सुषुप्ति के अनन्तर पुनः—पुनः प्राणादि की सृष्टि का भी प्रतिपादन उस श्रुति के द्वारा नहीं किये जाने से दृष्टिसृष्टिमत का समर्थन उक्त श्रुति वाक्य से नहीं होता है। सुप्तोत्थित जीव से ही प्राणादि की सृष्टि उक्त श्रुति वाक्य के द्वारा कही गयी है—ऐसा मानने पर "यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति" (बृ०उ०२.१.२०) इस

इत्यनेन परामर्शात्तत्कर्तृकैव प्राणादिसृष्टिर्न तु सुप्तोत्थितजीवकर्तृका, अन्यथाग्न्यूर्णनाभ्या-देस्तन्तुविस्फुलिङ्गादिजननोक्तिरत्रापि वाक्ये सर्वलोकसृष्ट्युक्तिश्चालीकार्था स्यात्, न हि दृष्टिसृष्टिपक्षे अग्न्यूर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजनकत्वं सर्वलोकसृष्टिर्वास्तीति–चेत्।। १४।।

न, यत्रेत्यस्य कालपरत्वेन यच्छब्देन ब्रह्मणो निर्देशाभावात्। न च यत्रेत्यस्य ब्रह्मरूपाधिकरणपरत्वं कालपरत्वं वेत्यत्र विनिगमनाविरहः,अनन्तरवाक्ये क्वैष **तदाभूदित्यत्र** क्व **तदेति पदद्वयोपादानस्यैव विनिगमकत्वात्, यत्रेत्यनेन देशनिर्देशे क्वेति देशप्रश्नानुपपत्तेः,**

सत्यानन्दप्रबोधिका

श्रुति के द्वारा मकड़ी से तन्तु और अग्नि से विस्फुलिङ्ग (चिनगारी) के उत्पत्ति का प्रतिपादन असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि सिद्धान्ती सबकी सृष्टि जीव की दृष्टि से ही मान रहे हैं। इसी प्रकार इसी श्रुति में आया हुआ "सर्वेलोका: सर्वे देवा: सर्वाणिभूतानि....."(बृ०उ०२.१.२०) इस श्रुतिवाक्य से प्रतिपादित सर्वलोकसृष्टि का प्रतिपादन भी असङ्गत हो जायेगा, क्योंकि जब जीव की दृष्टिरूप सृष्टि इसी श्रुति से कही गयी है ऐसा माना जाय, तब इसी श्रुति से अग्नि और मकड़ी से सृष्टि का प्रतिपादन मानने पर पूर्वापर विरोध होगा और सुप्तोत्थित जीव को सर्वलोक की दृष्टि नहीं हो सकती है, क्योंकि सर्वलोकादि का ज्ञान सर्वज्ञ को ही हो सकता है। अत: सर्वलोक की दृष्टि जीव को न होने के कारण सर्वलोकादि की सृष्टि भी जीव नहीं कर सकता है।। १४।।

पूर्वपक्षी का खण्डन करते हुए आचार्यप्रवर कह रहे हैं कि "यत्रैष सुप्त:" (बृ०उ०२.१.१७) इस श्रुति वाक्य के घटक "यत्र" पद का अर्थ है–"जिस काल में" न कि यत् शब्द के द्वारा ब्रह्म का निर्देश किया गया है। इस पर यदि पूर्वपक्षी कहता है कि "यत्र" पद ब्रह्मरूपाधिकरण परक है? अथवा कालपरक है? इस विषय में एकतर पक्ष निर्णायक कोई प्रमाण नहीं है। इस पर सिद्धान्ती कह रहे हैं कि "यत्रैष सुप्त:" (बृ०उ०.२.१.१७) इस वाक्य से पूर्ववाक्य "क्वैष तदाभूत्" है। इस वाक्य के घटक "क्व"और "तदा" इस पद द्वय के ग्रहण को ही विनिगमक माना जाता है,क्योंकि "यत्र" पद के द्वारा यदि देश (ब्रह्म) का निर्देश हो गया तब पुन: "क्व" पद के द्वारा देश के विषय में प्रश्न ही नहीं उठ सकता है। इसी प्रकार "यत्र" पद का "यदा" अर्थ न लेने पर आगे "तदा" ऐसा निर्देश उचित नहीं होगा। अत: "यत्र" पद का "यस्मिन् काले"यही अर्थ लेना उचित है। भाष्यकारादि ने जो "यत्र" शब्द से ब्रह्म का ग्रहण कर व्यावहारिक सृष्टि विषयतया व्याख्यान किया है, वह मन्दबुद्धि वाले अधिकारियों के लिए किया है। अर्थात् "अन्यार्थं तु जैमिनि: प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके" (ब्रह्मसूत्र–१.४.१८) के भाष्य में भगवान् भाष्यकार ने कहा है–"सुषुप्तिकाले च परेण ब्रह्मणा जीव एकतां गच्छति, परमाच्च ब्रह्मण: प्राणादिकं जगज्जायत इति वेदान्तमर्यादा।" यहाँ पर प्रश्न होता है कि भगवान् भाष्यकार ने स्वयं ही भाष्य में स्पष्ट रूप से ब्रह्म से प्राणादि और जगत् की उत्पत्ति कही है तब आप जीव से प्राणादि तथा जगत् की उत्पत्ति कैसे कह रहे हैं? इसके समाधान में कहा गया कि भगवान् भाष्यकार का उक्त कथन मन्द अधिकारियों को लक्ष्य करके कहा गया है। अधिकारी भी भिन्न–भिन्न होते हैं। इसको स्पष्ट करते हुए सक्षेपशारीरककार ने संक्षेपशारीरक के द्वितीय अध्याय के श्लोक (८३) में कहा है–

तत्त्वावेदकमानदृष्टिरधमा तत्त्वक्षतिर्मध्यमा।
तत्त्वप्रच्युतिविभ्रमक्षयकरी तत्रान्त्यदृष्टिर्मता।।
जीवैकत्वमुमुक्षुभेदगतितो व्यामिश्रदृष्टिर्द्विधा।
भिन्ना तत्र च पूर्वपूर्वविलयादूर्ध्वोर्ध्वलब्धिर्भवेत्।।

कालानिर्देशे च तदेति प्रतिनिर्देशानुपपत्तेः, भाष्यकारादिभिश्च स्थूलाधिकारिणं प्रति तथा व्याख्यानात्, ऊर्णनाभ्यादेस्तन्त्वादिजन्मोक्तिस्तु लौकिकभ्रमसिद्धकार्यकारणभावप्रसिद्धिमनुरुध्य। सर्वलोकादिसृष्टिश्च तत्तद्दृष्टिव्यक्तिमभिप्रेत्य, यदा यत् पश्यति, तत्समकालं तत् सृजतीत्यत्र तात्पर्यात्।। १५।।

न चाविद्यासहकृतजीवकारणकत्वे जगद्वैचित्र्यानुपपत्तिः, जगदुपादानस्याज्ञानस्य

सत्यानन्दप्रबोधिका

अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदकत्व की दृष्टि अधम है, क्योंकि वह अनर्थ की हेतु है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों में तत्त्वावेदकत्व की अपवादिका विर्वत दृष्टि मध्यम है क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणगत तत्त्व की नाशिका है और विभ्रम नाशिका दृष्टि अन्तिम है और उत्तम है, क्योंकि ऐसी दृष्टि विशुद्ध ब्रह्म में परिनिष्ठित होती है। इनमें भी विवर्त दृष्टि दो प्रकार की होती है–"जीव अनेक है वे क्रमशः मुक्त होते है और संसार अनादि और अनन्त है" इस प्रकार की एक दृष्टि होती है और दूसरी दृष्टि यह होती है कि "मैं ही एक जीव हूँ, स्वप्नवत् अनेक जीवाभास मुझमें कल्पित है। पूर्व–पूर्व दृष्टि के विलय से उत्तर–उत्तर दृष्टि का उदय होता है। इस प्रकार मन्द अधिकारी को लक्ष्य करके उपरोक्त प्रकार से भगवान् भाष्यकार के द्वारा व्याख्यान किया गया है। पूर्वपक्षी का यह जो कथन था कि ऊर्णनाभ्यादि का दृष्टान्त दृष्टिसृष्टि पक्ष में नहीं बन सकता है। उसका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कह रहे हैं कि मकडी और वह्नि से जो तन्तु और विस्फुलिङ्गादि की सृष्टि का प्रतिपादन श्रुति के द्वारा किया गया है। वह लौकिक भ्रम से प्रसिद्ध कार्य–कारणभावरूप अर्थ का अनुवादमात्र है। इसी प्रकार श्रुति के द्वारा सर्वलोकादि सृष्टि का प्रतिपादन भी तत्तद् दृष्टिव्यक्ति के अभिप्राय से किया गया है। अर्थात् "जिसकाल में जिसको देखता है तत्समकाल ही उसको उत्पन्न करता है" इस प्रकार दृष्टि समकाल सृष्टि के सामूहिकरूप का प्रदर्शन किया गया है। कहने का भाव यह है कि सर्वलोक सृष्टि का तात्पर्य यह नहीं है कि सुषुप्ति से उठते ही तुरन्त एक कालावच्छेदेन सुप्तोत्थित जीव से सर्वलोक की सृष्टि होती है, अपितु उक्त श्रुति के द्वारा यह कहा गया है कि जीव को जिस समय जिस वस्तु की दृष्टि होती है, तब उस पदार्थ की सृष्टि होती है। इस प्रकार सभी लोकों की सृष्टि जीव से ही होती है ।। १५ ।।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती के अनुसार दृष्टिसृष्टिवाद में अविद्या से सहकृत जो एक जीव हैं, वही जगत् का कारण माना जाता है। ऐसा मानने पर जीव तो एक ही है और अविद्या भी एक ही है तब तो मिट्टी से जैसे मिट्टी के ही बर्तन बनते है न कि सोने चाँदी के। ऐसे ही एक ही अविद्या से सहकृत एक जीव से उत्पन्न होने वाला जगत् भी एक ही प्रकार का होगा, भिन्न–भिन्न प्रकार का नहीं होगा। इसके समाधान में सिद्धान्ती कह रहे हैं कि जगत् का उपादान कारण केवल जीव ही नहीं है अपितु अज्ञान विशिष्ट जीव है। जीव का विशेषणीभूत जो अज्ञान है, वह एक ही होने पर भी विचित्र शक्ति से युक्त है। अतः प्रपञ्चगत वैचित्र्य की अनुपपत्ति नहीं होगी। अद्वैतसिद्धिकार के द्वारा सिद्धान्तबिन्दु और कल्पलतिकादि में दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन अनेक युक्तियों के द्वारा किया गया है। जैसे जब दृष्टिसृष्टि न मानकर अज्ञात अवस्था में घट माना जाता है तब घटादि में अनन्त संयोगादि मानने पडते है और इन्द्रियों में क्रिया तथा इन्द्रियों का विषय के साथ संयोग सम्बन्ध भी मानना पडता है। इसी प्रकार इन्द्रिय और इन्द्रियों के सम्बन्ध को ज्ञान के प्रति हेतु भी मानना पड़ता है। प्रातिभासिक और व्यावहारिक ये दोनों परस्पर भिन्न होने के कारण इनके लिए भिन्न–भिन्न हेतु भी मानना पड़ता है। जबकि दृष्टिसृष्टिवाद

विचित्रशक्तिकत्वात्। उपपत्त्यन्तरं चात्र सिद्धान्तबिन्दुकल्पलतिकादावस्माभिरभिहितम्। वासिष्ठवार्तिकामृतादावाकरे च स्पष्टमेवोक्तम्। यथा—'अविद्यायोनयो भावा: सर्वेऽमी बुद्बुदा इव। क्षणमुद्भूय गच्छन्ति ज्ञानैकजलधौ लयम्।।' इत्यादि। तस्मात् ब्रह्मातिरिक्तं कृत्स्न-द्वैतजातं ज्ञानज्ञेयरूपमाविद्यकमेवेति प्रातीतिकसत्त्वं सर्वस्येति सिद्धम्।। रज्जुसर्पादिवद्विश्वं नाज्ञात-सदिति स्थितम्। प्रबुद्धदृष्टिसृष्टित्वात्सुषुप्तौ च लयश्रुतेः।। १६।।

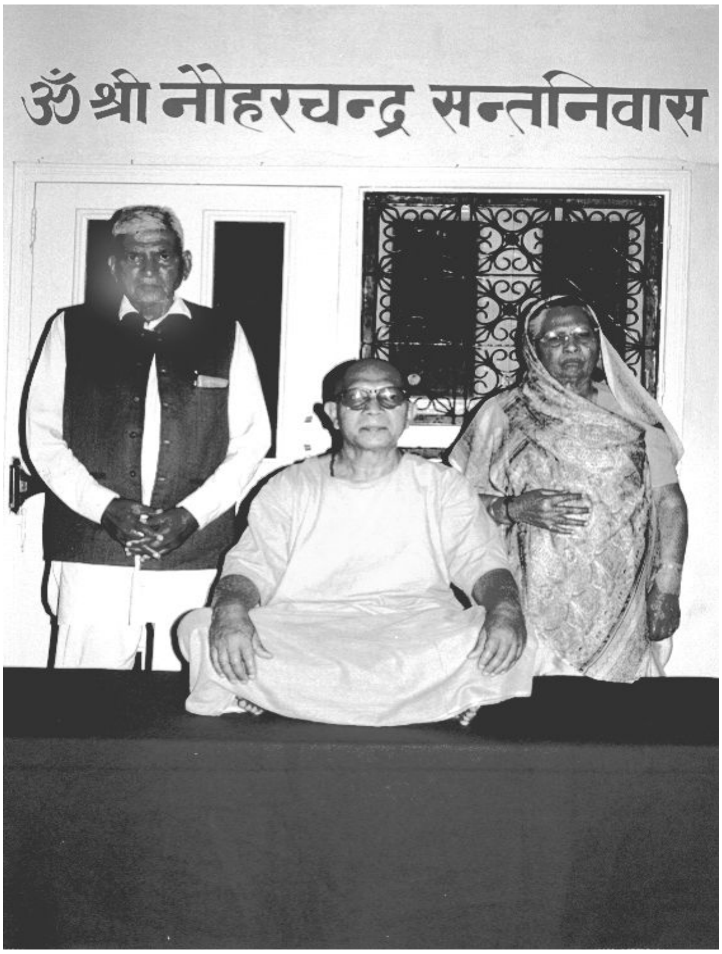
।। इत्यद्वैतसिद्धौ दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिः।।

सत्यानन्दप्रबोधिका

में इनको मानने की आवश्यकता नहीं होती है। अत: लाघव है। दृष्टिसृष्टिवाद का समर्थन योगवासिष्ठ वार्तिकामृतादि मौलिकग्रन्थों में स्पष्टरूप से किया गया है। जैसे कि योगवासिष्ठ में कहा है कि ये सम्पूर्ण घटादि भाव पदार्थ का कारण अविद्या है। जल बुद्बुदों के समान क्षणमात्र में उत्पन्न होकर ज्ञानरूपीसमुद्र में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणों और युक्तियों के बल पर दृष्टिसृष्टिवाद सिद्ध हो जाने पर ब्रह्म से अतिरिक्त वृत्तिज्ञान और घटादि ज्ञेयरूप सम्पूर्ण द्वैत आविद्यक ही है। अत: उक्त सभी पदार्थों की प्रातीतिक सत्ता मात्र है—यह सिद्ध हो गया। आगे अनुमान दिया जा रहा है—विश्वं नाज्ञातं सत्, प्रबुद्धदृष्टिसृष्टित्वात्, सुषुप्तौ लयश्रुतेश्च, रज्जुसर्पादिवत्। अर्थात् जैसे रज्जुसर्पादि अज्ञातसत्ता (व्यावहारिकसत्ता) वाले नहीं हैं अपितु प्रातिभासिक सत्ता वाले हैं वैसे ही विश्व भी प्रातिभासिकसत्ता वाला है, न कि अज्ञात सत्ता वाला, क्योंकि सुप्तोत्थित जीव की दृष्टि की समकालीन सृष्टि है। इसमें दूसरा हेतु देते हुए कह रहे हैं कि सर्व जातद्वैत का सुषुप्ति मे लय हो जाता है। इसको श्रुतियाँ कह रही हैं—"अथ हैतत् पुरुष: स्वपीति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति" (बृ०उ०२.१.७) "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूत: सुखरूपमेति" (कैवो०उ०१/१३) इस प्रकार से दृष्टिसृष्टि का प्रतिपादन युक्ति—युक्त सिद्ध हो गया।। १६।।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यविद्यावाचस्पतिस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिशिष्य—स्वामिविशुद्धानन्दगिरिकृतायामद्वैतसिद्धिटीकायां सत्यानन्दप्रबोधिकायां दृष्टिसृष्ट्युपपत्तिपर्यन्तविवरणं समाप्तम्।

।। श्री शङ्करः प्रीयताम् ।।



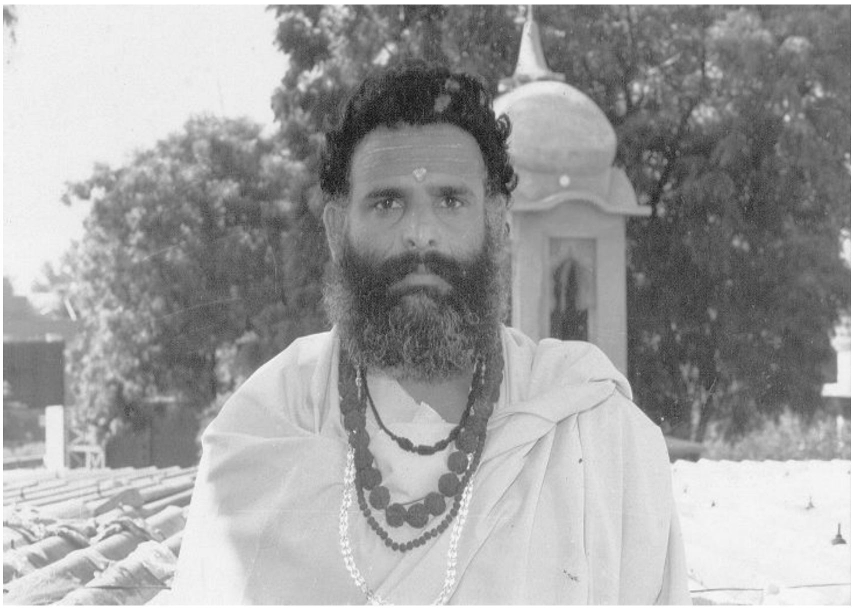
श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिसत्यानन्दगिरिजीमहाराज

और

सम्माननीय श्रीनौहरचन्द्रगर्गजी एवं श्रीमतीशान्तिदेवीगर्गजी

श्रीगोकुलधाम

पहाड़ी बाजार कनखल हरिद्वार (उत्तराञ्चल)



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्वामिब्रह्मानन्दतीर्थजी महाराज
श्रीगोकुलधाम
पहाड़ी बाजार कनखल हरिद्वार (उत्तराञ्चल)